पुराणदिग्दर्शन

अठारह पुराणों के सर्वांगीण परिचय के साथ-साथ पौराणिक कथाओं के वैज्ञानिक रहस्यों को प्रकट करने वाला एवं पुराण निन्दकों के समस्त आक्षेपों का तर्क संगत समाधान प्रस्तुत करने वाला अद्भुत ग्रन्थ।



शास्त्रार्थ महारथी

पं० माधवाचार्य शास्त्री

पुराणदिग्दर्शनम्

[परिवर्द्धितं सपरिशिष्टं चतुर्थ संस्करणम्]

—:०:—

'कथा-भास्कर' 'साहित्य-मार्तण्ड' शास्त्रार्थ-महारथ' 'हिन्दी-प्रभाकर'

'महामहोपदेशक' 'पुराण-विद्या-निधि' 'वेद-वाचस्पति'

प्रभृत्यनेकोपाधि-धारिणा गौडोपाह्वेन

श्री पं० माधवाचार्य शास्त्रिणा

विरचितम्

प्रकाशकः

माधव पुस्तकालय

धर्मधाम कमलानगर, देहली

मुद्रकः—श्रीकण्ठ शास्त्री एम. ए. व्याकरणाचार्यः

धर्मप्रेस १०३ ए कमलानगर, देहली।

स
म
र्प
ण



विश्ववन्द्य व्यासदेव !

निश्चित ही—

वेदाः षडङ्गा निखिलञ्च शास्त्रं,
महान्महभारतवारिराशिः ।
त्वतः पुराणानि च संबभूवुः
सर्वं त्वदीयं खलु वाङ्मयाख्यम् ॥

—यह शङ्करदिग्विजय की पंक्तियें आप में चरितार्थ होती हैं। सो यह लघुकाय 'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ भी आपकी ही अमर कृतियों का निदर्शन मात्र है, अत:

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

—के न्यायानुसार आप ही इस अकिञ्चन भेंट को स्वीकार कीजिये ।

—माधवाचार्यः

येषामामूलं तलस्पर्शो न व्यधायि । के नाम विज्ञानवादाः येषाँ पुराणानुजीवित्वं न पर्य्यदर्शि ।

किम्बहुना—ग्रन्थोऽयं सर्वसुलभभाषयाऽनुप्राणितः, सकलावश्यकविषयसंशोधनेन परिमण्डितो निखिल-पुराण-सदेह-संदेह-सन्दोहविनिवारणेन प्रोद्भासितः प्रचुरप्रचारः सन्नज्ञतान्धकाराच्छादितदृशां भूयोभूयः प्रकाशाभिव्यञ्जकः सुदृशाञ्चानुहरतमाल्हादविकाशकः स्यादित्यभिवाञ्छन्ति सहर्षं श्रीमदाचार्य्यचरणाः । शमिति—निदेशानुवर्तिनौ—

(१) भट्टजटाशङ्करशास्त्री (२) पो० कण्ठमणिशास्त्री विशारदः ।
(कांकरोली ता० २२-३-१०३४)

—:०:—

महामहोपदेशक स्व० स्वामी दयानन्द जी महाराज श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल काशी—

श्रीमान् पं० माधवाचार्य्यशास्त्रीकृत 'पुराण-दिग्दर्शन' नामक पुस्तक का बहुत सा अंश मैंने देखा है। आजकल पौराणिक कथा तथा पुराण विषय पर अनेक प्रकार की जो शङ्कायें हुआ करती हैं उनके समाधान के लिए कहीं आध्यात्मिक, कहीं आधिभौतिक कहीं ऐतिहासिक आदि सम्बन्ध बता कर श्रीमान् शास्त्री जी ने बहुत ही योग्यता के साथ वेदानुकूल विचार किया है, जिसके पठन-पाठन से हिन्दू जनता को निःसन्देह विशेष लाभ हो सकेगा । ग्रन्थकार की समाधान योग्यता विशेष सराहनीय है। सनातनधर्मी जनता विशेष ध्यानपूर्वक इस ग्रन्थ का अध्ययन करे यही मेरा अनुरोध है । (काशीधाम १९-४-३४

—:०:—

त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्त जी प्रधानमन्त्री श्री सनातनधर्म्मप्रतिनिधि सभा पंजाब

'पुराण दिग्दर्शन' ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम से लिखा गया है इसके लिखने

में आपको बहुत सी पुस्तकों का स्वाध्याय करना पड़ा है। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक सनातन-धर्म जगत् के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगा और इससे पुराणों पर सन्देह रखने वाले बहुत से लोगों के सन्देह निवृत्त हो जाएंगे। यह पुस्तक कालिज स्कूल और पुस्तकालयों के अतिरिक्त प्रत्येक घर में होना चाहिये। लाहौर ता० १९-१-३४

—:o:—

सनातन-धर्म्मविद्वत्परिषत् (पंजाब)

(अर्थात् स्व० कवितार्किक पं० नृसिंहदेवशास्त्री दर्शनाचार्य प्रोफेसर ओरिएन्टल कालेज लाहौर। म० म० पं० परमेश्वरानन्द शास्त्री प्रिंसिपल स० ध० संस्कृत कालेज लाहौर। श्रीमान् मलिक साहिब प्रिंसिपल सनातनधर्म कालेज लाहौर आदि विद्वानों की सम्मिलित सम्मतियों का सार।)

(१) पुस्तक बड़े ही परिश्रम से लिखी गई है।

(२) कुछ स्थलों पर मतभेद होने पर भी कहा जा सकता है कि पुराण निन्दकों को उत्तर देने के लिये यह एक अद्वितीय पुस्तक है।

(३) ऐसी उत्तम पुस्तक का सभी सनातन-धर्म सभाओं, स०ध० कालिजों, स्कूलों, पाठशालाओं तथा अन्य सनातनधर्म-प्रेमियों के पास होना आवश्यक है।

—:o:—

पंजाब-विश्वविद्यालय-संस्कृतप्रधानाध्यापक व्याकरण वेदान्ताचार्य्य, साहित्य-मीमांसातीर्थादिविविधोपाधि-भूषित स्व० महामहोपाध्याय श्रीमाधव भाण्डारी जी

श्रीमद्भिर्मान्यवरमाधवाचार्य्यमहोदयैः प्रणीतं 'पुराण-दिग्दर्शन' मस्माभिराद्यन्तं पर्य्यालोचितम्। अत्र च सर्वेषां पुराणानां विषये आर्य-

ब्राह्मण-सर्वस्व (इटावा)—पुस्तक पुराणप्रेमियों और पुराण-विरोधियों दोनों के ही मनन करने योग्य है।

'विश्वबन्धु' (लाहौर)—विस्तृत सिन्धु को 'पुराण-दिग्दर्शन' के कूजे में बन्द कर······बहुत कुछ उपकार किया है।

'शान्तिदूत' (सूबा फीजी)—प्रवासी हिन्दू मात्र को उक्त पुस्तक मंगाकर अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

'संकीर्तन' (मेरठ)—प्रत्येक स० ध० सभा को तो इस ग्रन्थ-रत्न की एक कापी अवश्य ही रखनी चाहिये।

आशीर्वचांसि

[अनन्तश्री 'गुरुदेव भगवान्' विरुदावली विभूषित स्वामी नारदानन्द सरस्वती महाराज उन सन्तों में से हैं जो लोकेषणा से दूर रहकर सनातनधर्मकी विजय वैजयन्तीको उन्नत करनेमें अनवरत संलग्न रहते हैं। आपके धर्मकार्यों का क्षेत्र विशेषतया उत्तर-प्रदेश है जो अब अखिल भारतीय रूप धारण करता जा रहा है। आपके तत्त्वावधान में साठ ऋषि आश्रम, कई अध्यात्म-विद्यालय, दैनिक सत्संग तथा प्रार्थना सभाएं संचालित हैं। तीन सौ से अधिक धर्म-प्रचारक—जिनमें कार्यनिवृत्त इंजीनियर, डिप्टी कलैक्टर एवं तत्तत् रियासतों के नरेश सम्मिलित हैं भोगजीवन से उपरत होकर नैमिषारण्य की तपोभूमि में आप की आज्ञानुसार नगर २ और ग्राम २ में धर्म प्रचार करते हैं।

जब कि कुछ अवसरवादी कथित साधुओं ने राजकीय प्रलोभनों क चक्कर में पड़कर अपनी नीरक्षीर-विवेकात्मक

प्रवृत्ति को शिथिल कर डाला है, ऐसे धर्मसंकट के समय में भी यह 'कर्मयोगी' सन्त सनातनधर्म-मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिये कृतसंकल्प है। मुझे प्रसन्नता है कि आपने उक्त ग्रन्थ की उपयोगिता को अनुभव करके जहाँ निम्नलिखित अनुभूमि-कात्मक 'आशीर्वचांसि' लिखने की कृपा की है वहाँ 'श्रीनैमिष-विद्वत्परिषत्' द्वारा ग्यारह सौ रु० पारितोषक देकर उक्त ग्रंथ को सम्मानितभी किया है। एतदर्थ आप धन्यवादार्ह हैं। लेखक--]

यूं तो शास्त्रार्थमहारथी श्री पं० माधवाचार्यशास्त्रीप्रणीत सभी छोटे बड़े पुस्तक अपने अपने स्थान में अतीव उपयोगी हैं, परन्तु उन सब में भी 'पुराण दिग्दर्शन' नामक ग्रन्थ को यदि महारथी जी की जीवन भर की अनुसन्धानात्मक शास्त्र गवेषणा का सुमधुर 'अमर फल' कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

मुझे बालकपन से ही पूर्व जन्म संस्कारवश जनता जनार्दन की सेवा में जो सुखानुभूति होती है वह अन्य किसी भी कार्य में नहीं। इसी प्रवृत्ति के कारण विद्यार्थी जीवन से लेकर आज तक मेरा अधिक समय इसी क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ है। आर्ष ग्रन्थों को छोड़ कर आधुनिक ग्रन्थों के पढ़ने का न मुझे समय मिलता है और न इनमें मेरी रुचि ही है, परन्तु मेरी तादृशी प्रवृत्ति का यह एक मात्र अपवाद है कि मैं महारथी जी के ग्रन्थों को पढ़ने की अपनी इच्छा का संवरण नहीं कर सका। खास कर 'पुराण दिग्दर्शन' ग्रन्थ को तो धर्म प्रचार यात्रा के समय भी स्वाध्याय अपेक्षित अन्यान्य आर्ष ग्रन्थों की भान्ति आवश्यक सामग्री में परिगणित कर रक्खा है।

वैसे तो भारत का प्रत्येक आस्तिक महारथी जी की वाचिक और लिखिक धर्म सेवाओं के कारण उनसे सुपरिचित है परन्तु संयोगवश जब से मेरा और उनका अचानक विशेष सम्पर्क हुआ है तब से हम एक दूसरे को अधिक निकट से पहिचान पाए हैं। फलस्वरूप धर्म रक्षा के

समान उद्देश्य के कारण इससे जिस अभिन्नता एवं आत्मीयता का प्रादुर्भाव हुआ है वह भगवान् शङ्कर और मण्डन मिश्र के योगायोग की भान्ति आकस्मिक नहीं कही जा सकती, किन्तु धर्मरक्षक भगवान् की दैवी प्रेरणा का ही सुपरिणाम जान पड़ती है। उसी अपने-पन से प्रेरित होकर शास्त्री जी ने 'पुराण दिग्दर्शन' के सम्बन्ध में आशीर्वादात्मक कतिपय पंक्तियें लिखने का जब मुझ से अनुरोध किया तो मैं एतदर्थ सहर्ष तैयार हो गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन पुराणों के सम्बन्ध में विचार किया गया है वे चिरकाल से भारतीय समाज की चेतना को उद्बुद्ध करते आ रहे हैं। आबाल वृद्ध भारतीय जनता सदा से ही वेदों के साथ २ पुराणों को जानती व मानती रही है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार के रूप में वेदों के अनन्तर पुराण का ही सम्मानपूर्ण स्थान है। वेद तो वेद ही हैं—उनकी गरिमा के विषय में क्या कहना, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यालोचन करने पर हमें यह मानने को विवश होना पड़ता है कि भारतीय जन जीवन पर जितना गहरा प्रभाव पुराणों ने डाला है उतना अन्य किसी साहित्य ने नहीं। वेदों के अगम्य रहस्यों तक जन-सामान्य की पहुंच कहाँ ? वेद ज्ञान के लिये व्याकरणादि षडङ्गों में जिस प्रवीणता की आवश्यकता थी वह भला आम जनता के लिये कहां सम्भव थी ? फलतः अनादिकाल से ही विद्या-वैभव-सम्पन्न शिष्टवर्ग के लिये जहाँ वेदों का प्रादुर्भाव हुआ वहाँ जन-साधारण को सन्मार्ग पर प्रवृत्त करने के लिये साथ ही साथ पुराणों का विकास भी होता रहा।

जैसा कि इस ग्रन्थ में आगे विस्तार से प्रतिपादित किया गया है पुराणों की रचना किसी व्यक्तिविशेष की कृति नहीं अपितु वेदव्यास जी महाराज ने जब वेदों का विभागादि किया उसी समय चिरन्तन काल से चले आ रहे यत्र-तत्र बिखरे हुए पुराणों का भी विधिवत् संकलन करके उन्हें समरूपता प्रदान की। वास्तव में जिन साक्षात्कृतधर्मा

ऋषियों ने समाधि में वैदिक-ऋचाओं का दर्शन किया था उन्होंने ही जन सामान्य की भाषा में वेद के गूढ़ रहस्यों को समझाने के लिए पुराणों का प्रवचन किया।

पुराणों में जो कुछ कहा गया है वह चूंकि लोकभाषा में था इसलिये वेदों की अपेक्षा पुराणों का लोक-प्रिय हो जाना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त पुराणों में आर्य पूर्वजों का जो गौरवमय इतिहास संकलित हुआ उसने भी पुराणों को अधिक प्रभावशाली बनाया। यही कारण है कि आज भारत का प्रत्येक व्यक्ति वेदों से चाहे परिचय रखता हो या न रखता हो परन्तु पुराणों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी अवश्य रखता है। उनमें प्रतिपादित आख्यानों एवं कथाओं को आप राजमहल से लेकर झोंपड़ी तक कहीं भी सुन सकते हैं।

राजनीति, धर्मनीति, समाजविज्ञान इतिहास, अलङ्कार, व्याकरण भूगोल, ग्रह नक्षत्र विज्ञान, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि २ विश्व की वह कौन सी विद्या है—जिसका प्रतिपादन पुराणों ने नहीं किया। इन सब कारणों से भारतीय संस्कृति में पुराणों का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है वह किसी से छिपा नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में पुराणों के सम्बन्ध में विशद विचार प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने गहन अन्वेषण तथा अतिशय स्वाध्याय के अनन्तर विरोधियों की ओर से पुराणों पर अद्यावधि किये गए समस्त आक्षेपों का युक्तियुक्त एवं विद्वत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत करके इस आर्ष-साहित्य को उस सब कालिमा से बचा लिया है जो विरोधी उस पर लगाते थे।

आज से २५ वर्ष पूर्व जब यह पुस्तक लिखा गया था पुराणों का विपक्षियों द्वारा घोर विरोध होता था, परन्तु इस पुस्तक के प्रकाशन से धार्मिक जगत् में एक विराट् क्रान्ति सी हुई, और इसने पुराण-साहित्य के सम्बन्ध में फैली हुई नानाविध भ्रान्तियों का निराकरण करके

पुराणों के उज्ज्वल स्वरूप को जनता जनार्दन के समक्ष उपस्थित किया।

इस ग्रन्थ ने हिन्दु जाति के लिये दिव्याञ्जन का काम किया है। इसकी सहायता से वह कूड़े में फेंकी पुराण-पोथियों को पुनः सम्भालने और उनमें निहित अमूल्य निधियों का दर्शन पाने में सफल हो सकी।

पुराण 'विषसंपृक्तान्नवत्' त्याज्य नहीं। किन्तु 'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' के अनुसार 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वया सेवितव्यानि' रीति से मानव सुलभ भूलों से सचेत हो कर केवल श्रोतव्य ही नहीं अपितु यहाँ की संस्कृति, सभ्यता, पूर्वजों के गौरवमय इतिहास आदि की वास्तविक जानकारी के लिये सर्वथा अध्येतव्य भी हैं।

यही वह तथ्य है, जिसका प्रतिपादन विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में किया है जिसको हृदयङ्गम करके सभी लोग पुराणों के स्वाध्याय की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

'पुराण-दिग्दर्शन' का विद्वत्समाज में कितना आदर हुआ है यह इसीसे प्रकट है कि इस ग्रन्थ का यह चतुर्थं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

श्री सच्चिदानन्द भगवान् से प्रार्थना है कि वह आचार्य जी को दीर्घायु करे और उन्हें तादृश बल दें कि वे ऐसे २ अनुपम ग्रन्थ रचकर धर्मरक्षण में सदैव तत्पर रहें। शुभम्भूयात्।

अध्यात्म विद्यापीठ
नैमिषारण्य

नारदानन्द सरस्वती
व्यासपूर्णिमा २०१४

ग्रन्थकार परिचय

श्लोकौ —

कुरुक्षेत्रे तीर्थे नगरममलं भाति कमलं,
सदा विद्वद्वृन्दभ्रमर-निकरैः शोभिततलम् ।
इहोपाध्यायानां भुवनविदितं कौशिककुलं,
प्रदानाद् द्रव्याणां यदलभत 'दानाव'* पदवीम् ॥१॥
दुर्भिक्षे चान्नदानात्प्रथितबहुयशाः श्रीसदानन्दविप्र,
आसीद् गौडाग्रगण्यस्तनयजतनुजः श्यामलालस्तदीयः ।
‡ऋष्यग्र्यो रामनामा विबुधजनमतस्तत्सुतः ख्यातकीर्तिस्
तत्पुत्रोऽहं निबन्धं खलु विरचितवान् माधवाचार्यशास्त्री ॥२॥

दोहा

कुरुक्षेत्र में कमल-सम, 'कमल' नाम है ग्राम ।
जिन में पण्डित-वर-भ्रमर, करें सदा विश्राम ॥३॥
उपाध्याय जन का यहाँ, 'कौशिक' कुल विख्यात ।
द्रव्य-दान के हेतु से, जो 'दानो' कहि जात ॥४॥
सदावर्त दानी हुवे, 'सदानन्द' जी गौड़ ।
तिनके कुलभूषण सुवन, 'श्यामलाल द्विज मौड़ ॥५॥
तिन्हके सुत 'ऋषिराम' जी पौराणिक मम तात ।
शास्त्री-'माधवाचार्य' ने, किया ग्रन्थ यह ख्यात ॥६॥

टिप्पणी—*दानेन अवति रक्षति जनान् इति 'दानावः' (अस्यैवापभ्रंश-भूतो 'दानो' शब्दो लोके प्रसिद्धः) । ‡ऋषिराम इति प्रसिद्धः ।

कतिपय--पंक्तियाँ

(चतुर्थ संस्करणानुसारी परिमार्जित रूप में)

जब कि प्रस्तुत ग्रन्थ ही अष्टादश-पुराणों की भूमिका किंवा उपोद्घात कहा जा सकता है तब--'भूमिका-स्वरूप ग्रन्थ की भी कोई अनुभूमिका होनी ही चाहिये'-ऐसी क्लिष्ट-कल्पना अनवस्था-दोष-ग्रस्त होने के कारण हमारे निकट सर्वथा उपेक्षणीय है। इसलिए प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उत्कण्ठा के साथ 'भूमिका' ढूंढने वाले पाठकों को एक बार तो हमारी इन कतिपय-पंक्तियों पर ही संतोष करना पड़ेगा यह स्पष्ट है। परन्तु एतावता यह भी न समझ लेना चाहिए कि इस तरह हमने अपने कृपालु पाठकों की 'भूमिका-पिपठिषा' को तो अनवस्थाग्रास के उपहास से चुटकियों में उड़ा डाला! और स्वयं भूमिका लिखने की तीव्र तवालत से बाल बाल बच जाने के लिये 'क्लिष्ट-कल्पना' का बहाना ढूंढ निकाला है!! अपितु यदि विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ का धैर्य्यपूर्वक पारायण करेंगे तो उन्हें 'गगनं गगनाकारम्' न्याय के अनुसार एक ही वस्तु में उपमान और उपमेय दोनों धर्म्मों के अस्तित्त्व की भान्ति इस ग्रंथ के मूल में ही 'ग्रन्थ-विषयता' के साथ साथ 'भूमिकाभावत्व' का भी रसास्वादन अवश्य प्राप्त हो जायेगा, और तब वे हमारे स्वर में स्वर मिलाकर सहर्ष कह उठेंगे कि—'निस्सन्देह यह ग्रन्थ अपनी भूमिका आप ही है।

वर्तमान प्रणाली के अनुसार भूमिका में साधारणतया यही बातें प्रकट की जाया करती हैं कि—(क) इस ग्रन्थ में किन किन विषयों का प्रतिपादन किया गया है! (ख) इसके निर्माण करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? (ग) उस आवश्यकता को यह कहां तक पूरी कर सकेगा! और

(घ) कीदृग् जन-समुदाय के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगा ! इत्यादि···। सो यूं तो हमने उपर्युक्त जिज्ञासाओं का संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट समाधान पुरातन आर्ष-पद्धति के अनुसार इस ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्ध-चतुष्टय के रूप में संस्कृत-पद्यों द्वारा लिख ही दिया है, कदाचित् संस्कृत-पद्यों का भावार्थ सम्यक् समझने में कुछ पाठकों को तादृश अड़चन पड़े एतदर्थ यहाँ 'कतिपय-पंक्तियाँ' लिख देनी आवश्यक सी जान पड़ी हैं।

× × × ×

यद्यपि ग्रन्थ कलेवर बढ़ जाने के कारण यह ग्रन्थ हमारी भावना के अनुसार सर्वाङ्गपूर्ण नहीं छप सका और इसका बहुत सा उपयोगी अंश रोक लेना पड़ा है, कुछ प्रत्यक्ष घटनाएं परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित की जा सकीं हैं, तथापि हमने भरसक प्रयत्न किया है कि अब तक पुराणों के खण्डन में मुद्रित हो चुकने वाले छोटे बड़े सभी पुस्तकों का समाधान इस अकेले ग्रन्थ में आ जाये। तदनुसार—(१) सत्यार्थप्रकाश (२) ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका (३) पुराण-मत-पर्य्यालोचन (४) पुराणतत्त्व-प्रकाश (५) पुराण-विमर्श (६) कलयात आर्य्य मुसाफिर (७) भविष्य-पुराण की प्रेक्षा (८) सनातनधर्म्म की मौत (९) भविष्य-पुराण की आलोचना (१०) शिवपुराण की आलोचना (११) गरुड़-पुराण की आलोचना (१२) सतमत निरूपण (१३) धर्म्म तुला (१४) राम-परीक्षा (१५) कृष्ण-परीक्षा (१६) धूर्ताख्यान (१७) पुराणों के अनमोल रत्न (१८) बमबम महादेव (१९) पौराणिक भाव चित्रावलि (२०) देवताओं के गुलाम आदि ग्रन्थों का और 'सद्धर्म्म-प्रचारक' (बनारस) आदि सामयिक पत्र पत्रिकाओं का वह कोई विशिष्ट आक्षेप अछूता नहीं छोड़ा, जिसका कि सभ्यतापूर्ण मुंहतोड़ जवाब इस पुस्तक में न आ गया हो।

× × × ×

हमारा यह दावा कदापि नहीं कि यह ग्रन्थ एक दम 'मौलिक' है।

अपितु यह तो सनातनधर्म्म के अनेक प्रसिद्ध विद्वानों के ग्रन्थों, लेखकों और विचारों का ही परिमार्जित सुसंग्रह है । इसप्रकार जहां हम 'सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' के अनुसार अपनी 'गतानुगतिकता' को निःसंकोच भाव से कह देने के लिये तैयार हैं वहाँ हमें यह बात प्रकट कर देने में किंचित् सङ्कोच नहीं कि धार्म्मिक-साहित्य के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखनशैली और विवेचन-पद्धति सर्वथा मौलिक नहीं तो अभूतपूर्व अवश्य कही जा सकती है । तदनुसार हमने ग्रन्थ के मसाले को अतीव ठोस बनाने के विचार से अनावश्यक विस्तार में यथाशक्य परहेज किया है और पुरानी-नई खड़ी-बैठी ठेठ और खिचड़ी सभी प्रकार की प्रचलित भाषाओं को एक समान पूज्य जननी समझ कर अपनाया है । क्योंकि जब पुराणों ने परम पिता परमात्मा को 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार नाम रूप उपाधि भेद से नानाविध बतलाते हुवे भी उसके पारमार्थिक एकत्व को नहीं भुलाया है, तब पौराणिक—और हमारे जैसे चुस्त पौराणिक के लिये वन्दनीया मातृ-भाषा के किसी एक कल्पित रूप के झमेले में पड़ कर उसके उदार एवं व्यापक स्वरूप की अवहेलना करना कहाँ तक उचित हो सकता था ? इसलिये हमने न तो अनायास स्फुरित सुप्रसिद्ध शब्दों को काठ मार कर उन्हीं के पर्य्यायों का तीन सौ साठ बार पाठ करते हुवे 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' दिखाने का प्रयास किया है और नाहीं किसी शब्द को जबरदस्ती चोली पहिनाकर 'खड़ी बोली की टोली' में खड़ा करने का साहस दिखाया है । किन्तु स्वभावतः जब जैसा सूझा वैसा ही लिख डाला । अब समालोचक-चक्र-चूड़ामणि चाहे इसे 'चूं चूं का मुरब्बा' कहें और चाहे पतितापावनी त्रिवेणी की अविच्छिन्न धारा'! हमारे लिये सब दूषण भूषण हैं क्योंकि कविसम्राट् तुलसीदास जी की—

'कवित विवेक एक नहि मोरे । सत्य कहौं लिखि कागज कोरे'

—वाली उक्ति ठीक २ हम पर चरितार्थ होती है ।

यहां यह बता देना भी अनुचित न होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ उन पण्डित महानुभावों के लिए प्रकाशित नहीं किया जा रहा है जो कि अपनी तर्क तोमर की तीव्र धार से बाल की खाल उतार डालने की शक्ति रखते हुवे भी पुराण-निन्दकों की उपेक्षा कर सकते हैं ! तथा—नाहीं उन धन कुबेरों के लिये हैं जो कि गुदगुदे गदेले पर धन की पीनक में ऊंघते हुवे मरने की भी फुरसत नहीं रखते और पुराण-साहित्य पर निरन्तर चलते हुवे कुठाराघात का जिन्हें स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता ! किन्तु यह पुस्तक तो उन लोगों के लिये है जो पुराणों की रक्षा द्वारा अपने पूर्वजों की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये हृदय और हृदय में कर्तव्य-पालन का बल रखते हों !

× × × ×

इसके अतिरिक्त हम सुज्ञ पाठकों को ऐसा अन्ध विश्वास बांधने के लिए कभी प्रेरित नहीं कर सकते कि—इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह 'ब्रह्म-वाक्य है, बल्कि यह तो मिथ्या लाञ्छनों से पुराण-रक्षण का पथ प्रदर्शनमात्र है। यह कहां तक सुव्यवस्थित है यह तो पाठक ही निर्णय करें परन्तु पुराणनिन्दकों के हवाई किलों को छिन्न भिन्न करने के लिए 'रामबाण' है—ऐसा मेरा अनुभव है !

सम्भव क्या—निश्चित ही इसमें मनुष्य बुद्धि-सुलभ अनेक त्रुटियें होंगीं, शब्दार्थ-भाव-व्यत्यय का आभास दीख पड़ेगा—एवं हमारे विचारों से सहमत न होने का भी अवसर मिल जाएगा, सुतरां जो भी दोष दीख पड़ें वे सब एकमात्र मेरे ही समझने चाहियें। कदाचित् कुछ मौलिकता तथा मनन करने योग्य सामग्री प्रतीत हो तो वह वेद, शास्त्र एवं पुराणग्रन्थों की महिमा का दिग्दर्शन समझना चाहिये, यही मेरी प्रार्थना है।

मैं बड़ा ही प्रसन्न हूंगा यदि कोई लिक्खाड़ इस ग्रन्थ की युक्तियुक्त आलोचना करने को कलम उठाए ! परन्तु यह विस्मरणीय नहीं होगा

कि—जहाँ तक इस ग्रन्थ का सिद्धान्तों से सम्बन्ध है वहाँ तक—इसकी प्रत्यालोचना का उत्तरदातृत्व किसी संस्थाविशेष पर न होकर एकमात्र मुझ पर है, जिसके लिये आवश्यकता पड़ने पर मैं अभी से तैय्यार हूँ।

मैं न लेखक हूं, न ग्रन्थकार हूं, पुराणों के पारायण का व्यसनी अवश्य हूँ। यह जो कुछ 'पत्र पुष्पं' बन पड़ा है सो—

शारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तरयामी।
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।

—के अनुसार किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा का ही फल है। सो जिस प्रभु ने अब तक अपनी 'गई बहोरि गरीब निवाजू' वाली विरुदावलि का ध्यान रखा है वही आशुतोष कृपालु भविष्य में भी 'पूजहि मन कामना तुम्हारी' का अमर वरदान अवश्य प्रदान करेगा। बस! इसी आशा-वाद के सहारे यह अकिञ्चन भेंट लेकर धर्म्मप्रेमी हिन्दी साहित्य-सेवियों के सामने उपस्थित होने का साहस किया है।

जिन महानुभावों के ग्रन्थ, लेखों, किंवा विचारों से फिर चाहे वे पुराणों के मण्डन खण्डन किसी में भी क्यों न लिखे गए हों—इस पुस्तक के लिखने में हमें सहायती मिली है मैं उन सब का आभारी हूँ। इन्हीं शब्दों के साथ यह 'कतिपय-पंक्तियां' समाप्त हैं।

प्रथम संस्करण [सं० १९९०] द्वितीय संस्करण [सं० २००६]
तृतीय ,, [सं० २०१४] चतुर्थ ,, [सं० २०२८]

धर्मधाम, कमलानगर, दिल्ली —माधवाचार्य

विषय-सूची

पुराणपरिचयाध्यायः

(पहिला अध्याय—५० से ११३)

प्रमाण संग्रहाध्यायः

(दूसरा अध्याय—पृष्ठ ११४ से १४९ तक)

वेद-पुराण-परम्पराध्यायः

(तीसरा अध्याय पृष्ठ १५० से १८६ तक)

स्वरूपस्थापनाध्यायः

(चौथा अध्याय, पृष्ठ १८७ से २०३ तक)

कर्तृ निर्णयाध्यायः

(पांचवां अध्याय पृष्ठ २०४ से २४७ तक)

शैलीवर्णनाध्यायः

(छठा अध्याय पृष्ठ २४८ से २९९ तक)

विषय विवेचनाध्यायः

(सातवां अध्याय—पृष्ठ ३०० से ३५० तक)

वेद-पुराण समन्वयाध्यायः

(आठवां अध्याय पृष्ठ ३५१ से ४०६ तक)

सन्देहाभासनिवारणाध्यायः

(नौवां अध्याय पृष्ठ ४०७ से ५१९ तक)

विश्व विद्या निरूपणाध्यायः

(दसवाँ अध्याय पृष्ठ ७४२ से ७६२ तक)

* श्रीगणेशाय नमः *



पुराण दिग्दर्शन

मङ्गलाचरणम्

धर्मदृढबद्धमूलो वेद-स्कन्धः पुराणशाखाढ्यः ।
क्रतुकुसुमो मोक्षफलो, मधुसूदनपादपो जयति ।।

यो वै पुराण-पुरुषो ह्यवतीर्य्य लोके,
प्राप्तं विचिन्त्य कलिकालमनर्थमूलम् ।
तेने त्रयीं तदुपबृंहण-हेतवे च,
चक्रे पुराणकलनं स कथं न वन्द्यः ।।

मन्दोऽप्यहं यत्कृपया गभीरं, पुराण-सिन्धुं मथितुं प्रवृत्तः ।
प्रणम्य तच्छ्रीगुरुपादपद्मं, 'पुराण-दिग्दर्शन' मातनोमि ।।

ग्रन्थ-प्रयोजनम्

मेयो दयानन्द-समाज-भृत्यकैः,
पुराण-निन्दा क्रियते ह्यहर्निशम् ।

तथापि चेतांसि मनीषिणामहो !
कथं न दूयन्त इति स्म कौतुकम् ॥
कृतिर्ममैषा विदुषां समाजे,
भवेत्प्रशस्या बत ? निन्दिता वा ।
नूनं पुराणार्थ-विदूषकाणां,
कृते परं स्यात्सुविभीषिकेयम् ॥
अतो यथास्मत्प्रपितामहाद्यै-
र्महर्षिभिः प्राणपणेन नित्यम् ।
कृता पुरा वेद-पुराण-रक्षा,
कार्य्या तथास्माभिरितीह हेतुः ॥

ग्रन्थ-सम्बन्ध-विनिर्णयः

पुराण-तत्त्वेन तु बोध्य-बोधको,
विनिन्दकैश्चापि हि शास्य-शासकः ।
सुपाठकैः साकमु ! पाठ्य-पाठको,
ज्ञेयोऽत्र सम्बन्धविनिर्णयो बुधैः ॥

ग्रन्थाधिकारिणः

ये केऽपि संप्रति च पान्ति पुराणवृन्दं,
सद्विद्यया प्रतिभया च धनेन वापि ।
तेषां कृते लघुतरो हि मम प्रयासो,
ज्ञेयास्त एव विबुधा अधिकारिणोऽस्य ॥

पुराण-परिचयाध्याय

(पहिला अध्याय)

नाम-संख्या-क्रम-न्यास-लक्षणानां समन्वयः ।
न्यूनाधिक्याप्रमाणत्व-परिहार इहोच्यते ॥

पुराण-शब्द

किसी पदार्थ के निर्णय में उसका नाम भी गुण अथवा अवगुण बताने का एक साधन माना जाता है । प्राचीन काल से यह प्रथा चली आती है कि किसी भी पदार्थ-विशेष का वैसा ही नामकरण-संस्कार किया जाय जो कि अधिक से अधिक सीमा तक उसके गुण और अवगुणों को प्रकट करने की शक्ति रखता हो । ग्रन्थ-लेखक एवं कवि अपने निबन्धों का नाम चुनने में बहुत सोच विचार किया करते हैं और चाहा करते हैं कि ग्रन्थ का विस्तृत प्रतिपाद्य विषय हमारे निर्वाचित (कम से कम अक्षरों वाले) नाम से अभिव्यक्त हो सके । शायद विज्ञ पाठकों को यह बताने की आवश्यकता न हो कि हमारे संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थकारों को नाम चुनने में प्रायः सफलता मिली है । जहाँ वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराण आदि नाम अपने २ प्रतिपाद्य विषयों को स्पष्टतया घोषित कर देते हैं तथा उक्त शब्दों के

निर्वचनमात्र जान लेने से मूल ग्रन्थों का भान हो जाता है, वहाँ 'रघुवंश' 'कुमार-संभव' 'मुद्रा-राक्षस' आदि आधुनिक ग्रन्थ भी इसी शैली का अनुसरण करते हुए अपने २ प्रतिपाद्यविषयों का पता देते हैं : यही क्यों ? हमारे पूर्वजों ने इस नामकरण-शैली की प्रथा को ऐसा सुव्यवस्थित बनाने की चेष्टा की थी कि जिसे ध्यानपूर्वक देखने पर चकित सा रहना पड़ता है। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में नायक प्रतिनायक तथा अन्यान्य मुख्य पात्रों तक के नाम ऐसे विलक्षण हैं कि जो उस २ व्यक्ति के चरित्रों की विशेषता को सहसा प्रकट कर देते हैं। 'राम' जहां मर्यादाओं के आदर्शपालक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के चित में रमण करने वाले थे, वहां 'रावण' भी अपने अन्वर्थ गुण में कम न था। अर्थात्—प्राणीमात्र का सर्वोपरि रुलाने वाला था। 'युधिष्ठिर'—को महाभारत के युद्ध में स्थिर होना पड़ा और उन्होंने अपनी इस स्थिरता को अनेक धर्म-संकटों के अवसरों में भी हाथ से न जाने दिया। 'दुर्योधन'—भी अपने नाम के अनुरूप योधन (योद्धा) तो अवश्य था परन्तु दुर्-दुष्ट खोटा अन्याययुक्त युद्ध ही उसे प्रिय था, 'भीम'—के समान भयंकर और 'अर्जुन'—के समान अपने गुणों से दूसरों को अपना बनाने वाला वीर दूसरा मिलना कठिन है, ये दोनों विशेषताएं दुश्शासन की छाती फाड़ कर रुधिर की चुल्लु भरते हुवे भीम के दर्शन करने पर और अपने रथ के सारथ्य के लिए जगद्वन्द्य श्रीकृष्ण को नियुक्त करते हुये अर्जुन को देख कर स्फुट हो जाती हैं। द्रोपदी जैसी प्रातःस्मरणीया अबला को भरी सभा में नग्न करने में ही जिसकी विरुद सुरक्षित रहती हो उससे बढ़कर 'दुश्शासन' और कौन हो सकता है ? इसी प्रकार दूसरे व्यक्तियों के नाम और गुणों में भी समता है।

यहां तक यह बताने की चेष्टा की गई है कि प्राचीन समय में आर्य जाति में बहुत कुछ सोच समझ कर नामकरण करने की रीति प्रचलित थी। अब भले ही हजारों विद्यासागर, विद्याधर वेदप्रकाश और

वेदालङ्कार नाम वाले वज्रमूर्ख मिलते हों, और बहादुरसिंह नामधारी व्यक्ति चूहों की खड़खड़ाहट को चोर की सेंध समझकर चद्दर से मुंह ढाँप लेते हों परन्तु प्राचीन समय में 'यथा नाम तथा गुणः' सिद्धान्त पर बहुत बल दिया जाता था। खासकर ग्रन्थों के नाम-करण में तो कभी भी असावधानी नहीं की जाती थी यह बात संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ भली भांति जानते हैं। ईश्वरकृपा से ग्रन्थों के सम्बंध में तो अभी तक भी इस शिष्ट शैली का बहुत कुछ पालन किया जा रहा है। अब भी सिद्धहस्त लेखक अपने ग्रन्थ का नाम उस ग्रंथ की विशेषता व्यक्त कर सकने योग्य ही रखते हैं। इसलिए हम सर्वप्रथम 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

'पुराण'—शब्द, पुरा अव्ययपूर्वक णीञ् (प्रापणे) धातु से ड प्रत्यय करने पर बनता है। पुरा+नी+-ड यह तीनों भाग व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार 'पुराण' रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अथवा पुरा अव्यय से 'पुराभव' (पहले होने वाला) अर्थ में 'टयु' प्रत्यय हो जाने पर सिद्ध हो जाता है।

पाणिनीय व्याकरण में—

(क) सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुटयुलौ तुट् च (४।३।२२)

(ख) पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन। (२।१।४९)

(ग) पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४।३।१०५)

(घ) युवोरनाकौ (२।१।४९)

(ङ) अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२)

यह पाँच सूत्र 'पुराण' शब्द की सिद्धि में काम आते हैं। शास्त्र विशेषण होने के कारण यह शब्द 'नपुंसक' लिंग प्रयुक्त हुवा है।

निरुक्तकार यास्काचार्य ने अपने परम प्रसिद्ध वेदाङ्गभूत 'निरुक्त' ग्रन्थ में 'पुराण' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है —

पुराणं कस्मात्— 'पुरा नवं' भवति ।

(निरुक्त ३।१६।२४)

अर्थात् —पुराण क्यों कहा जाता है ? इसलिये कि—जो कभी पहिले नया हो, यानी वर्तमान समय में जिसकी नवीनता अभीष्ट न हो। सीधे शब्दों में पुराने को पुराण कहा जाता है। प्रायः सभी कोशकार एक स्वर से इस अर्थ को स्वीकार करते हैं। प्रतन, प्रत्न, पुरातन, चिरन्तन इसके पर्य्यायवाची शब्द हैं, परन्तु 'पुराण' शब्द विशेष रूप से अष्टादश ग्रन्थों में रूढ़-सा सो गया है। इसलिए अमरकोश (१।६।५) में—

पुराणं पंचलक्षणम् ।

अर्थात्—(१) सृष्टि की उत्पत्ति, (२) विनाश, (३) वंशपरम्परा, (४) मनुओं का वर्णन तथा (५) विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र—यह पांच विषय जिन ग्रन्थों में मुख्यतया वर्णित हों उन्हें 'पुराण' कहते हैं—ऐसा लिखा है।

यह लक्षण वर्तमान पुराण-ग्रन्थों में सर्वथा घटित होता है। संसार की किसी भी भाषा में पुराणों के समान सृष्टि-विषय-विधायक, सर्वतोमुख ग्रन्थ देखने में नहीं आता। संस्कृत साहित्य में भी पुराणों को छोड़ कर अन्य किसी ग्रन्थ में इस प्रकार का सुसम्बद्ध एवं वैज्ञानिक सृष्टिक्रम विस्तारपूर्वक नहीं मिलता। इसलिये पुराण शब्द का वास्तविक अर्थ ही इस बात का सब से बड़ा प्रमाण है कि ये ग्रन्थ पुराने से पुराने—यहां तक कि मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति-काल से भी पूर्वतम—रहस्यों का प्रत्यक्ष की भांति वर्णन करते हैं। सूर्य्य, चन्द्र आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र, तारे सितारे और सैय्यारे-कब ? कैसे ? किस प्रकार बने ?—यह सब बातें केवल पुराणों से ही जानी जा सकती हैं। इतने पर भी जो लोग पुराणों को नवीन कहने का दुःसाहस करते

हैं, वे न केवल पुराणों के प्रतिपाद्य विषय से ही अपरिचित हैं बल्कि पुराण शब्द की व्युत्पत्ति से और इसके साधक व्याकरण सूत्रों से भी सर्वथा अनभिज्ञ ही समझने चाहियें।

अष्टादश-पुराण-नाम

सृष्टि की उत्पत्ति के समय से आरम्भ करके प्रलयकाल पर्यन्त ब्रह्माण्ड का क्रमबद्ध इतिहास बताने वाले, तथा इस लम्बे अर्से के बीच ब्रह्माण्ड में जो तात्त्विक परिवर्तन हुए या होंगे उन सबका वैज्ञानिक किन्तु सरल और विश्वस्त वर्णन करने वाले एवं आर्य्य-संस्कृति की सजीव-मुंहबोलती-प्रतिमाओं के मणि-मँदिर, विरोधी भी जिनके चमत्कारों से विमुग्ध होकर सहसा उन्हें 'वास्तविक विश्वकोष' कहने के लिए विवश होते हैं उन सर्व-गुण-सम्पन्न पुराणों के नाम नीचे लिखे जाते हैं—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम्।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम्॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं, मार्कण्डेयं सवामनम्।
वाराहमात्स्यं कौर्मञ्च, ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्॥

(श्रीभागवत १२। ७। २३-२४)

(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) शिव (वायु) (५) लिङ्ग (६) गरुड़ (७) नारद (८) भागवत (९) अग्नि (१०) स्कन्द (११) भविष्य (१२) ब्रह्मवैवर्त (१३) मार्कण्डेय (१४) वामन (१५) वाराह (१६) मत्स्य (१७) कूर्म्म और (१८) ब्रह्माण्ड—यह सब अठारह पुराण हैं।

उप-पुराण

पुराणों की भांति उप पुराण भी अठारह हैं। उपपुराण पुराणों की अपेक्षा हीन कोटि के ग्रंथ नहीं हैं। जैसे इन्द्र से उपेन्द्र हीन नहीं, किन्तु ततोप्यधिक हैं। इसी प्रकार उपपुराण भी अपनी सामग्री की उपादेयता के कारण तथैव प्रामाणिक कोटि के मान्यतर ग्रंथ हैं। वेदों के विशेष मर्मज्ञ श्री षड्गुरु शिष्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदार्थ-दीपिका' में नृसिंह उपपुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। इतिवृत्त-विशेषज्ञों के निर्णयानुसार षड्गुरु शिष्य का प्रादुर्भाव विक्रम की ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है, इससे उपपुराणों की प्राचीनता का पता भली भाँति लग जाता है। इसी प्रकार यवन जाति के विद्वान् अलबुरूनी ने अपने भ्रमण-वृतान्त में—नन्दा, आदित्य, सोम, साम्ब और नृसिंह आदि उपपुराणों का जिक्र किया है। यह महोदय निर्विवाद सन् १०३० ईसवी में भारत आये थे। सभी साहित्यवेत्ता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। उस समय उपपुराण विद्यमान थे और पण्डित-मण्डल में उनका विशिष्ट आदर था यह उपर्युक्त अल्बेरूनी के उद्धरण से विदित होता है। उपपुराणों के नाम निम्नलिखित हैं—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम्।
तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥१॥
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम्।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्य्यं नारदोक्तमतः परम् ॥२॥
कपिलं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम्।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥३॥
माहेश्वरं तथा साम्बं सौर्यं सर्वार्थसंचयम्।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥४॥

(१) आदि पुराण—सनत्कुमार का बनाया (२) नरसिंह पुराण (३) स्कन्द पुराण, कुमार का बनाया (४) शिवधर्म्म पुराण नन्दीश का बनाया (५) दुर्वासा पुराण (६) नारदोक्त पुराण (७) कपिल पुराण (८) वामन पुराण (९) औशनस पुराण (१०) ब्रह्माण्ड पुराण (११) वरुणपुराण (१२) कालिका पुराण (१३) माहेश्वर पुराण (१४) साम्ब पुराण (१५) सौर पुराण (१६) पाराशर पुराण (१७) मारीच पुराण और (१८) भास्कर पुराण—ये अठारह उपपुराण हैं।

औपपुराण

औपपुराणों की संख्या भी अठारह ही है, जिनमें बृहन्नारद और खासकर हरिवंश का तो बहुत प्रचार है। अल्बेरूनी के वृतान्त में आदित्य और नन्दा—जो नन्दिकेश्वर का अपभ्रंश प्रतीत होता है—नामक औपपुराणों का भी उल्लेख मिलता है अतः निर्विवाद ये ग्रन्थ भी नवीन नहीं है, जैसा कि कुतर्की लोग कहते हैं। औपपुराणों के नाम इस प्रकार हैं—

आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्च यत्।
आदित्यं मानवप्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च ॥३७॥
कौर्म्मं भागवतं ज्ञेयं वाशिष्ठं भार्गवं तथा।
मुद्गलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं तथा ॥३८॥
बृहद्धर्म्मं परानन्दं वह्निं पशुपतिं तथा।
हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥३९॥

(बृहद् विवेक अध्याय ३)

(१) सनत्कुमार पुराण (२) बृहन्नारदीयपुराण (३) आदित्य-पुराण (४) मानव पुराण (५) नन्दिकेश्वर पुराण (६) कौर्म पुराण (७) भागवत पुराण (८) वशिष्ठ पुराण (९) भार्गव पुराण

(१०) मुद्गल पुराण (११) कल्कि पुराण (१२) देवी पुराण (१३) महाभागवत पुराण (१४) बृहद्धर्म्म पुराण (१५) परानन्द पुराण (१३) पशुपति पुराण (१७) वह्नि पुराण और (१८) हरिवंश पुराण, ये सब अठारह औपपुराण हैं।

ये सब मिलकर ५४ ग्रन्थ पुराण नाम से विख्यात हैं। इस समय लगभग ४३ ग्रन्थ यत्र-यत्र छप चुके हैं जो सर्वसाधारण को सुलभता से मिल सकते हैं। कई एक ग्रन्थों का सेठ चान्दमल हैदराबाद [दक्षिण] की लाइब्रेरी में—नाथद्वारे के गोस्वामियों के पुस्तकालय में, एवं काश्मीर और नैपाल के राजकीय पुस्तक भण्डार में पता लगा है। कई एक पुस्तक अभी तक हमारे देखने सुनने में भी नहीं आई शायद कहीं दबी पड़ी हों। अथवा वैदिक साहित्य के अन्यान्य अमूल्य ग्रन्थ रत्नों की भांति यवन बादशाहों के हमामों की धधकती आग में सदा के लिये स्वाहा हो गये हों! इस भेद को ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कौन जान सकता है।

यद्यपि हमने प्रसंगवशात् यहाँ पुराण के साथ २ उप-पुराण और औपपुराणों का भी उल्लेख किया है और आवश्यकतानुसार आगे भी किया जा सकता है, तथापि हमारी विवेचना की सीमा सर्वविदित और सर्व सुलभ अष्टादश पुराण ग्रन्थों तक ही परिसीमित है, अतः मुख्यतः इन पर ही विचार किया जाता है।

संख्या-व्यत्यय-आभास

पुराणों की संख्या अठारह है, यह पूर्वोक्त नामों की गणना से भली भांति ज्ञात हो सकता है, परन्तु येन केन प्रकारेण पुराणों के खण्डन की शपथ खाने वाले लोगों ने कई प्रकार के हेत्वाभास देकर पुराणों की संख्या को न्यून या अधिक बनाने का शिरतोड़ प्रयत्न किया है। यद्यपि किसी ग्रन्थ की हेयोपादेयता में संख्या का वैशिष्ट्य कुछ मूल्य नहीं

रखता तथापि ऐसे स्वयम्भू समालोचक कितनी योग्यता के अधिपति होते हैं—यह प्रकट करने के लिए इस विषय पर भी विचार करना अनुचित न होगा ।

शिव और वायु

शङ्कावादियों का कथन है कि अग्नि, कूर्म्म और देवीभागवतादि कई पुराणों में 'शिव-पुराण' की गणना नहीं है किन्तु इसके स्थान में 'वायु पुराण' का नाम लिखा है जबकि अन्यान्य पुराणों में 'शिव पुराण' को गिना है । इस प्रकार दोनों को पुराण मान लेने पर पुराणों की संख्या १९ हो जाती है । इस नाम भेद पर भी शङ्कावादियों को खासी बकझक का अवसर मिल जाता है । परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि एक ग्रन्थ के एकाधिक नाम भी हो सकते हैं । वैदिक सहित्य में चौथे वेद का नाम 'अथर्ववेद' प्रसिद्ध है परन्तु कई स्थलों पर इसे "ब्रह्मवेद' के नाम से भी स्मरण किया गया है । यथा:—

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ।

अथर्वा ऋषि द्वारा संकलित होने के कारण इसे अथर्व कहते हैं और होता, अध्वर्यू, उद्गाता तथा ब्रह्मा नामक ऋत्विजों में ब्रह्माधिकृत होनेके कारण इसे 'ब्रह्मवेद' भी कहते हैं । संस्कृत साहित्य में भी 'उत्तर-मीमांसा' या 'वेदांत-दर्शन' और 'शिशुपालबध' या 'माघ काव्य' आदि—एक २ ग्रन्थ के दो दो नाम पाए जाते हैं । इसी प्रकार एक ही पुराण के शिव वायु दो नाम हैं। यह पुराण वास्तव में एक लक्ष श्लोक संख्या वाला द्वादशसंहितात्मक बृहद् ग्रन्थ था जो साक्षात् शिव भगवान् द्वारा ही उपदिष्ट हुआ था । इसके ७६ हजार पद्य तो शिवलोक में प्रसिद्ध हुवे शेष २४ हजार प्रमाण वाला अंश वायु ने भूलोक में प्रचलित किया । इसलिए इस पुराण के दो नाम पड़ गये । जैसा कि निम्नलिखित प्रमाणों से जाना जाता है:—

(क) यथा शिवस्तथा शैवपुराणं वायुनोदितम् ।
शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयविभूषितम् ॥
(वायवीय रेवा माहात्म्य)

(ख) तदिदं शैवमाख्यातं पुराणं वेदसम्मतम् ।
निर्मितं तच्छिवेनैव प्रथमं ब्रह्मसम्मितम् ॥

(ग) तदेव लक्षसंख्याकं शैवसंख्याविभेदतः ।
व्यासेन तत्तु संक्षिप्तं चतुर्विंशत्सहस्रकम् ॥

अर्थात्— (क) साक्षात् शिव के समान शिवपुराण वायु ने कथन किया है, वही शिवभक्ति का विधायक होने के कारण 'शिव पुराण' तथा 'वायु पुराण' इन दो दो नामों से विख्यात है। (ख) वेद सम्मत शिवपुराण शिव भगवान् का निर्माण किया हुआ है। (ग) जो एक लक्ष श्लोक प्रमाण वाला था, पश्चाद् व्यास जी ने २४ हजार प्रमाण में उसे संक्षिप्त किया।

दो भागवत

अठारह पुराणों में भागवत नामक पुराण के स्थान में दो ग्रन्थ गिने जाते हैं। एक 'श्रीमद्भागवत' और दूसरा 'देवी-भागवत'। छिद्रान्वेषी महाशय इन दोनों ग्रन्थों को जुदा जुदा गिन कर पुराण संख्या को १९ बनाने का प्रयास किया करते हैं। अथवा दोनों में किसी एक को पुराण मान कर दूसरे को उपपुराण कोटि में प्रविष्ट करना चाहा करते हैं। तथा वैष्णव और शाक्त सम्प्रदाय के लोगों द्वारा अपने अपने पुराण को उच्च कोटि में गिनाये जाने की चेष्टा के स्वप्न देखा करते हैं।

हमें इन बेचारे अदूरदर्शी नरपुंगवों की विवेचना बुद्धि पर दया आती है कि इन्हें संस्कृत साहित्य के साधारण से नियमों का भी रत्ती

भर ज्ञान नहीं है। पुराण गणना में केवल 'भागवत' नाम ही दिया गया है, कहीं भी 'श्रीमद्' या 'देवी' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अत: 'त्यक्तानुबन्धे सामान्यग्रहणम्' इस नियम के अनुसार भागवतत्व सामान्येन दोनों का ही ग्रहण होगा। 'भागवत' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'भगवतो भगवत्या वा इदम् भागवतम्'—इस प्रकार दोनों पुराणों के एकत्व में प्रमाण है। श्रीमद्भागवत में पुरुष प्राधान्य से और देवी भागवत में प्रकृति प्राधान्य से उस एक ही जगन्नियन्ता का वर्णन किया गया है; अत: दोनों के सम्मिलित कर देने पर एक पूरा पुराण बनता है।

शायद वेद पारायणी पाठकों को यह तो बताने की आवश्यकता न हो कि वेद गणना में दूसरे वेद को 'यजुर्वेद' के नाम से गिना जाता है, परन्तु यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण नाम के दो भेद हैं जो भिन्न-भिन्न पुस्तकाकार में उपलब्ध होते हैं। अपनी २ शाखा के अनुसार खास २ देशों में शुक्ल संहिता का और किन्हीं देशों में कृष्ण संहिता का अधिक प्रचार है। भाष्यकारों ने भी अपनी २ शाखानुसार किसी एक पर ही भाष्य किया है, यथा सर्ववेद-भाष्यकार सायण ने कृष्णयजुर्वेद पर ही भाष्य रचा है। उव्वट तथा महीधर ने केवल शुल्क यजुर्वेद पर। आर्य-समाज भी शुक्लवेद का ही विशेष आग्रही है, तथापि वैदिक सिद्धान्त में मान्यता और सांप्रदायिकता को तथैव सुस्थिर रखते हुए निरनुबन्ध-यजुः-शब्द से दोनों भेदों को अविशेष एक वेद ही माना गया है। उक्त भेदों के कारण न तो वेदों को पांच बनाने का प्रयास किया जाता है और नाँहीं पारस्परिक भेदभाव का आरोप किया जाता है। ठीक इसी प्रकार की भागवत के दोनों भेदों की समस्या है। इससे अधिक कुछ कहना अनावश्यक है।

वायु और ब्रह्माण्ड

जिस प्रकार 'शिव-पुराण' का दूसरा नाम 'वायु-पुराण' है इसी प्रकार

अन्तिम 'ब्रह्माण्ड-पुराण' की भी किसी २ स्थान पर 'वायु-पुराण' संज्ञा है, यहाँ भी दोनों को पृथक् २ गिन कर पुराणों की संख्या को १६ बताने का साहस किया जाया करता है, परन्तु यह पुराण भी ब्रह्मा जी से वायु ने प्राप्त किया और आगे ऋषियों के प्रति कथन किया है। कवि समय-ख्याति का यह सिद्धान्त है कि ग्रन्थ का नाम उसके निर्माण करने वाले वक्ता के नाम पर तथा उसके प्रतिपाद्य विषय के नाम पर भी हो सकता है यथा :—

'कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना काव्य-नाम भवति।'

सो प्रतिपाद्य विषय के अनुसार इसे 'ब्रह्माण्ड-पुराण' कहते हैं, और वक्ता के नामानुसार इसे ही 'वायु-पुराण' भी कहते हैं। इसकी वायु-प्रोक्तता के विषय में नीचे लिखा प्रमाण द्रष्टव्य है, यथा:—

पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना ।।

(ब्रह्माण्ड-पाद १ १।२६)

अर्थात् – (सूत जी ने शौनकादि ऋषियों के प्रति कहा) मैं वायु द्वारा कथन किये हुए 'ब्रह्माण्ड-पुराण' को तुम्हारे प्रति कहता हूं। उपलब्ध ब्रह्माण्ड-पुराण की अध्याय समाप्ति में भी 'वायुप्रोक्तसंहितायां' ऐसा उल्लेख मिलता है। ऐशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित 'ब्रह्माण्ड-पुराण' का मूल नाम ही वायु पुराण छपा हुआ है। कूर्म्मपुराणोक्त (१।१३-१५) पुराण गणना में भी 'ब्रह्माण्ड-पुराण' के स्थान में अन्तिम पुराण को 'वायुपुराण' के नाम से गिना है।

वायु से शिव या ब्रह्माण्ड ?

अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि "जब शिव और ब्रह्माण्ड दोनों ही पुराणों की वायु संज्ञा है, फिर गणना में वायु नाम से कहां कौन-सा पुराण ग्राह्य है इसका विवेक कैसा किया जाये ?" – इस समस्या को हल

करने का सरल उपाय यह है कि जिस गणना में शिवपुराण का नाम रहते हुए वायु नाम से अन्य किसी पुराण को गिना हो वहां वायु शब्द से 'ब्रह्माण्डपुराण' समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस गणना में 'ब्रह्माण्ड-पुराण' का नाम रहते हुए भी वायु नाम से एक पुराण को याद किया हो वहां उसका अर्थ 'शिवपुराण' समझना चाहिये। जहां पर दो वार वायु नाम से ही दोनों पुराणों को स्मरण किया हो वहाँ पहिले नाम से 'शिवपुराण' को और दूसरे नाम से 'ब्रह्माण्डपुराण' को जानना चाहिए। अभी तक ऐसी गणना हमारी दृष्टि मे नहीं पड़ी तथापि सम्भवता में इस नियम का उपयोग हो सकता है। उपपुराणों में 'शिवधर्म-पुराण' नाम का एक उपपुराण है। कभी २ उसका संक्षिप्त नाम 'शिवपुराण' भी कह दिया जाता है, इसलिए उक्त नामों का पार्थक्य प्रकट करने के लिये व्यवहार में महापुराण को 'वायवीय शिव-पुराण' और उपपुराण को 'नन्दीश प्रोक्त शिवधर्म-पुराण' तथा अठारहवें पुराण को 'वायवीय-ब्रह्माण्डपुराण' कहना चाहिये, इस प्रकार तत्काल ही वक्ता के अभीष्ट पुराण को श्रोता जान सकेगा।

वह्नि और अग्नि

कई समालोचकों ने सर्व सुलभ 'अग्निपुराण' के अतिरिक्त एक अप्रकाशित 'वह्निपुराण' का भी उल्लेख किया है, जिसके केवल १=१ अध्याय बताये जाते हैं; और इस पर्यायवाची नामभेद के आधार पर उक्त दोनों के परिगणन से पुराण संख्या के आधिक्य का स्वप्न देखा जाता है। हमारी सम्मति में इस नाम का कोई स्वतन्त्र पुराण नहीं है। न तो किसी भी पुराण में उक्त नाम का निर्देश है और नाही नारदोक्त-सूची से इसके विषय का सम्बन्ध है। यह तो औपपुराणों में परिगणित सत्रहवां 'वह्निपुराण' है, इसकी उपलब्धि से पुराणों की अष्टादश संख्या पर आक्षेप करना अपनी अल्पज्ञता का परिचय देना है।

स्कन्द-पुराण है या उपपुराण ?

कुमार या षण्मुख का बनाया हुआ एक 'स्कन्द महापुराण' है और दूसरा इसी नाम का उपपुराण भी है, अतएव पुराणों और उपपुराणों दोनों में ही उक्त नाम का सन्निवेश है। शङ्कावादी दोनों को एक बनाकर पुराणों या उपपुराणों में से किसी एक की संख्या को १७ बनाने का प्रयत्न किया करते हैं, परन्तु वास्तव में ये एक ही नाम के दो भिन्न २ ग्रन्थ हैं। इस समय जो उपलब्ध स्कन्दपुराण की पद्यसंख्या असली प्रमाण से उन्नीस हजार के लगभग अधिक आंकी जाती है, सम्भवतः वह मुद्रण के समय पुराण और उपपुराण दोनों की सम्मिलित कापी भूल से छप जाने के कारण ही बढ़ी है। दोनों के समान वक्ता, और समान विषय होने के कारण भी एकत्व का भ्रम हो जाना स्वाभाविक जान पड़ता है।

नारद, वामन, ब्रह्माण्ड, कौर्म और भागवत ?

उपपुराणों में – 'नारदोक्त' 'वामन और ब्रह्माण्ड' नाम के उपपुराण गिने गये हैं। इसी प्रकार औपपुराणों में 'बृहन्नारद' 'कौर्म्म' और 'भागवत' नाम के औपपुराणों की गणना है, जिसे देखकर शङ्का-पङ्क-निमग्न महाशय, उपर्युक्त रीति से महापुराणों की अष्टादश संख्या पर आक्षेप किया करते हैं। परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि वाल्मीकि, तुलसीदास, और राधेश्याम आदि कवियों ने अपनी २ राम चरित सम्बन्धी कृति को समान रूप से 'रामायण' नाम ही दिया है ; आगे भी अन्यान्य कवि यह नाम रख सकते हैं परन्तु ग्रन्थों का सन्मान कृति की विशिष्टता के अनुकूल ही होगा। इसी प्रकार वेदव्यास जी का अनुकरण करते हुए दूसरे ऋषियों ने भी यदि प्रतिपाद्य विषय की समानता के कारण अपने निर्माण किये ग्रन्थों के नाम वामन, कौर्म, भागवत और ब्रह्माण्ड आदि रख दिये तो इसमें अनर्थ कौनसा हो गया ? तथा कृति की उत्कृष्टता और सामान्यता के तारतम्य से उन २ ग्रन्थों को यदि 'महापुराण' 'उपपुराण' या औप-

पुराण' नामक किसी एक श्रेणी में स्थान दिया तो इसमें क्या शङ्का का पहाड़ टूट पड़ा ? इसी तरह नारद जी के उपदिष्ट तत्त्वों को यदि व्यास आदि ऋषियों ने अपनी २ शैली में तीन भांति से निबद्ध किया हो और वे तीनों ग्रन्थ विषय उत्कृष्टता के तारतम्य से एक 'महापुराण' श्रेणी में, दूसरा 'उपपुराण' श्रेणी में और तीसरा 'औपपुराण' श्रेणी में परिगणित हुआ हो तो इसमें भी आश्चर्य की बात कौन सी है ?

इस प्रकार हम पुराणों की निश्चित अठारह संख्या को न्यूनाधिक बताने वाले समालोचकों या दुरालोचकों के दिये हुये हेत्वाभासों की निस्सारता दिखाने के बाद पुनः एक बार सिंहनाद से घोषित कर देते हैं कि पुराणों की संख्या न न्यून है, न अधिक है, किन्तु पूरी नौ दूनी अठारह है ।

अठारह पुराणों के नाम सुगमता से कण्ठस्थ करने के लिये नीचे लिखा संग्रह श्लोक उपयोगी होगा, यथा :—

'म' द्वयं 'भ' द्वयं चैव, 'ब्र' त्रयं 'व' चतुष्टयम् ।
अ, ना, प, लिं, ग, कू, स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ।।

(देवी भागवत १।३।२)

अर्थात्—मत्स्य और मार्कण्डेय दो मकारादि, भविष्य और भागवत दो भकारादि, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्माण्ड तीन ब्रकारादि, वायु (शिव) विष्णु, वामन और वाराह चार वकारादि तथा आद्यक्षरों के अनुसार— अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़ कूर्म और स्कन्द—सब मिला कर अठारह पुराण हैं ।

अष्टादश-संख्या-विज्ञान

पुराणों की संख्या अठारह है, यह हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं । कई विद्वानों ने उक्त संख्या की विशिष्टता का भी मनन करने योग्य

रहस्य प्रकट किया है। (पिछले दिनों पुराणमर्मज्ञ पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का इसी आशय का एक लेख 'ब्राह्मण-सर्वस्व' पत्र के 'पुराणाङ्क' में छपा था।) जब हम यह देखते है कि श्री वेदव्यास जी महाराज ने अपनी कृति का किसी न किसी रूप में अष्टादश संख्या से सम्बन्ध जोड़ा है तो स्वभावत: यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसका कुछ न कुछ रहस्य भी अवश्य होगा !—पुराण अठारह, उपपुराण भी अठारह। महाभारत के पर्व अठारह—सर्व शास्त्रसारभूत श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय भी अठारह। यही क्यों ?—संस्कृत साहित्य के शिरोमणि-भूत श्री भागवतपुराण की श्लोक संख्या भी अठारह हजार। इस अष्टादश संख्या विन्यास के बाहुल्य को 'घुणाक्षर-न्याय' से आकस्मिक नहीं कहा जा सकता ? अवश्य ही इसमें कुछ न कुछ गूढ़ रहस्य है। अस्तु

पुराणों का प्रधान विषय 'सृष्टि' है। इसीके वर्णन की साङ्गोपाङ्गता के लिये वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित और प्रतिसर्ग आदि सापेक्ष्य हैं। इसलिये जिस प्रकार पुराणों का विशिष्ट-क्रम सृष्टि-प्रक्रिया के तात्त्विक पौर्वापर्य का परिचायक है—जैसा कि हम आगे चल कर प्रकट करेंगे—उसी प्रकार पुराणों की अष्टादश संख्या का विन्यास भी सृष्टि के मूल तत्त्वों का निदर्शक है। यथा :—

(१) शतपथ ब्राह्मण के अष्टम काण्ड में सृष्टि नाम की इष्टिकाओं के उपधान की जहाँ विधि है वहां सत्रह इष्टिकाओं के उपधान की उपपत्ति बताते हुये सृष्टि के सत्रह भेद निरूपित हुये हैं और उन सत्रहों का सम्बन्ध एक मुख्य प्रजापति से बताया है। इस प्रकार वैदिक प्रक्रियानुसार सृष्टि के अठारह भेद सिद्ध हो जाते हैं यथा :—

(क) प्रतूर्तिरष्टादश:। (यजु० १४।२३)

(ख) तस्य द्वादश मासा: पञ्चर्तव: संवत्सर एव प्रतूर्ति: (सृष्टि) (शतपथे ८।४।१।१३)

अर्थात्—बारह मास, पाँच ऋतुवें, जिस प्रकार एक संवत्सर के अङ्ग हैं इसी तरह एक प्रजापति में सत्रह इष्टिकायें प्रवृद्ध होती हैं। सृष्टि के अष्टादश भेदों पर दृष्टि रखने के लिये सृष्टि प्रतिपादक ग्रन्थ के अष्टादश भेद होना अत्यावश्यक समझा गया है।

(२) वेद में छन्दः से सब सृष्टि मानी गई है। छन्दः यद्यपि गायत्री से लेकर जगती तक सात हैं, किन्तु गायत्री और विराट् ये दो छन्द इस सृष्टि-विद्या में प्रधान माने गये हैं। इन दो में ही समस्त सृष्टि का सार निहित है। वैदिक प्रक्रिया में गायत्री को भूमि-स्थानीया प्रकृति की प्रतिनिधि माना गया है, और विराट् को द्यौः-स्थानीय पुरुष का प्रतिनिधि स्वीकार किया गया है। द्यावाभूमि या विराट्-गायत्री ही सृष्टि के मुख्य आधारभूत तत्त्व हैं। सो गायत्री अष्टाक्षर पाद का छन्द है और विराट् दशाक्षर पाद का। आठ और दश अठारह। यों छन्दः-सृष्टिवाद की ओर दृष्टि आकृष्ट करने के लिये भी सृष्टि-ग्रन्थों का अष्टादश संख्या से सम्बन्ध रचना आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचना के आधारभूत नीचे लिखे प्रमाण द्रष्टव्य हैं। यथाः—

(क) गायत्री वा इयं पृथिवी (शतपथ ४।३।४।६)

(ख) वैराजो वै पुरुषः (ताण्ड्य २।७।८)

(ग) अष्टाक्षरा गायत्री (ऐतरेय ६।२०)

(घ) दशाक्षरो विराट् (तैत्तिरीय १।१।५।३)

(३) गायत्री अग्नि का छन्द है और विराट् आदित्य का। यही दोनों अग्नि और आदित्य सृष्टि के मुख्य कारण हैं। इनसे सृष्टि का सम्बन्ध बताने के लिये इनके छन्दों से सम्बन्ध रखना चाहिये। और इन छन्दों के ८ × १० = १८ अक्षर होते हैं इसलिए भी सृष्टि-प्रतिपादक पुराण अठारह बनाये गये हैं।

(४) अनन्त आकाश— जिसमें कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अन्तर्गत है उसे वैदिक परिभाषा में 'परमाकाश' कहते हैं। एक सूर्य का प्रकाश जितने आकाश में परिव्याप्त रहता है उस ब्रह्माण्ड परिच्छिन्न आकाश को 'पुराणाकाश' कहते हैं। और अध्यात्म में प्रत्येक प्राणी के हृदयाकाश को 'दहराकाश' कहते हैं। इस आकाश के तीन भेदों में पुराणाकाश का ही पुराण से सम्बन्ध है—यह कहने की आवश्यकता नहीं। पुराणाकाश (ब्रह्माण्डपरिच्छिन्न आकाश) ३६० विभागों अंशों में बाँटा जाता है—यह ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता अच्छी तरह जानते हैं। इनमें दृश्य आकाश में १८० और अदृश्य आकाश में १८० अंश होते हैं। सृष्टि का सम्बंध विशेषकर दृश्य आकाश से ही है। उसके १८० अंश हैं। दस-दस का एक विराट् होता है इस नियम से १८० अंश के पुराणाकाश में १८ ही विराट् हैं। बस पुराणाकाश से उक्त ग्रंथों का सम्बंध बताने के लिये भी पुराणों का १८ होना आवश्यक है।

(५) आदि विद्वान् भगवान्कपिल का साँख्यदर्शन सबसे प्राचीन दर्शन है और पुराणों में सांख्य की प्रक्रिया ही सृष्टि-निरूपण में बहुत अंशों में आदृत हुई है—यह पुराणज्ञों से छिपा नहीं है। साँख्य में २५ तत्त्व माने जाते हैं, यथा—मूल प्रकृति १ प्रकृति विकृति ७. (महान्, अहंकार) और पाँच तन्मात्राएं) केवल विकृति १६. (एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत) और प्रकृतिभाव से अतीत पुरुष १—यही पच्चीस की गणना है। इनमें मूल प्रकृति और पुरुष की सृष्टि नहीं होती। यह दोनों अनादि अनन्त तत्त्व है। शेष २३ में पञ्च तन्मात्राओं की ही स्थूल अवस्था पंचमहाभूत है। इन दोनों को एक कर लेने पर सृज्यमान (जिनकी सृष्टि होती है) तत्त्व १८ रह जाते हैं। तब सृष्टि प्रतिपादक ग्रन्थों का अष्टादश संख्या से सम्बन्ध होना तत्त्व-संख्या की दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है।

(७) अध्यात्म दृष्टि से सूक्ष्म शरीर ही व्यावहारिक जीव है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस ही में पुण्य पाप का संस्कार रहता है, और इसकी

ही लोक परलोक गति होती है। सूक्ष्म शरीर में १७ तत्त्व साख्यदर्शन में बताये गये हैं। दश इन्द्रियाँ, मन, पञ्च महाभूतों के सूक्ष्मांश और बुद्धि। यह संसरण काल के सूक्ष्म शरीर का निरूपण है। उस समय अहंभाव नहीं होता, इसलिये अहंकार की गणना इसमें नहीं हुई है। यदि अहंकार वा अहंकारास्पद चिदाभास (जीव) की गणना इसमें और कर ली जाय तो सूक्ष्म शरीर के तत्त्व भी अठारह हो जाते हैं। इन अठारह से पाप होना सम्भव है इसलिये उन सब की निवृत्ति के लिए उत्तम विद्या के ग्रन्थ अठारह बताये गये हैं। ऐसी उपपत्ति भी कई विद्वान् करते हैं।

(७) दृश्य ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को स्थान सत्ता की दृष्टि से वैदिक-प्रक्रिया में तीन भागों में विभक्त किया है। (क) पृथ्वी-स्थानीय (ख) अन्तरिक्ष स्थानीय और (ग) द्युःस्थानीय। काल-क्रम की गति से प्रत्येक पदार्थ में छः परिवर्तन होते हैं—सत्ता, उत्पत्ति, बढ़ना, पकना, घटना और विनष्ट हो जाना। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युः स्थानीय प्रत्येक के छः छः भाव-विकार सम्मिलित करने पर १८ बन जाते हैं। पुराण उक्त तीनों स्थानों के पदार्थों के सर्ग, प्रतिसर्ग आदि का निरूपण करते हैं। अतएव भाव विकार संख्या के अनुसार पुराणों की संख्या भी अठारह है।

क्रम-व्यत्यय-आभास

पुराणों की गणना प्रायः सब पुराणों में की गई है। विचार दृष्टि से देखने पर गणना के क्रम में कुछ अन्तर मालूम पड़ता है। किसी पुराण में अमुक पुराण की अमुक संख्या दी है और दूसरे में इसके विरुद्ध उल्लेख है। कई छिद्रान्वेषी महाशय उपर्युक्त अन्तर को लेकर शङ्कागर्त में बेतरह गिर पड़े हैं। उक्त गणना-क्रम को ठीक से न समझने के कारण 'पुराण-मतपर्य्यालोचन' 'पुराणतत्त्व-प्रकाशादि' ग्रन्थकार इन ग्रन्थों में

बेपर की हांक बैठे हैं। इसलिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि गणना क्रम के विरोध पर भी चन्द पंक्तियें लिखी जायें।

वैदिक साहित्यत्वेत्ता यह भली भांति जानते हैं कि वेदों का क्रम—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—इस प्रकार प्रसिद्ध है। यत्र-तत्र ग्रन्थों में प्रायः इसी क्रम से चारों का उल्लेख मिलता है। परन्तु बहुत से वैदिक ग्रन्थों में इसके विपरीत भी क्रम लिखा हैं यथा—

(क) यजुश्च ऋक् च साम च त्रयी ह्येषा विद्या।

(शतपथ ६।३।३।१४)

(ख) ऋचो यजूंषि सामानि। (शतपथ ४।६।६।१)

(ग) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।

(अथर्व ११।७।२४)

उपर्युक्त प्रमाणों में—(क) यजुः, ऋक्, साम, (ख) ऋक्, यजुः, साम, (ग) ऋक्, साम, यजुः—एक दूसरे के विरुद्ध क्रम लिखा है। हम पुराणों की आलोचना करने का दम भरने वाले महाशयों से पूछना चाहते हैं कि आपने कभी वेद-क्रम की विरुद्धता पर भी कुछ विचार किया है।

वस्तुतः क्रम-विन्यास कवि की भावना पर निर्भर होता है। वह जिन भावों से प्रेरित होकर जिस वस्तु स्थिति को अपने क्रम से अभिव्यक्त करना चाहेगा उसी रूप में अपनी कृति को निबद्ध करेगा; उदाहरणार्थ—

(१) सर्ववेद-भाष्यकार सायणाचार्य्य ने चारों वेदों पर भाष्य रचते हुये यजुर्वेद को ही प्रथम स्थान दिया है।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता में—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर सामवेद को ही अपनी विभूति प्रकट किया है। जिससे गीता की दृष्टि में सामवेद की मुख्यता एवं प्रथमता स्पष्ट है।

(३) यास्कादि आचार्यों की सम्मति में—और वर्तमानकालीन पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समालोचकों के विचार में ऋग्वेद ही सर्वश्रेष्ठ मुख्य—प्रथम मानने योग्य है।

इन विविध विचार-धाराओं का सामंजस्य करने के लिये तत्तद् वक्ताओं की भावनाओं का पता लगाना आवश्यक है। हमारे विचार में यजुर्वेद की प्रथमता प्रकट करने वाले सायणादि की भावना में वेदों की प्रवृत्ति केवल 'यज्ञ' के लिये है, और यज्ञों की इतिकर्तव्यता अध्वर्यु अधिकृत यजुर्वेद पर निर्भर है। जैसा कि 'अध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इत्यादि निर्वचनों द्वारा यास्काचार्य्य ने प्रकट किया है। यज्ञ की साङ्गोपाङ्गता के लिए ही तत्तद् देवताओं की स्तुति-प्रयोजक ऋचाओं की आवश्यकता हो सकती है और यज्ञ की साङ्गता के लिये हीं गीति-प्रधान ऋचाओं की अपेक्षाकृत जरूरत पड़ती है अतः यज्ञ-प्रक्रिया में सर्वप्रथम यजुः फिर ऋक् और तदनन्तर साम यही क्रम वास्तविक हो सकता है।

साम को मुख्य या प्रथम मानने वालों की भावना यज्ञमयी नहीं है बल्कि वे 'सहृदय-हृदयैकवेद्यता' की भावना से गान को ही तत्काल श्रोतृ-मनो-मुग्धकारी समझते हैं यह प्रत्यक्ष भी अनुभव किया जा सकता है। अतः वे गीतिमन्त्रों को प्रथम स्थान देते है, इस भावना के अनुसार साम को प्रथम मानना स्वाभाविक ही है।

विज्ञानवाद में—पृथ्वी-अन्तरिक्ष और द्यौः इन तीनों स्थानों की देवतारूप परमात्मशक्तियों का वर्णन करना ही वेदों का मुख्य उद्देश्य है। उक्त स्थानों की प्रतिनिधि शक्तियें क्रमशः अग्नि वायु और आदित्य माने जाते हैं। सो पृथ्वी-स्थानीय अग्नि देवता का निरूपक 'अग्निमीले' शब्द से आरम्भ होने वाला ऋग्वेद है और अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु देवता का प्रतिपादक — 'इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थदेवः' आदि शब्दों से आरम्भ होने वाला यजुर्वेद है। तथा द्युःस्थानीय आदित्य देवता का प्रस्तावक

सामवेद है। अतः वैज्ञानिक भावना में ऋक् यजुः साम यही क्रम युक्ति-संगत हो सकता है।

वेदों की भांति पुराणों के क्रम-विन्यास में भी भावना की विशिष्टता का ही साम्राज्य है। वेदव्यास जी ने जिन पुराणों में जो क्रम निर्दिष्ट किया है वह भी किसी भावना विशेष से प्रेरित हो कर ही किया है। हमने पुराणों के क्रमविन्यास का पार्थक्य मिलाने पर यह परिणाम निकाला है कि मुख्यतया तीन प्रकार का गणनाक्रम पुराणों में पाया जाता है। यदि हम इस पार्थक्य का तात्त्विक विश्लेषण करना चाहें तो उक्त तीनों क्रमों को इस प्रकार कह सकते हैं; पहिला – सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक 'विशिष्ट-क्रम' – जो लिङ्ग, मार्कण्डेय, और श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है और इस ग्रन्थ में भी 'अष्टादश-पुराण नाम' शीर्षक के नीचे जिसे प्रधान स्थान दिया गया है। दूसरा—सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक 'अविशिष्ट-क्रम' – जो विष्णु, मत्स्य, शिव, कूर्म्म, पद्म और श्रीमद्भागवत-आदि पुराणों में लिखा है। तीसरा – 'वर्णसाम्यक्रम' – जो देवी-भागवत में लिखा है। यद्यपि यह तीनों नाम हमारे ही निर्धारित किये हुवे हैं तथापि क्रम-विन्यास की भिन्नता को समझने में ये पाठकों को पर्य्याप्त सहायता कर सकते हैं एतदर्थ यहाँ इनका निरूपण किया जाता है।

'विशिष्ट क्रम' में – जीव ब्रह्म की व्यावहारिक भेद भावना को स्थिर रखते हुये ब्रह्म से ब्रह्माण्ड का बनना और उसी में पुनः लीन हो जाना जिस प्रक्रिया से सम्पन्न होता है वह क्रम बताया गया है। 'अविशिष्टक्रम में—जीव ब्रह्म की पारमार्थिक ऐक्य-भावना को ध्यान में रखते हुवे ब्रह्म का नाम रूप उपाधि द्वारा ब्रह्माण्ड रूप में भासना, और अविद्यावृत्ति पूर्वक पुनः अपने आप में स्थिर होना—जिस प्रक्रिया से सम्पन्न होता है —वह क्रम बताया है। वर्णसाम्यक्रम में—तात्त्विक पौर्वापर्य्य भावना को छोड़ कर यदृच्छा से केवल तुल्य वर्णों की समतानुसार अठारह नामों को गिन दिया है। अब इनका विशेष निरूपण किया जाता है।

पुराण-क्रम-विज्ञान

विशिष्ट-क्रम

देवी-भागवत को छोड़ कर प्रायः सभी पुराणों में पहिला पुराण 'ब्रह्म' है और अन्तिम पुराण 'ब्रह्माण्ड' है, जिससे यह सूचित किया है कि ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड रूप में परिणत हो जाता है ! यह दृश्य ब्रह्माण्ड ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, अस्तु। अब अन्य पुराणों का क्रम भी देखिये। आपने कभी शेषशायी भगवान् का चित्र अवश्य देखा होगा, यह एक वैज्ञानिक चित्र है जो देखने में साधारण होते हुवे भी गहरी फिलासफी से भरपूर है। हम यहाँ केवल उसके बहिरङ्ग रूप पर विचार करते हैं। क्षीरसागर समुद्र में शेषनाग की शैय्या पर भगवान् लेटे हुये हैं, उनकी नाभि में कमल पैदा हुआ है जिस पर बैठे हुये ब्रह्मा जी वेदपाठ कर रहे हैं। यही सृष्टि के रचयिता हैं।

पीछे कहा गया है कि ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पर्यन्त तक की समस्त प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप से निरूपण करना ही पुराणों का विषय है। सो सर्वप्रथम यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्माण्ड का रचयिता कौन है ? इस प्रश्न का समाधान करने को पहिला 'ब्रह्मपुराण' उपस्थित होता है जिससे यह सूचित किया गया है कि 'ब्रह्म ब्रह्माभवत्स्वयम्' (तैत्तिरीय-३। १२। ६। ३) के अनुसार ब्रह्म ही ब्रह्मा रूप से सृष्टि का रचयिता है। यही तत्त्व समझाने के लिए पहिले पुराण का नाम 'ब्रह्म' रखा गया है। स्वभावतः दूसरी जिज्ञासा होगी कि ब्रह्मा जी कहाँ से पैदा हुये ? इसका उत्तर देने के लिये दूसरा 'पद्मपुराण' उपस्थित है, अर्थात्—ब्रह्मा जी पद्म (नाभि-कमल) से पैदा हुये हैं। पद्म कहाँ से निकला ! इस प्रश्न की पूर्ति तीसरा 'विष्णुपुराण' करता है। यहाँ तक सर्वाधार विष्णु से कमल और कमल से ब्रह्मा, इन तत्त्वों को विलोम-क्रम

से प्रकट किया है। अब जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मा जी ने मूल सृष्टि का पता कैसे लगाया ? तब चौथा 'शिवपुराण' जवाब देता है कि 'शिव अर्थात्—वेद से।' पौराणिक भाषा में शिव नाम वेद का है जैसा कि पद्मपुराणोक्त श्रीमद्भागवत-माहात्म्य (१ । १६) के 'अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः' आदि श्लोक की व्याख्या करते हुए—'शिवो वेदः' ऐसा लिखा है। वस्तुतः 'यथापूर्वमकल्पयत्' सिद्धान्त के अनुसार वेद ही सृष्टि रहस्य का अपूर्व खजाना है। लीन अर्थ के गमक चिन्हों को 'लिङ्ग' कहते हैं। महाप्रलय में विलीन हुए पदार्थों के कारणात्मक तत्त्वों को पुनः संधीभूत करना ही सर्ग है—यह रहस्य पांचवें 'लिङ्ग-पुराण' से प्रकट होता है। मानव सृष्टि में प्राणियों की गति-विधियों का तारतम्य ही जन्म-मरण विधायक है, उसके परिज्ञानार्थ और्ध्वदैहिक रहस्य निरूपण करने वाला छठा 'गरुडपुराण' है। यहां तक यह व्यञ्जित हो चुका कि वह नाभि-कमलस्थ ब्रह्मा, वेदात्मक-ज्ञान, लिङ्गात्मक कारणीभूत पदार्थ और जीवों की कर्म-परम्परा के अनुसार ही सर्गोन्मुख हुआ। तब सब से पूर्व विमिश्रित-पञ्चमहाभूतों का कलाल जिसे वैदिक भाषा में 'उच्छिष्ट', पौराणिक भाषा में 'नार' और स्मृति शब्दों में 'आप' कहते हैं — उत्पन्न हुआ। 'अप एव ससर्जादौ' (मनु १ । ८) 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' (मनु १ । १०) आदि प्रमाण इस विषय में द्रष्टव्य हैं। इस भाव को प्रकट करने वाला सातवाँ 'नारदपुराण' है। नर = (कारणजलों) का दाता होने के कारण यही तत्त्व नारद है। अनन्तर यह पंचमहा-भूतात्मक अण्डाधिष्ठित देव — द्यौः-भूमि अथवा पुरुष-स्त्री नाम दो भागों में विभक्त हो जाता है, जिसका ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त दक्षिणांश भगवान् और वामांश भगवती कहा जाता है, इस तत्त्व को प्रकट करने वाला आठवाँ पुराण भगवती है, जो पुरुष प्राधान्य से 'श्रीमद्भागवत' और प्रकृति प्राधान्य से 'देवी-भागवत' के नाम से विख्यात है। यहाँ से वैजी-सृष्टि का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार विष्णु से आरम्भ करके मैथुनी

सृष्टि की उत्पत्ति-पर्यन्त तात्त्विक पौर्वापर्य का क्रम दिखाया गया है। अब स्वभावतः यह जिज्ञासा होगी कि पूर्वोक्त रीति से जन्म मरण के बन्धन में फंसे हुवे जीव का कल्याण किस प्रकार हो सकता है ? इसका समाधान अगले पुराणोंमें किया गया है। नवम पुराण 'अग्नि' द्वारा यज्ञादि सकाम कर्म्म करके शुभ लोकों की प्राप्ति का आदेश करता है। दशम पुराण 'स्कन्द'—शिव भगवान् के नाना अवतारों के चरित्रों का आदेश करता हुवा 'विद्याकामस्तु गिरिशम्' के अनुसार ब्रह्मविद्या एवं ज्ञान के अधिकारी पुरुषों को शिव-उपासना की शिक्षा देता है। ग्यारहवां भविष्य-पुराण' धर्म्मार्थ काम मोक्ष के प्रथम साधन आरोग्य की प्राप्ति के लिए 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' के अनुसार सूर्य भगवान् की उपासना का महत्त्व बतलाता है। बारहवां 'ब्रह्म वैवर्त-पुराण' गणेश आदि देवों के चरित्रों का विधायक है। तेरहवाँ 'मार्कण्डेय-पुराण' शक्ति चरित्रों का खजाना है। ये दोनों पुराण साधनशक्तिशून्य एवं नानाविघ्न-संकुल कलिकाल के प्राणियों को 'कलौ चण्डीविनायकौ' के अनुसार शक्ति और विघ्नराज की उपासना का आदेश करते हैं।

चौदहवाँ 'वामन' पन्द्रहवाँ 'वाराह' सोलहवा 'मत्स्य' और सत्रहवां 'कूर्म्म' ये चारों पुराण विष्णु भगवान् के सृष्टि क्रम से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य चारों अवतारों का प्रधानतया निरूपण करते हुए मोक्षाभिलाषी अधिकारी को श्रीमन्नारायणमुकुन्द विष्णु भगवान् की शरणागति का आदेश करते हैं। इस प्रकार जीवों के कल्याणार्थ यज्ञ और शिव, सूर्य गणेश, दुर्गा तथा विष्णु आदि की पञ्चोपासना क्रमशः छहों पुराणों द्वारा बतलाई गई है। अन्त में अठारहवां 'ब्रह्माण्डपुराण' इस समस्त सृष्टि-प्रक्रिया का उपसंहार करता हुआ अपने मूल तत्त्व 'ब्रह्म' की ओर संकेत करता है कि 'आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्' के सिद्धांतानुसार यह विविध प्रकार की उपासना एक ब्रह्मोपासना में परिणत हो जाती है। यही पुराणों के विशिष्ट-क्रम का वैज्ञानिक रहस्य है।

अविशिष्ट-क्रम

दूसरा क्रम इस प्रकार है—(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) विष्णु (४) वायु (५) भागवत (६) नारद (७) मार्कण्डेय (८) अग्नि (९) भविष्य (१०) ब्रह्मवैवर्त (११) लिङ्ग (१२) वाराह (१३) स्कन्द (१४) वामन (१५) कूर्म्म (१६) मत्स्य (१७) गरुड़ (१८) ब्रह्माण्ड ।

उक्त क्रम में 'ब्रह्म पद्म और विष्णु' की गणना तो विशिष्ट क्रम के समान ही है अतः इनकी उपपत्ति भी पूर्ववत् ही समझनी चाहिए । अब जिज्ञासा होती है कि विष्णु भगवान् किस आधार पर स्थित हैं उस तत्त्व (शेषशय्या) का निरूपण चौथा 'वायुपुराण' करता है । शेषभगवान् क्षीर समुद्र में हैं उस क्षीर समुद्र का तत्त्व बताने को पाँचवां 'श्रीभागवत' उपस्थित है । समुद्र का नाम सरस्वान् है । सरस्वान् विषय जहां प्रधान हों वह सारस्वत् । अतएव 'श्रीभागवत' को सारस्वत कल्परूप से आचार्यों ने स्वीकार किया है । अस्तु, क्षीर समुद्र में भगवान् की शय्या के समीप वीणाधारी नारद जी निरन्तर रहते हैं, यही आशय छठे 'नारदपुराण' का है । ये छः पुराण क्रम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं ! और सृष्टि चित्र के सब तत्त्वों को खोल कर जिज्ञासु जनों को समझा देते हैं । सृष्टि के अन्तर्गत साकार पदार्थों का जन्य-जनकभाव यहाँ तक निरूपित हुवा । किन्तु इस सब सृष्टि और इन सब साकार ईश्वरों का मूल तत्त्व क्या है जिसकी प्रेरणा वा आज्ञा से ये सब इस सृष्टि-चक्र को चला रहे हैं—यह जिज्ञासा अभी निवृत्त नहीं हुई । इसलिये आगे के पुराण उस मूल तत्त्व के सम्बन्ध में विवेचक ऋषियों की विप्रतिपत्ति का दिग्दर्शन कराते हैं ।

प्रकृति ही मूलतत्त्व है—ऐसा एक मत है, इसके निदर्शनार्थ सातवां 'मार्कण्डेयपुराण' उपस्थित है। प्राणरूप अग्नि सब का मूल तत्त्व है,

ऐसी दूसरी विप्रतिपत्ति है—इसे स्पष्ट समझाने को आठवां 'अग्निपुराण' है। अग्नि का भी उत्पादक सूर्य है इसलिए सूर्य या आदित्य मूल तत्त्व हैं यह तीसरी विप्रतिपत्ति है इसके निरूपणार्थ नवम 'भविष्यपुराण' है। 'भविष्य' में सूर्य को ही प्रधान परमतत्त्व कहा गया है। इस प्रकार मूल तत्त्व के सम्बन्ध में कई विप्रतिपत्तियाँ दिखा कर पुराण अपनी ओर से 'ब्रह्म' को मूल तत्त्व बताता हुआ 'ब्रह्मवैवर्त' दशम पुराण के द्वारा सिद्धान्त को स्पष्ट कर देता है। यों दश पुराण तक के क्रम से सृष्टि का पूर्ण विकाश और जगत् का मूल तत्त्व बता दिया गया है। अब वह मूल तत्त्व 'ब्रह्म' किस प्रकार पहिचाना जाये ? वह किन रूपों से किस प्रकार सृष्टि का निर्वाह करता है ? जीव अपने कल्याण के लिये कैसे उसकी उपासना करे—इत्यादि जिज्ञासाएँ उपस्थित होती हैं। उन्हें निवृत्त करने को आगे के छः पुराणों में उस परब्रह्म के अवतारों का निरूपण है। ग्यारहवां 'लिङ्गपुराण' और तेरहवाँ 'स्कन्दपुराण' भगवान् परम शिव के अवतारों का दिग्दर्शन कराते हैं। और १२वां 'वाराह', १३वां 'वामन', १५वाँ 'कूर्म्म', १६वां 'मत्स्य' ये चारों भगवान् महाविष्णु के अवतारों का विवरण करते हैं। यद्यपि भगवान् विष्णु के अनन्त अवतारों में २४ प्रधान माने गये हैं तथापि उनमें भी दश अवतारों की विशेष रूप से प्रधानता है यह सृष्टि विज्ञान का मनन करने पर समझ में आ सकता है : अस्तु, अब कर्म उपासनादि के सम्बन्ध से जीव की विविध गति बताने को सत्रहवाँ 'गरुड़पुराण' और उन सब गतियों का आयतन (आधार) बताने को अठारहवाँ 'ब्रह्माण्ड' उपस्थित होता है। यों सपरिकर प्रधान विद्या का निरूपण अठारह पुराणों द्वारा हो जाता है, और आगे कोई ज्ञातव्य विषय शेष नहीं रहता। यही अविशिष्ट क्रम का रहस्य है।

यहां यह कह देना अनुचित न होगा कि पूर्वोक्त क्रम-रहस्य में जिस पुराण का जो विशिष्ट स्थान नियत किया गया है वह केवल उस पुराण के प्रतिपाद्य विषय की मुख्यता के आधार पर ही किया गया है। वैसे तो

प्रत्येक पुराण में प्रसङ्गोपात्त अनेक विषय वर्णित हैं तथा 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार किसी एक विषय की प्रधानता से ही उसका वैसा नाम पड़ा है – यह विज्ञजन भली प्रकार जान सकते हैं।

जिन पुराणों में उक्त क्रम को रूपान्तर में प्रकट किया है वहां जिज्ञासाओं के क्रम को भी उसी रूप में स्थिर किया गया है ऐसा समझना चाहिये।

वर्ण-साम्य-क्रम

देवी भागवत में जिज्ञासानिवृत्ति की दृष्टि को एक तरफ रखकर केवल आक्षरिक समता के अनुसार ही गणना की है यथा – मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड, वामन, वाराह विष्णु, वायु इत्यादि।

लक्षण-समन्वय

संस्कृत साहित्य का नियम है कि—'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' अर्थात् – लक्षण और प्रमाणों से ही किसी विषय की सिद्धि होती है, नाम मात्र के ही निर्देश से नहीं। अतः पीछे जिन अष्टादश पुराणों के नाम संख्या और क्रम का विवेचन किया गया है अब उनके लक्षणों और प्रमाणों का सम्बन्ध पूर्वक निर्देश किया जाता है।

१–ब्रह्म पुराण

(क) ब्रह्मणाऽभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये।
ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रं पुराणं परिकीर्त्यते॥
(मत्स्य ५३।१३)

(ख) तथा चायुतसंख्याकं पुराणं ब्रह्मसंज्ञकम्।
(देवीभागवत १।३।५)

अर्थात्—(क) पूर्व काल में ब्रह्मा जी ने मरीचि के प्रति जो कथन किया था वह 'ब्रह्म-पुराण' है, इसकी श्लोक संख्या तेरह हजार है। (ख) ब्रह्मपुराण का प्रमाण (अयुत) दस हजार है।

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों में श्लोक संख्या विभिन्न लिखी गई है, उपलब्ध 'ब्रह्मपुराण' में दश हजार सात सौ पद्य मिलते हैं, इस द्विविध विरोध का परिहार यह है कि—वैदिक काल से गुरु शिष्य सम्प्रदाय द्वारा उक्त पुराण के १३ हजार पद्य चले आ रहे थे, परन्तु जब वेदव्यास जी ने ब्रह्मपुराण का संकलन किया तो तात्पर्य्य प्राधान्य से वही प्रसङ्ग १३ हजार के बजाय १० हजार पद्यों में ही निबद्ध हो गया। अत: 'मत्स्य-पुराण' में स्पष्टतया ब्रह्म-मरीचि-संवादात्मक पूर्वकालीन संख्या का उल्लेख किया गया है और 'देवीभागवत' में वेदव्यास द्वारा परिष्कृत संकलनकालीन प्रमाण का निर्देश है। सो कालभेद से दोनों ही सुव्यवस्थित हैं। उपलब्ध ब्रह्मपुराण में यह लक्षण प्रायः घटता है। जो सात सौ के लगभग अधिक श्लोक हैं वे पश्चात् प्रक्षिप्त हैं यह स्पष्ट ही है।

२—पद्म पुराण

एतदेव यदा पद्मं ह्यभूद्धैरण्मयं जगत्।
तद्वृत्तान्तादयं तद्वत् पाद्ममित्युच्यते बुधैः॥
पाद्मं तत्पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणीह कथ्यते॥

(मत्स्य ५३-१३-१४)

अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में यह जगत् हिरण्यमय पद्म रूप में प्रकट हुआ था, उस वैज्ञानिक वृत्तान्त का प्रतिपादक होने के कारण उक्त पुराण की 'पद्मपुराण' संज्ञा है, और इसकी पद्य संख्या पचपन हजार है।

उपलब्ध पद्मपुराण में उपर्युक्त लक्षण प्रायः घटता है। परन्तु पद्यसंख्या आनन्दाश्रम ग्रन्थावली (पूना) की प्रति में ४६ हजार के

लगभग है, और वैङ्कटेश्वर प्रेस (बम्बई) की प्रति में उल्लिखित संख्या से भी अधिक है। साम्प्रदायिकता के नाम पर शास्त्रहत्या करने वाले अहंमन्यों की कृपा से इसमें प्रक्षिप्तांश का भी अभाव नहीं है।

३-विष्णु पुराण

वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः।
यत्प्राह धर्मानखिलांस्तदुक्तं वैष्णवं विदुः॥
त्रयोविंशतिसाहस्रं तत्प्रमाणं विदुर्बुधाः॥
(मत्स्य ५३।१६-१७)

अर्थात्—पराशर ऋषि ने वाराह कल्प के वृत्तान्त को लक्ष्य करके जो वैष्णव धर्मों का प्रतिपादन किया है वह 'विष्णुपुराण' है। इसकी श्लोक संख्या तेईस हजार है।

उपलब्ध 'विष्णुपुराण' में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटता है, परन्तु इसकी श्लोक संख्या बहुत कम है, 'विष्णु धर्म्मोत्तर' को सम्मिलित करने पर भी लगभग सात हजार श्लोकों की कमी रहती है। भारत के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् ब्रह्मगुप्त ने विष्णुपुराण के जिस ज्योतिषांश के आधार पर जगत्प्रसिद्ध 'ब्रह्म सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था वह उपयोगी अंश आज लुप्तप्राय है। इसी प्रकार उक्त पुराण के नाम से संगृहीत 'कृष्णजन्माष्टमी व्रत कथा', भारताख्यान' आदि स्तोत्रों के समावेश वाला अंश भी देखने में नहीं आता। अतः दुःखपूर्वक कहना पड़ता है कि यह पुराण अधूरा है।

४-शिव (वायु) पुराण

श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्म्मान्वायुरिहाब्रवीत्।
यत्र तद् वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम्॥

चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ॥

(मत्स्य ५३।१७-१८)

अर्थात्—वायु ने श्वेतकल्प के प्रसंग से अनेक धर्मों का और रुद्रदेव के माहात्म्य का जिसमें वर्णन किया हो उसे ही 'वायुपुराण' किंवा 'शिवपुराण' कहते हैं जिसका श्लोक प्रमाण २४ हजार है।

उपलब्ध शिवपुराण में यह लक्षण सर्वथा घटित होता है परन्तु पद्यसंख्या केवल १८ हजार के लगभग है, लक्षणोक्ति के अनुसार छः हजार श्लोकों की कमी है। जान पड़ता है कि यह अंश या तो लुप्त हो चुका है अथवा 'शिवधर्म्म-पुराण' नामक उपपुराण में भूल से सम्मिलित कर दिया गया है।

५—लिङ्ग पुराण

यत्राग्निलिङ्गमध्यस्थः प्राह देवो महेश्वरः।
धर्मार्थकाममोक्षार्थमाग्नेयमधिकृत्य च ॥
कल्पान्ते लिङ्गमित्युक्तं पुराणं ब्रह्मणा स्वयम्।
तदेकादशसाहस्रम्......................॥

(मत्स्य ५३।३६-३७)

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में महेश्वरदेव ने आग्नेय कल्प को लक्ष्य करके और अग्निलिङ्ग में स्थित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—पदार्थों की प्राप्ति का साधन बताया हो वही 'लिङ्गपुराण' है। जिसकी पद्यसंख्या ग्यारह हजार है।

उपलब्ध लिङ्गपुराण में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है पद्यसंख्या भी प्रायः ठीक है।

६—गरुड़ पुराण

(क) यदा च गारुडे कल्पे विश्वाण्डाद् गरुडोद्भवम् ।
अधिकृत्याब्रवीद् विष्णुर्गारुडं तदिहोच्यते ।।
तदष्टादशकं चैव सहस्राणीह पठ्यते ।।

(मत्स्य ५३।५२-५३)

(ख) एकोनविंशसाहस्रं तार्क्ष्यकल्पकथान्वितम् ।

(नारद पुराण ४।९)

अर्थात्—(क) जिस ग्रन्थ में विष्णु भगवान् ने गरुड़ कल्प के प्रसंग में विश्वरूप अण्ड से लेकर सब वृत्तान्त गरुड़ के प्रति वर्णन किया है वही 'गरुड़पुराण' संज्ञा वाला है। इसकी पद्यसंख्या अठारह हजार है अथवा (ख) उन्नीस हजार है।

उपलब्ध गरुड़पुराण में यह लक्षण अंशतः घटित होता है परन्तु पद्यसंख्या प्रेतकल्पसहित अन्यून ग्यारह हजार ही शेष है। वास्तव में इस पुराण का प्रमाण १८५०० था, ५०० के तारतम्य से ही मत्स्य और नारद पुराणोक्त प्रमाण में एक सहस्र का अन्तर है—ऐसा कई पण्डितों का मत है।

७—नारद पुराण

शृणु विप्र ! प्रवक्ष्यामि पुराणं नारदीयकम् ।
पञ्चविंशतिसाहस्रं बृहत्कल्पकथाश्रयम् ।।

अर्थात्—हे प्रिय ! सुनो, तुम्हारे प्रति नारदीय पुराण कहता हूँ। यह पुराण बृहत्कल्प की कथा संयुक्त पच्चीस हजार पद्यसंख्या वाला है।

उपलब्ध नारद पुराण में बृहत्कल्प का सम्बन्ध तो तथैव मिलता है,

परन्तु अन्यान्य पुराणों की भांति उक्त पुराण के भी अन्यून तीन हजार पद्य लुप्तप्राय हैं।

८—भागवत-पुराण

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः।
वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतमुच्यते ॥
अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत्प्रकीर्तितम् ॥

(मत्स्य ५३।२१-२२)

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में गायत्री अवलम्बन पूर्वक विस्तार से धर्म का तत्त्व वर्णित हो, तथा वृत्रासुर का वध कहा गया हो वही पुराण 'भागवत' संज्ञक है। जिसका प्रमाण अठारह हजार है।

उक्त लक्षण, उपलब्ध 'श्रीमद्भागवत' और 'देवी भागवत' दोनों में ही सामान्यतया घटित है, श्लोक संख्या भी प्रायः प्रत्येक की अठारह हजार ही है।

९—अग्नि-पुराण

यत्तदीशानकं कल्पं वृत्तान्तमधिकृत्य च।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत्प्रचक्षते ॥
तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥

(मत्स्य ५३।२९-३०)

अर्थात्—ईशान कल्प के वृत्तान्त प्रसङ्ग में अग्नि ने वशिष्ठ को जो उपदेश दिया वही 'अग्निपुराण' है। जिसकी पद्य संख्या सोलह हजार है और वह यज्ञों का फल देने वाला है।

वर्तमान 'अग्निपुराण' में उपर्युक्त लक्षण एक अंश तक ही घटित

होता है। परन्तु पद्यसंख्या प्रायः ठीक है। जान पड़ता है कि वास्तविक अंश लुप्त हो जाने पर इसमें अन्यान्य पुराणों या उपपुराणों का उद्धरण सम्मिलित हो गया है।

१०–स्कन्द पुराण

यत्र माहेश्वरान्धर्म्मानधिकृत्य च षण्मुखः ।
कल्पे तत्पुरुषे वृत्तं चरितैरुपबृंहितम् ॥
स्कान्दं नाम पुराणं वै तदेकाशीति गद्यते ।
सहस्राणि शतं चेकमिति मर्त्येषु गद्यते ॥
(मत्स्य ५३।४१-४२)

अर्थात् – जिस ग्रन्थ में षण्मुख (स्कन्द) ने तत्पुरुष कल्प के वृत्तान्त को लक्ष्य करके अनेक चरितों से प्रवृद्ध माहेश्वर धर्मों का प्रतिपादन किया हो उसकी 'स्कन्दपुराण' संज्ञा है। इसकी पद्यसंख्या इकासी हजार एक सौ मर्त्यलोक में प्रसिद्ध है।

उपलब्ध स्कन्दपुराण में माहेश्वर धर्म प्रतिपादनात्मक लक्षण तो प्रायः घटता है, परन्तु श्लोक संख्या उल्लेख से अधिक पाई जाती है, जिसमें कुछ भाग पुराणान्तर का सम्मिलित हुआ प्रतीत होता है और शेष पश्चात्प्रक्षिप्त जान पड़ता है।

११–भविष्य-पुराण

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः ।
अघोरकल्पवृत्तान्तप्रसङ्गेन जगत्स्थितम् ॥
मनवे कथयामास भूतग्रामस्य लक्षणम् ।
चतुर्दशसहस्राणि तथा पंचशतानि च ॥

भविष्यचरितप्रायं भविष्यं तदिहोच्यते ।।

(मत्स्य ५३।३०-३२)

अर्थात् – जिस ग्रन्थ में चतुर्मुख ब्रह्मा ने मनु के प्रति अघोर कल्प के वृत्तान्त प्रसङ्ग से सूर्य भगवान् का माहात्म्य वर्णन करते हुये जगत् की स्थिति और भूतग्राम का निर्देश किया हो तथा जिसमें अधिकता से भविष्यत् चरितों का समावेश हो वही 'भविष्यपुराण' है जिसकी पद्यसंख्या चौदह हजार पाँच सौ है।

श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई में मुद्रित 'भविष्यपुराण' की प्रति में उपर्युक्त लक्षण प्रायः घटित नहीं होता। पद्यसंख्या का भी बिलकुल मेल नहीं। हो सकता है कि इसमें कुछ अंश असली भविष्यपुराण का सम्मिलित हो, तथापि यह प्रायः उपेक्षणीय है। खासकर प्रतिसर्ग पर्व तो सर्वथा अमान्य है। हमें कहते हुए दुःख होता है कि 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' (२। २४। ५-६) आदि प्राचीन ग्रन्थों में जिस 'भविष्यपुराण' का ससम्मान उल्लेख मिलता है वह महामहिम उपयोगी ग्रन्थ आज अदृश्य हो रहा है।

१२–ब्रह्मवैवर्त पुराण

रथन्तरस्य कल्पस्य वृत्तान्तमधिकृत्य च।
सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम् ।।
यत्र ब्रह्मवराहस्य चरितं वर्ण्यते मुहुः।
तदष्टादशसाहस्रं ब्रह्मवैवर्तमुच्यते ।।

(मत्स्य ५३।३३।३४)

अर्थात् – जिस ग्रन्थ में सावर्णि ने नारद के प्रति रथन्तर कल्प के वृत्तान्त को लक्ष्य करके कृष्ण भगवान् का उत्तम माहात्म्य, और ब्रह्मा

वराह का विस्तृत चरित्र वर्णन किया है, वह 'ब्रह्म-वैवर्त' संज्ञा वाला पुराण है, जिसकी पद्यसंख्या अठारह हजार है।

'आनन्दाश्रम' पूना में मुद्रित 'ब्रह्म-वैवर्त' में तो यह लक्षण घटित नहीं होता, पद्यसंख्या की भी प्रायः यही दशा है। तथापि इसका अधिकांश असली 'ब्रह्मवैवर्त' का अंग ही जान पड़ता है, कुछ अंश रूपान्तर प्राप्त एवं पश्चात्प्रक्षिप्त भी है। खासकर गणेशखण्ड तो प्रत्यक्ष ही अधूरा जान पड़ता है।

१३–मार्कण्डेय-पुराण

यत्राधिकृत्य शकुनीन्धर्म्मान्धर्म्मविचारणान्।
व्याख्याता वै मुने! प्रश्ना मुनिभिर्धर्म्मचारिभिः॥
मार्कण्डेयेन कथितं तत्सर्वं विस्तरेण तु।
पुराणं नवसाहस्रं मार्कण्डेयमिहोच्यते॥

(मत्स्य ५३।२६-२७)

अर्थात्–जिस ग्रन्थ में धर्म और अधर्म के विचारक पक्षियों के प्रसङ्ग से धर्माचरणयुक्त मुनियों ने अनेक प्रश्नोत्तर किये हों और उसी वृत्तान्त को मार्कण्डेयजी ने विस्तार पूर्वक सुनाया हो वही 'मार्कण्डेयपुराण' है। इसकी श्लोक संख्या नौ हजार है।

उपलब्ध मार्कण्डेय पुराण में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है। पद्यसंख्या इस समय ७ हजार के लगभग है। मुद्रित पुराण नरिष्यन्त के चरित पर समाप्त हो जाता है, परन्तु 'नारदपुराण' की सूची के अनुसार यह पुराण इक्ष्वाकु से कुशपर्यन्त और पुरुरवा से श्रीकृष्ण चरित्र तक विशिष्ट वर्णन करके अन्त में मार्कण्डेय चरित पर समाप्त होना चाहिए। इसलिए स्पष्ट है कि इसका अन्तिम अंश विलुप्त हो चुका है अथवा पुराणान्तर में इसके दो हजार पद्य सम्मिलित हो गये हों।

प्राप्य अंश सब का सब असली 'मार्कण्डेय-पुराण' है ही—यह सभी समालोचक स्वीकार करते हैं।

१४—वामन पुराण

त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः।
त्रिवर्गमब्रवीत्तच्च वामनं परिकीर्तितम् ॥
पुराणं दशसाहस्रं कूर्म्मकल्पानुगं शिवम्।
(मत्स्य ५३।४४-४५)

अर्थात्—जिस ग्रन्थ में चतुर्मुख ब्रह्मा ने कूर्म्म कल्प के अनुसार त्रिविक्रम भगवान् का चरित्र कहते हुए त्रिवर्ग का प्रतिपादन किया हो वह 'वामनपुराण' है जिसका प्रमाण दश हजार है।

उपलब्ध वामनपुराण में यह लक्षण तो सर्वथा घटित होता है, परन्तु पद्यसंख्या में चार हजार की न्यूनता है। कहा जाता है कि इसका उत्तर भाग विलुप्त हो गया अतएव अपूर्ण है।

१५—वाराह पुराण

शृणु पुत्र! प्रवक्ष्यामि वाराहं वै पुराणकम्।
भागद्वययुतं शश्वद् विष्णुमाहात्म्यसूचकम् ॥
मानवस्य तु कल्पस्य प्रसङ्गं मत्कृतं पुरा।
निबबन्ध पुराणेऽस्मिंश्चतुर्विंशसहस्रके ॥
(नारद ४।१२)

अर्थात्—हे पुत्रो! सुनो, मैं 'वाराहपुराण' का वर्णन करता हूं, इसके दो भाग हैं, और यह विष्णु भगवान् की महिमा का सूचक है। मेरा उपदिष्ट मानव-कल्प का प्रसङ्ग वेदव्यास ने २४ हजार श्लोकों में उक्त पुराण में निबद्ध किया है।

उपलब्ध मुद्रित 'वाराहपुराण' में विष्णु भक्ति प्राधान्य रूप लक्षण ठीक घटता है, तथा भागद्वय का समावेश भी पाया जाता है परन्तु पद्यसंख्या की बहुत कमी है। मुद्रित ग्रन्थ में बारह हजार पद्य अवशिष्ट हैं। या तो इसका बहुत-सा भाग पुराणान्तर में सम्मिलित हो गया अथवा सर्वथा विलुप्त हो गया।

१६–मत्स्य पुराण

अथ मात्स्यं पुराणं ते प्रवक्ष्ये द्विजसत्तम।
यत्रोक्तं सप्तकल्पानां वृत्तं संक्षिप्य भूतले॥
व्यासेन वेदविदुषा नरसिंहोपवर्णनम्।
उपक्रम्य तदुद्दिष्टं चतुर्दशसहस्रकम्॥

(नारद ४।२६-३०)

अर्थात्–हे द्विजोत्तम! अब मैं तुम्हारे प्रति 'मत्स्य पुराण' का वर्णन करता हूँ। इस पुराण में वेदवेता व्यास जी ने नरसिंह वर्णन से आरम्भ करके सात कल्पों का वृत्तान्त संक्षेपपूर्वक वर्णन किया है। इसकी पद्य संख्या चौदह हजार है।

उपलब्ध 'मत्स्य पुराण' में उपर्युक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है। पद्यसंख्या भी अन्यून चौदह हजार ही है। इसलिए अहिन्दू समालोचकों ने भी इसकी वास्तविकता स्वीकार की है।

१७–कूर्म पुराण

यत्र धर्म्मार्थकामानां मोक्षस्य च रसातले।
माहात्म्यं कथयामास कूर्म्मरूपी जनार्दनः॥
इन्द्रद्युम्नप्रसङ्गेन ऋषिभ्यः शक्रसन्निधौ।

अष्टादशसहस्राणि लक्ष्मीकल्पानुषंगिकम् ॥

(मत्स्य ५३।४७-४८)

अर्थात् – जिस ग्रन्थ में लक्ष्मी कल्प को लक्ष्य करके इन्द्रद्युम्न के प्रसङ्ग द्वारा रसातल में कूर्मरूपी भगवान् ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों का ऋषियों के प्रति निरूपण किया हो वह 'कूर्म पुराण' है। जिसकी पद्यसंख्या अठारह हजार है।

इस समय उक्त पुराण की केवल एक संहिता ही प्राप्त है, शेष तीन संहिताएँ नहीं मिलतीं, अतः उपर्युक्त लक्षण भी अपनी सीमा तक घटित होता है। नारद पुराण में उक्त पुराण का प्रमाण १७ हजार लिखा है। कई पण्डितों के मत से वास्तविक प्रमाण १७६०० है, जो ६०० को अपेक्षाकृत एक हजार मानने पर या छोड़ देने हर उभयथा समन्वित हो जाता है। मुद्रित ब्राह्मी-संहिता कूर्मपुराण की पद्यसंख्या छः हजार है, जो नारद पुराण की सूची के अनुसार ठीक ही है।

१८–ब्रह्माण्ड पुराण

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्पुनः।
तच्च द्वादशसाहस्रं ब्रह्माण्डं द्विशताधिकम् ॥

(मत्स्य ५३।५५)

अर्थात् – ब्रह्मा जी ने ब्रह्माण्ड का माहात्म्य दर्शाते हुये जिसका कथन किया हो वही 'ब्रह्माण्ड पुराण' है। इसकी पद्यसंख्या बारह हजार दो सौ है।

उपलब्ध 'ब्रह्माण्ड पुराण' में उक्त लक्षण सर्वथा घटित होता है, प्रमाण भी पूरा उतरता है, एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित इस पुराण का मूल नाम 'वायु पुराण' छपा है, जिसका विवेचन यथास्थान किया गया है। पाश्चात्य समालोचकों ने भी उक्त पुराण की वास्तविकता को माना है।

लक्षण-समन्वय-विवेचन

अष्टादश पुराणों के पुराणोक्त लक्षणों और पद्य प्रमाणों को पीछे अङ्कित किया जा चुका है। तथा वर्तमान समय में उपलब्ध, मुद्रित किं वा हस्तलिखित प्रतियों में वे लक्षण कहां तक घटित हैं, तथा प्रमाणों का सामंजस्य कहाँ तक है यह भी प्रत्येक लक्षण के नीचे प्रकट कर दिया गया है। कोई भी विवेकशील पुरुष पूर्वोक्त 'लक्षण समन्वय' को पढ़ कर इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि प्राप्त पुराणों की कतिपय प्रतियों में न्यूनाधिक और विरोध के कारण अत्ययव्यत्यय अवश्य है।

हमने अत्यय व्यत्यय की स्पष्टता के लिए उपलब्ध पुराणों को निम्नलिखित छः भागों में विभक्त किया है, जिससे जिज्ञासु पाठकों को प्रत्येक पुराण का पूरा २ परिचय प्राप्त हो सकेगा, यथा: —

(१) पूर्ण पुराण—

जिस पुराणों में पूर्वोक्त लक्षण ठीक २ घटते हैं और पद्यसंख्या भी उल्लेख के अनुसार ठीक पाई जाती है वे पुराण पूर्ण पुराण कहे जाने योग्य हैं जैसे (१) भागवत (२) लिङ्ग (३) मत्स्य और (४) ब्रह्माण्ड

(२) संभाव्य पूर्ण पुराण

जिन पुराणों में पूर्वोक्त लक्षण तो ठीक घटते हैं परन्तु पद्यसंख्या में कुछ न्यूनता (संभवतः गणनाविधान के वक्ष्यमाण नियमों के तारतम्य के कारण) पाई जाती है, वे पुराण 'सम्भाव्य पूर्ण पुराण' कहे जाने चाहियें यथा: — (१) मार्कण्डेय (२) नारद और (३) पद्म —

(३) अपूर्ण पुराण—

जिन पुराणों में अधिकांश लक्षण घटते हों परन्तु अधूरे होने के

कारण पद्य संख्या की कमी हो वे 'अपूर्ण पुराण' कहे जाते हैं यथा—(१) विष्णु (२) शिव (३) गरुड़ (४) वामन (५) वाराह (६) कूर्म

(४) अधिक पाठयुक्त—

जिन पुराणों में अधिकांश लक्षण घटते हों परन्तु पद्यसंख्या उल्लेख से भी अधिक (पुराणान्तर से मिली हुई किंवा प्रक्षिप्त) पाई जाती हो वे पुराण उपर्युक्त संज्ञा से पुकारे जाने चाहियें । यथा—(१) स्कन्द और (२) ब्राह्म ।

(५) पुराणान्तर पाठयुक्त—

जिन पुराणों में लक्षणों या प्रमाणों का तो असामंजस्य हो परन्तु पद्यरचना आदि के विज्ञान से और ग्रन्थ के प्रतिपाद्यविषय की उपयोगिता से उसका आर्ष होना प्रमाणित हो वे पुराण उपर्युक्त कोटि में परिगणित होने चाहियें । यथा—(१) अग्नि (२) ब्रह्मवैवर्त ।

(६) चिन्त्य पाठयुक्त—

जिसमें लक्षण और प्रमाण दोनों का ही अभाव हो, साथ ही तुक्कड़ निठल्लों की करतूत से जिसका अधिकाँश भाग अश्रद्धेय एवं चिन्तनीय जान पड़ता हो वह अन्तिम कोटि में परिगणित होने वाला । यथा—(१) भविष्य पुराण (खास कर प्रतिसर्ग पर्व) कहा जा सकता है ।

हमने उपर्युक्त श्रेणीबन्धन में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' वाली नीति का आश्रय लिया है, आंशिक दृष्टि से तो हमारे विभाग की सीमा का अतिक्रमण करके एक पुराण किसी दूसरी श्रेणी में भी प्रविष्ट हो सकता है । परन्तु ऐसी क्लिष्ट कल्पना का कुछ अर्थ न होगा ।

उपलब्ध वेदों से तुलना

ऊपर पुराणों को उपलब्ध प्रतियों के सम्बन्ध में जो विवेचना की गई है वह वेदों के विषय में भी एक सीमा तक लागू होती है । जिस प्रकार पुराणों का बहुत सा उपयोगी अंश लुप्त हो चुका है अथवा भविष्य के गर्भ में लीन है, ठीक इसी प्रकार हिन्दूजाति के प्राणाधार वेदों का भी आज बहुत बड़ा भाग लुप्तप्राय है ।

व्याकरण महाभाष्य में पतञ्जलि ने ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १०००, और अथर्ववेद की ९ शाखाओं का वर्णन किया है । वेदों के महारथी षड्गुरु शिष्य ने भी 'चरण व्यूह' आदि ग्रन्थों में कई बार इसका समर्थन किया है, परन्तु आज अंगुलियों पर गिनने के लायक दश पांच को छोड़ कर शेष शाखाएं कहाँ हैं ?

मुद्रित और विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित सब मिल कर भी जहाँ तक आजकल पता चलता है, उपर्युक्त संख्या का दशाँश अवशिष्ट नहीं है ! कहां है वह धनुर्वेद जिसके अध्ययन से द्रोण, अर्जुन और कर्ण जैसे वीरों ने शब्दवेध चललक्ष्य-वेध तथा वर्तुलवेध आदि लोकोत्तर कर्तब कर दिखाये थे । आत्मा और परमात्मा की तार को मिला देने वाला गन्धर्ववेद किस गुफा में अनन्त समाधि लगाए बैठा है ? समुद्रों के पुल बांध कर जगत् को अद्यावधि चकित करने वाला, और सहस्रों सेना सहित भगवान् राम को अकिंचित् काल में अयोध्या पहुँचाने वाला शिल्प जिस 'स्थापत्यवेद' का विषय था ? आज वह भी हम से ओझल हो रहा है ?

न्यून-अधिक-पाठ

पाठों की न्यूनता और अधिकता, तथा अन्यान्य वैषम्य जैसे पुराणों में उपलब्ध होते हैं वैसे ही वेदों की विभिन्न शाखाओं में पाए जाते हैं । वास्तव में शाखाभेद का प्रधान कारण ही पठान्तर-प्रणाली है । इस

विषय में हम स्वयं कुछ अधिक न कहते हुवे वैदिक-साहित्य के विशेषज्ञ श्री सत्यव्रत सामाश्रमी के विचार उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं। आप लिखते हैं कि:—

ताषां च सर्वाषामेव संहितानां बहुप्राचीनत्वात् कालभेद-देशाभेदव्यक्तिभेदादिभिरध्ययनाध्यापनयोरुच्चारणादिभेदा: पाठ-भेदाश्च सम्पन्ना:। पाठन्यूनातिरिक्तता च किञ्चित् सञ्जाता।

(निरुक्तालोचन पृष्ट १४७)

अर्थात्—संहिताओं के अति प्राचीन होने से उनमें काल-देश व्यक्ति के विभिन्न होने के कारण, पढ़ते समय उच्चारण और पाठ में भेद हो गया। इसी प्रकार पाठ की न्यूनता और अधिकता भी हो गई।

यह एक स्वाभाविक परिवर्तन है जो हजार प्रयत्न करने पर भी टल नहीं सकता। वेदों की रक्षा के लिए उनके एक एक अक्षर को गिन लिया गया तो भी पाठान्तर का प्रवाह रुक न सका, तब तो मन्त्रार्थों का यथार्थक्रम स्थिर रखने के लिये ऋषि व्यग्र हो उठे और उन्होंने पद क्रम घन जटा माला शिखा लेखा ध्वज दण्ड और रथ आदि पद्धतियों द्वारा मन्त्राक्षरों के पौर्वापर्य को यथातथा स्थिर रखा। इसलिये जब हम वेदशाखाओं में भी देश काल परिस्थिति के अनुसार अनिवार्य न्यूनाधिक्य पाठ देख पाते हैं तथापि प्रत्येक ग्रन्थ के लिए हमारे हृदय में तथैव श्रद्धा भाव बना रहता है, तो फिर उसी देश काल परिस्थिति के वक्र चक्र को भूल कर पुराणों के अगण्य परिवर्तन को पर्वतायमान करके दिखाने का उपहासास्पद प्रयत्न क्यों किया जाता है—यह हमारी समझ में नहीं आता।

इस प्रसंग में यह बता देना अनावश्यक न होगा कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व श्री वेदव्यास जी ने अपने नाम को अन्वर्थं करते हुये गुरु शिष्य परम्परागत वेदमन्त्रों का याथातथ्येन स्वरूप स्थिर किया था और उसी समय पुराणों का भी संकलन किया था। पाठ-व्यत्यय की

व्यवस्था इससे पूर्वकाल में कैसी थी इसका तो अनुमान करना भी मनुष्य बुद्धि से बाहर है तथापि यह मानने में किसी भी सत्यप्रिय को आनाकानी नहीं हो सकती कि इस समय जो पाठों की न्यूनता वा अधिकता मिलती है वह वेदों और पुराणों दोनों में ही पाँच हजार वर्ष से इधर की है । चार्वाक, बौद्ध, जैन और खासकर यवन काल में धर्मान्धता से वेदों और पुराणों का मूलनाश करने के लिये जो जघन्य प्रयत्न बर्ताव में लाये गए हैं उनका प्रभाव प्रायः सभी हिन्दू साहित्य पर पड़ा है । उस में भी पुराण तो सदा से कथाप्रसङ्गों द्वारा सार्वजनीन से रहे हैं, अतः उनमें वक्ताओं के बाहुल्य के कारण मनुष्य-बुद्धिसुलभ फेरफार का हो जाना अधिक सम्भव है ।

पद्य संख्यान विधि

कुछ पश्चात्य समालोचकों ने तथा उनके चर्वितचर्वण में ही चातुर्य की चरम सीमा मानने वाले दयानन्दी लोगों ने पुराणों की पद्य-संख्या गिनने की पद्धति से अनभिज्ञ होने के कारण भारी भूल दिखाई है । अतएव भागवत मत्स्य आदि पूर्ण संख्या-सम्पन्न पुराणों का प्रमाण भी अटकल पच्चू न्यूनाधिक लिख मारा है । अतः हम यहां पद्यसंख्यान विधि का निरूपण कर देना आवश्यक समझते हैं ।

(१) पद्य या श्लोक सामान्यतया अनुष्टुप् संख्यात्मक ३२ अक्षरों के समुदाय को कहते हैं ।

(२) अध्यायों की पुष्पिकाएं भी संख्या में सम्मिलित हैं परन्तु उनमें अक्षरों की संख्या का नियम लागू नहीं । प्रत्येक का एक पद्य ही माना जाता है, यथा—'इति श्री...पुराणे...अमुक...चरित्रवर्णने अध्यायः इत्यादि ।

(३) वाक्य का पूर्णविराम हो जाने पर श्लोकार्ध को भी एक पद्य गिना जाता है।

(४) वाक्य विराम की सापेक्षता में डेढ़ श्लोक को भी एक पद्य समझा जाता है।

(५) बहुत से स्तोत्रों में उपजाति आदि वृत्तों के प्रत्येक श्लोक को एक माना जाता है। वहां बत्तीस अक्षरों वाला नियम लागू नहीं होता।

(६) जिन ग्रन्थों का नियमित पारायण होता है उनके मध्यवर्ती खास खास स्तोत्रों के एक ही श्लोक के अनेक 'नमः' शब्दों के अनुसार उतने ही पद्य मान लिये जाते हैं, यहाँ भी बत्तीस अक्षरों वाला नियम लागू नहीं होता।

(७) प्रत्येक '...उवाच' को एक पद्य माना जाता है।

(८) मुख्य श्रोता वक्ता के सम्वाद से पूर्वापरवर्ती अंश को पारायण-प्रधान पुराणों में परिगणित भी नहीं किया जाता।

उपर्युक्त नियमों की छाया पाठकों को मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत जगत् प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दुर्गा-सप्तशती' की प्रत्येक प्रति में उपलब्ध हो सकती है। अतः यहाँ उदाहरण देना व्यर्थ है। तथापि किस पुराण में किन किन नियमों के अनुसार पद्य, पद्यांश, तथा बह्वक्षर वृत्तों की गणना होनी चाहिये, और उसके कौन २ स्तोत्र उपर्युक्त नियमों में आबद्ध हो सकते हैं—यह विवेचन गुरु-शिष्य-परम्परागत-सम्प्रदाय पर निर्भर है। हम नहीं कह सकते कि दूसरे संस्कृत ग्रन्थों की गणना में उपर्युक्त नियमों का उपयोग हो सकता है या नहीं! किन्तु पुराणों के सम्बन्ध में गुरुमुख से ऐसा अवश्य सुना है। प्रत्येक पुराण के सम्बन्ध में एक २ स्वतन्त्र ग्रन्थ उक्त माला में ग्रथित करने का जब सुअवसर मिलेगा उस समय इस विषय को अधिक विस्तारपूर्वक लिखने का संकल्प है, परमात्मा बल दे।

प्रक्षिप्त-पाठ

आज देश में एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया है जो कि प्रत्येक पुरातन ग्रन्थ को सशंक दृष्टि से देखता है। उसका कथन है कि केवल पुराण महाभारत, रामायण और स्मृति-सूत्र ग्रन्थों में ही नहीं बल्कि वेदों में भी प्रक्षिप्त पाठ की भरमार है। यदि यह रोग वाचिक सीमा तक ही मर्यादित रह जाता तो इसे हम शंका-सन्निपात-जन्य-प्रलाप कह कर उपेक्षा कर देते परन्तु अब तो इस दल ने हिंदू-सभ्यता को मटियामेट करने के लिये धार्मिक ग्रन्थों पर खुला धावा बोल दिया है, आये दिन कतर-व्योंत की काली करतूत के नमूनों से भरपूर ग्रन्थ छप कर गली २ में बिक रहे हैं। चार्वाक-बौद्ध-जैन और यवनों के बाद इस शताब्दी में पहिले पहल इस धार्मिक बगावत का सूत्रपात आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी ने किया था। आपने ही अपने मन्तव्यों के विरुद्ध मिलने वाले प्रमाणों को अर्धचन्द्र देने का यह सुगम किन्तु धूर्ततापूर्ण-मार्ग निकाला था। तब से यह बीमारी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। स्वामी दयानन्द को क्या पता था कि आज जिस मार्ग का अवलम्बन करके मैं दूसरों को झूठा बता रहा हूं कल को इसी संघातकारी मार्ग पर आरूढ़ होकर शिष्यता का दम भरने वाले छोकरे उलटा मुझे भी धता बता सकेंगे। कौन नहीं जानता कि स्वामी दयामन्द के जीवन काल से आरम्भ करके उनके 'वैदिक यन्त्रालय' (अजमेर) में वेदों की चार शाखाएं छपती आ रही हैं परन्तु अब पिछले दिनों समाजी स्वामी हरिप्रसाद ने 'सामसंहिता' के केवल पचहत्तर मन्त्र रखकर शेष सबों को निकाल डाला है और अपने आग्रहानुसार इतने को ही वे सामवेद सिद्ध करने की दुश्चेष्टा में प्रयत्नशील हैं।

इसी प्रकार 'अथर्ववेद संहिता' के कुन्तापसूक्त नामक भाग को महाशय भगवद्दत्त बी.ए. रिसर्च-स्कालर (डी० ए० वी० कालेज लाहौर) त्याज्य समझते हैं, जिसका ऐलान आपने 'वैदिक-कोश' की भूमिका के

नौवें पृष्ठ पर निम्नलिखित शब्दों में किया है:—'अथर्ववेद' के जिस सूक्त में परीक्षत शब्द आया है वह कुन्तापसूक्तों में पहला है। कुन्ताप सूक्त अथर्वसंहितान्तर्गत नहीं है।' एक दूसरे साहिब कामसूक्त पर चौंका लगाना चाहते हैं, तीसरे 'बाल्यखिल्य-सूक्त' की चटनी करने को उद्यत हैं। कहा जाता है कि महाशय विश्वबन्धु जी और उनके साथी तो वेदों की अपौरुषेयता में ही सन्देह रखते हैं इसीलिये विगत वर्षों में लाहौर में कई दिनों तक गुप्त शास्त्रार्थ होते रहे हैं। 'स्वामी प्रेस' (मेरठ) द्वारा प्रकाशित मनुस्मृति, आर्य ग्रन्थावलि (लाहौर) के समस्त ग्रन्थ तथा अन्यान्य समाजी प्रेसों की छपी पुस्तकों को देखने पर कांट-छाँट और डांट फांट के हृदयविदारक दृश्य आंखों के सामने नाचने लग जाते हैं।

औरङ्गजेब आदि यवन बादशाहों ने हमारे ग्रन्थ-भण्डार को फूंक डाला जिससे महामहिम ग्रन्थ लुप्त हो गये, लेकिन इस नई औरङ्गजेबी का कोई ठिकाना है कि ग्रन्थों का रूप ही बदला जा रहा है। हिन्दू जाति के दौर्भाग्य से यदि यह 'बेढंगी रफतार' इसी प्रकार कुछ दिनों तक और जारी रही तो ग्रन्थों के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव हो जायगा। इस दल की कतर-ब्योंत का पता इससे लग सकता है कि हमने इस दल की ओर से प्रकाशित तीन चार प्रकार की गीताओं को देखा है। एक में सिर्फ तेरह अध्याय हैं, शेष अंश को दूध की मक्खी तरह निकाल फेंका है, यह 'भास्कर प्रेस' मेरठ में पं० भूमित्र शर्मा आर्योपदेशक और शिवदत्त शास्त्री ने छपाई है। दूसरी में केवल ७० श्लोक लिखकर उसे ही यथार्थ गीता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, यह लाहौर में मिलती थी। तीसरी में श्लोक तो सब छाप दिये हैं, परन्तु जो जो श्लोक अपने मनघड़न्त आपा-पन्थ के विरुद्ध देखा, उस पर लम्बी चौड़ी टिप्पणी लिख डाली कि "यह प्रक्षिप्त है" प्रोफेसर राजाराम इसके सम्पादक हैं। महाशय आचार्य मुक्तिराम नामक समाजी ने तो गीता को नष्ट करने का जो जघन्य प्रयत्न किया है वह तो पूर्वोक्त

सभी दुष्प्रयत्नों को मात कर गया है। यह गीता म० राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने प्रकाशित की है। इसमें ७, ६, १०, ११, १२, और १५वें पूरे के पूरे अध्यायों के अतिरिक्त अवशिष्ट अध्यायों के भी श्लोकों को निकाल डाला है। केवल ३५८ श्लोकों को ही इसमें स्थान मिल सका है। इतने पर भी गीता के अठारह अध्याय होने चाहियें, इस टेक को पूरा करने के लिए इन्हीं ३५८ श्लोकों को अठारह भागों में विभक्त कर डाला है; जिससे सर्वसाधारण को शङ्कित होने का अवसर ही न मिल सके और समय पाकर उसे ही वास्तविक गीता मानने का दुःस्वप्न सच्चा हो सके। गीताप्रेमी भगवद्भक्त 'श्रीमद्भगवद्गीता' को सात सौ श्लोकों का संग्रहमात्र कागज का पुलिन्दा नहीं मानते अपितु भगवान् श्रीकृष्ण का कलेवर मानते हैं। ऐसी दशा में म० मुक्तिराम का प्रयत्न 'जराव्याध' वाला ही प्रयत्न है। भगवान् को विकलाङ्ग करने की चेष्टा में प्रवृत्त पुरुष स्वयं पूर्णाङ्ग जीवित नहीं रह सकता। जिस गीता के ज्ञान पर विश्व की समस्त सभ्य जातियें मुग्ध हो रही हैं, उसी गीता के लिये आर्य जाति का एक दल इस प्रकार अनधिकार चेष्टा करे वह कितने शोक की बात है।

इससे भी महाशोक की बात यह है कि इस दल के पास किसी भी श्लोक के प्रक्षिप्त होने का प्रमाण नहीं है। केवल कपोल कल्पना के आधार पर ही यह सब कुछ किया जाता है। इस दल की तो यह नीति है कि जो उसे अपने विचार के प्रतिकूल जान पड़े या जिसकी व्यवस्था लगाने में काठिन्य दीखा बस झट उसे 'प्रक्षिप्त' कह दिया। उस दल का यह ब्रह्मास्त्र है। जहां कुछ न कह सके और पराजित होने लगे कि इस का प्रयोग कर डाला फिर चाहे उससे आत्म-संहार ही क्यों न हो जावे!

आर्य्यसमाज की इस अनधिकार चेष्टा पर हम स्वयं कुछ न कह कर आर्यसमाज के एक कट्टर भक्त के शब्दों को उद्धृत करते हैं जो आपने इन मूसापन्थियों की कतर-ब्योंत से ऊब कर कहे हैं, पढ़िये—

पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ' लिखते हैं :—

(आ० स० का इतिहास पृ० २३५)

'इस गीता को अपने मत में ढालने के लिए स्वामी जी ने तो कोई यत्न नहीं किया था परन्तु उसके पीछे कतिपय अनुयायिओं ने विचित्र प्रयत्न किये। सबसे प्रबल प्रयत्न पं० भीमसेन शर्मा इटावा निवासी ने किया था। आपने जिस २ श्लोक में भी 'अहं' या 'मां' पद देखा झट उस श्लोक को अर्धचन्द्र देकर बाहर निकाला और लगभग २३८ श्लोकों को प्रक्षिप्त बतलाया। इसके पश्चात् दूसरा प्रबल प्रयत्न—हम प्रबल प्रयत्न इसलिये कहते हैं कि श्लोकों को प्रक्षिप्त बताकर अपने मतानुकूल संगति लगाना सहज कार्य था परन्तु श्लोकों को रखते हुए अपने मत में ढालना जरा कठिन बात थी। परन्तु ऐसा प्रबल प्रयत्न—कतिपय माननीय वृद्धों की ओर से हुआ (शायद यह इशारा पं० आर्यमुनि की ओर है) उन्होंने जहां जहां 'अहं' पद देखा वहां ईश्वर 'अर्थं' किया और माँ से 'वैदिक धर्म' लिया। बस कुरुक्षेत्र की गीता एक दम अपना स्वरूप बदल कर गुफा में बैठकर ध्यानयोग सिखाने वाली पुस्तक बन गई और गीता का वह सुन्दर स्वरूप दूर जाता रहा और 'गणेशं कुर्वाणो वानरं चकार' यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ हो गई। श्री पं० भीमसेन जी की गीता में एक बात तो थी कि श्लोक के निकालने पर भी गीता का स्वरूप विकृत न हुवा था। पर हमारे वृद्ध महानुभावों की गीता कुछ की कुछ बन गई। हमारी समझ में यह दोनों प्रकार के प्रयत्न उचित नहीं थे।......... 'प्रक्षिप्त' 'अनुक्षिप्त' और 'विक्षिप्त' का प्रत्येक ग्रन्थ में अड़ंगा लगाने वाले हमारे आर्य भाई उत्साह की भी कोई अवधि है। वह उत्साह ग्रन्थों की कतर व्योंत में नहीं लगाना चाहिये।

यहां तक उस दल की दुस्साहसपूर्ण नीति का परदा फाश किया है जो कि अन्ध अविश्वास की दलदल में आशिरोमग्न होकर वेदों का भी सफाया करने पर तुला है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरा दल भी महा भयानक है जो कि अन्ध-विश्वास के कारण एक अक्षर को भी प्रक्षिप्त मानने के लिये तैयार नहीं। हम इसे 'महा भयानक' इसलिये कह रहे हैं कि जिस प्रकार आर्यसमाज आदि अन्ध-अविश्वास के कारण ग्रन्थों के रूप को बिगाड़ रहे हैं, इसी प्रकार कुछ सनातन-धर्मी भी अन्धविश्वास के कारण प्रत्येक पाठ के समर्थन की धुन में आकाश पाताल को एक करने में कोर कसर नहीं रखते। हम 'अन्ध-विश्वास' और 'अन्ध-अविश्वास' दोनों को बराबर समझते हैं, तथा प्रक्षिप्त मान कर किसी अंश को निकाल देना उतना ही अपराध समझते हैं जितना कि अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये प्रक्षिप्त मिला देने में समझा जा सकता है। हम तो इसलिये निस्सङ्कोच भाव से यह कह सकते हैं कि पुराणों में 'प्रक्षिप्त' है और अवश्य है, परन्तु उसके एक भी अक्षर को निकाल डालने का किसी व्यक्ति को अधिकार नहीं है। कुछ दिन से लोगों में भले ही यह धारणा परिपक्व हो जाये कि 'प्रक्षिप्त' किसी हेय, अनुपादेय, एवं दूरतस्त्याज्य वस्तु का नामान्तर है परन्तु वास्तव में—'मूल ग्रन्थ के रचयिता से भिन्न व्यक्त्यन्तरनिर्मित' ही इसका अर्थ हो सकता है।

वेदों को छोड़ कर अन्य किसी भी ग्रन्थ में यदि ऐसे पाठ की सम्भावना हो तो उसकी हेयोपादेयता की व्यवस्था वेद-मूलकता पर निर्भर है। कोई प्रक्षिप्त अंश केवल इसलिये ही त्याज्य नहीं हो सकता कि वह व्यक्त्यन्तर-निर्मित है और नांही स्मृति पुराण आदि किसी ग्रन्थ-विशेष का मूलपाठ केवल इसलिये ग्राह्य हो सकता है क्योंकि वह मूल-ग्रन्थ-निर्माता की कृति है। इस प्रकार के विचार ग्रन्थ-निर्माता के विषय में श्रद्धातिरेक के परिचायक भले ही हो सकते हों, परन्तु

धर्माधर्म के निर्णय में निर्माता के बजाय वेदमूलकता ही कसौटी होनी चाहिये।

इस प्रकार पुराणों में प्रक्षिप्त अंश ज्यों का त्यों बना रहने पर भी वह किसी के गले चिपकता नहीं फिरेगा—प्रक्षिप्त की तो गाथा ही क्या है पुराणेतिहास का मूलपाठ भी किसी व्यक्ति के गले का हार नहीं बनता, क्योंकि हमारे महर्षियों ने धर्माधर्म निर्णय में जहाँ श्रुति (वेद) स्मृति (मन्वादि धर्मशास्त्र) और सदाचार (पुराणेतिहास) को कसौटी माना है वहाँ 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह कर वैयक्तिक स्वतन्त्रता को भी पर्याप्त स्थान दिया है। ऐसे उदार एवं सार्वभौम धर्म को प्रक्षिप्तांश की उपस्थिति से ठेस पहुँचने की सम्भावना करना भी धर्म का अपमान करना है। इसलिये हम तो यही कहेंगे कि पुराणों में प्रक्षिप्त रहे और मूल से भी अधिक सुरक्षित रहे तथा एक सद्-गृहस्थी के घर में दूरागत अतिथि जिस प्रकार सम्मानपूर्वक रहा करता है उसी भाँति शिरोधार्य बन कर रहे।

पुराणों के जिन जिन अंशों को आधुनिक समालोचक प्रक्षिप्त समझते हैं, उनकी इयत्ता और यथार्थता को मर्यादित करनेके लिये हमने नीचे लिखे विभागों की कल्पना की है, जिससे थोड़े ही प्रयास से इस विषय का अधिक ज्ञान हो सकता है। यथा—

(१) अपेक्षित प्रक्षिप्त

किसी प्रसंग की अपेक्षाकृत जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये जो आवश्यक अंश किसी महानुभाव ने उपकार दृष्टि से बढ़ाया है उसे 'अपेक्षित प्रक्षिप्त' समझना चाहिए। मुद्रित प्रतियों में ऐसे अंश को प्रायः धनुषाकार (   ) चिन्हों से मर्यादित छापा है, अथवा स्पष्ट ही 'इतः प्रभृति प्रक्षिप्ता अध्यायाः पञ्च' ऐसा लिख दिया है। यथा—श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय तीसरे के ४५वें श्लोक से आगे—'यदि

कंसाद् विभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय' आदि पद्य अपेक्षाकृत आवश्यकता-पूरक है।

(२) साम्प्रदायिक प्रक्षिप्त

वेदादि ग्रन्थों में एक ही परमात्मा की उपासना के लिये मनुष्य-प्रकृति के मुख्य पाँच विभागों के विचार से वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य नामक पाँच सम्प्रदायों का निर्देश मिलता है। आरम्भ में प्रत्येक अधिकारी के लिये किसी एक ही रूप के आश्रय से 'अनन्यताभाव' की भी एक सीमा तक आवश्यकता प्रकट की गई है, अन्त में यही अनन्यता-भाव 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के रूप में परिणत हो जाता है, इस वैज्ञानिक उपासना-पद्धति का विवेचन उक्त ग्रंथ में यथास्थान किया जायगा। यहाँ केवल इतना समझ लेना चाहिये कि पुराणों में भी उक्त वैदिक सिद्धान्त का पर्याप्त पोषण किया गया है। तदनुसार प्रत्येक पुराण में यथासम्भव पाँचों सम्प्रदायों के वर्णन के साथ २ किसी एक सम्प्रदाय को विशिष्ट स्थान दिया है। इस सीमा तक वर्णित साम्प्रदायिकता को हम प्रक्षिप्त मानने के लिये प्रस्तुत नहीं। जो शब्द आधुनिक समालोचकों से—'जिसका विवाह उसके गीत' वाली लोकोक्ति के अनुसार प्रत्येक पुराण अपने २ वर्णित ग्रन्थ-नायक को सब कुछ मानकर बाकियों को उसके अनुचर सिद्ध करता है।'—ऐसे उद्गार प्रकट करवाते हैं, वही शब्द सम्प्रदाय-समन्वय के तत्त्वज्ञों को अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित एवं अनन्यता प्रतिपादक प्रतीत होते हैं, इसमें केवल संकुचित और व्यापक दृष्टि का ही अन्तर है। अतः हम पाश्चात्य समालोचकों और उनके पिछलग्गुवे भारतीयों की दृष्टि में प्रक्षिप्त जंचने वाले प्रदर्शित सीमा के अन्तर्वर्ती साम्प्रदायिक अंशों को 'प्रक्षिप्ताभास' नाम से स्मरण करेंगे। यथा:—'नास्ति विष्णोः परं धाम' (पद्म ६ । ३१ । ३०६) 'योगमायावशे सर्वम्' (दे० भा० ५।१८।३४) 'नास्ति शर्वसमो देवः'

(म० भारत अनु० १५।११) आदि श्लोक एकेश्वरवाद में ही परिणत हो जाते हैं।

(३) निन्दा परिणत प्रक्षिप्त

जो अंश साम्प्रदायिक विभेद की वैज्ञानिक सीमा का उल्लंघन करके पारस्परिक निन्दा में परिणत हो रहा है, उसे उपर्युक्त नाम से पुकारना चाहिये और ऐसे अंश को पक्षपातान्ध दुराग्रहियों की कलङ्कित कृति समझना चाहिये। यथा :— शिवलिङ्गं समुत्सृज्य यजन्ते चान्यदेवताः। स नृपः सहदेशेन रौरवं नरकं व्रजेत्॥' (लिङ्ग० उ० ११।३५) 'येऽर्चयन्ति सुरानन्यांस्त्वां विना पुरुषोत्तम। ते पाखण्डत्वमापन्नाः सर्वलोकविगर्हिताः' (पद्म० पृष्ठ उत्तर० २२५।५८)।

(४) विधर्म्मिप्रवेशित प्रक्षिप्त

पुराणों की जिन गूढ़ बातों को आधुनिक समालोचक नहीं समझ पाते इन्हें भी वे वाममार्गी, बौद्ध, जैन और यवन आदि विधर्म्मियों की मिलावट कह दिया करते हैं—खासकर ऐसे अंशों में उन्हें (क) असम्भवता (ख) अश्लीलता (ग) परस्परविरुद्धता और (घ) धर्मविरुद्धता की गन्ध आने लगा करती है। हमारी सम्मति में पुराणों में विधर्म्मियों द्वारा प्रवेशित प्रक्षिप्त का सर्वथा अभाव है। जिन अंशों को असम्भवादि दोषग्रस्त समझा जाता है वास्तव में वे गूढ़ रहस्यों से परिपूरित हैं, हमने उक्त दोषों के निराकरणार्थ इस ग्रन्थ में 'सन्देहाभासनिवारणाध्याय' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय का समावेश किया है।

इस प्रकार हम कई दृष्टियों से प्रक्षिप्तांश की विवेचना करने के बाद अन्त में यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि अटपटी बातों की व्यवस्था लगाने के काठिन्य से किंवा विधर्म्मियों की अप्रिय समालोचनाओं के भय से पुराणों के ऐतिहासिक तथ्यों को 'प्रक्षिप्त' बताकर टालना या

निकालना न चाहिये, बल्कि उनके उपलब्ध रूपों को सुरक्षित रखते हुये शान्त चित्त से 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' के अनुसार अत्यन्त गूढ़ धर्मतत्त्वों को खोजने का प्रयत्न करना चहिये।

यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पूर्वजों में सब से बड़ा यह गुण था कि वे राजा-रंक के कौन कहे अपने पूज्य माता-पिता और गुरु के तथा स्वयं अपने भी अणु मात्र दोष को डंके की चोट घोषित कर दिया करते थे। यह कार्य कोई दुर्बलहृदय मनुष्य नहीं कर सकता, इसके लिये महान् आत्मा-सम्पन्न होने की आवश्यकता है।

पिछले दिनों श्री गाँधी जी ने स्वलिखित 'आत्मकथा' प्रकाशित की थी। उक्त कथा में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो कि मानव सुलभ कमजोरियों से भरपूर होने के कारण अत्यन्त लजास्पद हैं, परन्तु किसी भी मनुष्य को उक्त घटना के पढ़ने से गाँधी जी के व्यक्तित्व पर घृणा हुई हो सो बात नहीं, बल्कि जो भी पढ़ता है उनकी स्पष्टवादिता पर मुग्ध हुये बिना नहीं रहता। कल्पना कीजिये कि सौ वर्ष के बाद कोई मनुष्य उक्त लज्जास्पद अंशों को उनके विरोधियों द्वारा प्रक्षिप्त कहने लगे तो यह कहाँ तक न्याय्य होगा? इसी प्रकार आजकल अंग्रेजों में यह रिवाज है कि वे स्त्री-पुरुष इकट्ठे होकर नृत्य (Dance) करते हैं और वहाँ के पाहुने विदा होते समय सम्बन्धियों की महिलाओं का मुख चुम्बन करते हैं, तथा ऐसा करना वे सर्वथा सभ्यता के अनुकूल समझते हैं, परन्तु भारतीय महिलाओं के साथ पत्यन्तर पुरुष का ऐसी चेष्टा करना 'सरफुटब्बल' काण्ड का कारण समझा जाता है। कल्पना कीजिये कि भारतीयों के संसर्ग से यह योरूपियन रिवाज क्रमशः विलुप्त हो जाए और अंग्रेजों की आने वाली सन्तति भी हमारी तरह इसे लज्जास्पद समझ कर आजकल के लिखे गये ग्रन्थों में सौ वर्ष के बाद इस तथ्य को दूसरों की मिलावट कहने लगे तो यह कहाँ तक सत्य

होगा ? इसलिए हम तो यही कहेंगे कि पुराण और इतिहास में जो ऐतिहासिक वृत्तान्त जैसे लिखे हैं, उनके ज्यों के त्यों बने रहने पर भी फिर चाहे वे धर्मविरुद्ध हों या वर्तमान रिवाज के प्रतिकूल हों आर्य-संस्कृति को कुछ भी बट्टा नहीं लग सकता क्योंकि आर्यजाति का तो यह अटल सिद्धांत है कि ऐतिहासिक पुरुषों का कौन कहे अपने माता पिता और साक्षात् गुरु का आचरण भी शिष्य के लिए वहीं तक अनुकरणीय हो सकता है जहां तक कि वह धर्म्मानुकूल हो । अतएव हमारे यहां गुरु लोग अपने शिष्य को पहिले पाठ में ही यह शिक्षा दे छोड़ते हैं कि—

यान्यस्माक ँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि (तैत्तिरीय प्रपा० अनु० ११)

अर्थात्—हे शिष्य ! तुम्हें हमारे धर्म्मानुकूल आचरणों का ही अनु-करण करना चाहिए, जीव सुलभ पापाचरणों का नहीं ।

इस प्रकार इतिहास पुराणादि वर्णित पूर्वजों के आचरण यदि किसी अंश में हमें धर्मानुमोदित प्रतीत न हों तो वे इतिहास में ज्यों के त्यों लिखे रहने पर भी हमें किंचिन्मात्र कर्तव्य पथ से नहीं हटा सकते, बल्कि कर्तव्यपथ की कठिनाइयों की सूचना देकर अत्यधिक दृढ़ बना सकते हैं । महाभारत में युधिष्ठिर की द्यूतक्रीड़ा के परिणामस्वरूप द्रोपदी-नग्नकरण, वनसंकट-सहन और अन्त में सर्वान्तकारी भयंकर संग्राम को पढ़कर प्रत्येक समझदार वेद की 'अक्षैर्मा दीव्य' उक्ति का महत्त्व समझ सकता है । यदि इसे आर्यसमाज की नीति का अवलम्बन करके 'प्रक्षिप्त' के ढकोसले से निकाल दिया जावे तो सर्वसाधारण द्यूत के कुपरिणाम समझने से वञ्चित रह जायगा : अतः ऐतिहासिक सत्य को प्रक्षिप्त कहकर निकालना अपनी आने वाली सन्तति पर वज्र ढहाना है । ऐतिहासिक तथ्यों को मिटा कर पूर्वजों को षोडश कला

पूर्ण चन्द्र बनाने की बजाय हमें मानव प्रवृत्ति-सुलभ पतन के दुष्परिणामों को देखकर स्वयं को सुचरित्र बनाने का प्रयास करना चाहिये ।

धर्म-निर्णय में पुराणों का स्थान

(पुराण-प्रक्रिया)

अनादि काल से आर्य-जाति का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त चला आता है कि धर्मनिर्णय में वेद ही सब से बड़ा साधन है । हिन्दू सभ्यता के विधायक किसी भी ग्रन्थ को उठा देखिये तथा किसी भी ऋषि मुनि एवं आप्त विद्वान् की धर्म-निर्णय पद्धति का मनन कीजिये सर्वत्र उपर्युक्त भावना का ही साम्राज्य दीख पड़ेगा ।

आर्यजाति ने अन्धविश्वास के कारण ऐसा मान रक्खा हो सो बात नहीं है । वास्तव में वेद साक्षात् परमात्मा के उपदेशों का मूर्तिमान् भण्डार है, इस लोक और परलोक की परोक्ष समस्याओं का सरलतर विशदीकरण है, अथ से लेकर इति पर्यन्त मानव-जीवन की जिज्ञासाओं का सर्वाङ्गपूर्ण समाधान है । क्या पौरस्य और क्या पाश्चात्य सभी समालोचकों ने अब भी यदि किसी ग्रन्थ को 'विश्व का आदिम ग्रन्थ' कहकर पुकारा है तो वह अन्यतम वेद ऋग्वेद ही है । इसलिये वेदों को सर्वोच्च मानना न्याय्य धर्म एवं नैसर्गिक है ।

यह सभी जानते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी को याथातथ्येन समझना अल्पज्ञ जीवों के लिये नितान्त दुरूह है, अतः मन्वादि ऋषियों ने समाधि-लब्ध वेदतत्त्वों को उपकार दृष्टि से धर्मशास्त्रों के रूप में निबद्ध किया, तब से यद्यपि धर्मनिर्णय में स्मृति ग्रन्थों को भी यथेष्ट स्थान मिल गया तथापि प्राधान्य वेदों का ही रहा ।

श्रुति प्रतिपादित और स्मृति अनुमोदित धर्म-तत्त्वों को सर्व-

साधारण तक पहुँचाने के लिये श्री वेदव्यास जी महाराज ने पुराणों का निर्माण किया है यह स्वयं पुराणों में यत्र-तत्र लिखा है। इसलिये वेद प्राधान्य का अनादि सिद्धान्त पुराणों में भी तथैव आदृत रहा है। इस प्रकार वेद-स्मृति-पुराण इन तीनों को धर्मनिर्णय में पर के प्रति पूर्व को यथाक्रम मुख्य माना जाता है। यथा—

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

(व्यास स्मृति १।४)

अर्थात्—यदि श्रुति स्मृति और पुराण इन तीनों में परस्पर विरोध वाक्य मिलें तो वहां श्रुति वाक्य ही प्रमाण होगा, यदि स्मृति और पुराण दोनों में विरोध दीख पड़े तो वहां स्मृति को प्रमाण मानना चाहिए।

इसी प्रकार पुराण ग्रन्थों में भी वेदों को ही सर्वोच्च मान कर अन्यान्य ग्रन्थों के प्रामाण्य की सीमा निर्धारित की गई है, यथा—

(क) सर्वज्ञात्सर्वशक्तेश्च मत्तो वेदः समुत्थितः।
अज्ञानस्य ममाभावादप्रमाणा न च श्रुतिः॥

(ख) बहुत्वादिह शास्त्राणां निश्चयः स्यात्कथं मुने।
कियत्प्रमाणं तद् ब्रूहि धर्ममार्गविनिर्णये॥

(ग) श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद्धर्म्मो नान्यत्र कुत्रचित्॥
विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां तु परस्परम्।
श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

श्रुतिद्वैधं भवेद्यत्र तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद्विषयः कल्प्यतां पृथक् ।।
पुराणेषु क्वचिच्चैव तन्त्रदृष्टं यथातथम् ।
धर्मं वदन्ति तं धर्मं गृह्णीयान्न कथंचन ।।
वेदाविरोधि चेत्तन्त्रं तत्प्रमाणं न संशयः ।।
प्रत्यक्षश्रुतिरुद्धं यत्तत्प्रमाणं भवेन्न च ।।
सर्वथा वेद एवासौ धर्ममार्गप्रमाणकः ।।
तेनाविरुद्धं यत्किंचित् तत्प्रमाणं न चान्यथा ।।

(देवी भागवत ११।१।२०-२६)

अर्थात्---(क) [भगवान् कहते हैं कि] सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् मुझ से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, मुझ में अज्ञान का सर्वथा अभाव है, अतः श्रुति के प्रमाणों में कोई बाधा नहीं हो सकती। (ख) [नारद जी पूछते हैं कि] शास्त्र बहुत हैं अतः किस प्रकार निर्णय किया जाय कि धर्मनिर्णय में किसको कहाँ तक प्रमाण मानना चाहिए यह बतलाइये ! (ग) [नारायण ने कहा] श्रुति और स्मृति को धर्म निर्णय में नेत्र समझना चाहिये तथा पुराणों को हृदय समझना चाहिये। अतः इन तीनों में जो कुछ कहा है वही धर्म हैं। जहाँ वेद, स्मृति और पुराण इन तीनों में विरोध दीख पड़े वहाँ वेद को प्रमाण मानना चाहिये। जहां स्मृति और पुराण दोनों में विरोध उपस्थित हो वहाँ स्मृति को प्रमाण मानना चाहिये। जहां श्रुति में ही दो प्रकार के परस्पर विरुद्ध वचन मिलें तो वहां अधिकारी भेद से दोनों को ही धर्म समझना चाहिये। अतः इन तीनों में जो कुछ कहा है वही धर्म है। इसी प्रकार स्मृति की श्रुति-अविरुद्ध दो तरह की आज्ञाओं में विषयान्तर की कल्पना

करके व्यवस्था करनी चाहिए। [यदि कोई ऐसा विचार करे कि जिस प्रकार श्रुति-मूलक होने के कारण स्मृति को प्रमाण माना जाता है इसी प्रकार पुराण को भी श्रुतिमात्रमूलक होने पर स्मृतियों के बराबर पद देना चाहिये। अतः स्पष्ट किया जाता है कि पुराण केवल वेदमूलक नहीं है बल्कि एक सीमा तक तन्त्रमूलक भी है इसलिये] पुराणों में जहाँ तहाँ तान्त्रिक विधानों को भी अधिकारी विशेष के लिये उद्धृत किया है। अतः वे सर्वथा ग्राह्य नहीं हैं। हाँ! यदि तन्त्र भी वेदानुकूल हो तो उसे निस्सन्देह प्रमाण मानना चाहिए परन्तु प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध किसी भी अंश को कभी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि केवल वेद ही धर्म-निर्णय में सर्वथा प्रमाण है अतः जो भी तदनुकूल हो सो प्रमाण है और जो तद्विरुद्ध हो सो अप्रमाण है।

(मीमांसा-प्रक्रिया)

धर्म-निर्णय के सर्वोत्तम ग्रन्थ, मीमांसा-शास्त्र में उक्त प्रामाण्या-प्रामाण्य के विषय में एक विशेषता प्रकट की है। वह यह कि यदि स्मृति पुराण आदि ग्रन्थों का कोई वाक्य प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध दीख पड़े तब तो वह उपेक्षणीय है परन्तु प्रत्यक्ष श्रुति में यदि किसी स्मृति आदि वाक्य के अनुकूल या विरुद्ध दोनों प्रकार का ही उल्लेख न मिले तो उस वाक्य को अनुमित श्रुति-मूलक मानकर प्रमाण कोटि में समझना चाहिये। यथा—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥

(पूर्व मीमांसा १।३।३)

अर्थात्—स्मृत्यादि ग्रन्थों का प्रत्यक्ष श्रुति विरुद्ध अंश प्रमाण नहीं हो सकता परन्तु वेद में (असति) जिस वाक्य के विरुद्ध या अनुकूल कोई

वचन उपलब्ध न हो तो वहाँ परोक्ष श्रुति का अनुमान करके उसे वेदमूलक एवं प्रमाण मानना चाहिये।

न्याय-प्रक्रिया

न्यायदर्शन के टीकाकार महर्षि वात्स्यायन ने 'समारोपणा-दात्मन्यप्रतिषेधः (४ । १ । ६२) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

यथाविषयं प्रामाण्यम्, इन्द्रियादिवत् । अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य, विषयोऽन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति । यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः ।

अर्थात्—वेद, स्मृति और पुराण विषय-व्यवस्था के अनुसार अपने अपने विषय में इन्द्रियों की भान्ति निरपेक्ष प्रमाण हैं। वेद का एक भिन्न विषय है, और इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्र का अलग २ विषय है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद का विषय है 'यज्ञ'। इतिहास पुराण का विषय है लोकबीती। और धर्मशास्त्र का विषय है लोक व्यवहार की स्थापना।

उपर्युक्त सम्मति का यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार देखने में नेत्र ही प्रमाण हैं, और सुनने में कान ही प्रमाण हैं, इसी प्रकार गन्ध में नासिका, स्पर्श में त्वचा, रस में जिह्वा आदि इन्द्रियें भी अपने २ विषयों में प्रमाण हैं। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का निरूपण नहीं कर सकती। इसी भाँति वेद स्मृति और पुराण भी अपने २ विषयों में निरपेक्ष प्रमाण हैं। सो सर्ग प्रतिसर्गादि का क्रमबद्ध वर्णन और लोक वृतान्त केवल पुराणों का विषय है अतः उक्त विषय में पुराणों की प्रामाण्यता न्याययुक्त है।

हम नहीं समझते कि जो लोग मेवाड़ के यवन कालीन इतिहास के लिये 'टाड राजस्थान' की किताबों और अंग्रेजकालीन इतिहास के लिये 'ई० मार्संडन' आदि की किताबों को प्रमाण मानकर तत्कालीन घटनाओं पर विश्वास कर सकते हैं, वे ही महाशय पुराणों की इस आंशिक प्रामाण्यता पर क्यों आपत्ति करते हैं ?

न्याय में पंचावयव वाक्य द्वारा ही प्रत्येक विषय की साधना मानी जाती है। लोक में भी न्यूनातिरिक्त इसी शैली से समस्त निर्णय किये जाते हैं। इस प्रकार भी वेद और स्मृति को पक्ष-ग्रन्थ, दर्शनों को हेतुग्रन्थ और पुराणों को दृष्टान्तग्रन्थ कहा जा सकता है। इन तीनों के सम्मेलन से जो निश्चित होगा वास्तव में उसे ही 'सिद्धान्त' कहा जा सकता है। हेतु-विकल या दृष्टान्त-विकल पक्ष को सिद्धान्त मानना युक्तियुक्त नहीं जंचता। इसीलिये 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते' 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्' इत्यादि वचनों द्वारा वेदार्थ-निर्णय में दर्शनों की उपयोगिता प्रकट की गई है।

(आलंकारिकप्रक्रिया)

अलङ्कार शास्त्र में उपदेश विधायक ग्रन्थों को तीन भागों में बांटा है (१) प्रभु सम्मित (२) मित्र सम्मित और (३) कान्ता सम्मित। धर्म पर आरुढ़ होने के लिए स्वामी की भाँति हुक्म देने वाले वेद और स्मृतिशास्त्र प्रभु-सम्मित हैं, और मित्रों की तरह कार्य कारण पूर्वक हानि लाभ समझा कर धर्म मार्ग पर तत्पर रहने का परामर्श देने वाले पुराण और इतिहासग्रन्थ-मित्र सम्मित हैं। तथा कान्ता की तरह हाव भाव कटाक्ष रूप अभिनय रसादि द्वारा सन्मार्ग पर आकृष्ट करने वाले काव्य और नाटक ग्रन्थ कान्तासम्मित हैं। इस प्रकार भी मान्य किन्तु रूखी वेद आज्ञाओं का पालन करवाने के लिये पुराणों का विशिष्ट पद है।

(लौकिक-प्रक्रिया)

आजकल प्रत्येक सभ्य देश ने अपनी २ परिस्थिति के अनुसार कुछ कानून बना रक्खे हैं। छोटी-बड़ी सभी अदालतों में प्रायः उन कानूनों के आधार पर ही अभियुक्तों के कार्यों को न्यायोचित या अपराध ठहराया जाता है। यदि विचार दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक अभियोग के तीन अङ्ग होते हैं । (१) दावा (२) दलील और (३) मिसाल। योग्य वकील सर्वप्रथम अपना दावा पेश करता है, फिर उसकी वास्तविकता को सिद्ध करने के लिये युक्तियें देता है, तदनन्तर पुरानी मिसालों के निर्णय का दृष्टान्त देकर सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। उक्त तीनों अङ्गों में से किसी एक के भी न होने पर पक्ष समर्थन की अपूर्णता स्पष्ट है। इसी प्रकार धर्म-निर्णय में वेद और स्मृति के विधि-निषेधात्मक वचन 'दावा' हैं और उनके त्याग या संग्रह का कारणात्मक विवेचन करने वाले दर्शनशास्त्र 'दलील' हैं तथा वेदविहित विधि निषेध के अनुकूल आचरण करने वाले राम रावण और युधिष्ठिर दुर्योधनादि के आदर अनादर के दृष्टान्त रूप इतिहास पुराणादि 'मिसाल' हैं।

इसी प्रकार भी दावा दलील के साथ पुरानी मिसालों की अत्यावश्यकता है और वह पद केवल पुराणेतिहास को ही दिया जा सकता है।

वेद-मूलकता

पुराणों का निर्माण वेदग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को स्फुट करने के लिये हुआ है—यह बात प्रायः सभी पुराणों में डंके की चोट घोषित कर दी गई है। निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टि से किसी भी पुराण का पाठमात्र कर लेने से हर एक सहृदय का हृदय ही इस घोषणा की सत्यता का साक्षी बन जाता है। बहुत सी वैदिक आख्यायिकाएँ तो पुराणों में

शब्द परिवर्तन मात्र के भेद से ज्यों की त्यों लिखी गई हैं, उदाहरण के लिये—उर्बशी, शुनःशेप, सुदास, हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, वशिष्ठ, देवापि-शन्तनु, भृगु, अङ्गिरा, नमुचि, दधीचि, दिवोदास, त्रित और वृत्रासुर आदि से सम्बन्ध रखने वाली समस्त कथाओं को उपस्थित किया जा सकता है। निरुक्त ग्रन्थ में जहाँ तहां ऐसे मन्त्रों की व्याख्या करते हुए 'अत्रेतिहासमाचक्षते' कह कर स्पष्टतया उनमें ऐतिहासिक आख्यानों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सायणाचार्य के भाष्य में भी इसी रीति से सैंकड़ों आख्यानों का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासकार मि० मैकडानल्ड जैसे पाश्चात्य पण्डितों ने और मिश्र-बन्धु आदि भारतीय इतिहासकारों ने भी प्राचीन इतिहास की आधार-शिला वेद के विशिष्ट मन्त्रों को ही स्वीकार किया है। अतः पुराणों में अनूदित ऐसी आख्यायिकाओं की वेद मूलकता तो स्पष्ट ही है। हमने इस ग्रन्थ के 'वेद, पुराण-समन्वयाध्याय' में ऐसी बहुत सी आख्यायिकाओं का संग्रह किया है, जिनके साथ पौराणिक गाथाओं की तुलना करने पर हमारे विचारों की सत्यता प्रकट हो सकती है।

इसके अतिरिक्त पुराणों में जहाँ कहीं स्तुति प्रसङ्ग उपस्थित हुआ है वहाँ वेदमन्त्रों का अविकल रूपान्तर लिखा है जिससे द्विजेतर भी सुगमता से वेदपाठ का फल प्राप्त कर सकें।

ऐसी स्तुतियों का दिग्दर्शन वेद मन्त्रों सहित नीचे अङ्कित किया जाता है। पाठक वेदव्यासजी की शब्दविन्यासचातुरी का मनन करें और देखें कि किस प्रकार उन्होंने वेद के विस्तृत सूक्तों को परिमित अक्षरों वाले श्लोक में बांधकर 'गागर में सागर' वाली लोकोक्ति के चरितार्थ करने की सीमा को पार कर दिखाया है। यथा—

(विराट्-रूप)

वेद—	पुराण—
(क) चन्द्रमा मनसो जातः	(क) नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमंबुरेतो:—

श्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च,
मुखादग्निरजायत ॥

द्यौः शीर्षमाशाश्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी ॥
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा,
अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥
(श्रीमद्भागवत १०।६३।३५)

(ख) नाभ्याआसीदन्तरिक्षꣳ-
शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रा-
त्तथा लोकां २॥ अकल्पयन् ॥
(यजुः ३१ । १२-१३)

(ग) अपामेकं वेधसां रेत आहुः ।
(अथर्व ५ । ५८ । ६)

(क) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्;
बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः,
पद्भ्यांꣳशूद्रो अजायत ॥
(यजुः ३१।११)

(क) पुरुषस्य मुखं ब्रह्म,
क्षत्रमेतस्य बाहवः ।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः
पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥
(श्रीमद्भागवत २।५।३७)

अनादि-परमात्मा

वेद—

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
(ऋग्वेद ८।७।७।१)

पुराण—

(क) इदं दृश्यं यदा नासीत्
सदसदात्मकं च यत् ।
तदा ब्रह्ममयं तेजो,
व्याप्तिरूपं च सन्ततम् ॥
(शिवपुराण, धर्म० २-१)

इस प्रकार पुराणों का स्तुति समुदाय भी न केवल वेदमूलक अपितु वेदतुल्य कहा जाने योग्य है ।

पुराणोक्त 'सृष्टि-तत्त्व' की वेदमूलकता में तो किस 'देवानां प्रियः' को सन्देह हो सकता है ? क्योंकि मोटे २ सिद्धान्तों के बीज रूप मन्त्र तो प्रायः वेदों में उपलब्ध होते ही हैं, उनका विस्तार पुराणों के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में देखने को भी नहीं मिल सकता । अतः अगत्या प्रत्येक पुरातत्त्व-अनुसन्धायक को पुराण की शरणों में ही आना पड़ेगा ।

शेष रहा अर्वाचीन इतिहास, वह वेद-मूलक न होने पर भी आप्तोपदिष्ट अवश्य है अतः श्रद्धेय है । इसके अतिरिक्त महाभारत के समय से पूर्वकाल का इतिहास पुराणों को छोड़ कर अन्यत्र किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता, ऐसी दशा में दो ही मार्ग हो सकते हैं—प्रथम पुराणोक्त, यथालब्ध इतिहास को बुद्धिपूर्वक सुव्यवस्थित कर लिया जाय । दूसरा—ननु नच के झमेले में पड़ कर पूर्वजों के इतिहास से 'पञ्चम अन्यथा सिद्ध' रह जायें । इस प्रकार पुराणों के अर्वाचीन इतिहास अंश को छोड़कर शेष सब वेदतुल्य वेदमूलक एवं वेदानुमोदित है ।

नाम, क्रम, संख्या, लक्षणसार, न्यूनताधिक्य दोष परिहार ।
समन्वय सहित सप्रमाणत्व, यही अध्याय प्रथम का तत्त्व ।।

* प्रथम अध्याय समाप्त *

प्रमाण-संग्रहाध्यायः

(दूसरा अध्याय)

हिन्दी-भाषानिबन्धेषु, भाष्ये सूत्रे जये स्मृतौ ।
श्रुतावपि पुराणानां प्रामाण्यमिह दर्श्यते ।।

•••०O०•••

वैदिक काल से लेकर कल तक के भारतीय ग्रन्थ-निर्माताओं ने अपने अपने ग्रन्थों में पुराणों को उसी रूप में स्मरण किया है कि जिस रूप में वे वेदों को जानते मानते पहिचानते थे। दोनों की अविशेष-मान्यता में नाम मात्र का भेद भी कहीं ढूंढने पर उपलब्ध नहीं हो सकता। कोई भी विचारशील यदि निष्पक्ष भाव से हिन्दी और संस्कृत के धुरन्धर कवियों की कृतियों का अध्ययन करेगा अथवा पुरातन ऋषियों और मुनियों के अमर ग्रन्थों का स्वाध्याय करेगा तो उसे यही प्रतीत होगा कि वेद और पुराण मानों दो सहोदर भ्राता हैं जो परम पिता परमात्मा की गोद में औरस पुत्रों की भान्ति समान रूप से पालित व पोषित होकर ब्रह्माण्ड रक्षा के लिये कन्धे से कन्धा भिड़ाये एक दूसरे के बराबर खड़े हैं।

हमने अपनी उपर्युक्त सम्मति के समर्थन के लिये इस अध्याय में अनेक ग्रन्थों का पारायण करके एक विस्तृत किन्तु सुसम्बद्ध प्रमाण

परम्परा अङ्कित की है जो आधुनिक हिन्दी भाषा के धुरन्धर कवियों के निर्माण किये हुए ग्रन्थों के प्रमाणों से आरम्भ करके क्रमशः पूर्व-पूर्ववर्ती सभी शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा अनादि वेदों पर्यन्त चली गई है। इससे जहाँ पुराणों के प्रामाण्य का बोध होगा वहाँ अनेक ग्रन्थकारों के बहुसम्मत समयों की सूचना के साथ २ कविता-रसास्वादन का भी पर्याप्त आनन्द मिल सकेगा। आशा है विज्ञ पाठक इस क्रम-बन्धन विधान को पसन्द करेंगे।

देव कवि

(१) आंखिन देख्यो सुन्यो सोई कानन, वेद पुरानन भेद बताया।
जोगि जपी तपी पंडित प्रेमी प्रतीत बिना पचि हारे न पाया॥
आदि न अन्त अनादि अनन्त, निरन्तर अन्तर लोक लगाया।
देव कहों कि अदेव कहों वह 'देव' सुएक अनेक सुगाया॥१॥

(तत्त्वदर्शनपचीसी)

गिरिधर कविराय

(२) आंधी आई अज्ञान की, उड़ गयो सभी वकूफ।
शास्त्र वेद पुराण का, पढ़ना भया मकूफ॥

(कुण्डलियासंग्रह)

अहिन्दू कवि--कादिरबख्श

(३) गुन को न पूछे कोई औगुन की बात पूछे,
कहा भयो दई कलियुग यों खरानो है।
पोथी औ पुरान ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगल चबाइन को मान ठहिरानो है॥

(मिश्रबन्धु विनोद भाग १ पृष्ठ ३५१)

कुतबन शेख

(४) साह हुसेन अहें बढ़नाजा। छत्र सिंघासन उनको छाजा।
पंडित औ बुधिवन्त सयाना। पढ़ें पुरानन अरथ सब जाना॥
('मृगावती' से--मि० बं० वि० भाग १ पृ० २२६)

रसखान

(५) ब्रह्म में ढूंढ्यो पुरानन वेद, कुरान हदीसन चौगुन चाइन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कित हूं, वह कैसे स्वरूप औ कैसे सुभाइन॥
ढूंढत ढूँढत ढूंढ फिरयो 'रसखान' बतायो न लोग लुगाइन।
देख्यो कहां जब चीर खिच्यों, तब लोटत पायो है द्रौपदी पाइन॥
(रसखान संग्रह)

भूषण-कवि

(६) राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरानन राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं॥
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरती बखानी तब सुनी में॥
साही के सपूत सिवराज, समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिके देवाल राखे दुनी में॥ १॥

(७) वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥
मीड़ी राखे मुगल मरोरी राखे पातसाह,

बैरी पीसि राखे वरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में ॥ २ ॥
(भूषण ग्रन्थावलि)

कवि केशवदास

(८) जब वेद पुराण नसै है, जप तीरथ मध्य बसै है।
उपदेश जुमारि किवारे, कलि केवल नाम उधारे ॥
(हिन्दी नवरत्न पृष्ठ ३०५)

(९) कैटभ सो नरकासुर सो पल में मधु सो मुरसो जेहि मारचो।
लोक चतुरदस रच्छक केशव पूरन वेद पुरान उचारयो ॥
श्री कमला-कुच-कुंकुम-मंडित पंडित वेद पुरान उचारयो।
सो कन माँगन को बलि पै करतारहुने करतार पसारयो ॥
(मि० ब० वि० भाग १ पृ० २७६)

कबीर साहिब

(१०) वेद पुराण किताब कुराना, नाना भांति बखानि।
हिन्दू तुरक जैनी औ योगी, यह कल काहू न जानि ॥
(बीजक शब्द ४८ तुक ५)

(११) समरिति वेद पुराण पढ़ै सब, अनुभव भाव न दरसै।
लोह हिरण्य होय धौं कैसे जो नहीं पारस परसै ॥
(बीजक शब्द १४ तुक ३)

(१२) पंडित वेद पुराण पढ़ै औ मौलाना पढ़ै सो कुराना।
कह कबीर वै नरक गये जिन हरदम रामहिं ना जाना ॥
(बीजक शब्द ८३ तुक ६)

गुरु नानक जी

(आदि ग्रन्थ साहिब से)

(१३) वेद पुराण स्मृति बूझे मूल, सूक्ष्म में जाने स्थूल ।
जो वर्णों को दे उपदेश, नानक उस पंडित को सदा अदेश ।।
(राग हौड़ी--वाणी सुखमणी-महल्ला ५ अष्टपदी ९ तुक ४)

(१४) सन्त सभा मिली करो बखान, स्मृति शास्त्र वेद पुराण ।
(राग रामकली-महल्ला ५ शब्द ५४ तुक ४)

केशो गोपाल पण्डित सद्दियो, हरि हर कथा पढ़े पुराण जी ओ ।
(राग रामकली-वाणीसद-पौड़ी ५)

(१५) वेद पुराण जासु गुण गावत, ताको नाम हिये में धारो ।
(राग गौड़ी महल्ला ९ शब्द ९ तुक १)

(१६) सप्तद्वीप सप्तसागरां नवखण्ड चार वेद दशअष्ट पुराणा ।
हरि सबनां बिच बर्तदा हरि सबनां भाणा ।
(श्रीराग की बार महल्ला ३ पौढ़ी ४)

(१७) कुदरत वेद पुराण कतेबाँ ।
(राग असाबरी की बार महल्ला ३ श्लोक ३)

(१८) जुग जुग आपो अपणा धर्म सोध देखो पुराण ।
(राग बिलाबल महल्ला १ शब्द ४ तुक ६)

(१९) जो शरण पड़े तिनकी पत राखे, जाय पूछउ वेद पुराणी है ।
(राग मारू हलहला ४ सोहले-शब्द ९ तुक ९)

(२०) शास्त्र वेद पुराण पुकारें धर्म करहु खट् करम दृढ़ाया ।
(राग बिलावन महल्ला ५ शब्द २ तुक ६)

(२१) स्मृति शास्त्र वेद पुराण पारब्रह्म का करें बखान ।
(राग गौड़ी महल्ला ५ शब्द १७ तुक २)

(२२) अगे गंगजल अटल सिख संगत सब न्हावे ।

नित पुराण वांचिये ब्रह्मा मुख गावे ।।

(सवैया महल्ला ५ के सवैया २०)

ग्रन्थ साहिब के अधिक प्रमाण इसलिये उद्धृत किये गये हैं कि कुछ दिनों से हिन्दूधर्मरक्षक इस ऐतिहासिक सम्प्रदाय में भी अहिन्दू भावों का सन्निवेश हो चला है। जिस प्रकार वेदानुयायियों में आर्यसमाजी और कुरानानुयायियों में अहमदी लोग मनघड़न्त अर्थ लगाकर अपने निजी ख्यालात को जबर्दस्ती धार्मिक चोला पहिनाने का प्रयास करते हैं इसी प्रकार सिक्खों में भी अकाली नामक फिरका 'ग्रन्थ साहिब' की मनमानी व्याख्या करके हिन्दुत्व से बचना चाहता है। यह तीनों फिरके अपने नामों के आदिम अक्षर की समानता के अनुसार विचार में भी प्रायः समता रखते हैं, भेद केवल इतना है कि एक ने 'वेद' का, दूसरे ने 'कुरान' का और तीसरे ने 'ग्रन्थ साहिब' का नाम धर कर 'टट्टी की आड़ में शिकार खेलना' आरम्भ कर रक्खा है। पंजाब में भ्रमण करते हुवे हमें अकालियों से भी लोहा लेना पड़ता है, अतः एतद्देशीय उपदेशकों के लाभार्थ यह विस्तार किया गया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी

(२३) नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्,

रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि

स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—

भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ।।

(रामायण-बालकाण्ड का आरंभ)

(२४) आगम निगम प्रसिद्ध पुराण । षण्मुख जन्म कर्म जग जाना ।

(रामायण बाल० दोहा ११२-११३)

(२५) शुचि सुशील सेवक सुमति, कहु प्रिय काहु न लागा ।

श्रुति पुराण कह नीति अस, सावधान सुनु काग ॥

(रामायण उत्तर० दो० १२६)

(२६) स्त्रुति पुराण सब को मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये ।

निज अभिमान मोह इरषा बस, तिन्हहिं न आदरिये ॥

(विनय पत्रिका)

सूरदास जी

(२७) कर्म की रेख मिटे ना सजनी वेद पुरानन गायो ।

सूरदास प्रभु तुम्हारे मिलन को वेद विमल जस गायो ॥

(राग रत्नाकर पृष्ठ ६२)

(२८) पूरण ब्रह्म पुरान बखाने । चतुरानन शिव अन्त न जाने ।

(राग यत्नाकर पृष्ठ ६)

(२६) साख मुनिजन भरै, देव अस्तुति करें स्मृति पुराण गुण वेद गावें ।

(राग रत्नाकर ७)

(३०) अष्टादश षट् तीन चार मिली करते एक विचार ।

एको ब्रह्म सकल घट पूरण केवल नाम अधार ॥

(राग रत्नाकर २२७)

पृथ्वीराज रासो

यह हिन्दी भाषा का प्रथम ग्रन्थ है । आर्यसमाज की आदिम संस्था 'परोपकारिणी सभा' के मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के लेखानुसार यह ग्रन्थ सं० ११२० से ११४६ तक का बना हुआ है । महाकवि चन्द्रबरदाई इसके निर्माता हैं, जो हिन्दी कविता के वाल्मीकि कहे जाते हैं । आप उक्त ग्रन्थ के आदिपर्व में लिखते हैं :—

(३१) ब्रह्मन्यदेव सम वासुदेव, अष्टादश पुराण तिन कहे सभेव ।

तिन कहों नाम परिमान व्रन्नि । जिन सुनत सुद्ध भव होत नन्नि ।

'ब्राह्महपुरान' दस सहस जुट्टि । जिहि पढ़त सुनत तन तप्प छुट्टि ।
पंचास पंचह हजार गन्नि । 'पद्म पुरान' तिन करयो ब्रन्नि ।
तेवीस सहस सैं चार जानि । 'विष्णु पुराण' विष्णु समानि ।
चौबीससहस कहि 'शिवपुरान । तिहिं पढ़त सुनत समअमियपान ।
अठार सहस भागवतमेव । करि पार परिष्यत सुक्कदेव ।
'नारद पुरान' कहि पाव लाख । तहां मुक्ति मोद आनन्द भाष ।
'मारकंड पुरान' तेईस हजार । पौरान पवित्र सो दुख जार ।
पंद्रह हजार संख्या संपूर । 'अग्नि पुरान' पढि पाप दूर ।
चवदह हजार सैं पांच पढि । 'भविषत पुरान' सो पाप जड्ढि ।
'ब्रह्मवैवर्त' सहसं अठार । केवल गिनान कथि भक्ति सार ।
रुद्रह हजार 'लिङ्ग पुरान' । आनन्द अर्थ आगम गुरान ।
चौबीस सहस 'वाराह' भक्ति । पौरष पुरान तिन अमित शक्ति ।
हजार इक्यासी कहि विवेक । 'स्कन्द पुरान' भव भक्ति एक ।
इग्यार सहस 'बावन' सु अच्छ । पौरान सुनत सुधि अग्ग पच्छ ।
सत्रह हजार 'कूरम पुरान' । भाषा विनोद प्राक्रम गुरान ।
विद्या हजार मित 'मच्छ देव' । विधि संष उद्धरे सेव भेव ।
गुण ईस सहस 'गरुडह पुरान' । श्रोता न वक्त भक्ति डरान ।
'ब्रह्मांड पुरान' बारह सहस । करि व्यास भक्ति प्रभु कंस नंस ।
पंद्रह हजार अरु चारि लाख । सम ब्रह्म व्यास कहि चन्द्र भाष ।

इस प्रकार पुराणों के सम्बन्ध में विक्रम की १८वीं शताब्दी में होने वाले हिन्दी कवियों से आरम्भ करके, हिन्दीयुग के आदिम आचार्य चन्द्र बरदाई के समय—विक्रम की ११वीं शताब्दी तक के प्रतिष्ठित ग्रन्थकारों की विचार परम्परा दिखाकर हम संस्कृत-साहित्य में प्रवेश करते हैं। संस्कृत उद्धरणों के शीर्षक स्थान में निर्माताओं के नाम न रख कर ग्रन्थों के नाम रखना ही अधिक उपयुक्त समझा है क्योंकि देववाणी के विशेषज्ञों में ऐसी ही परिपाटी चली आती है।

पञ्चदशी

(२३) सपुराणान्पञ्च वेदान्, शास्त्राणि विविधानि च ।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्तेन नारदोऽतिशुशोच ह ।।

अर्थात्—नारद जी ऋग् आदि चारों वेदों, और पुराण नामक पाँचवें वेद को तथा अनेक शास्त्रों को जानकर भी आत्मज्ञान बिना अति शोकग्रस्त हुए ।

यह अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त का वही अद्वितीय ग्रन्थ है कि जिसकी अर्थसङ्गति लगाने में प्रतिशत निन्यानवे समाजी मूकप्रायः हो जाते हैं ।

शांकर शारीरिक भाष्य

वेदों के विशेषज्ञ श्री कुमारिल भट्ट ने अपने 'तन्त्र वार्तिक' नामक ग्रन्थ में जो पुराणों के प्रामाण्य विषय पर विचार किया है, उसकी समालोचना करते हुये श्री आद्यशङ्कराचार्य लिखते हैं :—

(३३) इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम् ।। (उत्तर मीमांसा)

अर्थात्—इतिहास और पुराणों का मूल भी व्याख्या मार्ग के अनुसार सम्भावित श्रुत्युक्त अर्थवाद है इसलिए वह (इतिहास और पुराण) भी देवताओं के विग्रह आदि की सिद्धि में समर्थ प्रमाण माने जा सकते हैं ।

(३४) तस्मात्समूलमितिहासपुराणम् ।।

(उत्तर मीमांसा ६।१३।३३)

अर्थात्—पूर्वोक्त कारण से इतिहास और पुराण भी वेदमूलक हैं ।

सायणीय कृष्णयजुर्भाष्योपोद्घात

(३५) उपनीतस्यैवाध्ययनाधिकारम्......।
...कथं तर्हि तयोः-पुराणादिभिरिति ब्रूमः ।

(सायण भाष्य पृ० ३)

अर्थात्—उपनीत के लिये ही वेदाध्ययन के अधिकार को कहा है। तो फिर स्त्री शूद्रों का कल्याण कैसे होगा ? पुराणादि के द्वारा, ऐसा कहेंगे।

सायणीय ऋग्वेदउपोद्घात

(३६) षडङ्गवत्पुराणादीनामपि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते । (सायणभाष्य)

अर्थात्—शिक्षा कल्पादि वेदाङ्गों की तरह पुराण और उप-पुराणों को भी वेद का अर्थ जानने के लिये याज्ञवल्क्य जी ने अपनी स्मृति में उपयोगी माना है।

(३७) ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्र-नचिकेताद्युपाख्यानानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेष्वितिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि, उपनिष-दुक्ताश्च सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्ण-वादिपुराणेषु स्पष्टी कृताः । (सायणभाष्य)

अर्थात्—ऐतरेय तैत्तिरीय काठक आदि वेद-शाखाओं में जो हरिश्चन्द्र नचिकेता आदि के धर्म और ज्ञानोपयोगी उपाख्यान लिखे हैं वे महाभारतादि में स्पष्ट किये गये हैं, और उपनिषद्वर्णित सृष्टि, पालन, प्रलय आदि विषय ब्राह्म-पुराण पद्म-पुराण और विष्णु-पुराण आदि में स्पष्ट किये गये हैं।

(३८) इति सृष्ट्यादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावगमात् ।

(सायणभाष्य)

अर्थ—इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय आदि पुराणों का प्रतिपाद्य विषय जानने से ।

(३९) उक्तप्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद् विद्यास्थानत्वं युक्तम् । (सायणभाष्य)

अर्थ—इस प्रकार पुराण उपपुराण भी वेदार्थ जानने में उपयोगी होने से 'विद्या के स्थान' ठीक ही हैं ।

(४०) एतैः पुराणादिभिश्चतुर्भिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारविशेषः, शाखान्तर्गतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः । (सायणभाष्य)

अर्थ—पुराणादि चार विद्यास्थानों द्वारा उपबृंहित विद्या के ग्रहण में अधिकार-विशेष अन्य शाखाओं के चार मन्त्रों में दिखाया है ।

सायणीय अथर्वभाष्य-उपोद्घात

(४१) यथा स्कान्दे कमलालयखण्डे आथर्वणमन्त्राणां जपमात्रेणाभिमतफलसाधनत्वम् उक्तम् । 'यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः । तेषामर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति सो ध्रुवम् ॥' इति ॥

(अथर्व सायणभाष्य पृष्ठ ५)

अर्थात्—स्कन्दपुराण कमलालय (कुमारिक) खण्ड में अथर्व मन्त्रों के जपमात्र से इच्छित फल की प्राप्ति होती है ऐसा कहा है, यथा

'यज्ञादि में जो पुरुष श्रद्धा पूर्वक अथर्व मन्त्रों का जाप करेगा उसे निश्चित ही अर्थसहित वेदपाठ का पूर्ण फल होगा।'

(४२) पौरोहित्यं च अथर्वविदैव कार्यम्। तत्कर्तृकाणां कर्मणां राजाभिषेकादीनां तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्। तथा च विष्णुपुराणे 'पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकानि राज्ञामथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च। (अथर्व-सायणभाष्य पृष्ठ ६)

अर्थात्—पुरोहित का कार्य अथर्ववेदज्ञ से ही करवाना चाहिए। क्योंकि राज्याभिषेक आदि पुरोहित-कर्तृक कर्मों का उल्लेख विस्तारपूर्वक अथर्व में ही है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा है:—

राजाओं के यहां शान्तिक पौष्टिक आदि पुरोहित सम्बन्धी कार्य अथर्ववेद द्वारा कराने चाहियें। तथा यज्ञादि में ब्रह्मत्व भी इस वेद से होता है।

मत्स्यपुराण—

(४३) 'पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम्। इति।'

(अथर्व सायणभाष्य पृष्ठ ६)

अर्थात्—मत्स्यपुराण में लिखा है:—अथर्ववेद के मन्त्रब्राह्मणात्मक दोनों भागों का पारङ्गत पुरोहित होना चाहिए।

मार्कण्डेयपुराण—

(४४) 'अभिषिक्तोऽथर्वमन्त्रैर्महीं भुङ्क्ते ससागराम्।'

(अथर्व सायणभाष्य पृष्ठ ६)

अर्थात्—मार्कण्डेय पुराण में लिखा है :—'अथर्वमन्त्रों द्वारा अभिषक्त होकर वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का राजा हुआ।'

इस प्रकार सायण भाष्य में अनेक स्थलों पर पुराणों की महिमा का गान किया है। सायणभाष्य सनातनधर्मियों का तो सर्वस्व है ही, परन्तु विदेशीय निष्पक्ष समालोचकों की दृष्टि में भी वह अद्वितीय है। सौभाग्य की बात है कि अब पचासों वर्ष के बाद आर्यसमाजी विद्वान् भी सायण-भाष्य का लोहा मानने लगे हैं। कल तक जो लोग स्वामी दयानन्द के भ्रममूलक मतानुसार दयानन्द भाष्य के सामने शेष भाष्यों के भ्रष्ट होने की ढपली पीटते थे; आज वही लोग निम्नलिखित शब्दों में सायण भाष्य की यशोदुन्दुभि बजाते हैं—'सायणाचार्यादिकों की विद्वत्ता के विषय में संदेह करना मानो अज्ञान प्रकट करना है। उनके भाष्य को देखने से जैसा वह सुसंगत सुसम्बद्ध प्रतीत होता है वैसा दूसरा प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है कि 'दयानन्द कृत भाष्य' की प्रथा नई है, आधार तर्कशिला है, कार्य नया है, सयुक्तिक सोपपत्तिक है, पर संतोषजनक नहीं। इस (दयानन्द कृत) भाष्य को देखकर प्रायः अंग्रेजी पढ़े-लिखे संशय सागर में पड़ जाते हैं और इस अभिप्राय पर पहुंचते हैं कि वेदों में प्रकरणबद्ध कोई बात नहीं, सब जगह केवल ईश्वर का ही वर्णन आता है क्रम कोई नहीं इत्यादि। सारांश दयानन्दकृत भाष्य ऐसा नहीं बना जो संसार भर पर धाक बैठती।' (पं० नरदेव शास्त्रीकृत आर्यसमाज का इतिहास भाग १ पृ० १६५)

कौटलीय अर्थशास्त्र

(४५) पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्या-
यिकौदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।

(अध्याय ५ गद्य १३-१४)

अर्थात्—(प्रो० उदयवीर शास्त्री स्नातक महाविद्यालय ज्वालापुर कृत अर्थ) दिन के पिछले भाग को इतिहास आदि सुनने में व्यतीत करे। ब्राह्म आदि पुराण, रामायण, महाभारत आदि इतिहास, आख्यायिका, उदाहरण मीमांसा आदि, मन्वादि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र ये सब ही इतिहास शब्द से समझने चाहियें।

परिणाम – यह ग्रन्थ बहुमत से ईसवी सन् पूर्व ३०० वर्ष का पुराना है, और इसके लेखक राजनीति, कूटनीति आदि राष्ट्रीय विषयों के धुरंधर आचार्य तथा प्रख्यात नन्दवंश के संहारक और चन्द्रगुप्त के राज्य की नींव डालने वाले श्री चाणक्य जी हैं। आप राजाओं को पुराण सुनने का आदेश इसलिये करते हैं कि बिना पुराण सुने शासन-निपुणता दुष्प्राप्य है। जो सज्जन पुराणों को राष्ट्रीयता के लिये विघातक बताकर अपनी योग्यता का परिचय दिया करते हैं उन्हें यह पंक्तियें आंख खोल कर पढ़नी चाहियें।

शुक्रनीति

(४६) अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते ।। (१-१५४)

अर्थात् – छः अङ्ग, चार वेद, मीमाँसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण इन सब को त्रयी कहते हैं।

(४७) पठनं पाठनं कर्तुं क्षमास्त्वभ्यासशालिनाम्।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां श्रुतज्ञास्ते प्रकीर्तिताः ।।
(२। १७७)

अर्थात् – वेद स्मृति और पुराणों के अभ्यास करने वालों में जो लोग पढ़ और पढ़ा सकते हैं वे श्रुतज्ञ कहे जाते हैं।

(४८) साहित्यशास्त्रनिपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः ।
सर्गादि पञ्च ज्ञाता च स वै पौराणिकः स्मृतः ।।
(२ । १७८)

अर्थात् – जो साहित्य शास्त्र में चतुर हो, गाना बजाना जानने के साथ कोमल स्वर वाला हो, तथा सृष्टि की उत्पत्ति, विनाश, वंश, मन्वन्तर और वंश-चरित पाँचों तत्त्वों को जानता हो वह 'पौराणिक' कहा जाता है ।

(४९) मीमांसातर्कसांख्यानि वेदान्तो योग एव च ।
इतिहासपुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम् ।।
(४ । २६९)

अर्थात् = मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, योग, इतिहास, पुराण, स्मृति और नास्तिकों का मत (ये सब बत्तीस विद्याओं के अन्तर्गत हैं)

(५०) सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं यस्मिन्पुराणं तद्धि कीर्तितम् ।।
(४ । २६४)

अर्थात् = सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित ये पाँच विषय जिस में वर्णित हों, इसे पुराण कहते हैं ।

(५१) धर्मतत्त्वं हि गहनमतः सत्सेवितं नरः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां कर्म कुर्याद्विचक्षणः ।।
(३ । ३८)

अर्थात् = धर्म का तत्त्व गहन है अतः बुद्धिमान् को उचित है कि वह सत्सेवित श्रुति स्मृति और पुराणोक्त कर्मों का ही अनुष्ठान करे ।

(५२) श्रुतिस्मृतिपुराणानामभ्यासः सर्वदा हितः ।

(३ । १५०)

अर्थात्—[राजा के लिए] वेद, धर्मशास्त्र और पुराणों का अभ्यास सदैव हितकारी है ।

नीतिग्रन्थों में शुक्रनीति का स्थान बहुत ऊँचा है । इसमें धर्मनीति, राजनीति और कूटनीति के अतिरिक्त शासनोपयोगी सभी बातों का विशद वर्णन है। जो लोग बन्दूक, तोप और बम्बगोलों के आविष्कार को अंग्रेजी शासन की करामात समझते हों उन्हें उक्त ग्रन्थ का एक बार अध्ययन अवश्य करना चाहिये । ऐसे राष्ट्रीय ग्रन्थ में पुराणों का विस्तृत वर्णन लिखा देखकर सर्वसाधारण को यह खूब जान लेना चाहिए कि स्वतन्त्रता के पुजारियों को पुराणों के स्वाध्याय की कितनी आवश्यकता है।

वात्स्यायन-भाष्य

(५३) प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते। ते वा खल्वेतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यवदन्-'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति छान्दोग्यः (७।२।१)

(न्यायदर्शन ४ । १ । ६२)

अर्थात्—[प्रो० राजाराम डी० ए० वी० कालेज लाहौर का भाषार्थ] प्रमाणभूत ब्राह्मण से इतिहास पुराण की प्रमाणता मानी गई है वे जो सुप्रसिद्ध अथर्वाङ्गिरस हुये हैं, उन्होंने इतिहास पुराण का प्रामाण्य कथन किया है कि इतिहास पुराण वेदों में पांचवाँ वेद है ।

(५४) य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च ।

(न्यायदर्शन ४ । १ । ६२)

अर्थात्—[वही भाषार्थ] जो मन्त्र-ब्राह्मण ... टा ... ास पुराण और धर्मशास्त्र के प्रवक्ता हैं ।

पातञ्जल महाभाष्य

(५५) ...वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येता-
वच्छब्दस्य प्रयोगविषयः । (पस्पशाह्निक १।१।१)

अर्थात्—वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण और वैद्यक वेदादि ये सब शब्द का प्रयोग विषय है ।

संस्कृत साहित्य में दर्शनशास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है । पाश्चात्य पण्डितों का कथन है—कि 'उन्नत * योरोप का दार्शनिक ज्ञान जहाँ समाप्त होता है, भारत का वहाँ से आरम्भ होता है ।' उन दर्शनों में भी महामुनि गौतम का न्यायशास्त्र और उसकी कुँजी वात्स्यायन भाष्य भारत का सर्वस्व है । तर्क वितर्क से संसार भर के पदार्थों की छानबीन कर डालना यह इसी ग्रन्थ का गौरव है । आस्तिक और नास्तिक सभी प्रकार के तार्किक उसकी युक्तियों के सामने मस्तक झुकाते हैं । उसी ग्रन्थ के भाष्य की दो सम्मतियाँ और उन पर आर्यसमाजी पं० राजाराम प्रो० डी० ए० वी० कालेज का भाषार्थ देकर हमने स्पष्ट कर दिया है कि पुराण ग्रन्थ दर्शनकाल से पूर्व भी विद्यमान थे, तथा इन्हें वेदों के समान प्रमाण माना जाता था । पातञ्जल महाभाष्य के सम्बन्ध में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है । प्रत्येक संस्कृतज्ञ इसकी महानता का समर्थक है । कितनी स्पष्टता से इसमें पुराण-साहित्य का उल्लेख किया गया है यह भी मनन करने योग्य है ।

---

* टिप्पणी—यूरोप के प्रथम दार्शनिक (प्लेटो और पीथागौरस) दोनों ही दर्शन के सम्बन्ध में भारतवासी हिन्दुओं के निकट सब तरह से ऋणी हैं (मानियर विलियम्स)

सिद्धान्तशिरोमणि

(५६) दिग्देशकालावरणादिभेदात्
न छादको राहुरिति ब्रुवन्ति ।
यन्मानिनः केवलगोलविद्या ।
तत्संहितावेदपुराणबाह्यम् ॥ (गणिताध्याय)

अर्थात्...जो लोग दिशा देश काल और आवरणादि के कारण राहु चन्द्रमा का आच्छादक नहीं ऐसा कहते हैं वे न केवल भूगोल विद्या के ही विरुद्ध कहते हैं अपितु वेद संहिता और पुराणों के भी सर्वथा प्रतिकूल बोलते हैं ।

महाभारत

(५७) पुराणमितिहासश्च तथाख्यानानि यानि च ।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव तत् ॥
(दान धर्म अध्याय ६०)

अर्थात्—पुराण इतिहास आख्यान और महात्माओं के चरित श्रवण करने चाहिएँ ।

(५८) अष्टादशपुराणाना श्रवणाद्यत्फलं लभेत् ।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥
(स्वर्गारोहण अध्याय ६)

अर्थात्—अठारह पुराणों के श्रवण करने से जो फल प्राप्त होता है वही फल विष्णु-भक्त को महाभारत के पढ़ने से मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

(५९) हरिवंशं ततः पर्वपुराणं खिलसंज्ञितम् ।

(आदिपर्व २।८३)

अर्थात्—हरिवंश नाम पुराण खिलसंज्ञा वाला पर्व है ।

(६०) ये च भाष्यविदः केचिद्ये च व्याकरणे रताः ।
अधीयन्ते पुराणानि धर्मशास्त्राण्यथापि वा ॥

(दानधर्म अध्याय ९०)

अर्थात्—जो भाष्य के ज्ञाता हैं और जो व्याकरण के वेत्ता हैं वे भी (धर्मज्ञान के लिये) पुराणों और धर्मशास्त्रों को पढ़ते हैं ।

(६१) पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥

(अनुशासन)

अर्थात्—पुराण, मन्वादि स्मृति षडङ्गवेद और चिकित्साशास्त्र ये चारों ईश्वराज्ञा से प्रसिद्ध हैं । तर्क के आश्रय से इनका हनन नहीं करना चाहिये ।

(६२) अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं, सूतं पौराणिकं तथा ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं, प्रगल्भमनसूत्रकम् ॥

(शान्तिपर्व ८५।९)

अर्थात्—(व्यवस्थापिका राजपरिषद् में) अष्टगुण युक्त, प्रगल्भ, अचिरक्रिय और पचास वर्ष की अवस्था वाला पुराणों का ज्ञाता सूत भी होना चाहिये ।

(६३) पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥

(आदिपर्व ५।२)

अर्थात्—(शौनक जी कहते हैं कि—) पुराण में अनेक दिव्य कथाएँ और विशिष्ट पुरुषों के आदि-वंशों का वर्णन कहा जाता है, जो कि हमने पूर्वकाल में आपके पितृचरणों से सुना था।

(६४) सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्॥

(आदिपर्व ६२।६३)

अर्थात्—साङ्गोपाङ्ग-उपनिषद् और वेदों का विस्तार तथा इतिहास और पुराणों का प्रवर्द्धन श्री वेदव्यास जी की कृति है।

(६५) इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने !
निगदामि यथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम्॥

(आदिपर्व ५।६७)

अर्थात्—[उग्रश्रवा ने कहा कि—] हे महामुने ! मैं तुम्हारे प्रति सर्वप्रथम इस भृगुवंश का वर्णन करता हूँ। पुराणों में इस वंश का जो जैसा वर्णन किया है सो सुनो।

(६६) माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम्।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः॥

(आदिपर्व १।२४०)

अर्थात्—संसार में आस्तिकपन, सत्यता, शौच, और दया नम्रता की, विद्वान् जो महिमा वर्णन किया करते हैं वह उत्तम कवियों ने पुराणों में लिखी है।

(६७) अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः।
पश्चाद्भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम्॥

(आदिपर्व अनुक्रमणिका)

अर्थात्—सत्यवती के पुत्र श्री व्यासजी ने अष्टादश पुराणों का

संकलन करने के बाद पुराणों का उपबृंहण रूप महाभारत ग्रन्थ बनाया।

(६८) लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिकः।

(आदिपर्व १।११)

अर्थात्—सूतपुत्र लोमहर्षण का आत्मज उग्रश्रवा पुराणों का ज्ञाता था।

(६९) पुराणसंश्रिताः पुण्याः कथा धर्म्मार्थसंश्रिताः।

(आदिपर्व १।१६)

अर्थात्—पुराणों की पवित्र कथाएँ धर्म्म और अर्थ की देने वाली हैं।

(७०) पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता।

(आदिपर्व १।८६)

अर्थात्—पुराणरूप पूर्ण चन्द्रमा से वेद रूप चांदनी छिटकती है।

(७१) इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

(आदिपर्व १।६४)

अर्थात्—इतिहास और पुराणों द्वारा वेदों को प्रवृद्ध करना चाहिए।

महाभारत ग्रन्थ आर्यजाति का विश्वकोश कहा जाता है। उक्त ग्रन्थ के उपर्युक्त प्रमाणों में कितने सौष्ठव के साथ पुराणों को स्मरण किया गया है यह दर्शनीय है।

वाल्मीकीय-रामायण

(७२) एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां यत्पुरावृत्तं पुराणेषु मया श्रुतम्॥

(बालकाण्ड ९।१)

अर्थात्–[सन्तान के अभाव से दुःखित हुये दशरथ जी के प्रति सुमन्त्र मन्त्री ने] राजा के ऐसे वचनों को सुनकर एकान्त में कहा

कि महाराज ! मैंने आपके सम्बन्ध में पुराण ग्रन्थों में जो कुछ सुन रक्खा है वह श्रवण कीजिए ।

(७३) इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ॥

(अयोध्या १५।१८)

अर्थात् – पुराणों के ज्ञाता सुमन्त्र लोगों को समझाकर अन्तःपुर के द्वार पर पहुंचे ।

(७४) स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविभक्तां ततः कक्षामाससाद पुराणवित् ॥

(अयोध्या १६।१)

अर्थात् – पुराणों का ज्ञाता सुमन्त्र राजमहल के जनाकुल (भीड़भाड़ वाले) दरवाजे को लांघ कर एकान्त एवं शान्त ड्योढी में पहुंचा ।

वाल्मीकीय रामायण संस्कृत साहित्य का आदिकाव्य माना जाता है । इसके शब्दविन्यास और चरित्रचित्रण को देखकर आज भी समालोचक-चक्र-चूड़ामणि चकित से रह जाते हैं । यद्यपि पुराणों का वर्तमान संकलन रामचन्द्र जी के समय से लाखों वर्ष बाद हुआ है तथापि उस समय या उससे भी पूर्व वे रूपान्तर में विद्यमान थे यह रहस्य इस ग्रन्थ के 'पुराण-परम्पराध्याय' में स्फुट किया गया है । कहना न होगा कि सुमन्त्र ने दशरथ के भावि जीवन की सब घटनाएँ पुराणों के भविष्य-वर्णनों द्वारा जान रक्खी थीं, जिनका उल्लेख बालकाण्ड के नौवें सर्ग में विस्तारपूर्वक किया गया है ।

स्मृतिग्रन्थ

(७५) ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्म्मयोगस्तु नेतराः ।

(व्यासस्मृति १ । ५)

अर्थात् – ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं। श्रुति स्मृति पुराणोक्त धर्म्म का अधिकार इन्हीं को है अन्य को नहीं।

(७६) मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः।
इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः॥

(व्यासस्मृति ४। ४५)

अर्थात् – जो विद्वान् विस्तार सहित शिक्षा आदि छः अंगों के साथ वेद इतिहास और पुराणों की मीमांसा करता है वही वेद का पारंगत होता है।

(७७) स एष बहुश्रुतो भवति लोके वेदवेदाङ्गविद्
वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः॥

(गौतम स्मृति ५। २)

अर्थात् – जो विद्वान् लोकव्यवहार, वेद-वेदाङ्ग, वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तर रूप वैदिक ग्रन्थ) इतिहास और पुराणों को भली प्रकार जानता है वही 'बहुश्रुत' होता है।

(७८) तस्य व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः
पुराणम्। (गौतम स्मृति ११। १)

अर्थात् – उस [राजा] का व्यवहार वेद, धर्मशास्त्र वेदाङ्ग उपवेद और पुराण शास्त्रों पर अवलम्बित होना चाहिए।

(७९) वेदं धर्मं पुराणं च तथा तत्त्वानि नित्यशः।
संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत्॥

(उशनः स्मृति ३। ३४)

अर्थात् – एक वर्ष शिष्य के ठहर जाने पर (परीक्षा करने के बाद) गुरु उसे वेद, धर्म, पुराण और अन्यान्य तत्त्वों का नित्यप्रति उपदेश देने लगे।

(८०) पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात ३)

अर्थात्---पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र, वेदों के छहों अङ्ग और चारों वेद सब मिलाकर चौदह विद्याएँ हैं और यही धर्म के स्थान हैं ।

(८१) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यातानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥
(मनुस्मृति ७ । २३२)

अर्थात्---[पं० राजाराम कृत भाषार्थ] श्राद्ध में (यजमान निमन्त्रित ब्राह्मणों को) वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण और खिल सुनावे ।

(८२) वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः ।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥
(याज्ञवल्क्य स्मृति १ । १०१)

अर्थात्---वेद, अथर्व, पुराण, इतिहास और अध्यात्म-विद्या का जप यज्ञ की सिद्धि के लिये यथाशक्ति जाप करे ।

(८३) वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसी च गाथिका ।
इतिहासांस्तथा विद्याः शक्त्याधीते हि योन्वहम् ॥
(याज्ञ० १ । ४५)

अर्थात्---जो वाकोवाक्य, पुराण, नाराशंसी, गाथा, इतिहास और

अन्यान्याय विद्याओं का प्रतिदिन यथाशक्ति अध्ययन करता है (वह अपने पितरों को तृप्त करता है ।)

(८४) यतो वेदाः पुराणं च विद्योपनिषदस्तथा ।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत्किंचिद् वाङ्मयं जगद् ।
(याज्ञ० प्रायश्चित्ताध्याय ३।१८९)

अर्थात् – जिन मुनियों से वेद, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक सूत्र और भाष्य – जो कुछ भी वाङ्मय है – [सब प्रचरित हुये वे ही मुनि धर्मप्रवर्तक हैं]

स्मृति ग्रन्थों में अन्यान्य भी सैंकड़ों प्रमाण विद्यमान हैं, जो विस्तार-भय से अनावश्यक समझकर उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं । आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने 'भेषजं वै यन्मनुरब्रवीत्' ऐसा वेदप्रमाण देकर मनुस्मृति का प्रमाण माना है । क्या हम आशा करें कि मनु जी के कथनानुसार समाजी भाई श्राद्ध में – फिर चाहे वह जीवितों का ही क्यों न हो – पुराणों का पाठ किया करेंगे ?

सूत्रग्रन्थ

(८५) अथ स्वाध्यायमधीयते, ऋचो यजूंषि सामान्य-
थर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीतिहासः पुराणानि इति अमृताहुतिभिः·······।
(आश्वगृह्यसूत्र ३।३।१)

अर्थात् – वेदों का स्वाध्याय करना चाहिए । ऋगादि चारों वेद, ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास और पुराण [इनका पाठ करने वाले के पितरों को] अमृत की आहुतियों से तृप्ति होती है ।

(८६) इतिहासपुराणानि अमृतस्य कुल्याः ।
(आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।६)

अर्थात्—इतिहास और पुराणों [का पाठ करने वाले मनुष्य के पितरों को] अमृत की नहरें प्राप्त होती हैं।

(८७) आयुष्मतां कथां कीर्तयन्तो माङ्गल्यानीतिहास-पुराणानि।

(आश्वलायन गृह्यसूत्र ४। ६)

अर्थात्—चिरंजीवी मनुष्यों की कथाएं और मांगलिक इतिहास पुराणों का पाठ करते हुवे [समय यापन करे।]

(८८) अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

'अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षयः।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे॥
अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजां नेषिरर्षयः।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते॥

(आपस्तम्बधर्मसूत्र २। २३। ३५)

अर्थात्—पुराणों में नीचे लिखे दो श्लोकों का उदाहरण मिलता है कि—जो अठासी हजार ऋषि सन्तान की कामना करते थे वे अर्यमा के दक्षिण मार्ग से प्रयाण करके श्मशान में पहुँचे [अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग के जन्म-मरणात्मक चक्र में पड़े रहे] और जो अठासी हजार ऋषि प्रजा की कामना नहीं रखते थे, वे यम के उत्तर मार्ग से प्रयाण करके सदा के लिये अमर बन गए। [अर्थात्—निवृत्ति मार्ग के आश्रयण से मुक्त हो गये।]

(८९) आभूतसंप्लवास्ते स्वर्गजितः पुनः स्वर्गे बीजार्था भवन्ति, इति भविष्यत्पुराणे।

(आपस्तम्ब धर्मसूत्र २। २४। ५-६)

अर्थात् – वे लोग प्रलय पर्यन्त स्वर्ग में निवास करते हैं और सृष्टि के पुनः उत्पन्न होने के समय स्वर्गादि लोकों के बीजभूत होते हैं ऐसा भविष्यत्पुराण में लिखा है।

उपर्युक्त प्रमाण में 'अष्टाशीति' आदि जो श्लोक उद्धृत किये हैं वें ज्यों के त्यों 'ब्रह्माण्ड पुराण' में (अनुषङ्गपाद अध्याय ५४ श्लोक १५९ से १६६ तक) उपलब्ध होते हैं। और 'विष्णु पुराण' (३/८) में तथा 'मत्स्य पुराण' में (अध्याय १२४ श्लोक १०२ से ११० तक) और 'पद्मपुराण' के सृष्टिखण्ड में भी ठीक इसी प्रकार मिलते हैं।

डाक्टर बुलर (Dr. Buhlar) आदि पाश्चात्य विद्वानों ने सूत्रग्रन्थों को, विशेषतया आपस्तम्बधर्मसूत्र को, पाणिनि से पूर्व का बना हुआ तथा बौद्ध जैन समय से ५, ६ सौ वर्ष पूर्व का ठहराया है। पाठक इस बात से तो खूब परिचित होंगे कि पाश्चात्य विद्वान् अनादि वेदों का समय अधिक से अधिक ईसा पूर्व ४ हजार वर्ष ठहराते हैं। उक्त समालोचकों के समय निर्णय पर हम कुछ न कहते हुए अपने पाठकों का ध्यान केवल इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में भी सूत्रकाल वैदिककाल के अतिनिकट ठहरता है। अतः आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्पष्ट शब्दों में 'पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति' कहकर ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक उद्धृत करना सिद्ध कर रहा है कि उस समय से पूर्व ही पुराण-ग्रन्थों का रूपान्तर में सूत्रपात हो चुका था। ब्रह्माण्डपुराण गणना में बहुमत से १८वाँ पुराण है। यदि गणनाक्रम के दृष्टिकोण से इसका परीक्षण किया जाय तब तो सभी पुराणों का सूत्रकाल से पूर्व रूपान्तर में होना सिद्ध होता है तथा भविष्यत्पुराण का साक्षात् नाम आ जाने से यह भी विदित होता है कि उस समय पुराणों के वर्तमान नामों का भी विषय व्यवस्था के अनुसार व्यवहार होता था।

उपनिषद्-ग्रंथ

छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन आता है कि एक बार नारद मुनि पढ़ने के लिये सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने पूछा कि अब से प्रथम तुमने क्या २ पढ़ा है ? नारद ने कहा –

(६०) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

(छान्दोग्य० ७। १। २)

अर्थात् – (पं० राजाराम प्रोफेसर का भाषार्थ) नारद ने कहा – भगवन् ! मैं ऋग्वेद पढ़ा हूं तथा यजुर्वेद सामवेद और चौथा आथर्वणवेद पांचवां इतिहास पुराण वेदों का वेद।

(६१) स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्, यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्।

(बृहदारण्यक २। ४। ११)

अर्थात् – (पं० राजाराम प्रोफेसर का भाषार्थ) जो आग गीली लकड़ियों से जलाई है जैसा कि – उससे अलग धूम (के बादल) बाहर निकलते हैं इसी प्रकार हे मैत्रेयी, इस बड़ी सत्ता से यह बाहर की ओर सांस लिया गया है। जो ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्वाङ्गिरस पुराण हैं इसीके ही यह सांस लिए हुए हैं।

(६२) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानाँ वेदः···· उपास्वेति।

(छान्दोग्य ७।१।४)

अर्थात् – ऋग्वेद यजुर्वेद असामवेद और चौथा अथर्ववेद तथा पांचवां वेदों का वेद इतिहास पुराण यह सब ब्रह्मरूप हैं इसकी उपासना कर !

(९३) वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञायति यजुर्वेदँसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ।

(छान्दोग्य ७ । २ । १)

अर्थात् – ईश्वर की वाणी ही ऋग्वेदादि चार वेदों और इतिहास पुराण नामक पांचवें वेद को विज्ञापित करती है ।

उपर्युक्त उपनिषद्-ग्रन्थों के प्रमाणों में पुराणों को बार २ पांचवें वेद के नाम से स्मरण किया है। उपनिषद् काल में वर्तमान रूपापन्न अठारह पुराण न थे बल्कि इन सब का मौलिक-तत्त्वभूत एक ही ग्रन्थ था, जो वेदों की भांति गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय द्वारा पढ़ा जाता था। इस रहस्य का पूरा विवरण परम्पराध्याय में लिखा जायगा। यहाँ केवल एतावन्मात्र समझ लेना आवश्यक होगा कि उक्त प्रमाणों में जो एक वचन का निर्देश किया गया है वह उसी एकत्वसंख्यावछिन्न ग्रन्थ का संकेत करता है।

वेद–ब्राह्मणभाग

(९४) एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः । (गोपथ पूर्वभाग प्रपाठक २।१०)

अर्थात् – इस प्रकार कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अनूख्यान और पुराणसहित सब वेद निर्मित हुए।

(९५) मध्याहुतयो ह वा एता देवाम्, यदनुशासनानि

विद्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं गाथा नाराशंस्यः । (शतपथ ११ । ५ । ६ । ८)

अर्थात्—यह जो अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास पुराण, गाथा और नाराशंसी वेद के भाग-विशेष हैं, सो देवताओं की तृप्ति के लिये यज्ञाहुति के समान हैं ।

(९६) पंच वेदान् निरमिमीत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदम् । (गोपथ १।१०)

अर्थात्—पाँच वेदों का निर्माण किया - सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद इतिहास वेद और पुराण वेद ।

(९७) य एवं विद्वान् अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते । (शतपथ ११ । ५ । ६ । ८)

अर्थात्—जो पुरुष ऐसा जानते हैं वे नित्य पुराणादिसहित वेद का पाठ करते हैं ।

(९८) एष देवांस्तर्पयति य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते ॥ (शतपथ ११ । ५ । ७ । ९)

अर्थात्—वाकोवाक्य, इतिहास और पुराणों का प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए जो ऐसा जानता है वह देवताओं को तृप्त करता है ।

(९९) ऋग्वेदो यजुर्वेदो सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि

अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि, वाचैव सम्राट् प्रजायते । (शतपथ १४ । ६ । १० । ६)

अर्थात्—ऋगादि चारों वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् आदि सब वाङ्मय है, वाणी से सम्राट् होता है ।

(१००) तान् उपदिशति पुराणं वेदः ।

(शतपथ १३ । ४ । ३ । १३)

अर्थात्—[यज्ञाधिष्ठाता] उन्हें उपदेश करे कि पुराण वेद हैं ।

(१०१) ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथाः नाराशंसीरिति । (तैत्तिरीयारण्यक २ । ९)

अर्थात्—ब्राह्मण इतिहास पुराण आदि (सब वेद के ही समान हैं)

(१०२) अथ नवमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत ।

(शतपथ १३ । ४ । ३ । १२ । १३)

अर्थात्—यज्ञ में नौवें दिन कुछ पुराण का पाठ किया जाय ।

वेद के ब्राह्मणभाग में किस प्रकार ग्रन्थवाची पुराण शब्द का बार-बार उल्लेख मिलता है—यह उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है । कई पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि नरपुङ्गव दुराग्रहवश उपर्युक्त प्रमाणों का अपलाप करने के लिये यह कह उठा करते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में पुराण शब्द का अर्थ 'पुराण-विद्या' है जो कि वेद के ही विशिष्ट मन्त्रों में वर्णित है । हमारे विचार में यह उत्तर 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' का सर्वाङ्गसुन्दर उदाहरण है; क्योंकि पुराण शब्द के सम्बन्ध में यदि यह नियम ठीक है तो इतिहास शब्द का अर्थ भी इतिहास-विद्या होगा और उसका अस्तित्व भी वेद-मन्त्रों में ही स्वीकार करना पड़ेगा । ऐसी दशा में वेदों को अनैतिहासिक सिद्ध करने वाले

यही लोग अनिष्टापत्ति की उभयपाशा रज्जु में निबद्ध हो जायेंगे। वास्तव में जिस इतिहास-सम्बद्ध पुराण का उक्त प्रमाणों में वर्णन है वह वर्तमान अष्टादश पुराणों की मूलभूत सामग्री का सर्वस्व एक ही ग्रन्थ था जो गुरुपरम्परा से प्रचारित था। कहना न होगा कि उसी का विकसित रूप वर्तमान पुराण हैं।

वेद-मन्त्रभाग

(१०३) तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत। (ऋग् ९।९९।४)

अर्थात्—[सायणभाष्यानुसारी भाषार्थ] (पुनानं-पूयमानं) अत्यन्त पवित्र किये गये (तं सोमं) उस सोमरस की (पुराण्या-पुराकृतया) पुराणसम्बन्धी प्राचीनतर (गाथया-स्तुत्या) कथा स्तुतियों द्वारा (अभ्यनूषत-स्तोतारोऽभिष्टुवन्ति) स्तोता लोग स्तुति करते हैं।

(१०४) सना पुराणमध्येम्यारात्। (ऋग्वेद ३। ५४। ९)

अर्थात्—(आरात्-अधुना) अब [मैं] (सना-सनातनं) सदा होने वाले (पुराणं) पुराण का (अध्येमि) अध्ययन करता हूँ।

(१०५) पुराणमोकः सख्यं शिवं वाम्। (ऋग्वेद ३।५८।६)

अर्थात्—[हे अश्विनीकुमारो!] (वां) तुम दोनों का (ओकः) स्थान (पुराणं) पुराण हैं [अर्थात्—पुराणों द्वारा ही तुम्हारा पता चल सकता है। और तुम्हारी (सख्यं) मैत्री (शिवं) कल्याण करने वाली है।

(१०६) चाक्लृपे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। (ऋग्वेद १०। १३०। ६)

अर्थात्—(पुराणे) पुराणवर्णित सृष्टिस्वरूप (यज्ञे जाते) यज्ञ के सम्पन्न हो जाने पर (तेन) उससे (नः पितरः, ऋषयः, मनुष्याः) हमारे पितृपितामहादिक ऋषि, मनुष्य, (चाक्लृपे) उत्पन्न हुवे।

(१०७) यत्र स्कम्भः प्रजनयन्पुराणं व्यवर्तयत् ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥
(अथर्व १० । ७ । २६)

अर्थात्—(यत्र) जिस [व्यासावतार] में (प्रजनयन्) उत्पन्न होकर (स्कम्भः) सर्वाधार ईश्वर ने (पुराणं) पुराण-साहित्य को (व्यवर्तयत्) [गुरुपरम्परागत रूप से लेखबद्ध रूप में] परिणत किया (तत्) उस [वेद के] (एकं) मुख्य (अङ्ग) अङ्ग (पुराणं) पुराण को (स्कम्भस्य) परमात्मा का (अनु) अनुकूल वर्णन करने वाला (संविदुः) भली प्रकार जानो ।

(१०८) ये अर्वाङ्, मध्ये उत वा पुराणं वेदं विद्वांसम-
भितो वदन्ति । आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे
अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥
(अथर्व १० । ८ । १७)

अर्थात्— (ये) जो (विद्वान् यज्ञ के) (अर्वाक्) अन्त में (उत वा) अथवा (मध्ये) बीच में (पुराणं) पुराण-ग्रन्थ और वेदों का [पाठ करते हुए] (विद्वासं) सर्वज्ञ परमात्मा की (अभितो वदन्ति) सब प्रकार से स्तुति करते हैं । (ते सर्वे) वे (आदित्यं) अखण्ड-नीय (द्वितीयं अग्निं) दूसरे प्रकाश-स्वरूप (च) और (त्रिवृतं) तीनों [कर्म, उपासना और ज्ञान] को स्वीकार करने वाले (हंसं) हंसस्वरूप [परमात्मा का] (एव) ही (परिवदन्ति) सब ओर से कथन करते हैं ।

(१०९) इयं नारी पतिलोकं वृणाना, धर्मं पुराणमनुपा-
लयन्ती । (अथर्व १८ । ३ । १)

अर्थात्—[सायणभाष्यानुसारी भाषार्थ] (इयं पुरोपवर्तिनी

नारी) यह सामने खड़ी हुई स्त्री (पतिलोकं) पति के [यज्ञादि कर्मों द्वारा अर्जित किये स्वर्गादि] लोक की (वृणाना) [सहधर्मचारिणी होने के कारण] हिस्सेदार हुई और (धर्मं पुराणं) पुराणादि में प्रसिद्ध सतीधर्म का (अनुपालयन्ती) आनुपूर्व्य पालन करती हुई [सती होती है ।]

(११०) स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासश्च पुराणं
च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलत् ।

(अथर्व १५ । ६ । १० । ११)

अर्थात्—[आर्यसमाज के वेदज्ञ कायस्थ क्षेमकरणदास कृत अथर्व-भाष्य] वह बड़ी दिशा की ओर विचरा । इतिहास (बड़े लोगों का वृत्तान्त) और पुराण (पुराणे लोगों का वृत्तान्त) और गाथाएं (गाने योग्य वेदमन्त्र शिक्षाप्रद श्लोक आदि) और नारशंसी (वीर नरों की गुण-कथाएं) उसके पीछे चलीं ।

(प्रो० रामदेव और महाशय जयचन्द्र गुरुकुल काँगड़ी का भाषार्थ 'पुराणमत पर्यालोचन, पृष्ठ २१६ से) 'वह व्रात्य बृहती दिशा को चला । इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी भी उसके पीछे २ चलीं ।'

(१११) इतिहासस्य च पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसी-
नां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।

(अथर्व १५ । ६ । १२)

अर्थात्—(क्षेम० भाष्य) वह पुरुष निश्चय करके इतिहास का, पुराण का और गाथाओं का और नाराशंसियों का प्रिय धाम (घर) होता है जो (विद्वान्) ऐसे व्यापक को जानता है ।

(११२) येन आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥

(अथर्व ११ । ८ । ७)

अर्थात्—[क्षेम० भाष्य] इस (दीखती हुई भूमि) से पहिली (पहिले कल्प वाली) जो भूमि थी और जिस (भूमि) को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं, जो निश्चय करके उस (पहिले कल्प वाली भूमि) को नाम द्वारा (तत्त्वतः) जान लेवे वह पुराण-वेत्ता (पिछले वृत्तांत का जानने वाला) माना जावे।

(११३) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥
(अथर्व ११। ७। २४)

अर्थात्—[प्रो० रामदेव और प्रो० जयचन्द्र के 'पुराणमत पर्यालोचन', पृष्ठ २१६ से] ऋक् साम, छन्द और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट जगत् पर शासन करने वावे यज्ञमय परमात्मा से पैदा हुवे। यह सब दिव्यभाव से विद्यमान नक्षत्रतारा-मण्डल जो कि द्युलोक में स्थित हैं वे भी उसी परमात्मा से पैदा हुवे।

(श्रीपाद दामोदर--सातवलेकर के 'वेदामृत' पृष्ठ ४३४ से) 'ऋग्वेद, साम, छन्दः, यजुर्वेद के साथ पुराण परमात्मा से बने हैं और ये सब देव द्युलोक में आश्रित हैं।'

वेद के मन्त्रभाग में किस आदर और गौरव के साथ पुराणों को स्मरण किया गया है यह उपर्युक्त प्रमाणों में दर्शनीय है। हमने जहाँ तक मिल सके समाजी लोगों के किये हुये भाषार्थों को ही अक्षरशः उद्धृत किया है। यद्यपि हम स्वयं समझते हैं कि ये अर्थ अनेक त्रुटियों से पूर्ण है तथा भरसक खींचातानी करके पुराणों के प्रामाण्य को उड़ाने की दुष्चेष्टा से अस्तव्यस्त हैं, तथापि 'जादू तो वह जो सिर चढ़ बोले' वाली लोकोक्ति के अनुसार हमने उदारतापूर्वक उनको उद्धृत करके यह दिलाने का प्रयत्न किया है कि कितनी ही खेंचातानी क्यों न की जाय, आखिर सत्य भी सात तवे फोड़ कर प्रकट हुये बिना नहीं रहता।

श्री सायणाचार्य ने 'इयं नारी' मन्त्र के भाष्य में—'धर्म पुराण' की व्याख्या करते हुये स्पष्टतया 'स्मृति पुराणादि प्रसिद्ध', ऐसा लिखा जिससे अन्यान्य मन्त्रों में भी उनकी उपर्युक्त सम्मति अनुमित हो सकती है। इसलिये प्रत्येक मन्त्र का सायणभाष्य उद्धृत करना अनावश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त शास्त्रार्थों के समय प्रायः वादी प्रतिवादी एक दूसरे के किये अर्थ को मिथ्या बताकर अपनी २ विजय-दुन्दभि बजाया करते हैं और साधारण जनता 'किस पक्ष के पण्डित का अर्थ ठीक है'—यह समझने में असमर्थ होती है। अतः शास्त्रार्थों का परिणाम घड़ी के लटकन की भांति बीच में ही रह जाया करता है। इसलिये भी समाजियों के लिक्खाड़ों के किये हुये अर्थों को उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त समझा गया है। अब किसी प्रमाण को अर्थानर्थ के गड़बड़ घुटाले में डालकर टाल देने का अवसर न रहेगा।

अन्त में यह कह देना भी अनावश्यक न होगा कि पुराणों के सम्बन्ध में और भी बहुत से प्रमाण हमारे पास संगृहीत हैं जो विस्तारमय से यहाँ देने उचित नहीं समझे गये। बुद्धिमान् पाठक 'स्थाली पुलाक न्याय' से इतने में ही समस्त हिन्दू-साहित्य की पुराण-विषयक मान्यता का अनुमान कर सकेंगे ऐसी आशा है।

प्राकृत कवि, मुनि, सिद्ध, सयाने। निगमागम बहु भांति बखाने।
अहहि पुराण न कछु संदेहा। द्वितीयाध्याय सार सब एहा॥

* दूसरा अध्याय समाप्त *

वेदपुराण-परम्पराऽध्यायः

(तीसरा अध्याय)

स्वाध्याये विनियोगोऽर्हः स चर्षिदेवतात्मकः ।
तन्मूलकपुराणानाम्पारम्पर्यमिहोच्यते ॥

•••○O○•••

विगत अध्याय में आधुनिक ग्रन्थों से आरम्भ करके अनादि वेदों तक में पुराणों का वर्णन प्रकट किया गया है। इसे पढ़ कर प्रत्येक बुद्धिमान् इस परिणाम पर पहुंचेगा कि निस्संदेह सभी ग्रन्थों में धारा-प्रवाह से पुराणों का उल्लेख मिलता है और यह भी ठीक है कि इतिहास आदि शब्दों के योग से उक्त प्रमाणों में 'पुराण' शब्द का अर्थ ग्रन्थपरक ही उपयुक्त हो सकता है। खेंचातानी से 'पुराण-विद्या' या सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक-मन्त्र-समुदाय, कहना विडम्बना-मात्र है। तथापि सर्वसम्मत प्रचीनतर सूत्रों, उपनिषदों, ब्राह्मणों और मन्त्रों में—उत्तरकालवर्ती—वेदव्यास जी के संकलित किये हुये वर्तमान पुराणों का उल्लेख मानना वैसे ही असम्भव सा जान पड़ता है जैसा कि पुत्र के लिये पिता के जन्म समय का दृश्य देखना और उनकी छठी का मीठा भात उड़ाना। अर्थात् कहाँ अनादि वेद और कहाँ द्वापर के अन्त में बनने वाले पुराण ?

उपयुक्त आशंका को यथेच्छ प्रवृद्ध किया जा सकता है और वास्तविक तथ्य एवं पथ्य को छुपाने के लिये इसे अनेक विभीषिकामय रङ्गों में भी रंजित किया जा सकता है, परन्तु है यह आशंका सर्वथा निर्मूल !

जब विवेकपूर्वक वैदिक-साहित्य का मनन किया जाता है तो अपने आप यह गूढ़ रहस्य प्रकट हो जाता है, तथा जो संदेह और जो आक्षेप सूत्रादि में पुराणों का उल्लेख देखकर साधारणतया प्रतीत होते हैं वे सब एकदम काफूर हो जाते हैं।

वेदों की परम्परा

वेद अपौरुषेय हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, सनातन हैं, शाश्वत हैं एवं परम पिता परमात्मा के स्वाभाविक निश्वासोच्छ्वास होने के कारण साक्षात् ब्रह्म हैं—यह आर्यजाति के आबाल-वृद्ध आस्तिक जनों की पुरातन धारणा है। लाख बार प्रलय हो जाये और करोड़ों बार सृष्टि का प्रादुर्भाव हो, परन्तु वेद के नित्यत्व में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं पड़ता, यह भी एक नग्न सत्य है जो कि सभी ऋषियों मुनियों एवं आचार्यों द्वारा अगणित बार घोषित हो चुका है। परन्तु जिस रूप में जिस आकार में, जिस सांचे में, जिस प्रमाण में, जिस लिपि रूप में और जिस संख्या में आज वे बाजार में मिलते हैं क्या उसी रंग में और उसी ढंग में सदा से चले आते हैं? तथा निराकार बाबा ने अथवा ब्रह्मा दादा ने कपड़े की जिल्द में बन्धे बन्धाए, और आर्टपेपर पर सुनहरी अक्षरों में छपे छपाए ही ये ग्रन्थ लाईब्रेरियों की अलमारियों में चुपके से रख छोड़े हैं क्या? कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त प्रश्नों का जवाब हाँ में नहीं दे सकता। प्रायः सभी जानते हैं कि कल से पहिले टाइप के छापेखाने नहीं थे परसों लीथो के पत्थरों और कागजों का भी आविष्कार नहीं हुआ था, तरसों ताड़ के पत्तों को खोद लेने की व्यवस्था भी नहीं थी। इससे पूर्व किसी अतीत काल में लिपि प्रणाली के अभाव को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। यह हो सकता है कि हम अक्षर-समाम्नाय और लिपि-प्रणाली का आरम्भ वर्तमान गवेषकों की अपेक्षा लाखों या करोड़ों वर्ष पूर्व मानें परन्तु

आखिर कभी न कभी तो आरम्भकाल मानना ही पड़ेगा! तो फिर उससे पूर्व उक्त ग्रन्थ किस रूप में थे? और इससे भी पूर्व पूर्व यहाँ तक कि जब कभी सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ होगा तब ये किस रूप में थे? यह है एक समस्या जिसे समझ लेना प्रत्येक आस्तिक का काम है।

वेदों की उपर्युक्त परम्परा के समझ में आ जाने पर पुराणों की परम्परा का भी अपने आप बोध हो जायेगा, एतदर्थ इस अध्याय में सृष्टि के उत्पत्तिकाल से आरम्भ करके वर्तमान कलियुग के प्रवेश समय तक वैदिक-साहित्य अपने मौलिकरूप से किस प्रकार वर्तमान रूप में परिणत हुआ है, यह दिखाया जाता है।

महाप्रलय के बाद ब्रह्मा का प्रादुर्भाव

एक समय था जब कि यह दृश्य जगत् अनन्त में लीन था, यह नक्षत्र तारे सितारे और सैयारे गर्ज है कि 'जहं लगि गुनिय सुनिय मन माँही' के अनुसार सभी पंचभूतात्मक पदार्थ अपनी नाम-रूपात्मक उपाधि को छोड़ कर निर्विशेषरूप से शेष में समाये हुये थे। उस समय यदि कुछ था तो वह 'कुछ' ही था, अर्थात्—जिस वस्तु का कुछ नाम हो न रूप हो, केवल सत्तामात्र ही जिसका लक्षण हो उस अनिर्वचनीय ब्रह्म को सिवा 'कुछ' के और कहा भी क्या जा सकता है! एक लम्बे समय के बाद उस 'कुछ' में—

'एकोऽहं बहुः स्याम्'

—की स्वाभाविक भावना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे कि माया या प्रकृति नाम से पुकारा जाता है। बस फिर क्या था, एक से दो होते ही इस दम्पती ने अपने अनिर्वचनीय 'कुछत्व' को छोड़ कर अपना

नामकरण संस्कार कर डाला । वेदादि शास्त्रों में इस आदिम व्यक्ति को 'स्वयम्भू या ब्रह्मा' नाम से स्मरण किया गया है ।

निर्विशेष सत्तामात्र से साकार ब्रह्मा की उत्पत्ति-पर्यन्त का रहस्य अनेक ग्रन्थों में, अनेकों परम्पराओं से लिखा है । इसमें शाब्दिक विभिन्नता होते हुए भी वस्तुस्थिति में किंचन्मात्र भी अन्तर नहीं है । इसलिए हम इस तात्त्विक—किन्तु इन्द्रियातीत पौर्वापर्य के झमेले में न पड़ कर सर्वसम्मत आदिम भगवान् ब्रह्मा जी से ही वेदों की परम्परा का आरम्भ करते हैं । ब्रह्मा की सर्वप्रथमता में अनेक वेद प्रमाण विद्यमान् हैं, तदनुसार सभी पुराणों में भी सृष्टि का कर्तृत्व एकमात्र ब्रह्मा जी पर ही स्थिर किया गया है । यथा:—

(क) भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे । (अथर्व १९।२२।२१)

(ख) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव ।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।। (मुण्डक)

(ग) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् ।
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।।

(घ) तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
(मनुः १ । ९)

(ङ) अथ योगवतां श्रेष्ठमसृजद् भूरितेजसम् ।
स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम् ।।
(मत्स्य १६९ । १)

अर्थात्—(क) सब प्राणियों में सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुवे । (ख) विश्व के कर्त्ता और भुवन के रक्षक श्री ब्रह्मा जी समस्त देवताओं में प्रथम उत्पन्न हुवे । (ग) जिस परमात्मा ने सर्वप्रथम ब्रह्मा

जी को बनाया और उसके प्रति वेदों को भेजा। (घ) उस [हिरण्यमय अण्ड] में सब लोकों के पितामह ब्रह्मा जी स्वयं उत्पन्न हुये। (ङ) इसके अनन्तर योगियों में श्रेष्ठ, बहुत तेजस्वी एवं समस्त लोकों के बनाने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया।

आदिम ॐकारात्मक वेद

उक्त ब्रह्मरूप ब्रह्मा ने सर्वप्रथम ॐकारात्मक वेद का ध्यान किया। इसीलिये प्रायः समस्त शास्त्रों में ॐकार अथवा प्रणव को समस्त वेद-ज्ञान का भण्डार, वेदों का बीज, एवं साक्षात् ब्रह्म माना गया है। आर्यजाति का समस्त धार्मिक-साहित्य एकमात्र इसी अक्षर का व्याख्यान-स्वरूप है। भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल की ऐहिक और आमुष्मिक इतिकर्तव्यता का रहस्य इसी अकेले बीज में समाया हुआ है। जिस प्रकार विशाल-काय, वट वृक्ष के मोटे २ स्कन्ध, सहस्रों टहनियाँ और अगणित पत्ते एक अदृश्यप्रायः बीज में छुपे रहते हैं और हजार चेष्टा करने पर भी इन चर्म चक्षुओं से हम उन्हें उस बीज में साक्षात् नहीं देख पाते किन्तु पृथ्वी, ऊष्मा, जल, वायु और आकाश का यथायोग्य सुयोग मिल जाने से अंकुरित एवं विकसित हो जाने पर ही इस तथ्य के द्वार तक पहुंच पाया करते हैं, ठीक इसी प्रकार वाचिक ऊहापोह द्वारा उक्त 'वेद बीज' ओंकार की शास्त्रवर्णित महिमा की वास्तविकता जानना भी अति कठिन है; वह भी ईश्वरीय नियन्त्रण के तारतम्य से इस प्रणव के वेदादि रूप में प्रस्फुटित हो जाने पर ही समाधिस्थ योगियों को दीख पड़ा करती है। अस्तु, ओंकार 'वेदबीज' है ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम इसी को ही प्राप्त किया था। अतएव इसे ही वेद का आदिम-स्वरूप कहा जा सकता है, जिसके लिये निम्नलिखित प्रमाण दर्शनीय हैं—

(क) ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।

(माण्डूक्य १)

(ख) सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ (कठ १।१५)

(ग) वेदः प्रणव एवाग्रे । (श्रीमद्भागवत ११ । १७ । ११)

(घ) ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारः । (श्रीमद्भागवत १२।६।३९)

(ङ) सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ।

(श्रीमद्भागवत १२ । ६ । ४१)

(च) स (ब्रह्मा) ओमित्येतदक्षरमपश्यत् ।

(गोपथ पू० १ । १५)

अर्थात्—(क) ॐ यह एक अक्षर सब कुछ है और इसी एक अक्षर की व्याख्या समस्त वेद हैं । (ख) सब वेद जिस पद का वर्णन करते हैं जिसके लिए समस्त तप किये जाते हैं तथा ब्रह्मचर्य आदि व्रत धारण किये जाते हैं, वह पद संक्षेप में केवल 'ॐ' यह एक अक्षर है । (ग) सृष्टि के आरम्भ में प्रणव ही वेद था । (घ) इसके अनन्तर तीन मात्रा वाला ओंकार उत्पन्न हुआ । (ङ) जो समस्त मन्त्रों, उपनिषदों का सनातन 'वेदबीज' है । (च) ब्रह्मा जी ने 'ओम्' इस अक्षर को देखा ।

उपर्युक्त प्रमाण हमारे पूर्व कथन के सोलहों आने समर्थक हैं । इसके अतिरिक्त ओंकार के विनियोग में—'ओंकारस्य ब्रह्मा ऋषि'

इत्यादि द्वारा भी हमारी विवेचना की समूलकता स्पष्ट है । इसलिए अब किसी भी विचारशील को प्रणव के आदिमवेद होने में सन्देह नहीं रह सकता । तथास्तु,

ओंकार से गायत्रीरूप वेद

ॐकार में—अ--उ--म् ये तीन वर्ण माने जाते हैं—यह सभी विद्वान् भलीप्रकार जानते हैं। प्रत्येक वर्ण की व्याख्या गायत्री का एक २ पाद है । इस प्रकार त्रिपदा ब्रह्म-गायत्री ही वेदों का दूसरा स्वरूप है। अतएव शास्त्रों में गायत्री को 'वेदमाता' के नाम से पुकारा गया है यथा:—

(क) आगच्छ वरदे ! देवि ! त्र्यक्षरे ! ब्रह्मवादिनि !
गायत्रि ! छन्दसां मात: ! ब्रह्मयोनि नमोस्तु ते ।
(गायत्री-आवाहन)

(ख) वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपासते ।
(गोपथ पू० १ । ३९)

(ग) त्रिपदा गायत्री । (ताण्ड्य १० । ५ । ४)

(घ) स्तुता मया वरदा वेदमाता । (अथर्व)

अर्थात्—(क) हे वरदायिनि, तीन अक्षरों वाली, ब्रह्मवादिनि देवि, पधारिये । तुम 'वेदमाता' और ब्रह्म (वेद) की योनि (मूल कारण) हो, तुम्हें नमस्कार हो (ख) वेदों की माता गायत्री सम्पद् है और उपनिषद् है उसकी उपासना करनी चाहिए । (ग) गायत्री के तीन पाद हैं । (घ) वेदमाता=गायत्री मेरे द्वारा स्तुत हो कर वर देने वाली बने ।

इस प्रकार ओंकारात्मक आदिम वेद त्रिपदा गायत्री के रूप में परिणत हो गया । श्री ब्रह्मा जी ने आगे चलकर यही ब्रह्मगायत्री विश्वा-

मित्र ऋषि के प्रति अभिव्यक्त की, इसलिये वैदिक-साहित्य में गायत्री के द्रष्टा-ऋषि विश्वामित्र माने जाते हैं। यही वेद का दूसरा स्वरूप था।

गायत्री से त्रिकाण्डात्मक वेद

जिस प्रकार ॐकार के प्रत्येक वर्ण का व्याख्यान गायत्री का एक २ पाद है, इसी प्रकार गायत्री के प्रत्येक पाद का व्याख्यान वेद का एक एक काण्ड है। अर्थात्—कर्म, उपासना और ज्ञान नामक तीन काण्डों वाला वेद गायत्री का ही विकसित रूप है। इसलिये शास्त्रों में 'वेदत्रयी' शब्द का यत्र-तत्र प्रयोग देखने में आता है, परन्तु जिस प्रकार त्रिवर्णात्मक ॐकार एक अक्षर है और त्रिपदा गायत्री भी एक ही मन्त्र है, इसी प्रकार आरम्भ में काण्डत्रयात्मक वेद भी एक ही था। इसे ही वेद का तीसरा स्वरूप कह सकते हैं, जो कि ब्रह्मा जी के प्रादुर्भाव काल से आरम्भ करके प्रथम व्यास के अवतार समय तक प्रचलित रहा।

गुरु-परम्पराश्रुत 'श्रुति'

सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर प्रथम द्वापर की समाप्ति तक उक्त वेद किस परम्परा से चालू रहे यह रहस्य निरुक्तकार यास्काचार्य ने इस प्रकार प्रकट किया है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त १। २०। २)

अर्थात्—पहिले पहिल ऋषि स्वभावतः मन्त्रद्रष्टा थे अतः उन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया था। अनन्तर मन्त्र देखने की सामर्थ्य न रखने वाले मुनियों को उन मन्त्रद्रष्टाओं ने उपदेश द्वारा मन्त्र दिये।

आगे चल कर उपदेश ग्रहण करने की शक्ति भी क्षीणप्राय: हो चली। तब बेद का साङ्गोपाङ्ग रहस्य जानने के लिये निरुक्त, व्याकरणादि अन्यान्य अङ्गों और उपाङ्गों की रचना हुई।

उपर्युक्त यास्कसम्मति के अनुसार ब्रह्मा और उनके मरीची आदि मानसिक पुत्र जिनका कि प्राय: विनियोगों में मन्त्रद्रष्टा रूप से उल्लेख मिलता है—'साक्षात्कृतधर्मा' कहे जा सकते हैं और इनके शिष्य प्रशिष्यों को उपदेश-पात्र कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा जी से आरम्भ करके प्रथम व्यास के अवतार-काल तक वह त्रिकाण्डात्मक एक वेद गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा उपदिष्ट होता चला आया।

एक में अनेकत्व का व्यवहार

यहाँ इतना और भी विशेष समझ लेना आवश्यक है कि इस समय हम जो ऋग्, यजु:, साम और अथर्व नामक भिन्न २ चार ग्रन्थ देख पाते हैं इनका इस प्रकार का मन्त्रसमुदायात्मक संग्रह आदिम व्यास से पूर्व नहीं हो पाया था। उस समय उस एक ही बृहत्काय श्रुति-सन्दर्भ के स्तुति-प्रधान मन्त्रों को 'ऋक्' और यजन-प्रधान गद्यात्मक मन्त्रों को 'यजु:' तथा गीति-प्रधान विशिष्ट मन्त्रों को 'साम' नाम से स्मरण किया जाता था। पश्चात् अथर्वाङ्गिरस द्वारा प्रचरित आभिचारिक-मन्त्र समुदाय की भी अथर्व नाम से ख्याति हो गई थी। इस प्रकार एक ही ग्रन्थ चतुर्विध प्रकारता के कारण होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नामक चार ऋत्विजों में विभक्त किया समझा जाता है।

इसी प्रकार उक्त वेद के विशिष्ट मन्त्र-समुदाय को इतिहास और पुराण नाम से भी याद किया जाता था। जिन मन्त्रों में प्राय: किन्हीं कल्पित व्यक्तियों के सम्वादरूप से अथवा आख्यानरूप से कुछ रहस्य प्रकट किया गया हो उन मन्त्रों को 'इतिहास' और जिन मन्त्रों में सृष्टि-

प्रक्रिया का तात्त्विक निर्देश हो उन्हें 'पुराण' कहनेका व्यवहार हो गया था। गाथा, नाराशंसी और श्लोक-संज्ञक उपभेद भी उक्त इतिहास पुराण नामक विभाग के ही अङ्ग समझे जाते थे। इस तरह ऋगादि चार भेदों के साथ इतिहास पुराण नामक भाग को सम्मिलित करने पर उस एक ही वेद में पाँच भागों का समावेश भी समझा जाता था।

कुछ ऋषि उसी एकत्व-संख्यावच्छिन्न श्रुतिसंदर्भ में सर्प-वेद, पिशाचवेद, असुरवेद, वाकोवाक्य, अनुशासन-विद्या, उपनिषद्, सूत्र, व्याख्यान आदि अनन्त विद्याओं का समावेश देखकर उसमें, अनन्तत्व की बुद्धि रखते थे। तात्पर्य यह है कि वह गुरुपरम्परा द्वारा श्रुत श्रुति-समुदाय मौलिकरूप में एक होता हुआ भी विभिन्न दृष्टियों से देखा जाता था। उपर्युक्त विचार के समर्थन में नीचे लिखे प्रमाण दर्शनीय हैं।

(क) वेदेन रूपे व्यपिवत्। (शुक्ल यजुः १९। ७८)

(ख) ते सर्वे त्रयो वेदाः। (शतपथ १०। ४। २। २५)

(ग) चत्वारो वा इमे वेदाः। (गोपथ पूर्व० २। १६)

(घ) इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

(छान्दोग्य ७। २। १)

(ङ) अनन्ता वै वेदाः। (तैत्तिरीय ३। १०। ११। ३)

अर्थात्—एक दो तीन चार पांच और अनन्त वेद हैं। यह इन प्रमाणों में यथाक्रम अङ्कित है। कहना न होगा कि यह संख्या-वैचित्र्य पूर्वोक्त भावनाओं के ऊपर ही अवलम्बित है। यहां तक हमने वेदों की परम्परा का निरूपण किया है। अब पुराणों के मौलिक-तत्त्व और उसके परम्पराजन्य विकाश का रहस्य प्रकट किया जाता है।

पुराणों की मौलिक सामग्री

(वेदान्तर्वर्ती—इतिहास, पुराण)

हम पीछे कह चुके हैं कि वेद का एक विशिष्ट भाग इतिहास और पुराण नाम से विख्यात था। उपलब्ध संहिताओं में अब भी ऐतिहासिक और सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक सहस्रों वाक्य विद्यमान हैं, यह बात सायण, यास्क आदि सभी वेदवेत्ताओं ने स्वीकार की है; यथा: –

(क) 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीन्न द्यौरासीत्' इत्यादिकं जगतः प्रागनवस्थानमुपक्रम्य सर्ग-प्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्।

(ऐतरेय सायण भूमिका)

(ख) 'विप्रपरिव्राजक'-न्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभे-दानामिवेतिहासानां पृथगभिधानात्।

(ऐतरेय सायण भूमिका)

अर्थात् – (क) 'यह दृश्य जगत् पहिले कुछ भी नहीं था, द्यौ भी नहीं था, इस प्रकार जगत् की अनुत्पन्नता से आरम्भ करके सृष्टि का प्रादुर्भाव प्रकट करने वाले वाक्य-समुदाय को 'पुराण' कहते हैं। (ख) जिस प्रकार 'ब्राह्मणसंन्यासी न्याय' से एक ही व्यक्ति में दोनों धर्मों का समावेश है इसी प्रकार इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि भी वेद के ही अवान्तर भेदों के नाम हैं।

विनियोग-वर्णित ऋषि देवता

पूर्वोक्त वाक्त-समुदाय तो पुराणों की मूल सामग्री का एक अंश

था ही। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा जी के समय से ही ऋषि-देवता चरित्रात्मक एक प्रधान अंश भी गुरु-परम्परा द्वारा उपदिष्ट होने लगा था जो कि वर्तमान पुराणों में साङ्गोपाङ्ग उपलब्ध होता है। यास्क के कथनानुसार जब असाक्षात्कृतधर्म ऋषियों को उपदेश द्वारा वेद-मन्त्र समझाने का युग आरम्भ हुआ तो उस समय वेदमन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोगों का बतलाना आवश्यक समझा गया। वैदिक-साहित्य का यह अनादि एवं सर्वतन्त्र सिद्धान्त चला आता है कि विनियोग के बिना मन्त्रों का पढ़ना पढ़ाना न केवल निरर्थक ही है अपितु महान् प्रत्यवाय व पाप का कारण भी है। विनियोग का सीधा अर्थ है मन्त्र को बर्ताव में लाने का परिपूर्ण विधान। उसके प्रधानतया चार अङ्ग हैं (१) ऋषि (२) देवता (३) छन्द और (४) विशेष अनुष्ठान। अर्थात्—जिस मन्त्र को जिस ऋषि ने समाधि द्वारा प्राप्त करके प्रचारित किया हो वही व्यक्ति उस मन्त्र का ऋषि = द्रष्टा कहा जाता है। इस तरह प्रत्येक वेद के मन्त्र के साथ किसी मंत्र-द्रष्टा ऋषि का नाम सम्बद्ध है। इसी प्रकार जिस मन्त्र में मुख्यत्वेन जिस देवता का लिङ्ग विद्यमान हो, अथवा उस मन्त्र में सर्वदेवमय परमात्मा की जिस दिव्य शक्ति विशेष का वर्णन हो वही शक्ति उस मन्त्र की देवता मानी जाती है। इस तरह प्रत्येक वेद-मन्त्र के साथ किसी न किसी विशिष्ट देवता का नाम भी निरन्तर सम्बद्ध रहता है।

छन्द का तात्पर्य संख्यात वर्णों या मात्राओं के आधार पर मंत्र के अक्षर परिमाण की इयत्ता स्थिर करना है। यह छन्द भी गायत्री अनुष्टुप् आदि नामों से विख्यात है और प्रत्येक मन्त्र के साथ उसकी अक्षर संख्या के अनुसार निर्धारित किये गये हैं।

यज्ञादि के समय अथवा अन्यान्य कर्मों में किस वस्तु को उठाने या रखने में किस मन्त्र का पढ़ना आवश्यक है यह रहस्य जानना हो

मन्त्रानुष्ठान कहा जाता है। सो विनियोग का यह चौथा अङ्ग भी अत्यन्त उपयोगी और प्रत्येक मन्त्र से सम्बद्ध है।

यहाँ यह कहना अनावश्यक न होगा कि उक्त चारों अङ्गों के परिज्ञान का संक्षिप्त नाम 'विनियोग' है। जब तक ये चारों बातें भली-प्रकार विदित न हो जाएं तब तक किसी भी मन्त्र का पढ़ना, पढ़ाना पाप माना जाता है। इसी प्रकार विनियोग-रहित मन्त्र द्वारा यज्ञादि कर्मों का करना और कराना भी 'प्रत्यवाय' समझा जाता है। विनियोग ज्ञान के आवश्यकताविधायक निम्न-प्रमाण दर्शनीय हैं। यथा:—

(क) एतानि अविदित्वा यो अधीते अनुब्रूते जपति जुहोति, यजते, याजते, तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा श्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्छति प्रवा मीयते। पापीयान्।

(कात्यायन अनुक्रमणिका १। १)

(ख) यो ह वा अविदितार्षेयछन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्छति वा गर्तं वा प्रतिपद्यते। (आर्षेय ब्राह्मण १। १)

(ग) अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद्यजेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥

(गीतारहस्योद्धृत स्मृति-वचन)

(घ) अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थ-वित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते। (कात्यायन अनुक्रमणिका १।१)

अर्थात् (क - ग) ऋषि देवता छन्दः और योग इन चारों बातों को न जानता हुआ जो वेद पढ़ता पढ़ाता है, जाप करता वा हवन करता है, तथा यज्ञ करता है वा करवाता है, उस पुरुष का वेद तेजोरहित और वासी हो जाता है एवं शाखाहीन सूखे लक्कड़ में टक्करें मारता है, गढ़े में गिरता है, तथा मर जाता है और महान् पापी हो जाता है।

(घ)—और इन ऋषि देवता आदि को जान कर जो वेदमन्त्र को पढ़ता है उसका वेद तेजस्वी होता है। और जो अर्थज्ञानपूर्वक पढ़ता है उसका महा तेजस्वी होता है। ऐसे ही मन्त्रों का जप करने से, हवन करने से, यज्ञ करने से वेदपाठ का सम्पूर्ण फल प्राप्त होता है।

कहां तक लिखें वैदिक साहित्य में विनियोग-ज्ञान की परमावश्यकता बताने वाले सैंकड़ों प्रमाण भरे पड़े हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने असाक्षात्कृतधर्म शिष्यों को जिस समय मन्त्रोपदेश देना आरम्भ किया उसी समय ज्ञान की परिपूर्णता के लिये सर्वप्रथम विनियोगों का ही उपदेश दिया, यह एक अनुमानसिद्ध स्फुट बात है।

अब यहां विचार करने का अवसर है कि उस प्राचीनतम वेदोपदेश युग में जब ऋषियों ने अपने शिष्यों को मन्त्रोपदेश से भी पूर्व विनियोगों का उपदेश दिया होगा तो उस समय में विनियोग-वर्णित देवताओं के चरित्र जानने की उत्कट लालसा क्या शिष्यवर्ग के हृदय में उत्पन्न न हुई होगी ? कोई भी सहृदय विद्वान् इस प्रश्न के उत्तर में 'नहीं' कहने की धृष्टता नहीं कर सकता। यह एक ऐसी स्वाभाविक जिज्ञासा है जो कि सर्वसाधारण के हृदय में नाम लेते ही उदित हो जाती है। विनियोग-वर्णित ऋषि देवताओं के नाम सुन कर उनके चरित्र जानने के लिए शिष्यों ने प्रश्न न किये हों और मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उनके उचित उत्तर न दिये हों—यह मानना उतना ही सच्चा हो सकता है जितना कि आकाश-कुसुम की माला पहन कर वन्ध्या-पुत्र का सविषाण

शशक को मृगया में हनन करना। ऐसी दशा में हम तो संभाव्य-भविष्यत् की क्रियाओं का प्रयोग छोड़कर एकदम निश्चित रूप से कह देते हैं कि ऋषि देवताओं के चरित्र जानने की जिज्ञासा के उत्तर में गुरुजनों ने जो कुछ कथन किया था वही समस्त सम्वाद-समुदाय वर्तमान पुराणों की मौलिक सामग्री का विशिष्ट अंश है।

विनियोगों की उपेक्षा से अनर्थ

यहां कोई नरपुङ्गव यह भी कह सकता है कि – 'जनाब ! आप जिस विनियोग-कल्पना की आधारशिला पर पुराणों की गगनचुम्बी अट्टालिका खड़ी करना चाहते हैं, वह आधारशिला ही इतनी दृढ़ नहीं है; क्योंकि विनियोग-ज्ञान के बिना भी मन्त्रार्थ का बोध हो सकता है और उससे यथेष्ट शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। प्रत्यक्ष में भी स्वामी दयानन्द जी और उनके अनुयायियों द्वारा निर्माण किये हुये वेदभाष्य विनियोगों की कैद से उन्मुक्त होकर 'इतिकर्तव्यता' की शिक्षा दे रहे हैं। तब फिर स्वाध्याय में विनियोगों का अडङ्गा लगाना व्यर्थ है।— इस प्रकार का निरर्गल प्रश्न करने वाले पुरुष को वैदिक-साहित्य से सर्वथा अपरिचित और दो चार ट्रैक्ट बाँच कर 'वेदालङ्कार' का पुछल्ला लगाने वाला ही समझना चाहिए, क्योंकि जब स्वयं वेद में ही विनियोग-ज्ञान की परमावश्यकता बतलाई है और विनियोगरहित मन्त्र का पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ तथा पापप्रद कहा गया है, फिर इससे बढ़ कर अन्य क्या प्रमाण दिया जा सकता है? रहा दयानन्दी भाष्यों में विनियोगों की उपेक्षा का प्रश्न? सो उसमें भी मन्त्रों के पूर्व ऋषि देवता और छन्द आदि का उल्लेख अवश्य मिलता है। हमारे सामने 'वैदिक यन्त्रालय' (अजमेर) की छपी सभाष्य यजुःसंहिता विद्यमान है, जिसमें प्रत्येक मन्त्र के ऊपर अमुक ऋषि, अमुक देवता और अमुक छन्द साफ लिखा है, जिससे हमारे पूर्व कथन की पर्याप्त पुष्टि हो जाती है; यानी

आर्यसमाज की रीति से भी वेदाध्ययन करते समय मन्त्रों से पूर्व ऋषि देवताओं का नाम ही पढ़ना होगा और फिर उनके चरित्र जानने के लिये पुराणों की शरण में ही नतमस्तक होना पड़ेगा। इसलिए हमारी विनियोग-कल्पना की आधार शिला दयानन्दी समाज की दृष्टि में भी तथैव दृढ़ बनी रहेगी। हाँ, यह हम मानते हैं कि दयानन्द और उनके अनुयायियों ने विनियोग के चौथे अङ्ग (—जिसमें कि अमुक मन्त्र को अमुक अनुष्ठान में बर्तना चाहिए ऐसी शिक्षा दी गई थी—) का सर्वथा बहिष्कार कर डाला है और मनघड़न्त प्रसङ्ग उपस्थित करके मन्त्रों का अर्थ लिखा है! परन्तु इस उच्छृङ्खलता के कारण उक्त समाज की बदौलत जो वैदिक-साहित्य के अर्थ का अनर्थ हुवा है वह भी किसी से छुपा नहीं है। यदि हमारे कथन पर विश्वास न हो तो नीचे लिखे उदाहरण पर विचार कीजिए—

(१) दयानन्दी 'संस्कारविधि' में नामकरण-संस्कार के अन्तर्गत नीचे लिखा 'कोऽसि कतमोऽसि' आदि मन्त्र आता है। इसका विनियोग उक्त पुस्तक में 'पिता बालक के नासिकाद्वार से बाहर निकलते हुवे वायु का स्पर्श करके कहने'—में लिखा है, और दयानन्दी यजुर्भाष्य (७। २६) में तथा संस्कार-प्रकाश आदि में इसका निम्नलिखित अर्थ लिखा है यथाः—

कोऽसि कतमोऽसि कस्याऽसि को नामासि। (यजुः ७। २६)

अर्थात्—तू (कः) कौन (असि) है। (कतमः) बहुतों के बीच में कौनसा (असि) है (कस्य) किस का पुत्र (असि) है। तेरा (कः) क्या (नाम) नाम (असि) है।

यह विधि बालक के जन्मदिन से ११वें दिन करनी लिखी है। अब इन बुद्धि के शत्रुओं से कोई पूछे कि वह सद्योजात दुधमुंहा बच्चा उक्त प्रश्नों का क्या उत्तर दे सकता है? तथा वह किस का पुत्र है इस

प्रश्न का उत्तर तो कदाचित् उसकी माता ही ठीक २ दे सकती है। अन्यथा ग्यारह के झमेले में अन्य किसी पुरुष को क्या पता लग सकता है। यह है दयानन्दियों के वैज्ञानिक भाष्य का एक नमूना !

वास्तव में कात्यायनसूत्र—इस मन्त्र को यज्ञस्थ प्रजापति रूप द्रोण कलश प्रार्थना में विनियुक्त करता है । यथाः—

कोऽसीति द्रोणकलशमिति । (का० ६ । ७ । १४

उव्वट महीधर आदि सभी भाष्यकारों ने विनियोगानुकूल ही इसका अर्थ किया है कि—

हे द्रोणकलश ! तू (कः) प्रजापति (असि) है (कतमः) अतिशय से प्रजापति (असि) है । (कस्य) प्रजापति का (असि) है । (को नामाऽसि) प्रजापति ही तेरा नाम है !

यहां व्यासोक्त--'अभिमानिनि व्यपदेशस्तु' के अनुसार कलशाधिष्ठित चेतन प्रजापति की स्तुति की गई, परन्तु दयानन्द और उनके अनुयायियों ने 'कः शब्द का अर्थ संस्कृत-टीचरपाठी बालकों की भाँति 'कौन' ही समझ रक्खा है।

कहना न होगा कि यदि इस मन्त्र के प्रजापति देवता का, या द्रोण कलश की प्रार्थना में इसके विनियुक्त होने का, विचार करके भाष्य किया जाता तो पण्डित-समाज में इस तरह की हंसी न होती।

(२) इसी प्रकार यजुर्वेद के 'यथेमाँ वाचं' आदि मन्त्र से दयानन्दी भाष्य में शूद्र आदि के लिये भी वेद पढ़ने का अधिकार प्रकट किया गया है और ईश्वर को इसका वक्ता ठहरा कर नीचे लिखा अर्थ किया है:—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्म राजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।।

(यजुः २६ । २)

[दयानन्दार्थ] परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं। वैसे तुम भी करो। परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण क्षत्रिय (आर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है।

(सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ७४)

प्रसंग बिगाड़ कर उपर्युक्त अर्थ करने में जो चालाकी की गई है वह उल्टी स्वामी जी के गले का हार हो गई है। केवल 'वाचम्' शब्द का अर्थ चारों वेद हो सकता है यह बात कोई पंचम-अन्यथा सिद्ध ही मान सकता है। इसके अतिरिक्त 'परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने'—इस वाक्यांश के साथ—'अपने भृत्य वा स्त्रियादि·········के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है'— इस उपसंहारात्मक वाक्य का समन्वय करने पर निराकार बाबा के बीबी बच्चे और नौकर-चाकर भी निकल पड़ते हैं। तनिक रेखाङ्कित अंश पर विचार कर देखें।

वास्तव में उपर्युक्त मन्त्र को सब भाष्यकारों ने यजमान की उक्ति में विनियुक्त किया है। अग्निष्टोमादि यज्ञ के समय यजमान अपने समस्त कार्यकर्ताओं को शिक्षा देता है कि जैसे मैं चारों वर्णों और अपने तथा परायों-सबके प्रति (कल्याणीं वाचम्) मीठी वाणी बोलता हूं इसी प्रकार तुम्हें भी सबसे नम्र व्यवहार रखना चाहिए। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में वही वक्ता नीचे लिखे शब्द कहता है।

(दयानन्दार्थ) (मा) मुझे (अदः) वह परोक्ष सुख (उमनमतु) प्राप्त होवे —यहाँ प्रष्टव्य है कि क्या ईश्वर भी किसी दूसरे से सुख की भीख मांगता फिरता है?

यदि हम दयानन्द-भाष्य में विनियोग-मर्यादा की उपेक्षा के कारण होने वाले अनर्थों का भाँडाफोड़ करने लगें तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो जाय। इसलिए संकेतमात्र करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि पुराणों के बिना ऋषि-देवता-चरित्रात्मक विनियोगों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता और विनियोगों के बिना वेदों का स्वाध्याय सर्वथा असम्भव है। यदि विनियोगशून्य 'दयानन्दी-भाष्य' के सम्बन्ध में विद्वानों का मत जानने की आवश्यकता हो तो सर्वप्रथम आर्यसमाज के नेता— किन्तु स्फुटवक्ता पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ से ही पूछ देखिये आप लिखते हैं कि :—

(१) "इस (दयानन्दकृत) भाष्य को देख कर प्रायः अंग्रेजी पढ़े लोग संशय सागर में पड़ जाते हैं और इस अभिप्राय पर पहुंचते हैं कि वेदों में प्रकरणबद्ध कोई बात नहीं, सब जगह केवल ईश्वर का ही वर्णन आता है, क्रम कोई नहीं।"

(आर्यसमाज का इतिहास भाग १ पृ० १९५)

भला ! विनियोगशून्य अपकथे अर्थों का पूर्वापर-सम्बन्ध कैसे ठीक बैठ सकता है ! और ऐसे निरर्गल भाष्य में क्रमबद्ध प्रकरणों का क्या काम ! !

पूर्वोक्त 'यथेमां वाचम्' मन्त्र के दयानन्दकृत भाष्य पर भी उपर्युक्त वेदतीर्थ जी लिखते हैं कि :—

(२) "इस बात के मानने में हमें नितान्त संकोच है कि यह मन्त्र मनुष्यमात्र को वेदज्ञानाधिकार देने का विधान करता है। वस्तुतः यह मन्त्र राजधर्म का है......इस मन्त्र का देवता 'ईश्वर' है। परन्तु 'ईश्वर' से यहां 'परमेश्वर' अभिप्रेत नहीं किन्तु राजा अभिप्रेत है। प्रायः जहां ईश्वर देवता आया है वहां राजा ही लिया गया है। परमेश्वर के लिए परमेश्वर साक्षात् परमेश्वर देवता लिखा गया है। यह राजधर्म प्रकरण का क्यों ?

इसलिए कि :—(१) प्राचीन मन्त्रद्रष्टाओं ने इस मन्त्र का देवता राजा माना है—(२) राजा को देवता मान लेने से मन्त्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध अर्थ में विरोध नहीं आता।"

(आर्य स० का इति० भाग १ पृ० १२२-२३)

एक अर्ब संख्या वाला आदिम पुराण

इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ काल में ही ब्रह्मा जी से उनके मानसिक पुत्र-पौत्रों ने और आगे चल कर उनके भी प्रपौत्र-नातियों ने वेदोपदेश के साथ २ इतिहास-पुराणात्मक सन्दर्भ भी यथाश्रुत प्राप्त किया था। जिस प्रकार हमारे पूर्व-कथनानुसार प्रथम व्यास की उत्पत्ति से पूर्व गुरुपरम्पराश्रुत श्रुति-संदर्भ विकीर्ण एवं एकत्वसंख्यावच्छिन्न था इसी प्रकार इतिहास पुराण (वर्णित आख्यायिकाएं और सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक मन्त्र-समुदाय तथा गुरु शिष्य सम्प्रदाय प्रचरित ऋषि-देवता चरित्रात्मक सन्दर्भ) भी विकीर्ण तथा एक ही था। इसीलिये वर्तमान पुराणों में सर्वप्रथम एक ही पुराण का अस्तित्व प्रकट किया गया है, यथा:—

पुराणमेकमेवासीत्पुरा कल्पान्तरे नृप।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥

(मत्स्य ५३। ५)

अर्थात्—कल्पान्तर में त्रिवर्ग का साधन और पुण्यदायक एक अर्ब विस्तार वाला एक ही पुराण था।

यही श्लोक रेवा-माहात्म्य (१। २३। ३०) में तथा पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड अध्याय १) में इसी रूप में उपलब्ध होता है,—अन्यान्य पुराणों में भी इसी आशय के श्लोक पाए जाते हैं।

विकीर्ण श्रुतियें कितनी थीं, इसका अनुमान करना कठिन है,

क्योंकि इस सम्बन्ध में दो प्रकार का प्रवाद पाया जाता है; एक शतपथ ब्राह्मण में, दूसरा महाभारत में, यथा:—

(१) ते सर्वे त्रयो वेदाः । दश च सहस्राणि अष्टौ च शतानि अशीतीनामभवन् ।

(शतपथ १० । ४ । २ । २५)

(२) लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं तु भारतम् ॥

(महाभारत)

अर्थात्—(१) वे सब तीनों वेद, अस्सी से गुणित किये दशहजार आठ सौ संख्या वाले हैं, यानी ८६४००० प्रमाण वाले हैं। (२) चारों वेदों का पाठ एक लाख है और एक लाख ही महाभारत का है।

यहां महाभारत के साहचर्य से वेदों का एक लाख पाठ भी अनुष्टुप् संख्या में ही प्रतीत होता है, परन्तु शतपथ के कथनानुसार आठ लाख चौंसठ हजार कौन पद्य हैं यह समझना और दोनों प्रवादों का वर्तमान संख्या से समन्वय करना विद्वानों का ही काम है। प्रकृत-वर्णन के साथ इस विधान का सीधा सम्बन्ध न होने के कारण हम अपनी सम्मति प्रकट कतने के लिये यहाँ बाध्य नहीं हैं, परन्तु वर्तमान पुराणों की मौलिक सामग्री का प्रमाण एक अर्ब था यह उपर्युक्त प्रमाणों से भलीभांति अभिव्यक्त होता है। जब कि विश्वामित्र जैसे अगणित कुलपतियों के तत्त्वावधान में—एक एक कुलपति के आश्रम में दश दश सहस्र शिष्य-प्रशिष्य वेदों का स्वाध्याय किया करते थे उस समय प्रत्येक मन्त्र से सम्बद्ध ऋषि और देवताओं के चरित्रों का विस्तार तथा वेदोक्त सृष्टि-प्रक्रिया के गूढ़तर सिद्धान्तों का पर्यालोचन—कितना प्रवृद्ध, कितना सरल और कितना लम्बायमान रहा होगा इसका ध्यान करते ही पुराणों की मौलिक सामग्री का एक अर्ब प्रमाण अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं जान पड़ता।

जिन लोगों को कभी पढ़ाने का अवसर मिला होगा वे इस बात को अच्छी तरह अनुभव कर सकेंगे कि पुस्तक-लिखित परिमित अक्षरों का भाव शिष्यवर्ग के हृदय में बिठला देने के लिये कितनी मगजपच्ची की आवश्यकता पड़ती है, खासकर वैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं परोक्ष विषयों की व्याख्या के लिए किस प्रकार आकाश पाताल एक करना पड़ता है। कदाचित् शिष्य-समुदाय गुरु के अनुचित दबाव से मूकप्राय, रहने वाला न हो, और उसे खुल कर अपनी जिज्ञासाओं के पूछने का अभ्यासी बनाया गया हो तो फिर देखिये कि एक सूत्र पर, एक ही फक्किका पर किस तरह समस्त दिन व्यतीत हो जाता है। कहना न होगा कि हमारे पूर्वजों में शिष्य-गुरु-सम्प्रदाय का आदर्श कितना उदार था, यह देखते ही बनता है। ऐसी दशा में शिष्य-प्रशिष्यों की जिज्ञासामय उक्ति प्रत्युक्तियों से और गुरुजनों के उत्तर प्रत्युत्तरों से आदिम पुराणों का विस्तृत हो जाना स्वाभाविक ही था। अस्तु,

ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि नामों का व्यवहार

जिस प्रकार विकीर्ण श्रुति-समुदाय में काण्डत्रय की दृष्टि से अथवा गद्य पद्य और गीति की दृष्टि से देवत्रयी का व्यवहार होने लगा था, तथा कुछ सूक्तद्रष्टा ऋषियों के नामों पर कुछ मन्त्रवर्ती सम्वादपात्रों के नाम पर और कुछ प्रतिपाद्य विषय के आधार पर—'वामदेव्य सूक्त' 'यमयमी सूक्त' एव 'कामभूक्त' कहे जाने लगे थे, इसी प्रकार एक अरब संख्या वाले आदिम पुराण के विभिन्न अंश भी जुदा २ नामों से निख्यात होने लगे थे।

इस समय अष्टादश पुराणों के जो नाम देखे जाते हैं, इनका बहुत कुछ व्यवहार वेदोपदेश युग में ही आरम्भ हो चुका था। तत्तत् प्रकरणों के नामकरण का व्यवहार या तो मुख्य श्रोता वक्ताओं के या प्रतिपाद्य विषय के नाम पर निर्भर था ऐसा अनुमान है, क्योंकि

वर्तमान पुराणों का उपक्रम और उपसंहार पढ़ने पर अथवा नारद आदि पुराणों में दी हुई पुराण-सूची का पारायण करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि प्रायः सभी पुराणों का सम्बन्ध ब्रह्मा जी और उनके मानसिक पुत्रों से हैं। ऐसी दशा में आगे चल कर शिष्य प्रशिष्यों के प्रति गुरुजनों ने उन २ सम्वादों को आदिम श्रोता वक्ताओं के नाम सहित बताया होगा यह अनुमान सिद्ध बात है, और इसी तरह वर्तमान पुराणों के नाम और उनके प्रतिपाद्य विषय की तुलना भी उपर्युक्त भाव की समर्थक है।

आदिम पुराण के स्मर्ता और वक्ता

जिस प्रकार मीमाँसाशास्त्र के निर्णयानुसार वेद अपौरुषेय हैं और गौतमात्रिवशिष्ठकश्यपादि ऋषि वेद-मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, कर्ता वा निर्माता नहीं, इसी प्रकार पुराणों की मौलिक सामग्री का भी कोई पुरुष-विशेष कर्ता नहीं है, अपितु वेदोक्त पुराण-अंश के स्मर्ता ब्रह्मा जी हैं, और ऋषि-देवतात्मक-चरित्रों के वक्ता अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं अर्थात् जो व्यक्ति वेदों के द्रष्टा हैं वे ही व्यक्ति पुराणों के स्मर्ता या वक्ता हैं। क्योंकि वेदमन्त्रों का उपदेश ब्रह्मा जी से आरम्भ हुआ था और उनके मानस-पुत्रों के शिष्य प्रशिष्यों से ही विनियोग-मर्यादा का सूत्रपात हो चुका था। अतः विनियोगवर्णित ऋषि देवताओं के चरित्रों का निरूपण भी इसी समय से प्रारम्भ हुआ मानना चाहिए!

यहाँ इतनी विशेषता और भी दर्शनीय है कि मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोगोपदेश आवश्यक है और विनियोगोपदेश की पूर्णता के लिए ऋषि-देवता-चरित्र-ज्ञान सापेक्ष्य है, इसलिए सर्वप्रथम पुराणों को जान लेने पर ही प्रत्येक व्यक्ति मन्त्रोपदेश का अधिकारी हो सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए पुराणों में लिखा है कि :—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० १०४)

अर्थात् सब शास्त्रों में पहिले पहिले ब्रह्मा जी ने पुराण का स्मरण किया था, इसके अनन्तर ही उनके मुखों से वेद निर्गत हुवे।

उपर्युक्त आशय के श्लोक वायुपुराण ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रन्थों में भी मिलते हैं। यह स्वाभाविक बात है कि प्रत्येक शिल्पी अमुक वस्तु के निर्माण से पूर्ण उसकी पूर्वदृष्ट या पूर्वश्रुत कल्पना को हृदयङ्गम करके ही उसके निर्माण में प्रवृत्त होता है। अपूर्व किंवा अलौकिक अभिनव कृति के मूल में भी इसी प्रकार की तत्सम कल्पना का ही समावेश अनिवार्यता से रहता है। जैसे वर्तमान वायुयानों के निर्माण में पक्षियों की बनावट की कल्पना और चिमटे, कड़छी, सण्डासी हथौड़ी आदि के निर्माण में पक्षियों के चञ्चुपुट, मानव-हस्ताञ्जलि, अर्धचन्द्र, तथा मुक्के की सादृश्यता का प्रत्यक्ष समावेश दिखाई पड़ता है; ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के महाशिल्पी श्री ब्रह्मा जी महाराज भी पूर्वकल्पों के ब्रह्माण्डों का स्मरण करके तदनुसार ही पुनः ब्रह्माण्ड रचना में प्रवृत्त होते हैं। यह रहस्य 'यथापूर्वमकल्पयत्' आदि वेद मन्त्रों से अनुप्राणित है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक 'यथापूर्व' का स्मरण न हो जाय तब तक 'अकल्पयत्' का अवसर नहीं आता। सो यथापूर्व ही पुराण है और उनका सम्यक् संस्मरण हो जाने के बाद 'अकल्पयत्' का परिणाम है महामहिम वेद। यही तत्त्व उपर्युक्त श्लोक में निहित है। प्रकृत प्रसङ्ग में इसका सीधा रहस्य यह है कि कोई भी वेदाचार्य तभी अपने शिष्य को मन्त्रोपदेश प्रदान करेगा जबकि पहिले उसे विनियोग बताएगा और विनियोग भी पूर्वरीति से तभी समझ में आ सकेगा जब कि ऋषि देवताओं के चरित्रों का परिज्ञान हो जायगा। इस प्रकार पुराण पढ़ने के बाद ही वेदों के

स्वाध्याय का अवसर आ सकता है, अतः उपर्युक्त श्लोक में ब्रह्मा जी द्वारा प्रथम पुराण का स्मरण करना और तत्पश्चात् वेदों का कथन करना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है । इसलिए निश्चित हुआ कि पुराणों की मौलिक सामग्री के आदिम स्मर्ता श्री ब्रह्मा जी महाराज हैं और उसका प्रवचन करने वाले हैं ब्रह्मा जी के मानसिकपुत्र मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग । जैसा कि महर्षि वात्स्यायन जी लिखते हैं:—

य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य । (न्यायदर्शनभाष्य ४ । १ । ६२)

अर्थात्—जो ऋषि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के द्रष्टा हैं वे ही इतिहास और पुराण के प्रवक्ता हैं ।

कहना न होगा कि इस प्रकार वेद और पुराणों का प्राप्तिक्रम समान ऋषियों पर ही अवलम्बित है । जो लोग पुराणों को कोसते नहीं थकते और वेदों की ढपली पीटने का स्वाँग रचते हैं उन्हें आंख उघाड़ कर उपर्युक्त पंक्तियें पढ़नी चाहियें । आर्यसमाज के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि और अंगिरा नामक चार ऋषियों द्वारा ही वेदों की प्राप्ति मान लेने पर भी—'उनके द्वारा दृष्ट मन्त्र तो प्रमाण और कथित पुराण अप्रमाण' इस मतवाले की बहक को कोई भी बुद्धिमान् मानने को तैयार न होगा !

वेद-पुराण-सङ्कलन

हम पीछे कह चुके हैं कि सृष्टि के आरम्भ काल से ले कर आदिम व्यास के अवतार काल तक पूर्वोक्त रीति से विकीर्ण श्रुति-सन्दर्भ और एक अर्ब प्रमाण वाला आदिम पुराण गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय द्वारा उपदिष्ट होता चला आया । परन्तु इस कल्प के पहिले पहिल द्वापर युग की समाप्ति के समय भावी कलिकाल के प्रभाव से वेदों के

विनाश की आशंका से स्वयं स्वयम्भू भगवान् ने ही आदिम व्यास का कार्यभार अपने ऊपर लेकर वेदों का यथावत् सङ्कलन किया था। अर्थात्—उन विकीर्ण श्रुतियों को याज्ञिक ढंग के अनुसार संचित करके ऋग् यजुः साम और अथर्व नाम से अथवा नामान्तर से ग्रन्थाकार में परिणत किया था। इसी प्रकार ऐतिहासिक और पौराणिक प्राचीनतम सामग्री को भी अष्टादश ग्रन्थरूप में परिणत कर दिया था।

यहाँ इतनी बात और अधिक समझ लेनी चाहिये, कि ब्रह्मा के एक दिन को कल्प कहते हैं और वह एक हजार महायुगों का होता है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों का समुदाय एक महायुग कहा जाता है, जो कि—४,३२,००,००,००० मानव वर्ष के बराबर समझना चाहिए। इस समय सृष्टि-गणना के अनुसार वर्तमानकल्प का नाम वाराहकल्प है, जिसके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। तदनुसार अट्ठाईस सत्ययुग अट्ठाईस त्रेता युग और अट्ठाईस द्वापर युग बीत चुके हैं और अब अट्ठाईसवाँ कलियुग चालू है। शास्त्रसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्वापर के अन्त में और कलियुग के आरम्भ में परमपिता परमात्मा व्यासावतार धारण करके युगधर्म से अव्यवस्थित एवं कालक्रम से अस्त-व्यस्त हुये वेदों और पुराणों का वास्तविक सङ्कलन करते हैं। इसलिए इस कल्प में भी व्यतीत हुवे द्वापर युगों की संख्या के अनुसार अब से पूर्व अट्ठाईस व्यास हो चुके हैं। जैसा कि देवी भागवत में लिखा है:—

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया॥
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्राञ्ज्ञात्वा कलावथ।
पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे॥

द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयम्भुवा ।
प्रजापतिर्द्वितीये तु द्वापरे व्यासकार्यकृत् ॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे तु बृहस्पतिः ।
पञ्चमे सविता व्यासः षष्ठे मृत्युस्तदापरे ॥
मघवा सप्तमे प्राप्ते वशिष्ठस्त्वष्टमे स्मृतः ।
सारस्वतस्तु नवमे त्रिधामा दशमे तथा ॥
एकादशेऽथ त्रिवृषो भारद्वाजस्ततः परम् ।
त्रयोदशे चान्तरिक्षो धर्मश्चापि चतुर्दशे ॥
त्रय्यारुणिः पञ्चदशे षोडशे तु धनञ्जयः ।
मेधातिथिः सप्तदशे व्रती ह्यष्टादशे तथा ॥
अत्रिरेकोनविंशे च गौतमस्तु ततः परम् ।
उत्तमश्चैकविंशेऽथ हर्यात्मा परिकीर्तितः ॥
वेनो वाजश्रवाश्चैव सोमोऽमुष्यायणस्तथा ।
तृणविन्दुस्तथा व्यासो भार्गवस्तु ततः परम् ॥
ततः शक्तिर्जातुकर्ण्यः कृष्णद्वैपायनस्ततः ।
अष्टाविंशतिसंख्येयं कथिता या मया श्रुता ॥
एकोनत्रिंशत्संप्राप्ते द्रौणिर्व्यासो भविष्यति ।

(देवीभागवत १ । ३ । १८-३३)

अर्थात्— प्रत्येक द्वापर में विष्णु भगवान् व्यासरूप धारण करके मनुष्यों के हितार्थ विकीर्ण श्रुतिसमुदायात्मक एक वेद को संहिता रूप

विभागों में संकलित करते हैं। कलियुगी मनुष्यों को थोड़ी आयु और थोड़ी बुद्धि वाले जान कर वही व्यास प्रत्येक द्वापर में पवित्र पुराण संहिता का भी सङ्कलन करते हैं। पहिले द्वापर में स्वयम्भू व्यास ने, दूसरे में प्रजापति ने, तीसरे में उशना ने, चौथे में बृहस्पति ने, पाँचवें में सविता ने, छठे में मृत्यु ने, सातवें में मघवा ने, आठवें में वशिष्ठ ने, नवें में सारस्वत ने, दशवें में त्रिधामा ने, ग्यारहवें में त्रिवृष ने, बारहवें में भरद्वाज ने, तेरहवें में अन्तरिक्ष ने, चौदहवें में धर्म ने, पंद्रहवें में त्रय्यारुणि ने, सोलहवें में धनञ्जय ने, सत्रहवें में मेघातिथि ने, अठारहवें में व्रती ने, उन्नीसवें में अत्रि ने, बीसवें में गौतम ने, इक्कीसवें में उत्तम हर्यात्मा ने, बाईसवें में वाजश्रवा ने, तेईसवें में सोमशुष्मायण ने, चौबीसवें में तृणबिन्दु ने, पच्चीसवें में भार्गव ने, छब्बीसवें में शक्ति ने, सत्ताइसवेंमें जातुकर्ण्य और अट्ठाईसवें में कृष्णद्वैपायन नामक व्यास ने वेदों और पुराणों का सङ्कलन किया था। आगे उनतीसवें द्वापर में अश्वत्थामा व्यास होगा!

(मत्स्यपुराणोक्त व्यास नामावली के कई एक नामों में कुछ अन्तर भी है, परन्तु वह इन्हीं व्यक्तियों के नामान्तर मान लेने से अथवा कल्प-भेद से सुव्यवस्थित किया जा सकता है)

उपर्युक्त संदर्भ से यह निश्चित हुआ कि वर्तमान वाराहकल्प में अठ्ठाईस बार वेदों और पुराणों का संकलन हो चुका है। अन्तिम बार पराशर के पुत्र श्रीकृष्णद्वैपायन जी महाराज ने आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व वेदादि का संकलन किया था। दूसरे शब्दों में वर्तमान वेद-संहिताएं और पुराण-ग्रन्थ श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा ही इस रूप में लेखबद्ध किये गये हैं। प्रायः सभी पुराणों में इस संकलन का वर्णन मिलता है, जिसे पढ़कर श्री व्यास जी के महामहिम कार्य का पता लगता है, यथा—

क्षीणायुषः क्षीणसत्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः।
ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥

पराशरात्सत्यवत्यामंशांशं कलया विभुः ।
अवतीर्णो महाभाग ! वेदं चक्रे चतुर्विधम् ।।
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः ।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ।।
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ।।
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशंपायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ।।
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् ।
अथर्वांगिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ।।

(श्रीमद्भागवत १२ । ६ । ४७-५२)

अर्थात्—कलिकाल के प्रभाव से मनुष्यों को क्षीणायु, निर्बल एवं दुर्बुद्धि जानकर ब्रह्मा आदि लोकपालों की प्रार्थना पर धर्म रक्षा के लिये महर्षि पराशर द्वारा सत्यवती में भगवान् ने अंशांश कलारूप से अवतार धारण करके वेदों को चार भागों में विभक्त किया । विकीर्ण श्रुति-संदर्भ में से पादबद्ध, गद्य गीति और आभिचारिक मन्त्रों को वर्गशः चुन चुनकर ऋग्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार संहिताओं को संकलित किया, जिनमें मणियों की तरह मन्त्रों का संग्रह था । इसके अनन्तर महामति व्यास ने अपने योग्य चार शिष्यों को बुलाकर प्रत्येक को एक २ संहिता प्रदान की; जैसे कि पैल को ऋग्-संहिता, वैशंपायन को यजुः-संहिता, जैमिनि को साम-संहिता और सुमन्त को अथर्व-संहिता ।

इस प्रकार श्री वेदव्यास जी ने विकीर्ण श्रुति-समुदाय को चार भागों में लेखबद्ध करके विभिन्न शिष्यों में बाँट दिया, और आगे उन शिष्यों ने भी अपने शिष्य-प्रशिष्यों को पढ़ाया, जिससे 'शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्' के अनुसार वेद अनेक शाखाओं से सम्पन्न हो गये। पुराणों में इस रहस्य का स्फुट वर्णन विस्तारपूर्वक लिखा है, जिसे हम अनपेक्षित समझ कर यहां लिखना अनावश्यक समझते हैं। अब उस एक अर्ब संख्यात्मक आदिम पुराण का सङ्कलन भी सुनिये।

वेदों का सङ्कलन कर चुकने के बाद श्रीकृष्ण द्वैपायन जी ने वेदोक्त आख्यायिका अंश, और सृष्टि-प्रक्रिया-प्रतिपादक वाक्यसमूह, तथा चिरंतन ऋषि-देवता-चरित्र-समुदाय-रूप आदिम पुराण का संकलन आरम्भ किया। विस्तृत संवादों को संक्षिप्त बना डाला और कविता चातुरी से वेद के श्लोक, गाथा, नाराशंसी, पुराकल्प, जनश्रुति एवं आख्यायिका नामक अंशों को सरल सुमधुर बना २ कर तत्कालीन इतिहास के साथ गूंथ डाला, जिससे ब्रह्मचर्यादि की असुविधा के कारण वेदाध्ययन में अधिकार न रखने वाले मनुष्य भी वेदामृत का पान कर सकें। एक अर्ब प्रमाण वाले आदिमपुराण को संक्षिप्त करके चार लाख पद्यों में बांध डालना, और विषयविभाग के अनुसार उस समस्त मौलिक सामग्री को अठारह भागों में विभक्त करके लेखबद्ध करना यह वेदव्यास जी का ही काम था। पुराणों में लिखा है कि—

(क) कालेन ग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तथाष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन्प्रकाश्यते॥
(मत्स्य ५३। ८। १०)

(ख) इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ।

(श्रीमद्भागवत १ । ४ । २२)

(ग) त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः ।

वैशंपायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे ॥

अधीयन्त व्यासशिष्यात्संहितां मत्पितुर्मुखात् ।

(श्रीमद्भागवत १२ । ६७ । ५-६)

अर्थात्—(क) काल के प्रभाव से उस एक अर्ब पाठ वाले पुराण का धारण करना कठिन समझ कर मैं विष्णु भगवान् व्यासरूप धारण करके उसका संक्षेप करता हूँ । प्रत्येक द्वापर में वह चार लाख प्रमाण में संक्षिप्त हो जाता है और अठारह भागों में बंट कर इस भूलोक में प्रकाशित होता है (ख) [जिस प्रकार वेदासंहिताओं की रक्षा का भार पैल आदि शिष्यों पर निहित किया था इसी प्रकार] इतिहास और पुराणों की रक्षा का भार सूत के पिता रोमहर्षणी पर रक्खा गया था । (ग) आगे रोमहर्षण जी ने त्र्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत इन छः शिष्यों को पुराण-संहिता पढ़ाई और उन्हें पौराणिक की उपाधि प्रदान की ।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह निश्चित हो जाता है कि वर्तमान वेदसंहिताएं और अष्टादश पुराण-ग्रन्थ श्री वेदव्यास जी ने इस रूप में निबद्ध किये थे तथा इनकी रक्षा के लिए उन्होंने ऐसा सुप्रबन्ध किया था कि इसी की बदौलत हम इन ग्रन्थों का आज भी दर्शन कर पाते हैं । जो लोग ऐसे परम उपकारी महर्षि के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के स्थान में मनमानी हाँका करते हैं वे महाकृतघ्न और मनुष्य समाज के शत्रु ही समझे जाने चाहियें ।

वर्तमान पुराणों के आदिम वक्ता श्रोता

ईश्वरावतार ब्रह्मा जी और मन्त्रद्रष्टा ऋषि

वर्तमान पुराणों का उपक्रम और उपसंहार पढ़ने पर अथवा नारद आदि पुराणों में दी हुई 'पुराणसूची' का पारायण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त पुराणों के आदिम श्रोता या वक्ता ईश्वरावतार ब्रह्मा जी और मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग ही हैं, इससे भी उनकी मौलिक सामग्री की प्राचीनता भलीप्रकार विदित हो जाती है। यथा—

ब्रह्मपुराण

ब्रह्मणाभिहितं पूर्वं यावन्मात्रं मरीचये।

(मत्स्य ५३ । १३)

अर्थात्—'ब्रह्मपुराण' ब्रह्माजी ने मरीचि के प्रति कथन किया था।

पद्मपुराण

एतदेव यदा पद्मं ह्यभूद्धैरण्मयं जगत्।

(मत्स्य ५३ । १४)

अर्थात्—'पद्मपुराण' सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यमय पद्मस्थ स्वयम्भू ने ब्रह्मा के प्रति कहा।

विष्णुपुराण

वाराहकल्पवृत्तान्तमधिकृत्य पराशरः।

(मत्स्य ५३ । १६)

अर्थात्—'विष्णुपुराण' पराशर ने कहा है। (यही पराशर ऋग्वेद के ६ सूक्तों के द्रष्टा हैं)

शिव–वायु–पुराण

निर्मितं तच्छिवेनैव । (वायु संहिता ६)

अर्थात्—'शिवपुराण' शिव भगवान् ने वायु के प्रति कहा है ।

लिङ्गपुराण

प्राह देवो महेश्वरः । (मत्स्य ५३ । ३६)

अर्थात्—'लिङ्गपुराण' महेश्वर भगवान् ने कथन किया है ।

गरुड़पुराण

अधिकृत्याब्रवीद् विष्णुः । (मत्स्य ५३ । ५२)

अर्थात्—'गरुड़पुराण' विष्णु ने गरुड़ के प्रति कथन किया है ।

नारदपुराण

नारदपुराण की सूची के अनुसार इसका पूर्व-भाग सनक, सनन्दन, सनातन आदि ब्रह्मपुत्रों ने नारद के प्रति कहा है, और उत्तर-भाग वशिष्ठ ने मान्धाता के प्रति कहा है ।

भागवतपुराण

(क) ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तम् । (श्रीमद्भागवत २ । ६ । २८)

(ख) ब्रह्मणा संगृहीतं च । (देवीभागवत २ । १२ । ३०)

अर्थात्—'श्रीमद्भागवत' विष्णु ने ब्रह्मा के प्रति कहा है और 'देवी-भागवत' ब्रह्मा द्वारा संगृहीत हुआ है ।

अग्नि-पुराण

वशिष्ठायाग्निना प्रोक्तम् । (मत्स्य ५३ । ३०)

अर्थात्—'अग्निपुराण' अग्निदेव ने वशिष्ठ के प्रति कहा है ।

स्कन्दपुराण

यत्र माहेश्वरा धर्माः षण्मुखेन प्रकाशिताः ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—"स्कन्दपुराण" षण्मुख=कुमार ने कहा है (यही कुमार ऋग्वेद के ५ । २ । १ तथा ७ । १०१-१०२ आदि सूक्तों का द्रष्टा हैं ।

भविष्यपुराण

यत्राधिकृत्य माहात्म्यमादित्यस्य चतुर्मुखः ।

मनवे कथयामास । (मत्स्य ५३ । ३१)

अर्थात्—'भविष्यपुराण' ब्रह्मा ने मनु के प्रति कथन किया ।

ब्रह्मवैवर्त

सावर्णिना नारदाय कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम् ।

(मत्स्य ५३ । ३३)

अर्थात्—'ब्रह्मवैवर्त' सावर्णि ने नारद के प्रति कथन किया । (ब्रह्मापुत्र नारद का समकालीन यह सावर्णि अत्यन्त प्राचीन ऋषि हो चुका है ।)

मार्कण्डेय-पुराण

मार्कण्डेयेन मुनिना जैमिने प्राक् समीरितम् ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—'मार्कण्डेयपुराण' मार्कण्डेय ने जैमिनि के प्रति कहा है ।

वामनपुराण

(क) त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः ।

(मत्स्य ५३ । ४४)

(ख) पुलस्त्येन समाख्यातं नारदाय महात्मने ।

(नारदोक्त सूची)

अर्थात्—'वामनपुराण' ब्रह्मा ने पुलस्त्य को, पुलस्त्य ने नारद को सुनाया ।

वाराहपुराण

तत्रादौ शुभसम्वादः स्मृतो भूमिवराहयोः ।

(नारदोक्तसूची)

अर्थात्—'वाराहपुराण' वाराह रूपी विष्णु ने भूमि के प्रति कथन किया ।

मत्स्यपुराण

मनुमत्स्यसुसम्वादः । (नारदोक्तसूची)

अर्थात्—'मत्स्यपुराण' मत्स्यावतारधारी विष्णु ने मनु के प्रति कथन किया ।

कूर्मपुराण

माहात्म्यं कथयामास कूर्मरूपी जनार्दनः ।

(मत्स्य ५३ । ४७)

अर्थात्—'कूर्मपुराण' कूर्मावतारधारी विष्णु ने कथन किया ।

ब्रह्माण्डपुराण

ब्रह्मा ब्रह्माण्डमाहात्म्यमधिकृत्याब्रवीत्पुनः ।

(मत्स्य ५३ । ५५)

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि पुराणों के आदिम वक्ता – ब्रह्मा, विष्णु, महेश, स्कन्द, पराशर, अग्नि, सावर्णि, मार्कण्डेय और सनकादि ये सब हैं, तथा आदिम श्रोता ब्रह्मा, मरीचि, वायु, गरुड़, नारद, वशिष्ठ, मनु, जैमिनि, पुलस्त्य, भूमि आदि हैं । इन सबके पुरातन सम्वादों को ही वेदव्यास जी ने विगत द्वापर के अन्त में क्रमबद्ध किया है ।

इस अध्याय का सारांश यह है कि जिस समय ऋषियों ने अपने शिष्यों को मन्त्रोपदेश करना आरम्भ किया था, उस समय मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोग अवश्य बताया था । विनियोग में ऋषियों और देवताओं के नाम आते हैं । जब शिष्यों की ओर से उन ऋषियों और देवताओं के चरित्र जानने के लिए प्रश्न होने लगे तो उपदेष्टा गुरुजन उन २ ऋषियों और देवताओं के यथाश्रुत अथवा समाधि-लब्ध चरितों को बताकर शिष्यों का समाधान करने लगे । द्वापर के अन्त तक इसी प्रकार गुरुपरम्परा द्वारा वेदों का उपदेश होता रहा और साथ २ ऋषि और देवताओं के चारु-चरित भी कहे सुने जाते रहे । जब वेदव्यास जी ने वेदरक्षा के लिए गुरुपरम्पराश्रुत वेदों को चार भागों में विभक्त करके ग्रन्थन किया और उन्हें पैल आदि भिन्न २ शिष्यों को प्रदान

किया तब गुरु शिष्य-सम्प्रदाय-प्रचलित ऋषियों और देवताओं के चरितों को भी अष्टादश पुराण-ग्रन्थरूप में निबद्ध करके लोमहर्षण आदि शिष्यों को पढ़ाया।

इस प्रकार पुराणों का उपदेशकाल वही है जो कि वेदों का। और ग्रन्थरूप में निबद्ध होने का समय भी वही है जो कि वेदों का। पुराणों के वक्ता भी वही ऋषिजन हैं जो कि वेदमन्त्रों के द्रष्टा और उपदेष्टा थे। इन्हें पुस्तकाकार ग्रन्थन करने वाले भी वही महर्षि व्यास हैं, जिन्होंने कि वेदों का सङ्कलन किया था। यही वेद और पुराणों का सम्बन्ध है। इस परम्परा का मनन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। पुराणों के अध्ययन किये बिना वेदों का समझना कठिन ही नहीं किन्तु सर्वथा असम्भव है, क्योंकि मन्त्रार्थ-ज्ञान के लिये विनियोग-ज्ञान आवश्यक है, और विनियोग-वर्णित ऋषियों और देवताओं का चरित जानने के लिये पुराणों का स्वाध्याय अत्यावश्यक है। हमारे पास पुराण ग्रन्थ ही एकमात्र साधन है जिससे कि हम ऋषियों और देवताओं के विषय में सर्वतोमुख ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। क्या हम आशा करें कि 'वेदानुयायी' होने का दावा करने वाले सज्जन अपने पुराण-विषयक भ्रम को दूर करके पुराणों की उपयोगिता स्वीकार करेंगे।

मन्त्र से पूर्व नियम विनियोग,
(छन्द ऋषि देव-ज्ञान विनियोग'।)
देव-ऋषि-चरित-कोश सुपुराण,
यही अध्याय तीसरा जान॥

•••०O०•••

* तीसरा अध्याय समाप्त *

स्वरूप-स्थापनाऽध्यायः

(चौथा-अध्याय)

मन्त्रवद् ब्राह्मणस्याऽपि, वेदत्वं सर्वसम्मतम् ।
तस्माद् ब्रह्मादिनामेव पुराणाख्येति कथ्यते ॥

ब्राह्मण भाग के वेदत्व में प्रमाण

पूर्वोक्त रीति से जब वेदादि प्रमाणों की प्राचीनता सिद्ध हो जाया करती है तो घबड़ाकर प्रतिवादी कह दिया करते हैं कि निर्दिष्ट प्रमाणों में 'पुराण' नाम ब्राह्मण ग्रन्थों का है—वर्तमान पुराणों का नहीं। अतः इस अध्याय में इसी बात पर विचार किया जायगा कि क्या वास्तव में ब्राह्मण-ग्रन्थों को पुराण कहते हैं, अथवा वर्तमान उपलब्ध १८ पुराणों को ही पुराण कहना चाहिये ?

(१) सब से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रतिवादी का यह कथन कि—'पुराण' नाम ब्राह्मण ग्रन्थों का है, और वेदादि सच्छास्त्रों में उन्हीं का नाम आया है—निरा भ्रम है, क्योंकि इस कथन से वर्तमान पुराणों की नवीनता तो सिद्ध होनी दुरूह है परन्तु प्रतिवादी, जिन वेदों को अनादि मानता है और जो वास्तव में हैं भी अनादि, वह कल के बने जरूर सिद्ध हो जाएंगे। कल्पना कीजिए कि यदि दुर्जन-तोष-न्याय' से क्षण मात्र के लिए मान लिया जाए कि ब्राह्मण-ग्रन्थ ही

पुराण हैं तो जिस मन्त्र में धड़ाधड़ उक्त पुराणों का नाम आ रहा है वह मन्त्रभाग ब्राह्मणग्रन्थों के बाद का बना मानना पड़ेगा। जबकि प्रतिवादी ब्राह्मण-ग्रन्थों को महाभारत संग्राम के पश्चात् बने मानता है तो मन्त्र भाग को और भी पीछे का बना मानना पड़ेगा। क्या कोई बुद्धिमान् यह स्वीकार करने को प्रस्तुत होगा कि वेद ५००० वर्ष से भी इधर के हैं ? शायद इस आपत्ति को समझ कर प्रतिवादी भी स्वयं अपने पाँवों पर कुल्हाड़ा मारने को उद्यत न होगा इसलिए यह मिथ्या है कि ब्राह्मणग्रन्थों का नाम पुराण है।

(२) हमारा पक्ष है कि ब्राह्मणभाग पुराण नहीं बल्कि वेद हैं आज तक जितने भाष्यकार ऋषि महर्षि मुनि और आचार्य हो चुके हैं उन सबों ने मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों को एक जैसा वेद माना है। सायणाचार्य ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका (उपोद्घात) में महर्षि आपस्तम्ब की यज्ञ-परिभाषा का प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। (मीमांसा २। २३)
शेषे ब्राह्मणशब्दः। (२। ३३)

अर्थात्—प्रेरणालक्षण श्रुति-समुच्चय को मन्त्र कहते हैं और शेष समस्त वेद का नाम ब्राह्मण है।

इसीलिए सायण, आपस्तम्ब और जैमिनि की सम्मति में भी मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं।

(३) न्यायाचार्य महर्षि गौतम जी ने वेदों की प्रमाणता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष में वेदों पर आक्षेप किये हैं और उन अक्षेपों के जो उदाहरण दिये हैं वे वर्तमान ब्राह्मणभाग के हैं। यदि ब्राह्मण भाग वेद न होता तो वेदों पर शङ्का करने के लिये वेद भिन्न भाग का उदाहरण देना क्या मूल्य रखता था ? गौतम जी कहते हैं—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ।

(न्यायदर्शन । १ । ५७)

अर्थात् – वह (वेद) प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें असत्य, पूर्वापरविरोध और एक ही बात को अनेक बार कहना इत्यादि दोष हैं । जैसे वेद में लिखा है कि 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' जिसे पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि यज्ञ करे, परन्तु कहीं पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार वेद का यह प्रत्यक्ष-फलसाधक वाक्य मिथ्या हो जाता है तब 'अग्निहोत्रं 'जुहुयात् स्वर्गकामः'—स्वर्ग की कामना वाला अग्निहोत्र करे, इत्यादि परोक्षफलसाधक वाक्यों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? अतः वेदों में असत्य वाक्य होने से वे मान्य नहीं, इत्यादि पूर्वपक्ष स्थापित करके पश्चात् अकाट्य युक्तियों से इन सब आक्षेपों का समाधान किया है । हम प्रकृतविरुद्ध होने के कारण यहाँ उसके लिखने की आवश्यकता नहीं समझते, परन्तु इस प्रघट्ट में द्रष्टव्य यह है कि यहाँ

'पुत्रकामः' आदि जितने वाक्य दिये गये हैं वे ब्राह्मणभाग के हैं । क्योंकि विधि और अर्थवाद दो प्रकार का समावेश ब्राह्मण में ही हुआ है, अतः निश्चय हुआ कि गौतम जी की दृष्टि में भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही समान रूप से वेदत्व है । अन्यथा देवदत्त को मिथ्याभाषी सिद्ध करने के लिये यज्ञदत्त के वाक्यों का उदाहरण देना क्या अर्थ रखता है ?

(४) प्रसिद्ध वैशेषिक-दर्शन के निर्माता महर्षि कणाद जी दृष्टादृष्टफलक दोनों प्रकार के कार्यों का अनुष्ठान सिद्ध करते हुये लिखते हैं कि –

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।

(वैशेषिकदर्शन १० । २ । ८)

अर्थात् – वेदों में जो कर्तव्यरूप से देखे गये हैं, जिनका प्रयोजन इस लोक में प्रत्यक्ष दीखता है, उनका तथा जिन कार्यों का ऐहलौकिक फल नजर नहीं आता उनका अनुष्ठान करना पारलौकिक शुभ फल के लिए होता है।

उपर्युक्त सूत्र में जिस दृष्टफल और अदृष्टफल-विधान को वेदविहित बताया गया है वह ब्राह्मणभाग में ही उपलब्ध है। अतः मानना पड़ेगा कि कणाद जी ब्राह्मणभाग को वेद ही मानते हैं।

(५) महर्षि व्यास वेदान्तदर्शन में शब्द-प्रमाण मानते हुये लिखते हैं कि –

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। (वेदान्त दर्शन २। १। २७)

अर्थात् – ब्रह्म प्रत्यक्षानुमान का विषय नहीं, बल्कि उसके होने में श्रुति प्रमाण है, जो शब्दमूलक है।

सारे वेदान्त को पढ़ जाइये उसमें ब्रह्मप्रतिपादक 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' आदि जितने भी प्रमाण दिये गये हैं, सब ब्राह्मणभागान्तर्गत उपनिषद् आदि ग्रन्थों के हैं और उन सबको 'श्रुति' वेद के नाम से लिखा है। इससे स्पष्ट है कि व्यास जी ब्राह्मण ग्रन्थों के विशिष्ट भाग उपनिषदों को वेद स्वीकार करते थे।

(६) पातञ्जल महाभाष्य में पतञ्जलि जी लिखते हैं कि

वेदेपि—'य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यास्त' इति तेषा-
मनुकुर्वंस्तद्वत् सत्राण्यध्यासीत सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। (महाभाष्य पृ० २०)

अर्थ—वेद में लिखा है कि जो इस प्रकार ब्रह्मा के यज्ञों का अनुष्ठान

करता है, उसका अनुकरण करने वाला भी ऐहलौकिक सुखों को प्राप्त होता है।

यहाँ—'य एवं विश्वसृज' आदि जो वाक्य वेद के नाम से उद्धृत किया है, वह ब्राह्मणभाग में ही उपलब्ध होता है, अतः निश्चित हुआ कि पतञ्जलि जी की सम्मति में भी ब्राह्मणभाग वेद है।

(७) आश्वलायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार श्री नारायणस्वामी लिखते हैं कि—

गाथाशब्देन ब्राह्मणगता ऋच उच्यन्ते।

(आश्वलायन श्रौतसूत्र ५। ६)

अर्थात्—ब्राह्मण भाग में आने वाली ऋचाओं को गाथा कहते हैं। इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र (३। ३। १) की वृत्ति में लिखते हैं कि—

गाथा नाम ऋग्विशेषाः।

अर्थात्—गाथा नाम विशेष ऋचाओं का है,

इन दोनों प्रमाणों में ब्राह्मणभागान्तर्गत आने वाली गाथाओं को ऋचा के नाम से स्मरण किया है। और ऋचाएं केवल वेद में ही होती हैं अतः ब्राह्मणभाग वेद है। निरुक्त (४। ६) में तो स्पष्टतया ही 'ब्रह्म... गाथामिश्रं भवति' अर्थात् वेद में ही गाथा भाग होता है ऐसा लिख दिया है।

(८) तैत्तिरीयारण्यक (भाष्य २। ९) में सायणाचार्य जी लिखते हैं 'गाथा मन्त्रविशेषाः' अर्थात् मन्त्रविशेष का नाम गाथा है। सो केवल मन्त्र वेद में ही होते हैं। अतः निश्चय हुआ कि ब्राह्मण वेद हैं।

(९) पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है कि—

वेदे खल्वपि—'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्य इत्युच्यते । (महा० १ । १ । १)

अर्थात्—वेद में लिखा है कि ब्राह्मण पयोव्रत होते हैं। क्षत्रिय यवागू व्रत होते हैं और वैश्य आमिक्षाव्रत होते हैं।

उपरोक्त 'पयोव्रत' आदि वाक्य मन्त्रभाग में कहीं भी नहीं, बल्कि यह ब्राह्मणभाग का वाक्य है। पतञ्जलि जी इसे वेदवाक्य कहते हैं अतः निश्चित हुआ कि उनकी दृष्टि में ब्राह्मण वेद हैं।

(१०) इसी ग्रन्थ के दूसरे स्थान में लिखा है कि—

वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—'योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद ।' (पृ० १०)

अर्थात्—वेद भी ऐसा कहते हैं कि—जो अग्निष्टोम यज्ञ द्वारा यजन करता है, और जो इसे ऐसा जानता है।

यहाँ भी जो 'योऽग्निष्टोमेन' आदि वाक्य लिखा है वह मन्त्रभाग का नहीं, बल्कि तैत्तिरीय ब्राह्मण (३ । ११ । ८ । ५) का है। परन्तु पतञ्जलि महाराज इसे 'वेदशब्द' के नाम से स्मरण करते हैं अतः निश्चित हुआ कि उनके मत से भी ब्राह्मण वेद हैं।

(११) मनु जी लिखते हैं:—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ।।
(मनुस्मृति ६ । २९)

अर्थात्—वन में रहता हुआ ब्राह्मण ऐसी धार्मिक दीक्षाओं का सेवन करे और अपने कल्याण के लिये विविध उपनिषद् ग्रन्थों की श्रुति का सेवन करे।

यहां ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्-वाक्यों को श्रुति कहा है। श्रुति नाम वेदों का है, जैसा कि मनु जी ने ही स्थानान्तर में स्वयं 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (मनुः २। १०) कहकर इसे व्यक्त किया है। अतः निश्चित हुआ कि ब्राह्मण वेद हैं।

(१२) शाबर-मीमांसाभाष्य (१। २। ३३) में लिखा है कि—

मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः।

अर्थात्—मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं।

(१३) मीमांसादर्शन (सूत्र १। १। ८८ से आरम्भ करके ३३ सूत्रपर्यन्त) में मन्त्रभाग की तरह ब्राह्मण भाग को भी अपौरुषेय सिद्ध किया है, अतः ब्राह्मण ऋषिकृत नहीं, बल्कि मन्त्रों की तरह ऋषिदृष्ट हैं, अतः वह वेद हैं।

(१४) चरणव्यूह (कण्डिका २) में कहा है कि—

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह।
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः॥

अर्थात्—जिसमें मन्त्रब्राह्मण-सहित त्रिगुण पढ़ा जाता है। वह यजुर्वेद है, शेष उसकी शाखाएं हैं।

यहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को सम्मिलित करके उसे यजुर्वेद के नाम के स्मरण किया गया है। इससे निश्चित हुआ कि ब्राह्मण वेद हैं।

(१५) मनु जी ने हवनकाल का निर्णय करते हुए लिखा है कि—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

(मनुः २। १५)

अर्थात्—'सूर्योदय हो जाने पर और उदय होने से पूर्व तथा नक्षत्र सूर्यादि के अदृष्ट काल में भी हवन करना चाहिये' ऐसा वेद का वचन है।

समस्त मन्त्रगण में ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलता जिस में कि स्पष्टतया यह बताया गया हो कि सूर्योदय हो जाने पर या उदय से पूर्व यज्ञ हो सकता है, ऐसे बचन ब्राह्मणभाग में अवश्य मिलते हैं। जैसे—

उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति।

(ऐतरेयब्राह्मण ५। ५। ४)

मनु जी ने ब्राह्मण के इन वचनों को वेद बताया है। इससे निश्चित हुआ कि मनु जी की सम्मति में ब्राह्मण वेदग्रन्थ है।

(१६) आपस्तम्ब जी कहते हैं

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् ॥

(आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४ : १। ३१)

अर्थात्—मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद कहते हैं

(१७) बौधायन जी कहते हैं

मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते।

(बौधायन गृह्यसूत्र २। १। १)

अर्थात्—मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद कहा जाता है।

(१८) महर्षि सत्याषाढ जी लिखते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

(सत्याषाढ श्रौतसूत्र १। १। ५)

अर्थात्— मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद है।

(१६) महर्षि कौशिक जी लिखते हैं—

आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च ।

(कौशिकसूत्र १ । ३)

अर्थात्—मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को आम्नाय=वेद कहते हैं ।

(२०) कात्यायन ऋषि कहते हैं—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् । (कात्या० प्रतिज्ञासूत्र)

अर्थात्—वेद नाम मन्त्र और ब्राह्मण का है ।

(२१) सायणाचार्य लिखते हैं—

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः । (ऋग्वेद उपोद्धात)

अर्थात्—मन्त्र ब्राह्मणात्मक शब्द समुदाय को वेद कहते हैं ।

(२२) महर्षि वात्स्यायन पुराणों और ब्राह्मणों को भिन्न २ ग्रन्थ मानते हैं । यथा

प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य
प्रामाण्यमभ्युपगम्यते । (न्यायदर्शन भाष्य ४ । १ । ६२)

अर्थात्—ब्राह्मण के प्रमाण से इतिहास पुराण की प्रामाणिकता सिद्ध होती है । यहाँ यदि उक्त दोनों ग्रन्थों को विभिन्न न माना जाए तो प्रामाण्य-प्रमेयभाव संगठित नहीं हो सकता । अर्थात्—अभियुक्त और साक्षी दो भिन्न २ व्यक्ति ही हो सकते हैं ।

(२३) उक्त ब्राह्मणग्रन्थ स्वयं पुराणों को अपने से अलग बता रहे हैं यथाः

नवमेऽहनि किंचित् पुराणमाचक्षीत ।

(शतपथ १३ । ४ । ३ । १२)

अर्थात् – यज्ञ के नवें दिन कुछ पुराण पढ़ा जाए।

यदि ब्राह्मणग्रन्थ ही पुराण होते तो वे अपने पाठ का ही आदेश न करते। कहाँ तक लिखें, ब्राह्मण भाग को मन्त्रभाग की भांति अविशेष वेद सिद्ध करने वाले सहस्रों प्रमाण संगृहीत किये जा सकते हैं। किसी भी ऋषि मुनि आचार्य के ग्रन्थ को उठाइये, सर्वत्र ब्राह्मणग्रन्थों की वैदिकता का उल्लेख मिलेगा। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार आद्य शङ्कराचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य और श्री माध्वाचार्य आदि सभी विद्वानों ने एक स्वर से ब्राह्मणों का वेदत्व स्वीकार किया है। इतने पर भी स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी अपनी बेसुरी तान का आलाप नहीं छोड़ते इसे सिवा दुराग्रह के और क्या कहा जा सकता है?

ब्राह्मण भाग के वेदत्व में युक्तियें

यहां तक हमने प्रमाणों द्वारा ब्राह्मणभाग का वेद होना सिद्ध किया है। अब कतिपय युक्तियों द्वारा भी इसकी पुष्टि की जाती है जिससे 'युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' के अनुसार प्रतिवादियों को कुछ कह सकने का अवसर ही न मिल सके।

(१) किसी भी ब्राह्मणग्रन्थ के आदि में अथवा अन्त में 'अथ शतपथपुराणम्' 'इति गोपथपुराणम्' ऐसी पुष्पिका का उल्लेख नहीं अतः वे पुराण नहीं हो सकते।

(२) पुराण का सर्वविदित लक्षण—सर्ग प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में उक्त विषयों का कहीं भी क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता है। खास कर चन्द्र-सूर्य-वंशी और तत्तद् वंशीय प्रतिष्ठित व्यक्तियों के चरित्र का तो कहीं भी उल्लेख नहीं। यदि उक्त ग्रन्थों से सर्गादिक-प्रतिपादक वाक्यों का उद्धरण देकर उन्हें पुराण कहने की दुश्चेष्टा की जाए तो इस तरह के सैंकड़ों मन्त्र

मन्त्रभाग में भी विद्यमान हैं। अतः सर्गादि पञ्चलक्षण अव्याप्त होने के कारण ब्राह्मणभाग पुराण नहीं हो सकता।

(३) सर्वत्र शास्त्रों में पुराणों के नाम ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव ही लिखे हैं, परन्तु ब्राह्मग्रन्थों में उक्त नामों वाला कोई भी ग्रन्थ नहीं है। अतः वे पुराण नहीं हो सकते।

(४) पुराणों की संख्या सर्वविदित अठारह है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों की इयत्ता का कहीं भी उल्लेख नहीं तथा याज्ञिक विषयविभाग के अनुसार उन्हें विभक्त किया जाए तो वे भी चतुःसंहिताओं की तरह चार प्रकार के ही प्रतीत होते हैं। अतः संख्या-रूप लक्षण के अव्याप्त होने से भी ब्राह्मणग्रन्थ पुराण नहीं हो सकते।

(५) प्रायः सभी ऋषियों ने वेदों की ११३१ शाखायें मानी हैं। प्रतिवादियों के दादागुरु स्वामी दयानन्द जी ने भी 'सत्यार्थप्रकाश' 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' आदि ग्रन्थों में कहीं ११२७ और कहीं ११३१ शाखाओं का उल्लेख किया है। सो जिस प्रकार उपलब्ध चारों संहिताएँ क्रमशः—शाकल, माध्यंदिनी, कौथुमी और शौनिकी नामक शाखाएँ हैं इसी प्रकार उपलब्ध ब्राह्मण, उपनिषद् आदि भी वेदशाखाओं के ही ग्रन्थ विशेष हैं। यदि चार शाखाएँ मान्य हो सकती हैं तो शेष भी उसी भान्ति मान्य होनी चाहियें। अतः ब्राह्मणग्रन्थ वेद शाखा होने के कारण पुराण नहीं हो सकते।

(६) पूर्व मीमांसादर्शन में मन्त्रभाग की तरह ब्राह्मणभाग की भी अपौरुषयता सिद्ध की है, अतः दोनों का 'वेदत्व' भी तुल्य है। फिर वेदभूत ब्राह्मणों को पुराण कैसे कहा जा सकता है ?

(७) यदि ब्राह्मणभाग को ऐतिहासिक-अंश विशिष्ट होने के कारण वेदत्व से दूर रक्खा जाता है, तो ऐसा नित्य-इतिहास तो मन्त्र-भाग में ठसाठस भरा पड़ा है, जिसका यास्कादि ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट

उल्लेख किया है तथा जैमिनि जी ने भी मीमाँसादर्शन (पूर्वमीमांसा १ । १ । ३१) के 'परन्तु श्रुतिसाम्यमात्रम्' आदि सूत्रों में उसे व्यवस्थित किया है । ऐसी दशा में मन्त्र-ब्राह्मण के तुल्य होने से उनका वेदत्व भी तुल्य सिद्ध होता है, अतः वेद के अविशिष्ट अंश ब्राह्मण को पुराण नहीं कह सकते ।

(८) कहा जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों का व्याख्यान हैं, अतः वे वेद नहीं, बल्कि पुराण होने चाहियें । यदि यह तर्क ठीक है तब तो सब मन्त्र भी अकेले ओंकार का व्याख्यान हैं, अतः वे भी वेद नहीं होने चाहियें । मन्त्रों का व्याख्यानत्व और ओंकार का व्याख्येयत्व 'परम्पराध्याय' में भली भांति सिद्ध किया जा चुका है । इसलिए जिस प्रकार प्रणव का व्याख्यानभूत समस्त मन्त्रभाग वेद है इसी प्रकार मन्त्रभाग का व्याख्यान भूत ब्राह्मणभाग भी वेद ही हो सकता है पुराण नहीं ?

इस प्रकार हम युक्तियों और प्रमाणों द्वारा ब्राह्मणभाग का वेदत्व सिद्ध करने के बाद एक बार पाठकों का ध्यान पूर्वप्रतिपादित प्रमाणाध्याय की ओर आकृष्ट करते हुवे यह कह देना चाहते हैं कि—वेदोपदेश काल से ही जो वर्तमान पुराणों का मूलभूत एक अरब प्रमाण वाला 'आदिम-पुराण' चला आता था उसीको लक्ष्य करके समस्त वैदिक साहित्य में पुराण शब्द का निर्देश किया गया है । न कभी ब्राह्मण ग्रन्थों की 'पुराण' संज्ञा थी और न कोई साक्षर भविष्य में उन्हें 'पुराण' कहने का साहस कर सकता है !

हुज्जतों की मरम्मत

कभी दयानन्दी समाज की ओर से पुराणों के प्रामाण्य उड़ाने के लिए शास्त्रोक्त प्रमाण तथा युक्तियों को छोड़ कर हुज्जतबाजी का भी आश्रय लिया जाया करता है, और 'डूबते को तिनके का

सहारा' वाली लोकोक्ति के अनुसार इसी 'टांय टांय' के बल पर वे कुछ और देर तक किसी तरह सिसकते रहना चाहा करते हैं।

वे प्रायः कह दिया करते हैं कि--'क्या वेदादि शास्त्रों में 'पुराण' शब्द आ जाने से वर्तमान अठारह पुराण सिद्ध हो सकते हैं? यहां तो पुराण शब्द का अर्थ 'पुराण-विद्या' है। यदि सामर्थ्य है तो वेदों में ब्रह्म-पद्म विष्णु आदि नाम दिखा दो, जिससे हम अनुमान कर सकें कि वास्तव में, वेदादि ग्रंथों में वर्तमान पुराणों का उल्लेख है, इत्यादि··· —यह है वह हुज्जत, जिसके बल पर पुराणों को उड़ाने की अन्तिम कुचेष्टा की जाया करती है ! यदि इन बुद्धि के हिमालयों से कोई पूछे कि—वह पुराणविद्या किस ग्रन्थ में वर्णित है ? कुरान में या बाईबिल में ? बस ! जिस ग्रन्थ में यह पुराणविद्या वर्णित है उसे ही हम 'आदिम-पुराण' के नाम से पुकारते हैं और उसी में संक्षिप्त रूप से वर्तमान अठारह पुराणों का संकलन मानते हैं। रहा अष्टादश पुराणों के नाम वेद में दिखाने का प्रश्न? सो सूत्रग्रन्थों तक में तो निर्विवाद 'भविष्यत् पुराणादि' का स्पष्ट नाम लिखा मिलता है। यह यह बात मि० एफ० ई० पार्जिटर आदि पाश्चात्य पण्डितों ने भी एक स्वर से स्वीकार की है। निःसन्देह सूत्रकाल वैदिककाल का अत्यन्त निकटवर्ती है। इतने पर भी यदि वेदों में ही पुराणों के नाम देखने का चाव है तो हम दयानन्द जी की वेदोक्त 'तार विद्या' की तरह वेदों में भी अठारहों पुराणों के नाम दिखा सकते हैं और पण्डित मण्डल में आज जितना दयानन्द प्रदर्शित रेल तार बिजली आदि की वैदिकता का मूल्य है उससे भी अधिक हमारे चुने अष्टादश पुराणों के नामों का हो सकता है। लीजिए—आपकी रीति ! आपकी नीति !! और आपकी ही तर्कप्रणाली !!! फिर वेदों में अठारह पुराणों के नामों का अभाव कैसा ?

वेदों में अष्टादश पुराणों के नाम

ब्रह्मपुराण

(क) ब्रह्म जज्ञानं प्रथमम् ।   (यजुः १३ । ३)

(ख) ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ।

(बृहदारण्यक ६ । ३ । १८)

अर्थात्—प्रथम पुराण का नाम ब्रह्म है और उस अग्रिम पुराण को वे ऋषि लोग जानते हुवे ।

पद्मपुराण

अजस्य नाभावधि एकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः ।   (ऋग्वेद १० । ८२ । ६)

अर्थात्—अजन्मा विष्णु भगवान् की नाभि में एक अण्डरूप पद्म था जिस में समस्त भुवनों की स्थिति थी । (सायण ने यहां अण्ड का उल्लेख किया है और पुराणों में इसी अण्ड का पद्म रूप से वर्णन किया है)

विष्णुपुराण

स (प्रजापतिः) यजुर्भ्योऽधिविष्णुं (असृजत) ।

(तैत्तिरीय २ । ३ । २ । ४)

अर्थात्—प्रजापति परमात्मा ने यजुर्वेदमूलक विष्णुपुराण को बनाया (यहां सर्जन रूप क्रिया के योग से 'विष्णु' शब्द का अर्थ ग्रन्थ-विशेष ही युक्तियुक्त है ।)

अग्नि-पुराण

अग्निर्मे वाचि श्रितः । (तैत्तिरीय ३ । १० । ८ । ४

अर्थात्—अग्निपुराण मेरी जिह्वा पर स्थित है यानी कण्ठाग्र है । दयानन्दी शैली से यहां अग्नि शब्द का अर्थ भौतिक अग्नि नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी की जिह्वा पर थोड़े ही ठहर सकता है । दूसरे निराकार की जिह्वा भी नहीं हो सकती । अतः यहां अग्नि शब्द का अर्थ अग्निपुराण ही हो सकता है, क्योंकि जिह्वा पर ग्रन्थ-विशेष की स्थिति ही संभव है ।

भविष्यपुराण

भविष्यत्प्रति चाहरत् । (तैत्तिरीय ३।१२।६। ३)

अर्थात्—भविष्यत्पुराण (सृष्टि का) प्रत्याहरण करता हुआ । यानी भविष्यत्पुराण में उत्तरकालीन वर्णनों से सृष्टि के इतिहास का उपसंहार किया गया है ।

गरुड़पुराण

तार्क्ष्यो वै पश्यतो राजेत्याह तस्य वयाᳬसि विशः पुराणं वेद । (शतपथ १३।४।३।१३)

अर्थात्—पक्षियों का राजा गरुड है और पक्षी ही उसकी प्रजा हैं, वह पुराण का ज्ञाता है ।

कूर्मपुराण

स यत्कूर्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृज । (शतपथ १० । ५ । १ । ५)

अर्थात्—जो कूर्म नामक पुराण है वह कूर्मरूपी परमात्मा द्वारा बनाई सृष्टि का प्रतिपादक है।

मत्स्यपुराण

तस्य (मनोः) अवनेनिजातस्य मत्स्यः पाणी आपेदे।
(शतपथ १। ८। १। १-२)

अर्थात्—मनुजी के अवनेजन करते हुए एक मत्स्य अंजलि में आ गया (इसी मत्स्यावतार का कथन किया हुआ मत्स्यपुराण है।)

वाराहपुराण

वराहेण पृथिवी संविदाना। (अथर्व १२। १। ४८)

अर्थात्—वाराह ने पृथिवी को प्रबुद्ध किया (उक्त संवाद को ही वाराहपुराण कहते हैं।)

वामनपुराण

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पाँसुरे। (ऋग्वेद १। २२। १७)

अर्थात्—वामनावतारधारी विष्णु ने इस ब्रह्माण्ड को तीन चरणों में आक्रान्त कर पद धरे हैं। और यह सब लोक उसके धूलि-धूसर पांव में अन्तर्हित हो गया (इसी चरित्र का विस्तार 'वामनपुराण' में किया गया है।)

ब्रह्माण्डपुराण

य आण्डकोशे भुवनं बिभर्ति। (तैत्तिरीय ३। १२)

अर्थात्—जो प्रजापति ब्रह्माण्ड में स्थित होकर भुवन की रक्षा करता है, (उसी की महिमा का द्योतक 'ब्रह्माण्डपुराण' है।)

इसी प्रकार अन्यान्य पुराणों के भी साक्षात् नामों को या तत्तत्प्रतिपादित विशेष वृत्तान्तों को वेदों में से निकाला जा सकता है। हम उपर्युक्त प्रमाणों के सम्बन्ध में स्वयं कुछ न कहते हुये विज्ञ पाठकों से ही पूछना चाहते हैं कि आर्यसमाज की 'प्रत्येक वस्तु को वेद में दिखाओ' इस अनुचित माँग का इससे बढ़कर और क्या उत्तर हो सकता है? जिस समाज का प्रवर्तक किसी पादरी के यह पूछने पर कि वेदों में तोप का जिक्र नहीं मिलता, तो झट से—'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा...... यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोप राधात्' पढ़कर—'कानों को फाड़ देने वाला दुष्ट शब्द जिसका होता है, ऐसी भयङ्कर तोप से राजा को अपने शत्रु मार डालने चाहिएँ'—ऐसा अर्थ कर सकता है तथा अध्यात्मज्ञान के भण्डार वेदों में तार, तोप, ट्राम तथा बिजली का तुच्छतर भौतिक-विधान निकालने के लिए समस्त ऋषि-मुनियों एवं वेद-भाष्यकारों को अंगूठा दिखा सकता है, उसे और उसके समाज को उनकी ही आविष्कृत शैली से मूक कर देना सर्वथा न्याय है।

आशा है, विज्ञ पाठक हमारे भाव को समझकर उपर्युक्त प्रमाणों का मनन करेंगे।

मन्त्र ब्राह्मण दोनों हैं वेद, न इन दोनों में किंचित् भेद।
ग्रन्थ अष्टादश नाम पुराण, यही चौथा अध्याय बखान॥

•••०O०•••

* चौथा अध्याय समाप्त *

कर्तृनिर्णयाध्यायः

(पाँचवाँ-अध्याय)

अष्टादशपुराणानां, कर्ता सत्यवतीसुतः ।
निरस्य सर्वानाक्षेपानित्येतदिह साध्यते ।।

※::--*:--*:※*

यद्यपि विगत अध्यायों में युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर यह सिद्ध किया जा चुका है कि पुराणों के वक्ता, मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग हैं और उन्हें गुरु-परम्परा से प्राप्त करने वाले वही प्राचीनतम वेदाध्ययन-परायण मुनिजन हैं तथा इनको इस प्रकार ग्रन्थरूप में निबद्ध करने वाले भी वेदसंहिताओं के संकलयिता पूज्य कृष्णद्वैपायन जी महाराज ही हैं। इस तरह वक्तृत्व और कर्तृत्व-सामान्यता के कारण पुराण-ग्रन्थ भी वेदों के बाद प्रमाण-कोटि में सन्निविष्ट हैं, परन्तु कुछ लोग 'यथा तथा पुराणेषु छिद्रान्वेषणम्' की कुप्रवृत्ति से प्रेरित होकर वर्तमान पुराणों के व्यास-कर्तृत्व पर भी मनमाने आक्षेप किया करते हैं। इसलिए इस अध्याय में ऐसे ही आक्षेपों के समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है।

श्री पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र, वेदव्याख्याता पं० भीमसेन शर्मा तथा श्री पं० कालूराम जी शास्त्री आदि स्वर्गीय महानुभावों ने अपने लेखों में ऐसे आक्षेपों पर विचार किया है। यद्यपि उनकी विद्यमानता में हमें अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता न थी, तथापि पुराण-

सम्बन्धी समस्त विचारों से परिपूर्ण इस ग्रन्थ में कर्तृत्व विषय पर सर्वथा मौनावलम्बन करना भी पाठकों को अवश्य खटकता। एतदर्थ 'द्विर्बद्धं सुबुद्धम्' न्याय के अनुसार कतिपय पंक्तियें लिखी जाती हैं।

आक्षेप और उनका समाधान

(१) वर्तमान पुराणों में बुद्ध का वर्णन आता है। बुद्ध जी लगभग ६०० वर्ष विक्रमपूर्व हुए और व्यास जी महाभारतकालीन व्यक्ति हैं। जिसे पांच हजार वर्ष से अधिक समय हो चुका है। अतः व्यासकृत पुराणों में अपने से परवर्ती व्यक्ति का वर्णन नहीं आ सकता, अवश्य ही ये पुराण बुद्ध के बाद के बने हैं, यह स्पष्ट है।

(१) इस आक्षेप में पुराणों को नवीन सिद्ध करने के लिए व्यास और बुद्ध के समयों का अन्तर कारण रखा गया है। परन्तु वास्तव में यह हेतु कोरा हेत्वाभास है; क्योंकि वेद, पुराण आदि ग्रन्थ केवल भूतकाल की घटनाओं के प्रतिपादक नही हैं। अपितु—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति।

(मनुः १२। ९७)

अर्थात् – 'भूत, भविष्यत् वर्तमान, सब कुछ वेद से सिद्ध है' -- इस मनूक्ति के अनुसार वेद तीनों काल का वर्णन करने वाले हैं। जिस प्रकार अनादि वेदों में यास्क आदि वेदाचार्यों के निर्णयानुसार वशिष्ठ, विश्वामित्र, शुनःशेप आदि उत्तरकालीन व्यक्तियों का उल्लेख सुव्यवस्थित है, इसी प्रकार त्रिकालदर्शी वेदव्यास जी के बनाये हुए पुराणों में भी भविष्यवर्णनेन बुद्ध भगवान् का चरित्र वर्णित है। यही क्यों – पुराणों में तो अब से आगे होने वाले कल्कि अवतार का भी विस्तृत वर्णन विद्यमान है। क्या इससे यह मान लिया जाय कि पुराणों का निर्माण अभी तक हुआ ही नहीं?

वस्तुतः मूल पुराणों का पाठ करने पर ही यह बात सिद्ध हो जाती है, कि पुराणों का संकलन बुद्ध भगवान् से बहुत पूर्व हो चुका था; क्योंकि बुद्ध के चरित्र में प्रायः सर्वत्र भविष्यत्-काल की क्रिया का प्रयोग दीख पड़ता है, यथा—

(क) बुद्धो नाम्नाऽजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।

(श्रीमद्भागवत १ । ३ । २४)

(ख) मायामोहोऽयमखिलांस्तान्दैत्यान्मोहयिष्यति ॥

(पद्म० सृष्टि १३ । ३४९)

इन प्रमाणों में 'भविष्यति' 'मोहयिष्यति' आदि क्रियाएँ ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण हैं कि पुराणों का निर्माण बुद्ध जी से पूर्व हो चुका था। यदि कोई आशंका करे कि व्यास जी ने अपने से सहस्रों वर्ष परवर्ती बुद्ध का चरित्र कैसे जान लिया ? सो इसका उत्तर यह है कि वेदव्यास जी योगी थे—इस बात से कोई भी पठित पुरुष इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि आर्य-साहित्य में जहाँ भी व्यास जी का वर्णन आया है वहीं आपको 'परम तपस्वी' एवं 'योगाभ्यासनिरत' कहा गया है। महाभारत में व्यास जी को 'इन्द्रियातीत ज्ञान-सम्पन्न' कहा है यथा—

प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ।

(आदिपर्व अध्याय १०५ । ८)

अर्थात्—त्रिकालज्ञ व्यास जी ने ईश्वर-प्रेरित होकर (माता सत्यवती से धृतराष्ट्र का अंधा होना तथा पाण्डु का विवर्ण होना जन्म से पूर्व ही) कहा था। जब 'व्यास जी योगी थे'—यह सिद्ध हो जाता है तो योगीजन, भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालत्रय के ज्ञाता होते हैं तथा वे लोकान्तर-गमन, परकाय-प्रवेश सूर्य-चन्द्रादि में प्रवेश कर सकते हैं—यह स्वयं दयानन्द जी ने अपने यजुर्वेद भाष्य में स्वीकार किया है, यथाः—

"(भावार्थ) जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं। उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है अन्यथा नहीं।"

हमें यहां दयानन्द जी के शब्दों में अणिमादि आठ सिद्धियों का वर्णन इसलिए करना पड़ा कि इस प्रकार के चमत्कारों को आर्यसमाज के अतिरिक्त शेष सभी आस्तिक सम्प्रदाय तो मानते ही हैं। केवल यही एक दल है जो चार्वाक की भांति प्रत्यक्ष का ही समर्थन करता है। अतः हमारे इस उद्धरण से उसे भी योगसिद्धि का विश्वासी होना पड़ेगा। इस प्रकार त्रिकालज्ञ योगीराज व्यास जी ने भविष्यत्कालवर्ती श्री बुद्ध भगवान् का वर्णन किया है, यही निश्चित है।

(२) 'तौजुकजहांगीरी' नाम किताब में लिखा है कि आलू, तम्बाकू और गोभी – ये तीनों चीजें जहांगीर बादशाह के पिता – यानी अकबर के जमाने में एक अमेरिकन पादरी अपने देश से लाया था। अकबर का राज्यकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वभाग में माना जाता है, परन्तु पद्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराण में तम्बाकू का वर्णन मिलता है! यथा –

(क) तमालं भक्षितं येन स गच्छेन्नरकार्णवे।

(ब्रह्माण्ड)

(ख) धूम्रपानरतं विप्रं दानं कुर्वन्ति ये नराः।
दातारो नरकं यान्ति ब्राह्मणो ग्रामशूकरः॥

(पद्मपुराण)

– इसलिए उपर्युक्त दोनों पुराण अकबर के बाद बने हैं, व्यासोक्त नहीं।

(२) इस आक्षेप का मूल पुराणों में 'तमाल' और 'धूम्रपान

इन दो शब्दों का आ जाना है। प्रथम तो—प्रतिवादियों ने उक्त दोनों श्लोकों का पूरा पता नहीं लिखा। हमारे यथासाध्य खोज करने पर भी उक्त पुराणों में इन श्लोकों का कहीं पता नहीं मिल सका, तब तो हमने इन स्वयम्भू लिक्खाड़ों को कई बार ललकारा कि उक्त श्लोकों का पता बताइये, जिससे इन पर पूरा २ विचार किया जा सके, परन्तु आज तक किसी भी महाशय ने अपनी मुखमुद्रा भंग करने की हिम्मत न की। अतः जब तक कोई महाशय इनका पूरा २ पता नहीं बता सकता तब तक इनके आधार पर प्रश्न करना ही महामूर्खता है; क्योंकि सभ्य संसार इस बात से खूब परिचित है कि जिस समाज का – 'महर्षि' कहा जाने वाला प्रवर्तक भी, यजुर्वेद के नाम पर –

(क) मनुष्या ऋषयश्च ये ततो मनुष्या अजायन्त।

(सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७)

—मनुस्मृति के नाम पर—

(ख) विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्।

(स० प्र० पृ० १४०)

—और श्रीमद्भागवत के नाम पर—

(ग) जगाम गोकुलं प्रति। (स० प्र० पृ० ३६०)

– इत्यादि अपने बनाये झूठे प्रमाण घड़ कर संसार को धोखा दे सकता है, तब उस समाज के अनुयायियों से सत्यासत्यनिर्णय की कहां तक आशा की जा सकती है? तथापि हम दुर्जनतोष-न्याय से उक्त श्लोकों का अस्तित्व स्वीकार करने पर इन पण्डितपुङ्गवों को बता देना चाहते हैं, कि तमाल और धूम्रपान का वर्णन तो मुसलमान बादशाहों से निर्विवाद सहस्रों वर्ष पूर्व बनने वाले ग्रन्थों में भी कई जगह आता है; यथा:—

(क) कालस्कन्धस्तमालः स्यात्···। (अम० २।४।६८)
(ख) तमालपत्रं तापिच्छे तिलके पत्रकेऽपि च । (विश्व०)
(ग) तमालस्तिलके खड्गे···। (मेदिनीकोशः)

अमरकोशकार श्री अमरसिंह विक्रम के नवरत्नों में थे यह सर्वविदित है। विश्व और मेदिनीकोश भी अकबर से बहुत प्राचीन हैं, क्योंकि भोज के समकालीन मल्लीनाथ ने अपनी बनाई 'रघुवंश' आदि ग्रन्थों की टीकाओं में उक्त कोशों के प्रमाण उद्धृत किये हैं।

(क) वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूम्रमापिबेत् ।
(ख) कृत्वा वर्ति पिबेद्धूमम् । (चरक चिकि० २३)

आयुर्वेद में 'चरकसंहिता' सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसके निर्माता महर्षि चरक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। क्या अब भी कोई साक्षर उक्त संहिता में 'तमाल' और 'धूम्रपान' शब्द के आ जाने से इसके अकबर के जमाने में निर्मित होने का मिथ्या स्वप्न देखेगा? असल बात यह है कि 'धूम्रपान' शब्द का अर्थ तम्बाकू गुटकना है ही नहीं? हम आयुर्वेद के प्रसिद्ध संग्रह 'योगरत्नाकर' से तमाखू के नाम दर्ज करते हैं, जिनमें तमाखू का पर्याय तमाल कहीं भी नहीं लिखा। यथाः—

धूमाख्यो धूमवृक्षश्च बृहत्पत्रश्च धूसरः ।
तमाखूर्गुच्छफलको धूमयन्त्रप्रकाशकः ।
बहुबीजो बहुफलः सूक्ष्मबीजस्तु दीर्घकः ॥
(योगरत्नाकर पृ० १४)

यहाँ तमाखू के धूम आदि ग्यारह नाम लिखे हैं, इनमें तमाल नाम का उल्लेख है ही नहीं। इसके अतिरिक्त पूर्वोद्धृत कोश-प्रमाणों के अनुसार भी तमाल शब्द के अर्थ आबनूस वृक्ष, पत्रक, मस्तक पर लगे चन्दन की रेखा और तलवार आदि होते हैं। अन्यत्र भी किसी पुस्तक में तमाल का अर्थ तमाखू नहीं लिखा। इसलिए यदि पुराणों में तमाल

शब्द का हजार बार भी प्रयोग निकल आए तो इसे तमाखू समझ बैठना और फिर उससे अकबर के जमाने वाली बेपर की उड़ाना—चण्डूखाने की गप्प ही हो सकती है।

'तौजुक जहांगीरी' नामक जिस पुस्तक के आधार पर यह आक्षेप घड़ा गया है, बहुत प्रयत्न करने पर भी वह हमें नहीं मिल सकी। अतः हम नहीं कह सकते कि उसमें अमेरिकन पादरी द्वारा भारत में तमाखू लाने का उल्लेख किस रूप में है। अकबर के जमाने में निस्संदेह आज की भाँति जहाजों का निरन्तर गमनागमन नहीं होता था तथा पतवार और पंखे वाली नौकाएँ अटलांटिक महासागर को लांघ कर प्रतिदिन अमेरिका आती जाती हों यह भी सुसम्भव नहीं जँचता। यदि सचमुच कोई पादरी उस समय आया था तो उसे यह क्यों विदित था कि भारत में तमाखू पैदा नहीं होता ! और कदाचित् विदित हो भी तो वह इतने लम्बे कष्ट-साध्य मार्ग में तमाखू की पौद को कैसे सुरक्षित रख सका, यह भी एक विचारणीय समस्या है। क्योंकि प्रायः तमाखू की पौद ही खेतों में लगाई जाती है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि वह अवश्य ही तमाखू लाया था तो निस्संदेह कुटाकुटाया पीने योग्य तमाखू बतौर सौगात = तोफा या भेंट के लाया होगा ! आज भी दूसरे देश के राजाओं को भेंट में ऐसे २ उपहार अक्सर दिये जाते हैं।

अच्छा, मान लीजिए कि जरूर ही अमेरिकन पादरी के आने से पूर्व भारत में तमाखू नहीं होता था ! लेकिन इससे पुराणों की नवीनता कैसे सिद्ध हो जायेगी ? क्योंकि पुराण केलल भारतवर्ष भर की सीमा के अभ्यन्तरवर्ती पदार्थों का ही वर्णन करते हैं यह कहता कौन है ? पुराणों में तो इस पृथ्वी के मुट्ठीभर पदार्थों के अतिरिक्त स्वर्गादि लोकोंके पदार्थों का भी विस्तृत वर्णन है। जिन पुराणों में इन्द्रलोक में होने वाले 'कल्पवृक्ष' का वर्णन विद्यमान हो यदि उन्हीं पुराणों में इसी भूमि के एक कोने में

में पैदा हुये अमेरिकन तमाखू का नाम आ गया तो क्या आश्चर्य हो गया ? वेदव्यास जी योगी थे, यह हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। योगी लोग समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान रखते हैं यह योगशास्त्र में लिखा है यथा—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । (योगदर्शन विभूतिपाद २६)

अर्थात्—[प्रो० राजाराम कृत भाषार्थ] (भुवनज्ञानं) भुवन का ज्ञान (सूर्ये) सूर्य में (संयमात्) संयम से होता है। 'भाष्य— सूर्य के प्रकाश में साक्षात्कार करने से योगी को सारे मण्डलों (भुवनों कुरों) का यथावत् ज्ञान होता है।

सो यदि वेदव्यास जी ने योगशक्ति से अमेरिका-स्थित पुरुषों के इस दुर्व्यसन को जानकर और भविष्य में भारत में भी लोगों के इस इल्लत में फँस जाने की सम्भावना से, सर्वसाधारण को इसके प्रति सावधान कर दिया हो तो इसमें विस्मयजनक क्या बात हुई ?

प्रतिवादी के शब्दों में 'धूम्रपान' आदि श्लोक में हुक्का पीने वाले ब्राह्मण को दान देने की मनाही की गई है और उस ब्राह्मण को निन्दित बताया है। हम पूछते हैं कि यह उपदेश भला है या बुरा ? हमारे विचार में तो यदि शङ्कालु महाशय पुराण के इस अकेले श्लोक का प्रचार करते तो देश का अरबों रुपया स्वाहा होने से बच जाता ! और करोड़ों भारतीयों की 'खुल्लखुल' का खात्मा हो जाता ! ! आयुर्वेद स्वयं इस दुर्व्यसन को हानिप्रद बताता है तथा प्रत्यक्ष में भी तमाखूनोशी से कई प्रकार की हार्दिक बीमारियों का लगाव होना देखा जाता है, यथा—

तस्यैव धूम्रपानं तु विशेषाद् हृदि शुक्रहृत् ।

(योगरत्नाकर पृ० १४)

अर्थात्—तमाखू का धूंआ पीने से विशेषतया हृदय का ह्रास हो जाता है। आजकल इसी दुर्व्यसन से हार्टफेल रोग की वृद्धि हो रही है। इसलिए व्यास जी की हितकर शिक्षा को आधुनिक बताना तमाखू

पीने वालों की पीठ ठोंक कर उन्हें दुर्व्यसन में प्रवृत्त करना है। वेद स्मृति में तो स्पष्टतया इसका निषेध नहीं मिलता और पुराण के निषेध को आधुनिक बता कर उड़ाने की चेष्टा की जाती है। ऐसी दशा में इस तपेदिक की भाँति उपेक्षितप्राय:—किन्तु भयंकर—व्यसन को किस आधार पर हटाया जा सकता है।

प्रतिवादी को एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये कि स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के आरम्भ में ही पृष्ठ २६४ पर लिखा है कि—

'महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ और महाभारत के युद्धपर्यन्त यहां के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो। चीन का भगदत्त अमेरिका का बब्रुवाहन यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंख वाले, यवन जिसको यूनान कह आए हैं और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूययज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आये थे।'

जब राजसूय यज्ञ में अमेरिका का राजा सम्मिलित हुआ था तो क्या उसने व्यास जी के दर्शन करके अपने देश के हालात नहीं बताए होंगे? सम्भव है वह स्वयं भी तमाखू पीता हो! व्यास जी ने इसे बुरी इल्लत समझ कर पुराण बनाते समय उसकी निन्दा की हो। फिर आप तो अमेरिका की राजकन्या से अर्जुन का विवाह मानते हैं, तब तो अर्जुन की बरात में स्वयं व्यास जी ही अमेरिका गये हों या और बारातियों ने अमेरिका से लौट कर वहाँ के धूम्रपान का जिक्र किया हो यह बहुत सुसम्भव है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टिकोण से व्यास जी का तमाखू खण्डन करना युक्तियुक्त ठहर सकता है। इतने पर भी यदि प्रतिवादी अपने आक्षेप के हेत्वाभास को सम्मानपूर्वक वापिस न लेना चाहेगा तो उसे दयानन्दी वेदों को भी कल के बने मानना पड़ेगा, क्योंकि महाशय जी के तर्क को नीचे लिखे शब्दों में भी बदला जा सकता है, यथा;—

'तारबर्की' नामक किताब में लिखा है कि टेलीग्राफी का आविष्कार मि० एडीसन साहिब ने विक्टोरिया के जमाने में किया है और दयानन्द के भाष्यानुसार वेदों में तार विद्या का उल्लेख विद्यमान है इसलिए निश्चित हुआ कि समाजियों के वेद विक्टोरिया के बाद बने हैं—(दयानन्द जी ने तार बनाने की वैदिक-विधि का जिक्र इस प्रकार किया है—

'युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथ ।

(ऋग्वेद अ० १ अ० ८ व० २१ म० १०)

इस मन्त्र से तार विद्या का मूल जाना जाता है पृथ्वी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है ।—(तरुतारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यन्त्र है उसे सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो । (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० २१०)

जिस प्रकार 'तारबर्की' किताब के उल्लेख से और दयानन्द के मनघड़न्त भाष्य से वेदों का अनादित्व दूर नहीं हो सकता इसीप्रकार 'तौजुक जहाँगीरी' पुस्तक की चन्द पंक्तियों से और उन्हें वेदवाक्य मान कर आक्षेप घड़ने वाले महाशयों से भी पुराणों का व्यासकर्तृत्व नहीं हटाया जा सकता ।

(३) वैष्णव मत के चलाने वाले रामानुज का प्रादुर्भाव विक्रम की १२वीं शताब्दी में हुआ है । इसी के मत के लोग शंख-चक्र की छाप तपाकर कन्धों को फूंकते हैं, परन्तु लिङ्गपुराण में शंख-चक्रों का खण्डन किया है, यथा—

शङ्खचक्रे तापयित्वा यस्य देहः प्रदह्यते ।
स जीवन् कुणपस्त्याज्यः सर्वकर्मबहिष्कृतः ।।

इससे निश्चित हुआ लिङ्गपुराण व्यासकृत नहीं बल्कि १२वीं शताब्दी के बाद का बना हुआ है।

(३) इस आक्षेप का मूलभूत जो श्लोक है प्रतिवादी ने उसका भी पता नहीं दिया, इसलिये यहां भी अवश्य दाल में कुछ काला है। यदि उक्त पुराण में अथवा पुराणान्तर में किसी सम्प्रदाय-विशेष की निन्दा के प्रतिपादक ऐसे कुछ श्लोक निकल भी आएं तो वे अवश्य ही प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि पुराण तो वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, और गाणपत्य आदि पांचों सम्प्रदायों की अधिकारीभेद से वैज्ञानिक व्यवस्था बैठाते हैं। उनमें किसी सम्प्रदाय की निन्दा का क्या प्रयोजन ? अतएव पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र आदि समालोचकों ने हस्तलिखित प्रतियों में न होने के कारण उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त माना है यही इसका उत्तर है।

कदाचित् प्रतिवादी इस समाधान को पर्याप्त न समझे और इसे मूल पुराण का पाठ कहने के लिए ही आग्रह बांध बैठे, तब भी इसके अस्तित्व से पुराणों के व्यास-कर्तृत्व में कोई बाधा नहीं पहुँच सकती, क्योंकि शास्त्र की दृष्टि में सभी सम्प्रदाय वेदोक्त एवं अनादि हैं। आद्यशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि महानुभाव किसी अभिनव सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं हुए, बल्कि वेदोक्त किन्तु समय-चक्र की वक्र गति से विलुप्तप्रायः तत्तत्सम्प्रदाय के पुनरुद्धारक ही हुवे हैं।

जिस शङ्ख-चक्र-विधान को स्वामी रामानुज जी से सम्बद्ध कहा जा रहा है, उसको 'पवित्रं ते विततम्' (ऋग्वेद ९। ८३। १—२) आदि वेदादि अनादि ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा 'वैष्णवधर्मरत्नाकर' प्रभृति पुस्तकों में वेदमूलक सिद्ध किया गया है। ऐसी दशा में वेदव्यास जी ने उसी अनादिसिद्ध शङ्ख-चक्र-विधान को लक्ष्य करके शैवदीक्षादीक्षित अधिकारियों के लिए उसका निषेध किया है यह भी सुसम्भव है।

यदि प्रतिवादी लिङ्गपुराणोक्त शङ्ख-चक्रों के खण्डन को तथा पद्मपुराणोक्त शङ्ख-चक्रों के विधान को उपस्थित करके परस्पर-विरुद्धता का आक्षेप करना चाहेगा और इससे इन दोनों पुराणों को व्यास जी के बजाये किन्हीं अन्य कर्ताओं की कृति बताने का यत्न करेगा तो—वेदों पर यही आक्षेप लागू हो जायेगा, क्योंकि वेदों में एक स्थान में जिस वस्तु का विधान किया है अन्यत्र उसी का निषेध भी देखने में आता है यथा—

(क) जर्तिलयवाग्वा वा जुहूयाद् गवीधुकयवाग्वा वा ।

(तैत्तिरीय ५४ । ३ । २)

(ख) अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च ।

(तैत्तिरीय ५ । ४ । ३)

अर्थात्—(क) जर्तिल-यवागू से अथवा गवीधुक-यवागू से हवन करना चाहिये । (ख) जर्तिल और गवीधुक हवन योग्य नहीं हैं ।

यहाँ पहिले प्रमाण में जंगली तिल, माण्डमार भात और चौलाई को हवन के योग्य बताया गया है, और दूसरे प्रमाण में इन्हीं पदार्थों को हवन के अयोग्य कहा गया है । तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध जंचने वाले विधान अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित होते हैं । जैसे अमुक यज्ञ-फल की इच्छा रखने वाले अधिकारी को जर्तिलादि का हवन करना चाहिए और अमुक यज्ञ में अमुक फलाभिलाषी यजमान को न करना चाहिये । इसी प्रकार पद्म और लिङ्ग आदि पुराणों के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विधानों की समस्या है । पद्म वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले पुरुष के लिए शङ्ख-चक्र-धारण की विधि बताता है और लिङ्गपुराण शैवसम्प्रदायी पुरुष के लिए उनकी अनावश्यकता प्रकट करता है ।

लोक में भी एक पुलिसमैन के लिये जिस प्रकार की वर्दी में रहना नितान्त आवश्यक है, सर्वसाधारण के लिये वैसी वेशभूषा धारण करना अपराध समझा जाता है। एक वृद्ध पुरुष अपने स्वस्थ पुत्र को अमृत बता कर घी खाने के लिये प्रेरित करता है, और वही वृद्ध उसी पुत्र के लिये उसकी रुग्णदशा में घी को न खाने का आदेश करता है। इत्यादि अनेक दृष्टान्तों के अनुसार परस्पर विरोधाभासों को आधिकारी भेद से सुव्यवस्थित किया जा सकता है। इसी प्रकार 'शङ्ख-चक्रे तापयित्वा' आदि पुराण-वचन का भी अभिप्राय समझना चाहिए। इतने पर भी यदि प्रतिवादी को सन्तोष न होगा तो हमें उसीके कुतर्क के आधार पर वेदों की नवीनता सिद्ध हो जाने वाली विप्रतिपत्ति भी प्रकट करनी होगी, यथा—

'स्वा० दयानन्द विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में हुए हैं, आपने ही अपने सम्प्रदाय में दीक्षित होने वाले मनुष्यों के लिये नियोग का विधान बताया है, परन्तु वेदों में नियोग का खण्डन विद्यमान है। अतः निश्चित हुआ कि वेद उन्नीसवीं सदी के बाद के बने हैं। वेद में नियोग-खण्डन यथा :—

(क) न शेषो अग्ने ! अन्यजातमस्ति। (ऋग्वेद ५।२।६।७)

(ख) न अन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ॥

(ऋग्वेद ५।२।६।८)

अर्थात्—(क) दूसरे के क्षेत्र में अथवा दूसरे के वीर्य से उत्पन्न होने वाला बालक अपत्य नहीं हो सकता (ख) दूसरे के उदर से उत्पन्न हुये को कभी भी अपना न समझना चाहिये। वास्तव में उपर्युक्त हेत्वाभास से न तो वेदों का अनादित्व खण्डित किया जा सकता है और नाही 'शङ्ख-चक्र' आदि श्लोक की उपलब्धि से पुराणों का व्यासकर्तृत्व दूर हो सकता है।

(४) लगभग २२०० वर्ष हुए जब कि श्री शङ्कराचार्य ने मायावाद का प्रचार किया था, परन्तु पद्मपुराण में मायावाद का खण्डन विद्यमान है, यथा—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।
मयैव कथितं देवि, कलौ ब्राह्मणरूपिणा ।।

(पद्म उत्तर अ० २६३)

इसलिए पद्मपुराण व्यासोक्त नहीं, बल्कि शङ्कराचार्य के बाद का बना हुआ है ।

(४) प्रतिवादी को मानो आक्षेप करने के लिये किसी पुराण का कोई मूल श्लोक मिलता ही नहीं ! इसीलिये वह प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर आक्षेप की इमारत खड़ी करना चाहता है । पद्मपुराण के जिस 'मायावादम्' श्लोक को ऊपर के आक्षेप में प्रमाणरूप से उपस्थित किया गया है, यह भी वस्तुतः प्रक्षिप्त है । श्री पंडित कालूराम शास्त्री आदि ने इसको प्रक्षिप्त ही सिद्ध किया है । कदाचित् महाशय जी इसे मूल मानने का आग्रह करें, तब भी पूर्वलिखित व्यवस्था के अनुसार त्रिकालदर्शी वेदव्यास जी के लिए अपने से परवर्ती श्री शङ्कराचार्य का मायावाद जान लेना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है ? इसके अतिरिक्त हम पूर्व कह चुके हैं कि उक्त आचार्यों ने किसी नवीन मत का प्रचार नहीं किया, बल्कि वेदोक्त—किन्तु कालक्रम से विलुप्त—सिद्धाँतों का ही पुनरुद्धार मात्र किया है । यदि मायावाद की वैदिकता जाननी हो तो नीचे लिखे प्रमाणों का मनन कीजिए—

(क) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।

(ऋग्वेद ६ । ४७ । १८)

(ख) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः । (श्वेताश्वतर ४ । ५)

(ग) मायाभिरिन्द्र मायिनम् ।

(ऋग्वेद अ० १ अ० १ व० २१)

इसतरह यदि अनादि वेदोक्त मायावाद को अथवा शङ्कराचार्य जी के प्रचारित मायावाद को लक्ष्य करके वेदव्यास जी ने दो शब्द कह डाले तो इसमें अनर्थ कौनसा हो गया ? माया के असत् होने में अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। और मायाजन्य प्रत्यक्ष पदार्थों को सद् मानना ही प्रच्छन्नबौद्धता है । सो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के प्रतिपादक शास्त्र के निर्माता भगवान् शङ्कर हैं, यही इस पद्य का आशय है। इसलिए उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त वा अप्रक्षिप्त कुछ भी मान लेने पर उभयथा पुराणों के व्यासकर्तृत्व में कुछ भी बाधा नहीं पहुँच सकती !

(५) महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय २३२ व २३३) से विदित होता है कि व्यासपुत्र शुकदेव जी परीक्षित के जन्म से भी पूर्व मर चुके थे, फिर भी महाभारत युद्ध से ६६ वर्ष बाद परीक्षित को शुकदेव का भागवत सुनाना कैसे सम्भव हो सकता है ? परन्तु वर्तमान 'भागवतपुराण' में ऐसा उल्लेख है, अतः परस्पर विरुद्ध दो बातों के आ जाने से महाभारत का निर्माता व्यास उक्त पुराण का लेखक नहीं हो सकता ।

(५) प्रतिवादी ने महाभारत के जिन अध्यायों के प्रमाण से श्री शुकदेव जी के लिये 'मर चुके थे' लिखने की धृष्टता की है, वास्तव में इन अध्यायों में शुकदेव जी का सदेह ब्रह्मभूत हो जाना लिखा है । बात यह है कि जब कोई योगी पारमहंस्य की दशा में आ जाता है, तो उसका पाञ्चभौतिक शरीर भी दिव्य गुणों से सम्पन्न हो जाया करता है । तब वह जहां चाहे, जिस लोक में चाहे, सदेह जा सकता है । सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि दूरदर्ती लोकों में वह अव्याहतगति हो जाता है । परकाय प्रवेश अनेक रूप बना लेना, बुढ़ापे और मौत को नजदीक न

आने देना, इत्यादि सिद्धियें स्वभावतः उसके चरणों में आ गिरती हैं। योगदर्शन के विभूतिपाद में उक्त समस्त सिद्धियों का कार्यकारणपूर्वक विशद विवेचन किया है, परन्तु प्रत्यक्षवादी महाशयों को वेदों से भी बढ़कर दादावाक्य प्रमाण है, एतदर्थ हम दयानन्द जी के शब्दों में ही इस रहस्य का निरूपण करना आवश्यक समझते हैं। दयानन्दीय यजुर्वेद भाष्य में लिखा है कि:—

(क) हे मनुष्यो! जैसे किए हुए योग के अनुष्ठान समय सिद्ध अर्थात् धारणा ध्यान और समाधि में परिपूर्ण मैं पृथ्वी के बीच आकाश को उठ जाऊं, वा आकाश से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊं, वा सुख कराने हारे प्रकाशमान उस सूर्यलोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊं वैसा तुम भी आचरणकरो। (यजुर्वेद भाष्य १७। ६७)

(ख) जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं। (यजुर्वेद भाष्य [भावार्थ] १७। ६७)

(ग) जो अच्छे पण्डित योगीजन योगाभ्यास के पूर्ण नियम करते हुवों के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते हैं वा आकाश और पृथ्वी को चढ़ जाते हैं अर्थात् लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते हैं। (यजुर्वेद भाष्य १७। ६८)

(घ) जो योगी पुरुष तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग [धारणा ध्यान समाधि रूप संयम के बल को प्राप्त हो और अनेक प्राणियों के शरीरों में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर

सकता है। अनेक पदार्थों वा धनों का स्वामी भी हो सकता है उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिए।

(यजुर्वेद भाष्य [भावार्थ] १७। ७१)

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थे।
पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते॥
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

(श्वेताश्वतरभाष्य २। १२)

अर्थात्—(दयानन्द शिष्य—पं० भीमसेन शर्मा कृतभाष्य) अपने शरीरस्थ पृथ्वी अप् तेज वायु और आकाश रूप पञ्च तत्त्वों के निकृष्ट मलिनांश का नाश होने पर शुद्धांश की प्रबलता वा उन्नति होने से इस प्रकार दिव्य गन्धादि विषयों में प्रकृष्ट साक्षात् प्रवृत्ति होने पर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म व्यवहित और अतिदूर के शब्दादि विषयों का साक्षात् बोध होने की शक्ति प्रकट होने पर पंचतत्त्व की शुद्धि द्वारा योगाग्नि रूप शरीर को प्राप्त हुए योगी पुरुष को न रोग, न निर्बलता, न मृत्यु सताता है। (भावार्थ—योगी का शरीर सहस्र वर्ष ठहरने वाला अविनाशी हो जाता है।)

इस प्रकार आदिम चार प्रमाण स्वयं दयानन्द जी के भाष्य से उद्धृत किये हैं, तथा अन्तिम प्रमाण उपनिषद् और उसके भाष्य से उतारा है। यह उपनिषद्भाष्य इटावा निवासी पं० भीमसेन जी ने उस समय रचा था जब कि आप दयानन्द शिष्य होने में अपना गौरव समझते थे। अतएव भाष्य के आवरण पृष्ठ पर ही आपने अपने नाम के साथ 'दयानन्दशिष्य' ऐसा लिखा है। उक्त प्रमाणों की विद्यमानता में कोई भी समाजी योग-सिद्धियों के चमत्कारों में 'असम्भव, नामुमकिन' का अड़ङ्गा नहीं लगा

सकता । सो महाभारत में भी शुकदेव जी महाराज का संदेह लोकान्तर-चारी हो जाना ही लिखा है । यथा—

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वंगतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ।
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत्तदा ॥

(महाभारत शान्ति० २३३)

अर्थात्—शुकदेव जी वायु से ऊंची अन्तरिक्ष में चल सकने वाली गति को बना कर अपना प्रभाव दिखाते हुए 'ब्रह्मभाव' को प्राप्त हो गए ।

वेद जिन योगीजनों को ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेने पर—'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' 'अमृतास्ते भवन्ति' आदि वाक्यों द्वारा अमर सिद्ध करता है, महाशय जी उसी 'योग-प्रभाव-जनित लोकान्तर-गमन-सिद्धि को 'मरना' कह रहे हैं ! यदि प्रतिवादी श्रीमद्भागवतपुराण वर्णित शुकदेव जी के आगमन को एक बार भी अपनी आँखों देख लेते तो इस प्रकार का अविवेकपूर्ण आक्षेप करने को उद्यत न होते । जिस समय महाराजा परीक्षित प्रायोपवेशन व्रत धारण किये गङ्गातट पर बैठे थे, उस समय श्री शुकदेव जी वहाँ आये । उनका कैसा स्वरूप था यह निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया गया है । यथा—

तत्राभवद्भगवान्व्यासपुत्रो,
यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्ष्यः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो,
वृतस्त्रिवालैरवधूतवेशः ॥
तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद-
करोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।

(श्री० भा० १।१९।२५-२६)

अर्थात् इसी अवसर में निष्काम विचरते हुये अलक्षित शरीर वाले आत्मसन्तुष्ट अवधूत-वेषधारी व्यासपुत्र शुकदेव जी आये, जो सोलह वर्ष के बालक विदित होते थे। उनके चरण, कर, उरु, भुजा, सुकोमल कपोल एवं सब अङ्ग परम मनोहर थे। शुकदेव जी को देखकर सब ऋषि मुनि अपने २ आसनों से उठे तथा राजा ने शुकदेव जी का पूजन करके कहा—मालूम होता है कि श्रीकृष्ण भगवान् ही मुझ पर प्रसन्न हो गए हैं, क्योंकि—

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।

(भा० १।१९।३६)

अर्थात्—यदि ऐसा न होता तो जिनकी गति (चलना फिरना) अव्यक्त (प्रत्यक्ष नहीं) उन आप जैसे मुक्तपुरुष का दर्शन हम मनुष्यों को क्योंकर हो सकता है? उपर्युक्त श्लोकों में 'अलक्ष्यलिङ्ग' और 'अव्यक्तगतिः' आदि विशेषणों से शुकदेव जी को पांचभौतिक शरीर-धारी मनुष्यों से विलक्षण दिव्यदेह-सम्पन्न कहा है। योगी लोग स्वेच्छा से मुमुक्षुजनों के हितार्थ दर्शन दिया करते हैं। वे संकल्प-मात्र से जिस लोक में जिस रूप में जब चाहें जा सकते हैं।

इसलिए दिव्यगुणोपेत, परमयोगी शुकदेव जी का स्वेच्छा से लोकान्तरचारी होने के कारण राजा परीक्षित के प्रति श्रीमद्भागवतपुराण सुनाना सुसंभव है और इस तरह महाभारत तथा भागवतलिखित वर्णनों की एकवाक्यता होने से दोनों ही ग्रंथ श्रीव्यासजी के बनाये हुये सिद्ध हैं।

(६) सब विद्वान् मानते हैं कि अठारह पुराण महाभारत के बाद बनाये गये हैं, क्योंकि पुराणों में तो महाभारत का नाम आता है, परन्तु महाभारत में पुराणों का नाम नहीं आता। इसलिए महाभारत का निर्माता पुराणों का कर्ता सिद्ध नहीं होता।

(७) प्रतिवादी का यह आक्षेप बड़ा ही विचित्र है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो महाशय जी ने कभी महाभारत को आंख से देखा ही नहीं। यदि ऐसा न होता तो वह कभी यह कहने का साहस न करते कि महाभारत में पुराणों का नाम नहीं आता। यदि पाठक महाशय जी की उक्ति की सत्यता देखना चाहते हैं तो इसी ग्रन्थ में प्रमाणाध्याय-निर्दिष्ट महाभारत की प्रमाणावलि का एक बार फिर अवलोकन करें। कम से कम दर्जनों ऐसे प्रमाण वहाँ अङ्कित हैं कि जिन में बार २ पुराणों का नाम आता है। इसके अतिरिक्त महाभारत में पुराणों की अष्टादश संख्या का उल्लेख एवं ब्राह्म आदि पुराणों का संकेत भी स्पष्टतया मिलता है, यथा—

[क] अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं लभेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः॥

(महाभारत स्वर्गारोहणाध्याय ६)

[ख] ब्राह्मं हि मार्गमाक्रम्य वर्तितव्यं बुभूषता।

(महाभारत अनुशासन १४३।५५)

जहां पहले पद्य में पुराणों की संख्या अठारह कही गई है वह दूसरे पद्य में उक्त कई अध्यायों को उपलब्ध ब्रह्मपुराण से ज्यों के त्यों उद्धृत करके उनको 'ब्रह्ममार्ग' के नाम से स्मरण किया है।

यदि हम 'दुर्जनतोष' न्याय से क्षणमात्र के लिए यह मान भी लें कि 'महाभारत' में पुराणों का नाम नहीं आता और अवश्य ही वे अठारह के अठारह ग्रन्थ महाभारत के पश्चात् निर्मित हुये हैं, तब भी 'पुराण अर्वाचीन हैं और व्यास-कृत नहीं हैं'—यह कैसे सिद्ध हो जायगा ? क्योंकि प्रतिवादी के हेतु से केवल यही बोध होता है, कि अनेक ग्रन्थों के कर्ता ने अमुक ग्रन्थ प्रथम रचा और अमुक उसके बाद। जैसे स्वा०

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश पहिले रचा और संस्कारविधि उसके पश्चात्, परन्तु दोनों का कर्ता तो एक ही रहा न ? तथा कुछ दिन या कुछ वर्षों के पूर्वापर से एक ही कर्ता के रचे हुये दो ग्रन्थ एक प्राचीन और दूसरा नवीन कैसे समझा जा सकता है यह भी हमारी समझ में नहीं आता।

इसलिये प्रतिवादी का यह हेत्वाभास निरर्थक है। जैसे पुराणों में महाभारत का नाम आता है इसी प्रकार महाभारत में भी पुराणों का नाम आता है और श्री वेदव्यास जी ने अव्यवहित एक ही समय में सर्वप्रथम संहिताओं का फिर ब्राह्म आदि सत्रह पुराणों का, तत्पश्चात् महाभारत का और सबसे पीछे भागवतपुराण का संकलन किया है। यह बात 'देवी भागवत' की नीलकण्ठी टीका में लिखी है। विषय व्यवस्थानुसार वेदों को चार, पुराणों को अठारह, और इतिहास को एक ग्रन्थरूप में निबद्ध करने का विचार संकलन से पूर्व ही व्यास जी के हृदय में उद्‌बुद्ध हो चुका था यह स्वाभाविक है।

(७) देवीभागवत में लिखा है कि आर्यावर्त के एक राजा का पुत्र म्लेच्छ वेश्या पर आसक्त हो गया। जब मुसलमान नहीं आये थे तब भारत में मुसलमान वेश्याएं भी नहीं थीं। जब वेश्याएं नहीं थीं तब उन पर आसक्त भी कैसे हो सकता था। इसलिये स्पष्ट है कि देवीभागवत-पुराण भारत में मुसलमानों के आ जाने के बाद बना है, यह व्यासकृत नहीं।

(७) इस आक्षेप का मूल केवल देवीभागवत में 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग है। प्रतिवादी ने म्लेच्छ शब्द का अर्थ समझा है मुहम्मद अनुयायी मुसलमान। हमें महाशय जी की संस्कृत-योग्यता पर दया आती है। जिस व्यक्ति को शब्दार्थ का भी बोध न हो दयानन्दी समाज में उसे चतुर्वेद-ज्ञाता समझा जा सकता है ! यदि म्लेच्छ शब्द के

आ जाने से पुराण व्यासोक्त नहीं हैं, बल्कि आधुनिक हैं, तो इसी तर्क के आधार पर वेद भी कल के बने अवश्य सिद्ध हो जाएंगे। क्योंकि वेद में भी म्लेच्छ शब्द कई स्थानों में आता है, यथा —

(क) तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या हैषा वाक् ।

(शतपथ ३।२।१।२४)

(ख) म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः ।

(पातञ्जल महाभाष्य १।१)

अर्थात्—(क) इसलिए ब्राह्मण को अस्पष्ट उच्चारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अशुद्ध बोलना असुरों की वाणी है। (ख) अपशब्द = अशुद्ध उच्चारण को म्लेच्छ कहते हैं। उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि म्लेच्छ शब्द का अर्थ मुसलमान नहीं, बल्कि असंस्कृत शब्दों का उच्चारण करने वाला व्यक्ति है। फिर चाहे वह किसी देश, किसी जाति, या किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो। महाशय जी को विदित होना चाहिए कि संस्कृत भाषा में प्रत्येक शब्द का किसी न किसी धातु से सम्बन्ध अवश्य होता है अर्थात्—सभी शब्द किसी न किसी धातु से ही निष्पन्न हुवे होते हैं। सो म्लेच्छ शब्द भी 'म्लेच्छ अव्यक्त-शब्दे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है अस्पष्ट उच्चारण = अशुद्ध बोलना— (Wrong Pronunciation)। महाभाष्यकार व्याकरण पढ़ने का प्रयोजन बतलाते हुए आरम्भ में ही लिखते हैं कि—

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति वदन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः, म्लेच्छा माभूमेत्यध्येयं व्याकरणम्।

(महाभाष्य १।१)

अर्थात्—वे असुर [हे अरयः ! हे अरयः को हेलय हेलय] हैलो २

(Halloo) ऐसा कहते हुए पराजित हो गये। इसलिए ब्राह्मण को कभी अस्पष्ट नहीं बोलना चाहिये और ना ही अशुद्ध शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। अस्पष्ट और अशुद्ध उच्चारण ही म्लेच्छ है, हम म्लेच्छ न हों एतदर्थ व्याकरण पढ़ना चाहिये। इसलिए वेदादि की भाँति देवीभागवत-पुराण में भी म्लेच्छ शब्द का अर्थ अशुद्धभाषी है और इसमें ऐसी ही किसी शूद्रप्राय: जाति की वेश्या के ऊपर किसी राजकुमार की आसक्ति का उल्लेख है। इससे उक्त पुराण के व्यासकर्तृत्व पर कुछ भी आक्षेप नहीं हो सकता।

(८) नारद जी व्याकुल होकर बदरिकाश्रम में गए। वहां विष्णु-भगवान् तप कर रहे थे। उन्होंने नारद जी से भारत का सब वृत्तान्त पूछा। उत्तर में नारद जी ने कहा, कि म्लेच्छों ने शिवजी का मन्दिर तोड़ डाला है, महादेव जी ज्ञानवापी कुंवे में कूद पड़े इत्यादि। सब विद्वान् जानते हैं कि ऐसा अत्याचार औरंगजेब के जमाने में हुआ था। इस घटना को बीते दो सौ वर्ष के लगभग हुवे हैं, परन्तु श्रीमद्भागवत में इसका उल्लेख मिलता है। अतएव यह पुराण व्यासोक्त नहीं बल्कि दो सौ वर्ष इधर का बना है।

(८) प्रतिवादी ने श्रीमद्भागवत के नाम से जो प्रसङ्ग घड़ा है, उसका कुछ भी पता नहीं दिया। हमने भागवत-पुराण का एक २ अक्षर छान डाला, परन्तु उपर्युक्त प्रसङ्ग का कहीं भी जिक्र तक नहीं मिला। जान पड़ता है कि महाशय जी की सात पीढ़ी ने भी कभी श्रीमद्भागवत-पुराण के दर्शन तक नहीं किये। स्वामी दयानन्द जी ने भी सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में भागवत के नाम पर—(क) हिरण्याक्ष का चटाई के समान पृथ्वी को लपेट कर शिरहाने धर कर सोना (ख) हिरण्यकशिपु का लोहस्तम्भ तपाकर प्रह्लाद को उससे चिपटने के लिए कहना और नारायण का उस पर चिउटियों की पंक्ति चलाना इत्यादि अनेक सफेद झूठ बातें लिख मारी हैं--यही हाल उनके

अनुयायियों का है। हम चैलेञ्ज करते हैं कि यदि प्रतिवादी श्रीमद्भागवत के किसी भी स्कन्ध में उक्त घटना का उल्लेख दिखा दे तो वह मनुष्य समझा जायगा! वास्तव में यह वृत्तान्त भागवत में कहीं भी नहीं लिखा। इसलिए ऐसे मिथ्या आक्षेप का इससे अधिक और क्या उत्तर दिया जा सकता है।

(८) 'पुराण तत्त्व प्रकाश' के लेखक ने यही आक्षेप पद्मपुराण के नाम पर इस प्रकार लिखा है — 'नारद जी व्याकुल अवस्था में सनकादिकों को मिले। उन्होंने इस मलीनता का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी के किनारे हरिक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, श्रीरंग, सेतुबन्ध तथा और तीर्थों मैं इधर उधर घूमता हुआ आया हूँ, परन्तु कहीं भी मन के सन्तोष का करने वाला कल्याण नहीं देखा। सम्पूर्ण आश्रम, तीर्थ, नदियां, कुण्ड और देवताओं के स्थान मुसलमानों से भर गये हैं और अनेक स्थानों को दुष्टों ने गिरा दिया है। जैसा कि —

आश्रमा यवनैरुद्धास्तीर्थानि सरितो ह्रदाः।
देवतायतनान्यत्र दुष्टैरुच्छेदितानि च॥

(पद्म उत्तरखण्ड पृष्ठ १९३। ३५)

इतिहासों के देखने से विदित होता है, कि वह दशा भारत में महमूद गजनवी से लेकर औरङ्गजेब के समय तक होती रही। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि पद्मपुराण सम्वत् १०१४ और १७२६ के बीच में बनाया गया।

(९) प्रतिवादी ने यहां जो प्रसङ्ग लिखा है, सोलहों आने ठीक है। वास्तव में पद्मपुराण में यह वृत्तान्त यों का यों अङ्कित है। परन्तु इस समस्त प्रसङ्ग को मुसलमानकालीन बताने के लिये जिस 'यवन' शब्द की शरण ली गई है, वह सर्वथा अनुचित है। किसी भी कोश में, किसी भी ग्रन्थ में 'यवन' शब्द का अर्थ मुहम्मदमतानुयायी मुसलमान

नहीं लिखा है। हम मुहम्मद साहिब के जन्म से भी हजारों वर्ष पू ं बनने वाले आर्ष ग्रन्थों में 'यवन' शब्द का प्रयोग देखते हैं और यवन कहे जाने वाले लोगों का विशेष परिचय पाते हैं, यथा—

'यवनाल्लिप्याम्' [यवनानां लिपिः यवनानि]

(कात्यायनवार्तिकपाठ १०५)

यहाँ कात्यायन ऋषि ने यवन शब्द से लिपिवाची 'यवनानी' शब्द की सिद्धि की है। महाभारत में भी युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय यवन देश के राजाओं का आना लिखा है यथा—

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥

(महाभारत सभापर्व ५१ । ३-२९)

अर्थात्—प्राग्ज्योषित (Assam) देश का अधिपति शूरवीर म्लेच्छराज महारथी भगदत्त भी यवनों सहित (राज्याभिषेक में) सम्मिलित हुआ। महाभारत के संग्राम में भी यवन लोग आये थे और श्रीकृष्ण जी के साथ कालयवन का युद्ध तो सर्वविदित बात है। इसी प्रकार कविश्रेष्ठ कालीदास ने भी महाराजा रघु की दिग्विजय का वर्णन करते हुये रघुवंश में नीचे लिखा श्लोक दिया है—

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः। (रघुवंश ४।३१)

अर्थात्—इस रघु ने यवन देश की स्त्रियों के मुखपद्मों से उठने वाली शराब की गन्ध को सहन नहीं किया, यानी विलासी यवनों को परास्त कर दिया।

दयानन्द जी ने भी सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में साफ लिखा है कि—

'यवन जिसको यूनान कह आये, और ईरान का शल्य

आदि सब राजा राज्यसूय-यज्ञ और महाभारत के युद्ध में आज्ञानुसार आये थे।'

इत्यादि अनेक प्रमाणों से जाना जाता है कि यवन शब्द का अर्थ मुहम्मद-मतानुयायी मुसलमान नहीं, बल्कि प्रसिद्ध यूनान देशवासी है। जैसे भारतनिवासी पुरुषों को सदा से 'भारतीय' कहते हैं इसी भान्ति यूनान देश के निवासियों को 'यवन' कहा जाता है। प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है, कि यद्यपि कल तक भारतीय सम्राटों का ही सर्वाधिपत्य रहा है, तथापि बीच २ में अन्यान्य देशवासियों ने भी भारत पर आक्रमण करने में कोर कसंर बाकी न रखी थी। भगवती दुर्गा का योरुपीन बिडालाक्ष के साथ घोर घमसान युद्ध हुआ था यह प्रायः सबको विदित है। त्रेतायुग में लवणासुर ने मथुरा पर आक्रमण किया था जिसके दमन के लिये भगवान् रामचन्द्र जी ने शत्रुघ्न को भेजा था। सत्ययुग में कई बार दानव, दैत्य, नाग आदि जातियों का प्रभुत्व हो चुका है। इसी प्रकार कालयवन ने भी अपने जीवन में भारतीय नरेशों को पर्याप्त तंग किया था। सो पद्मपुराण में भी पूर्वकालीन यवन उत्पातों को लक्ष्य करके ही 'आश्रमा यवनैरुद्धाः' आदि प्रसङ्ग वर्णित हुआ है, इसमें संदेह करने का कारण ही क्या है?

व्यास जी के समय से पूर्व भी यवन लोग विद्यमान थे—यह महाभारत के प्रमाणों से सिद्ध होता है। ऐसी दशा में 'पद्मपुराण' के इस प्रसङ्ग में यवन शब्द का अर्थ यूनान देशवासी न करके मुसलमान करना अत्यन्त अनुचित है। व्यास जी के समय में यूनान ईरान आदि देशों में धर्मविप्लव मचा हुआ था, इस बात का पता पारसियों की धर्म-पुस्तक 'शातीर' से भी चलता है। उसमें लिखा है कि ईरान देश के राजा 'गस्तासप' ने एक भारी शास्त्रार्थ का आयोजन किया था, जिसमें विदेशियों की तरफ से जरदुश्त और भारत की तरफ से व्यास जी वादी प्रतिवादी थे। अन्त में व्यास जी ही इस शास्त्रार्थ में विजयी हुये थे

जिसका पता उक्त पुस्तक की नीचे लिखी पंक्तियों से चलता है, यथा।

अकनु बिरहमने व्यास नाम अज़ हिन्द आमद बस दाना कि अकल चुना नेस्त। (शातीर आयत १६२)

अर्थात् – व्यास का नाम एक ब्राह्मण हिन्दुस्थान से आया, जो ऐसा दाना और बुजुर्ग था कि अकल में उसके बराबर दूसरा कोई नहीं हो सकता। इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि पद्मपुराण में 'यवन' शब्द के उल्लेख से और उनके प्रभुत्व वर्णन से उक्त पुराण के व्यास-कर्तृत्व पर कुछ भी आक्षेप नहीं आ सकता।

(१०) व्यास जी के बनाये हुये वेदान्तसूत्र, मीमांसा की व्याख्या, और योगदर्शन-भाष्य आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उक्त ग्रन्थों में धर्म का जो विशुद्ध रूप वर्णित किया है, वह भी सब को विदित है, परन्तु पुराणों में उक्त ग्रन्थों के सर्वथा विपरीत बातें दर्ज हैं। इसलिए वेदान्तदर्शन जैसे विज्ञानपूर्ण ग्रन्थ का निर्माता व्यास पुराणों जैसी लचर कृति का कर्ता नहीं हो सकता।

(१०) प्रतिवादी ने इस आक्षेप में व्यास जी के बनाए हुये वेदान्तसूत्र आदि ग्रन्थों, और पुराणों में परस्पर विरुद्धता का उल्लेख किया है और इसी कारण के आधार पर पुराणों का व्यासकृत न होना बताया है। परन्तु उन्होंने वेदान्तसूत्रादि के किस सिद्धान्त के प्रतिकूल किस पुराण में क्या लिखा है – यह दिखाने का साहस नहीं किया। आर्ष-पद्धति के अनुसार हेतु और दृष्टान्तों के बिना प्रतिज्ञा-मात्र करने से कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता। यों तो हम भी कह सकते हैं कि आर्यसमाज के समस्त ग्रन्थ वेदों के सर्वथा विपरीत हैं। क्या हमारा एतावन्मात्र कहना समाज को पर्याप्त होगा ? इसलिए जब तक कोई समाजी व्यास जी के रचे हुये वेदान्तसूत्रादि ग्रन्थों के साथ पुराणों के किसी सिद्धान्त पर तुलनात्मक विचार करके उसे उनके प्रतिकूल सिद्ध

न करदे, तब तक इस प्रकार के आक्षेप का मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं ठहर सकता ?

यद्यपि उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में जो कुछ कहा गया है, वह पर्याप्त से भी अधिक है, तथापि हम सामान्यतः यह बता देना चाहते हैं, कि वेदान्तसूत्रादि ग्रन्थों और पुराणों में नीचे लिखे सिद्धान्त प्रायः समान रूप से वर्णित हैं ; यथाः—

(१) उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग, तथा याम्य गति ।

(२) याज्ञिक प्रक्रिया का फल ।

(३) विग्रहवती देवताओं की लोकोत्तर शक्ति ।

(४) ब्रह्माण्ड की स्थिति और तदन्तर्गत लोकों की कल्पना ।

(५) 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१ । २५) सूत्र के, योग-भाष्य में ईश्वरावतारों का उल्लेख ।

(६) विभूतिपाद के योगभाष्य में अनेक सिद्धियों का वर्णन ।

(७) 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (समाधि) के भाष्य में प्रतीकोपासना की आवश्यकता ।

कहां तक लिखें पुराणवर्णित किसी भी सिद्धान्त को ले लीजिये, वेदान्तसूत्रादि में उसी का समाधान मिल जायगा । सैद्धान्तिक समता का तो जिक्र ही क्या है ? कई स्थलों में तो आक्षरिक समता का भी पर्याप्त मेल पाया जाता है । हम योगभाष्य और श्रीमद्भागवत के कतिपय प्रमाण यहाँ उद्धृत करते हैं, जिनसे उक्त दोनों ग्रन्थों की आक्षरिक समता का परिचय मिल सकता है ।

योगदर्शन विभूतिपाद सूत्र २६ का भाष्य ।	श्रीमद्भागवतपंचमस्कन्ध
१--सप्तद्वीपा वसुमती । (३ । २६ ।)	—सप्त द्वीपविशेषविकल्प...। (५ । १६ । २)

२--यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराज--
कांचना। (३ । २६)

३--महानरकभूमयः...महाकालांब-
रीषरौरवमहारौरवकालसूत्रा-
न्धतामिश्राः। यत्र स्वकर्मोपार्जित-
दुःखवेदना प्राणिनः...जायन्ते।
(३ । २६)

४--ततो महातलरसातलातलसुतल
वितलतलातलपातालाख्यकानि
सप्तपातालानि। (३ । २६)

५--दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः यतो-
यं जम्बूद्वीपः। तस्य नीलश्वेत-
श्रृंगवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्व-
ताः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि
रमणकं हिरण्यमय उत्तराः
कुरवः। निषधहेमकूटहिमशै-
ला दक्षिणतः तदन्तरेषु त्रीणि
वर्षाणि...हरिवर्षं किंपुरुषं
भारतम्। सुमेरोः प्राचीनाः
भद्राश्वो माल्यवत्सीमानः।
प्रतिचीनाः केतुमालगंधमादन-
सीमानः। मध्ये वर्षमिलावृतम्।
(३ । २६)

२--नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः
कुलगिरिराजो मेरुः।
(५ । १६ ७)

३-तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महा
रौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्र...
नरका विविधयातनाभूमयः।
(५ । २६ ७)

४--सप्तभूविवराः—अतलं वितलं
सुतलं तलातलं महातलं रसा-
तलं पातालमिति। (५।२४।७)

५--योवायं द्वीपः....यस्मिन्नव वर्षा-
णि...एषां मध्य इलावृतं
उत्तरोत्तरेणेलावृतनीलः श्वे-
तः श्रृंगवर्तिनस्त्रयो रम्यकहि
रणमय-कुरूणां वर्षाणां मर्यादा-
गिरयः... एवं दक्षिणेनेलावृतं
निषधो हेमकूटो हिमालयः।
...हरिवर्षकिंपुरुषभारतानां
यथासंख्यम् पूर्वेण च माल्य-
वद्गंधमादनौ...केतुमालभद्रा-
श्वयोः सीमानं विदधाते।

(५ । १३ । ५—१०)

अर्थ—यह पृथ्वी सात द्वीपों वाली है। जिसके बीच में पर्वतों का राजा सुवर्ण की खानों वाला सुमेरु पर्वत = यूराल पहाड़ है। महाकाल, अम्बरीष

रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अंधतामिस्र आदि नरक हैं, जिनमें अपने कर्मों का दुःख भोगने वाले प्राणी रहते हैं। महातल आदि सात पाताल हैं। जम्बूद्वीप (यूरेशिया) के उत्तर में नील, श्वेत और शृंगवान् (काला सुफेद और हिन्दुकुश) नाम तीन पर्वत हैं उनकी लम्बाइयों के नीचे तीन देश रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु हैं। दक्षिण में निषध, हेमकूट और हिमशैल (चम्बल नदी के ऊपर का पहाड़, घाघरा नदी से पूर्व का पहाड़ और घाघरा सतलुज के बीच का पहाड़) हैं, उनकी लम्बाइयों के नीचे हरिवर्ष, किंपुरुष और भारतवर्ष ये तीन देश हैं। सुमेरु की पूर्वदिशा में माल्यवान् पर्वत की सीमा वाला भद्राश्व वर्ष (मंगोलिया Mongolia) आदि देश और सुमेरु की पश्चिम दिशा में गन्धमादन पर्वत की सीमा वाला केतुमालवर्ष (अरब आदि देश) हैं। जम्बूद्वीप के मध्य में इलावृत (साइबेरिया Siberia) देश है।

इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि योगसूत्रादि ग्रन्थों के निर्माता व्यास जी ही अष्टादश पुराणों के बनाने वाले हैं। अन्यथा उक्त दोनों ग्रन्थों की रचना में ऐसी समता का होना सर्वथा असम्भव है।

(११) अत्रिस्मृति में लिखा है कि—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं
शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति
भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति ॥ (अत्रिस्मृति)

अर्थात्—वेदहीन शास्त्र पढ़ते हैं, शास्त्रहीन पुराण पढ़ते हैं, पुराणहीन खेती करते हैं और भ्रष्ट लोग भागवत बांचते हैं। इसमें स्पष्ट है कि पुराण पढ़ना तुच्छों का काम है और भागवत बांचना

तो सबसे गिरे हुवों का काम है। सो ऐसे निंदित भागवतपुराण का कर्ता व्यास कैसे हो सकता है ?

(११) हमें प्रतिवादी के इस आक्षेप को पढ़कर हंसी आती है कि जो व्यक्ति साधारण श्लोक का अर्थ करना भी नहीं जानता, समाजी उसे भी 'वेदालङ्कार' का पुछल्ला लगा देते हैं।

जिस भागवतपुराण पर आज भी संस्कृत-साहित्य के समस्त ग्रन्थों से अधिक टीका-टिप्पणी विद्यमान हैं, और दुनिया भर के विद्वान् जिसके समझने में ही 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' के अनुसार विद्वत्ता की परीक्षा मानते हैं, उसी पुराण को निंदित बनाने के लिए महाशय जी अत्रिस्मृति के एक श्लोक के अर्थ का अनर्थ करते हैं।

वास्तव में इस श्लोक का भावार्थ यह है कि संसार के सभी जीवों की प्रवृत्ति प्राय: सरल और सद्यःफलप्रद कार्यों की ओर झुका करती है—यह एक स्वाभाविक बात है। अतः वेदों के कठिन और बहु-समय-साध्य होने से लोग प्रायः शास्त्रों को पढ़ते हैं, क्योंकि शास्त्र सरल और सद्य-आजीविका-प्रद हैं और शास्त्र की अपेक्षा पुराण सरल है, क्योंकि उनमें इतिहास और कहानियां होने के कारण सर्वसाधारण का मनोरंजन हो जाता है, तथा धनादि की प्राप्ति भी होती है। इसलिए शास्त्रपाठ से विरक्त हुवे पुरुष पुराण पढ़ते हैं। कई पुराणों को भी कठिन समझ कर खेती से गुजारा करते हैं और जो निरे निठल्ले पढ़ने पढ़ाने और खेती बाड़ी करने के परिश्रम से दिल चुराते हैं, वे 'नारि मुई गृह संपति नासी। मूंड मुंडाये भये सन्यासी' के अनुसार ढोंगी भगत बनकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। इस श्लोक में भागवत बांचने का तो नाम तक नहीं। यहां तो 'भागवताः' लिखा है, जिसका अर्थ है 'भगवत उपासकाः' और लक्षणा से 'बगुला भक्त'। इसके अतिरिक्त दुराग्रह के आवेश में आकर आपको यह भी ध्यान नहीं रहा कि मेरे इस आक्षेप का भागवतपुराण के व्यासकृत न होने से क्या सम्बन्ध है ?

क्योंकि पाठकों के दुर्गुणों का आरोप व्यास जी के ऊपर कैसे हो सकता है, इसलिए यह आक्षेप व्यर्थ है ।

(१२) पुराणों में देवी, देवताओं, ऋषियों, मुनियों और अवतारों पर सैंकड़ों मिथ्या कलङ्क लगाये गये हैं, परन्तु बुद्ध पर कोई कलङ्क नहीं । इससे विदित होता है कि पुराण बौद्धों के बनाये हुये हैं, व्यासकृत नहीं ।

(१२) पुराणों में वस्तुतः ऋषि-मुनियों पर मिथ्या कलङ्क लगाये हैं, या यह किसी के कलिकल्मषकलुषित हृदय की कालिमामात्र है, इस बात का विचार 'संदेहाभासनिवारणाध्याय' में विस्तार से किया जायेगा । यहां केवल इतना कह देना आवश्यक होगा, कि आपकी इस कल्पना का खण्डन तो 'भाषाविज्ञान' ही कर देता है, क्योंकि बौद्ध और जैनियों के समय में भारत में प्राकृत भाषाओं और पाली का साम्राज्य था, उनके कथानक ग्रन्थ ही इसका प्रमाण हैं; फिर इतने विस्तृत ग्रन्थों को बौद्धों की कृति कैसे मान लिया जावे ? दूसरे – पुराणों में याज्ञिक-विधान का तथा युद्धप्रियता का बाहुल्य है और पद २ पर ईश्वर-सत्ता का स्पष्ट वर्णन है, फिर कौन ऐसा बौद्ध या जैन होगा जो चार लाख श्लोकों के बृहत्कलेवर संस्कृत ग्रन्थ बनाकर स्वयं ही अपने विचारों के प्रतिकूल प्रचार करने में अग्रसर हो ? वेदादि अनादि शास्त्रों में भी पुराणों का वर्णन आता है। क्या वह भी बौद्धों के बनाये हैं ? पुराणों में न किसी अन्य ऋषि मुनि पर कलङ्क लगाया गया है न बुद्ध भगवान् पर । जब कि पुराण बुद्ध को नवम अवतार मानते हैं फिर उन्हीं की निन्दा पुराणों में क्योंकर हो सकती है । इसलिये पुराण व्यासकृत हैं ।

(१३) जगन्नाथ जी का प्रसिद्ध मन्दिर सं० १२३१ विक्रमी में उड़ीसा के राजा अनङ्ग भीमदेव ने बनाया था यह सब इतिहास-वेत्ता मानते हैं और मन्दिर पर भी यही सम्वत् पड़ा है, इसका माहात्म्य

स्कन्दपुराण में लिखा है, इससे प्रकट होता है कि – स्कन्दपुराण सम्वत् १२३१ के पीछे बना है।

(१३) प्रतिवादी ने जगन्नाथ जी के माहात्म्य को स्कन्दपुराण में देखकर उसके नवीन होने का निर्णय कर दिया। हम ऋग्वेद में भी जगन्नाथ जी का विशद वर्णन देखते हैं तो क्या उसको भी सं० १२३१ के बाद का बना मानोगे? लीजिये मन्त्र का मुलाहिजा कीजिये—

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥

(ऋग्वेद ८। १३। ३)

भाष्य—(अदः) विप्रकृष्ट देश में वर्तमान (अपूरुषम्) पुरुषनिर्माण रहित (यत्) जो (दारु) काष्ठमय कलेवर (सिन्धोः पारे) समुद्र के तट पर (प्लवते) वर्तमान है, (तत्) सो (दारु) उस काष्ठमय शरीर को (आरभस्व) अवलम्ब वा उपासना करो। जो (दुर्हणः) किसी से भी हनन नहीं होता (तेन) उस दारुमय शरीर की उपासना करने से (परस्तरम्) अतिशय उत्कृत वैकुण्ठ लोक को (गच्छ) प्राप्त हो! और भी—

यत्र देवो जगन्नाथः परं पारं महोदधेः।
बलभद्रः सुभद्रा च तत्र मामममृतं कृधि॥

(ऋक्परिशिष्ट)

अर्थात्—समुद्र के तट पर जहां जगन्नाथ बलभद्र और सुभद्रा जी विराजते हैं वहां मुझे अमर कीजिये। वास्तव में अनङ्ग भीमदेव ने मन्दिर का जीर्णोद्धार मात्र किया है और उसीका सूचक सम्वत् लिखा है। माहात्म्य का सम्बन्ध मन्दिर से वा उसके बनाने वाले से नहीं, बल्कि अनादि वेद-प्रतिपाद्य जगन्नाथ जी से है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ

शब्द का अक्षरार्थ जगत्=संसार का नाथ=स्वामी है, वह ईश्वर है। इस व्यापक अर्थ को छोड़ कर संकुचित अर्थ ग्रहण करने में कोई कारण नहीं है। उन्हीं चराचर के नाथ की प्रतिनिधि-प्रतिमा उड़ीसा में स्थित है, जिसका माहात्म्य वेद में वर्णित है, यदि उसीका माहात्म्य स्कन्दपुराण में वर्णित हो तो वह नवीन क्यों ? इसलिये स्कन्दपुराण प्राचीन और व्यासकृत है।

(१४) महाभारत आदिपर्व अध्याय ६२ में लिखा है कि 'एक लक्ष श्लोकों वाला पवित्र महाभारत ग्रन्थ वेद-सम्मत है, और यही पुराण है। इससे 'अठारह पुराण व्यासकृत हैं', इसकी सर्वथा जड़ कट गई।

(१४) हमें आक्षेप्ता की संस्कृतज्ञता पर दया आती है, क्योंकि महाभारत के उक्त श्लोक का यह भाव है ही नहीं, जो कि वे फरमा रहे हैं। सुनिये यह श्लोक इस प्रकार है।

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्रव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥

(महाभारत आदि ६२)

अर्थात्—यह महाभारत वेद-सम्मत उत्तम और पवित्र है, ऋषियों द्वारा स्तुत यह पुराण श्रवणार्ह है। हम नहीं समझते कि इसमें वह कौनसा शब्द है जिसके द्वारा अठारह पुराण व्यासकृत नहीं—यह भाव निकलता हो। यदि 'इदं हि' शब्द के पदपूरक 'हि' को पुराण से बलात्संयुक्त करके 'यह ही' अर्थ भी कर लिया जावे तो भी अष्टादश पुराणों के व्यासकृत होने में कुछ बाधा नहीं पहुँचती; क्योंकि पुरानी कथाओं का संग्रहात्मक-ग्रन्थ होने से महाभारत को भी उपचारात् पुराण कहा जा सकता है। जैसे लोक में शूरवीर पुरुष को 'यह तो सिंह है' ऐसा कह देने से दुनियाँ में सिंह नाम कोई जानवर होता ही

नहीं—यह समझ लेना भ्रम है, इसीप्रकार महाभारत को पुराण कह देने से और पुराणों के न होने की बात है । इसलिए महाभारत के अतिरिक्त ब्राह्म आदि अठारह ग्रन्थों की ही मुख्य पुराण संज्ञा है और महर्षि व्यास जी इनके निर्माता हैं ।

(१५) लिङ्गपुराण अध्याय ६४ में लिखा है कि वशिष्ठ और पुलस्त्य के वरदान से 'विष्णु-पुराण' पराशर जी ने बनाया है, यथा—

अथ तस्य पुलस्त्यस्य वशिष्ठस्य च धीमतः ।
प्रसादाद्वैष्णवं चक्रे पुराणं वै पराशरः ।।

इसलिए विष्णुपुराण व्यासकृत नहीं ।

(१५) यह आक्षेप अतीव विचित्र है । प्रतिवादी अब तक केवल ऐसे हेतु या हेत्वाभास देता आया है कि जिनसे पुराण व्यासकृत न होकर आधुनिक सिद्ध हो जाएं, परन्तु इस आक्षेप के हेतु से स्वयं ही विष्णुपुराण को व्यास जी से भी पुराना मानता है अर्थात्—प्रतिवादी के कथनानुसार उक्त पुराण व्यासकृत नहीं, बल्कि उनके भी पिता जी का बनाया हुवा है । हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं कि वर्तमान अष्टादश पुराण व्यासजी से पूर्व भी रूपान्तर और नामान्तर में विद्यमान थे तथा इनके मुख्य श्रोता वक्ता चिरन्तन मन्त्रद्रष्टा ऋषिजन ही थे । ऐसी दशा में विष्णुपुराण का पराशरकृत होना हमारे लिये और भी इष्टापत्ति है । हम कब कहते हैं कि उक्त पुराण के मुख्यांश के कर्ता पराशर जी नहीं है ? परन्तु स्मरण रहे परशरोक्त भी यह पुराण अष्टादश पुराण संकलन के समय व्यास जी ने ज्यों का त्यों या उचित हेर फेर के साथ अपनी ग्रन्थावलि में सम्मिलित नहीं किया—इसका आपके पास कुछ भी प्रमाण नहीं । शिवपुराण में मूल में ही महाशय जी के आक्षेप का समाधान कर दिया है, यथा—

पराशरकृत यत्तु पुराणं विष्णुबोधकम् ।

तदेव व्यासकथितं पुत्रपित्रोरभेदतः ॥

(शिव पु० उत्तर० मध्येश्वर माहा०)

अर्थात्—विष्णु भगवान् की महिमा का बोधक जो 'विष्णुपुराण' पराशर जी ने बनाया था, वही व्यासकृत माना जाता है, क्योंकि पुत्र और पिता का सर्वथा अभेद होता है [आत्मा वै पुत्रनामासि—इति श्रुतेः] इसलिए पराशरोक्त विष्णुपुराण भी व्यास-संकलित ही है—इसमें आक्षेप को अवकाश नहीं।

(१६) ब्रह्मवैवर्तादि की भविष्य-वाणियों के पढ़ने से जाना जाता है कि ये पुराण मुसलमानों के भारताक्रमण के पश्चात् बने हैं, क्योंकि उसमें लिखा है कि काँची और काश्मीर-मण्डल का राज्य यवन भोगा करेंगे, यथा:—

गान्धारे सिन्धुसौवीरे काञ्चीकाश्मीरमण्डलम् ।
भोक्ष्यन्ति निन्द्यकृतयः यवनाः कलिदूषिताः ॥

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जब मुसलमानी राज्य उक्त देशों में व्याप्त हो गया था, तब ब्रह्मवैवर्त पुराण बना था। यदि वस्तुतः भविष्यत्-वाणी होती तो यह लिखते कि सम्पूर्ण भारत यवनों के आधीन हो जाएगा, सो नहीं लिखा।

(१६) प्रतिवादी ने इस आक्षेप में समस्त भारत के बजाय देश-विशेषों में यवन राज्य कहना—हेतु ठहराया है। यदि महाशय जी को भौगोलिक वर्णन-शैली का थोड़ा भी ज्ञान होता तो वह ऐसा आक्षेप करने का साहस न करते। उपर्युक्त श्लोक में प्रान्त-विशेषों में यवन राज्य बताना अभीष्ट नहीं, बल्कि यवन-शासित भारत की सीमाओं का निर्देश करना ही इसका तात्पर्य है। सो दक्षिण के सुदूरवर्ती काँजीवरम् स्थान से उत्तर के काश्मीर तक, कन्धार तथा अटक

से सौवीर पर्यन्त जिस राज्य की सीमा हो वह राज्य भारत के सभी प्रान्तों में फैला हुआ माना जाएगा। हम नहीं समझते महाशय जी समस्त भारत का इससे अच्छा और क्या सीमाबन्धन चाहते हैं ? हम तो उक्त देशविशेषों के नामोल्लेख को भौगोलिक वर्णनशैली का उज्ज्वल उदाहरण समझते हैं, परन्तु महाशय जी वेदव्यास जी जैसे सुलेखक की कलम से भी सीधा अटकल पच्चू 'समस्त भारत' शब्द लिखा जाना पसन्द करते हैं।

इसलिये ब्रह्मवैवर्तपुराण में यह श्लोक भविष्यवाणी के रूप में ही वेदव्यास जी ने लिखा था, जो समय पाकर सोलह आने ठीक निकला। अतएव उक्त पुराण व्यासकृत और प्राचीन है।

(१७) गरुडपुराण अध्याय ५५ में लिखा है कि—

पूर्वे किरातास्तस्यास्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।

अर्थात्—भारत के पूर्व की ओर किरात और पश्चिम में यवन बसते हैं, भला पण्डित जी महाराज ! क्या व्यास जी के समय में इस भारतखण्ड में मुसलमान रहते थे, कदापि नहीं, इससे जाना जाता है कि यह पुराण भी थोड़े ही समय का बना हुआ है।

(१७) प्रतिवादी ने यहाँ भी 'यवन' शब्द का अर्थ मुहम्मडन मुसलमान मान कर आक्षेप किया है। हम नौवें आक्षेप के समाधान में यवन शब्द का विस्तृत विवेचन कर आये हैं, तदनुसार यहाँ भी भारत से पश्चिमदिग्वर्ती यूनानियों का ही उल्लेख है। अतः इस पुराण के भी व्यासकृत होने में कोई बाधा नहीं आ सकती।

(१८) एक पुराण की कही दूसरा नहीं मानता, किसी देवता की एक निन्दा करता है दूसरा उसको अच्छा कहता है, इत्यादि नाना द्वेषयुक्त विरोध होने से पुराणों का कर्ता ब्यास नहीं हो सकता, बल्कि अनेक साम्प्रदायिक लोग हैं।

(१८) प्रतिवादी को पुराणों में परस्पर विरोध जंचता है, परन्तु कभी वेदोक्त देवचरितों की भी तुलना की है, जहाँ एक ही मन्त्र में आपकी दृष्टि से देखने पर परस्पर विरोध की पराकाष्ठा दीख पड़ेगी। यथा—

[क] अजायमानो बहुधा विजायते। (यजु० ३१)

[ख] एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः।

[ग] असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।

अर्थात् – (क) वह परमात्मा अजन्मा है और बहुत प्रकार से जन्म लेने वाला है। (ख) अकेले रुद्र भगवान् खड़े रहे दूसरा कोई नहीं था। (ग) भूमि पर अगणित हजारों रुद्र (स्थित हुवे)। यहाँ अजन्मा को जन्मधारी और एक को अनेक बताया गया है। मन्त्र का एक भाग दूसरे भाग का कहा नहीं मानता। क्या वेदों को भी आपकी कल्पना के अनुसार अनेक पुरुषों की कृति मान लिया जाय? प्रतिवादी महाशय, कुछ तो विचार से आक्षेप घड़ा होता? चले थे पुराणों को आधुनिक सिद्ध करने, उल्टा वेदों पर ही चौंका लगा बैठे!

वास्तव में वेदादि सभी ग्रन्थों में भावना-विशेष से एक ही पदार्थ को अनेक दृष्टियों से वर्णित किया जाता है। इसी प्रकार पुराणों में भी अद्वितीय परमात्मा को ही अनन्त शक्तियों का भण्डार होने के कारण अनेक प्रकार से कहा है। यद्यपि वर्णन सम्बन्धी नानात्व का अन्त में एक अद्वितीय ब्रह्म में पर्यवसान हो जाता है, तथापि व्यवहार दशा में उस स्वाभाविक अनेकत्व का परिहार कोई कर नहीं सकता। इसीलिए बुद्धिमान् तो व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिभेद से परस्पर विरुद्ध जंचने वाले वर्णनों को समन्वित कर लेते हैं, परन्तु शास्त्रमर्म से अपरिचित लोग विरोधाभास के गर्त में गिर कर 'संशयात्मा विनश्यति' के लक्ष्य बनते हैं।

इसलिये पुराणों में किसी भी देवता की निन्दा का उल्लेख नहीं। कदाचित् कुछ पद्य वा पद्यांश वस्तुतः निन्दा-परिणत प्रतीत हों तो उन्हें प्रक्षिप्त समझ कर समालोचना की सीमा से बाहर समझना चाहिए। अतः अठारह पुराण अकेले व्यास जी के ही बनाये हुये हैं।

(१६) यह भागवत वोपदेव का बनाया है, जिसके भाई जयदेव ने 'गीतगोविन्द' बनाया। उसने यह श्लोक अपने बनाये हैमाद्रि ग्रन्थ में लिखे हैं, कि श्रीमद्भागवत पुराण मैंने बनाया है। यथा—

हिमाद्रेः सचिवस्यार्थे सूचना क्रियतेऽधुना।
स्कन्धाध्यायकथानां च यत्प्रमाणं समासतः ॥१॥
श्रीमद्भागवतं नाम पुराणं च मयेरितम्।
विदुषा वोपदेवेन श्रीकृष्णस्य यशोन्वितम् ॥२॥

(१६) यह आक्षेप आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी का है। आपके इस आक्षेप का एक २ अक्षर महाझूठ है, यह बात पाठकों को हमारे नीचे लिखे शब्दों से प्रकट हो जायगी। प्रथम तो 'गीतगोविन्द' के निर्माता जयदेव को वोपदेव का भाई बताना महा असत्य है क्योंकि उक्त दोनों पण्डितों ने अपना २ जो परिचय दिया है, वह दोनों को भ्राता सिद्ध नहीं करता, थथा—

(१) श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा-
देवी सुतस्यास्य सदा कवित्वम्।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे,
सुप्रीतपीताम्बर मे तदस्तु ॥

(गीता गोविन्द का अन्तिम श्लोक)

(२) विद्वद्धनेशशिष्येण भिषक्-केशवसूनुना ।
तेन वेदपदस्थेन वोपदेवद्विजेन यः ।।

(धातुपाठ का अन्तिम श्लोक)

यहाँ पहिले श्लोक में 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव ने अपने पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम रामादेवी बताया है तथा ये 'तिन्दुबिल्व' नामक ग्राम के रहने वाले बंगाली ब्राह्मण थे यह सब इतिहास-वेत्ता जानते हैं । परन्तु वोपदेव ने अपने बनाए धातुपाठ में अपने को धनेश का शिष्य और वैद्यराज केशव जी का पुत्र प्रकट किया है—यह उपर्युक्त दूसरे श्लोक से स्पष्ट है । वोपदेव जी द्रविड़ ब्राह्मण थे और हिमाद्रि मन्त्री के आश्रित थे, यह भी प्रसिद्ध बात है । ऐसी दशा में एक बंगाली और दूसरे द्रविड़ तथा भिन्न २ पिताओं से पैदा हुए दो व्यक्तियों को भाई बताना सिवा अल्पज्ञता के और क्या बात हो सकती है । अस्तु,

इसके अतिरिक्त वोपदेव हिमाद्रि का आश्रित था और हिमाद्रि ने सं० १३४७ में दक्षिणदेशस्थ 'अलदी' ग्रामवासी महात्मा ज्ञानेश्वर जी से गीता के ऊपर विज्ञानेश्वरी नाम की टीका बनवाई थी । इसलिये वोपदेव विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में हुआ यह निर्विवाद है । परन्तु दयानन्दजी ने अपने सत्यार्थप्रकाश पृ० २८६ में आद्यशङ्कराचार्य जी को पैदा हुए २२ सौ वर्ष लिखे हैं, अर्थात् वे उन्हें २०० वर्ष पूर्व विक्रम मानते हैं । उक्त शङ्कराचार्य जी ने 'वासुदेवस्सहस्र' नामक ग्रन्थ का भाष्य बनाया है जिसमें—५५, १३७ और २१५वें नाम की व्याख्या करते हुवे भागवत के श्लोक उद्धृत किये हैं तथा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चतुर्दश मतविवेक' में श्रीमद्भागवत को इस प्रकार स्मरण किया है यथा—

परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेन उद्धवायोपदिष्टः ।

यदि भागवतपुराण वोपदेव का बनाया होता तो उससे ८०० वर्ष

पूर्व उत्पन्न होने वाले शङ्कराचार्य जी के ग्रन्थों में भागवत के श्लोक कैसे उद्धृत किये जाते ? इसलिए भागवत का कर्ता वोपदेव बताना अपनी इतिहासानभिज्ञता का परिचय देना है ।

वास्तव में वोपदेव ने श्रीमद्भागवत-पुराण की सूची तैयार की थी और भागवत का रहस्य प्रकट करने के लिए 'परमहंस' नाम की टीका बनाई थी, तथा इसी सम्बन्ध में 'मुक्ताफल' और 'हरिलीलामृत' नामक ग्रन्थ भी लिखे थे । इस समय वह सूची छप चुकी है, मुरादाबाद से प्राप्य है तथा 'परमहंस प्रिया' टीका भी मिलती है । इसलिये स्वामी जी का यह लेख चण्डूखाने की गप्प के बराबर है । श्रीमद्भागवत-पुराण के कर्ता श्रीव्यास जी महाराज ही हैं ।

(२०) कुछ लोग यह भी आक्षेप किया करते हैं कि वेदव्यास जी का बनाया हुआ महाभारत प्रसाद-गुणयुक्त अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध है और उसकी शैली वाल्मीकीय रामायण की तरह प्रायः आर्ष है, परन्तु श्रीमद्भागवत में आधुनिक कवियों जैसी उद्भट, सालङ्कार एवं लच्छेदार कविता का बाहुल्य है और प्रसंगानुसार अनेक बड़े २ छन्दों का समावेश है । इससे भाषाविज्ञान के अनुसार भी इन दोनों ग्रन्थों का कर्ता एक नहीं हो सकता ।

(२०) यह आक्षेप भी अत्यन्त कुतुहलजनक है । प्रतिवादी जिस भाषाविज्ञान के आश्रय से महाभारत और भागवत को भिन्न-कविनिर्मित सिद्ध करना चाहता है, प्रायः ऐसे ही हेतुओं को आगे रखकर पाश्चात्य पण्डित और रमेशचन्द्रदत्त आदि भारतीय इतिहासकार वेदों को अनेक कर्ताओं की कृति सिद्ध करने की चेष्टा किया करते हैं । कई समालोचक तो ऋग्वेद के ही प्रथम मण्डल और अन्यान्य मण्डल की भाषा में प्रबल अन्तर देख पाते हैं । कहना न होगा कि वेदों के सम्बन्ध में की गई उपर्युक्त आलोचनाओं का जो मूल्य आस्तिक-समाज में है, वही मूल्य

पुराण महाभारतादि के विषय में भाषा-विभेद के आधार पर भिन्न कवि निर्माण की कल्पना का हो सकता है।

आज भले ही ग्रन्थकार लोग किसी एक ही विषय के विशेषज्ञ होते हों और अपने परिमित शब्दों में एकमात्र उसी रजिस्टर्ड विषय पर लिखने की योग्यता रखते हों, तथा नवीन विषय के प्रतिपादन में चौकड़ी भूल जाते हों, परन्तु वेदव्यास जी जैसे सर्वतोमुख ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुये त्रिकलज्ञ महर्षि के विषय में—जिनका कि अवतार ही वेदादि ग्रन्थों के संकलनार्थ हुआ हो, ऐसी विभिन्न भाषाओं को न लिख सकने की सम्भावना करना भी महामूर्खता है।

जो लोग महाभारत को सर्वांश में प्रसाद गुणयुक्त समझते हैं, वास्तव में उन्होंने समस्त महाभारत को पढ़ा ही नहीं। क्योंकि सब पण्डित जानते हैं और स्वयं वेदव्यास जी ने भी अनुक्रमणिकाध्याय में यह घोषित कर दिया है, कि महाभारत में आठ हजार आठ सौ कूट श्लोक हैं, जिनका समझना हमारे लिए अत्यन्त कठिन है। महाभारत में लिखा है कि—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति, संजयो वेत्ति वा न वा ॥*

(महाभारत आदिपर्व १८। १)

अर्थात्—(व्यास जी कहते हैं) महाभारत के आठ हजार आठ सौ श्लोकों को मैं जानता हूं—और शुकदेव जानता है, परन्तु संजय

टिप्पणी—*त्रिकालज्ञ वेदव्यास जी को संजय के विषय में जानने या न जानने का संदेह रहा हो, यह उपयुक्त नहीं जंचता, अतः 'संजयो वेत्ति वानवा' इस पद्यांश का कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ करते हैं कि 'वानवा चतुरः पुमान्' कोशानुसार वानवा संजयो वेत्ति अर्थात् चतुर संजय भी उन कूट श्लोकों को जानते हैं।

जानता है या नहीं जानता, सो ठीक नहीं कहा जा सकता। जिस पुरुष को इन कूटश्लोकों के साथ अपनी बुद्धिमत्ता की तुलना कर देखनी हो, उसे महाभारत के विदुर-प्रजागर का पाठ करना चाहिए। 'गोकर्णासुमुखी कृतेन इषुणा' 'खचरस्य सुतः खचरः' आदि श्लोकों का भी अर्थ लगाना चाहिए। सच तो यह है कि यदि महाभारत पर नीलकण्ठी व्याख्या न होती तो इसका बहुत सा अंश हमारे लिये अज्ञात रहता। इसलिये महाभारत को सरल समझ बैठना निरी भूल है।

वास्तव में महाभारत और श्रीमद्भागवत की कविता में जो अन्तर प्रतीत होता है, वह उक्त दोनों ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप ही है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ है, उसमें स्वाभाविकता का साम्राज्य होना ही चाहिये था। इतिहास में तत्तद् व्यक्तियों का चरित्र वर्णन करने के बजाय अनावश्यक अलङ्कारों और छन्दों का समावेश करना चरित्र-चित्रण की मौलिकता का विनाश करना है! विभिन्न प्रकृति रखने वाले पात्रों के स्वभाव पर परदा डालना है!! एवं पाठकों को 'इतिकर्तव्यता' के निर्णय का अवकाश न देकर अपनी वाक्चातुरी से पथभ्रष्ट करना है!!! अतः वेदव्यास जी जैसे सिद्धहस्त लेखक की लेखनी से इस प्रकार की भूल कब हो सकती थी।

परन्तु श्रीमद्भागवत भक्तिप्रधान ग्रन्थ है इसमें रस की मुख्यता है। पाठकों के शुष्क हृदयों को वात्सल्य-रस के महामहिम समुद्र की छलकती, उत्ताल तरंगों से आप्लावित करने की आवश्यकता थी। अनेक अलङ्कारों और सुस्वर छन्दों के स्वर्ण सुयोग से सहृदयहृदयों को पाठमात्र से तन्मयतापूर्वक आत्म-विस्मृति के आनन्द-पयोनिधि में निमग्न करने की जरूरत थी अतः वेदव्यास जी ने विषय के अनुरूप ही उक्त पुराण में प्राञ्जल शैली को स्थान दिया। इन पंक्तियों के पढ़ने के बाद कौन ऐसा समझदार होगा जो कि महाभारत और श्रीमद्भागवत-पुराण के प्रतिपाद्य विषयों को गजनिमीलिका से भुलाकर

भाषाविज्ञान की कल्पना के आधार पर इन्हें भिन्न-कविनिर्मित कहने का साहस करेगा !

इस तरह इस अध्याय में—'सत्यार्थप्रकाश' 'कुलयात आर्य मुसाफिर' 'पुराण तत्व प्रकाश' 'पुराणमत पर्यालोचन' तथा अन्यान्य ट्रैक्टों में किये गये प्रतिवादियों के समस्त आक्षेपों का समाधान आ गया है।

आक्षेप उद्धृत करते हुए आक्षेपान्तरवर्ती प्रमाणों को भी 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' के न्याय से अशुद्ध ज्यों का त्यों रख दिया है, जिससे आक्षेपकर्ता महाशयों की संस्कृतज्ञा का भी पता लग जाये। इन्हीं शब्दों के साथ वह अध्याय समाप्त है।

अठारहों पुराणों का कर्ता, है सत्यवती का पुत्र।
सिद्ध किया है सप्रमाण, अध्याय पांचवें में यह सूत्र ॥

* पंचम अध्याय समाप्त *

शैलीविमर्शनाध्यायः

(छठा-अध्याय)

शब्द-वाक्यार्थ-भाषाणां, विशेषन्यासहेतुभिः ।
पुराणशैली-वैशिष्ट्यमध्यायेऽस्मिन्निरूप्यते ॥

* :*:--*:--*: *

प्राय: समस्त शास्त्रों में प्रतिपादन शैली का विशिष्ट स्थान होता है। सभी ग्रन्थकार प्रतिपाद्य विषय की अनुकूलता के अनुसार अथवा अपनी जन्मसिद्ध ईश्वरप्रदत्त 'शक्ति' के अनुरूप किसी न किसी खास शैली का अवलम्बन करके ही अपने हृदयगत विचारों को लेखबद्ध करने में व्यापृत होते हैं। जिन शास्त्र-व्यसनी पण्डितों को अनेक विषयों के अनुसन्धान का अवसर मिला होगा, वे ही इस अवर्णनीय वैलक्षण्य को अनुभव कर सकेंगे कि संस्कृत-साहित्य के वेदवेदाङ्ग-वेदोपाङ्ग-भण्डार में सैद्धान्तिक समता रहते हुवे भी प्रत्येक ग्रन्थ, प्रतिपादन-शैली की विभिन्नता के कारण किस प्रकार एक दूसरे से अलग अलग खड़ा हुआ है।

सभी विषयों और सभी ग्रन्थों को समझने के लिए आरम्भ में व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की जाती है, परन्तु 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' के अनुसार बारह और चौबीस वर्षपर्यन्त भी 'टिड्ढाण-ञ्द्वयस०' की रट लगा ली जाय तो भी महावैयाकरण, दर्शन-आयुर्वेद-

ज्योतिष एवं अलङ्कार आदि शास्त्रों को शब्दबोध के भरोसे अपने आप समझ सकने में समर्थ नहीं हो सकता। कल्पना कीजिये कि हम केवल व्याकरण के आधार पर दूसरे शास्त्रों को समझने चले और सर्वप्रथम गणित या ज्योतिष की निम्नलिखित कारिका हमारे सामने आ गई, यथाः—

> खषड्घ्नं भयातं भभोगोद्धृतं तत्,
> खतर्कघ्नधिष्ण्येषु युक्तं द्विनिघ्नम्।
> नवाप्तं शशी भावपूर्वस्तु भुक्तिः,
> ख खाऽऽष्टवेदा भभोगेन भक्ताः॥

(ताजिक नीलकण्ठी १। १६)

—कहिये! इसका अक्षरार्थ करने पर क्या झोली भरेगी? इसी तरह आयुर्वेद के नीचे लिखे श्लोक को व्याकरण पद्धति से लगाने पर क्या गुल खिलेगा?

> कण्टकारिद्वयं छित्वा मधुना भक्षयेन्निशि।

—जो है सो है कण्टकानां+अरिः = कण्टकारि अर्थात् काण्टों के शत्रु जो उपानह—जूते जो हैं सो हैं कर कर कर के उन दोनों को शहद के साथ रात के समय भक्ष..............छिः छिः। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शास्त्र में उसीकी शैली के अनुसार अर्थ करने पर ही कुछ प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, अन्यथा व्याकरण-रीति से यौगिक शब्दार्थ कर डालने पर तो उलटा अर्थ का अनर्थ हो जाने की अधिक सम्भावना है।

व्याकरणगत—घि, टि, संप्रसारण, आदेश, पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग, अपवाद, अनुबन्ध और प्रत्याहार आदि शब्दों का; ज्योतिष के—कण्टक, पणफर, आपोक्लिम, भाव, सन्धि विशोपका, अन्तर और प्रत्यन्तर आदि शब्दों का आयुर्वेद के—अतिसार, प्रमेह, उदावर्त और

पूर्वरूप आदि शब्दों का ; वेदान्त के—अभिन्ननिमित्तोपादान, विवर्त, उपाधि और अर्थापत्ति आदि शब्दों का ; न्याय के—व्याप्ति, अवच्छेदक, अवछिन्न और पारिमाण्डल्य आदि शब्दों का; मीमांसा के—परिसंख्या, औपपत्तिक, अर्थवाद और कैमुतिक आदि शब्दों का ; अलङ्कार शास्त्र के—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, रस और रीति आदि शब्दों का—यौगिक अर्थ कल्पना करने पर कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। उक्त शब्दों की सीमा कितनी व्यापक है और इनके प्रयोग से कितने विस्तृत तात्पर्य का बोध होता है, इस रहस्य का पता उन्हीं ग्रन्थों के पढ़ने पर लग सकता है, जिनमें कि ये शब्द प्रयुक्त होते हों। इस प्रकार प्रत्येक शास्त्र में विलक्षण शब्दों के समावेश से वाक्य, वाक्यार्थ-वलक्षण्य को हम 'शैली' नाम से स्मरण करते हैं।

शैली एक ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है कि जिसे पा लेना प्रत्येक शास्त्रव्यसनी का पहिला कार्य है। जिस विषय अथवा जिस ग्रन्थ की शैली हमारे हस्तगत हो जाएगी फिर उस विषय या उस ग्रन्थ का वास्तविक तात्पर्य भी ठीक २ हमारी समझ में आ जाएगा। शैली को समझे बिना अर्थज्ञ होने का दम भरना वैसी ही विडम्बना है, जैसी कि घोर अन्धकार में तत्तत्पदार्थों को हाथों से टटोल टटोल कर उनके रंग रूप का वर्णन करने में हो सकती है। स्वामी दयानन्द ने जो वेदों के अर्थों का अनर्थ कर डाला है—इसका प्रधान कारण शैली को न समझना ही है। आपने अनादि वेदों को भी अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए व्याकरण के शिकञ्जे में जकड़ने की चेष्टा की है, इसलिए आपका वेदभाष्य ब्राह्मण, सूत्र और निरुक्तादि के सर्वथा विपरीत एवं उपहासास्पद बना हुआ है। कहीं रेल, कहीं तार, कहीं बिजली और कहीं हवाई जहाज – गर्ज कि अदृष्ट-फलाधायक, अध्यात्म-ज्ञान के भण्डार को लुहारों और बढ़इयों (Carpenter) की

शब्दकोष (Dictionary) बना छोड़ा है । यह सब अनर्थ वेदशैली को न जानने का ही परिणाम है ।

हम इस विषय को अधिक लम्बायमान करना अनावश्यक समझते हैं । तत्त्व केवल इतना ही है, कि सर्वप्रथम पाठ्य-ग्रन्थ की शैली का मनन करना चाहिए, तत्पश्चात् उसी शैली का अनुसरण करते हुए ग्रन्थ का तात्पर्य लगाने में प्रवृत्त होना चाहिए – यह है ग्रन्थ समझने का तरीका ! और ग्रन्थकार के हृदय तक पहुंचने का परिष्कृत मार्ग ! ! अतः इस अध्याय में हम पुराणों की शैली का निरूपण करते हैं ।

शब्द-विचार

हम पीछे कह चुके हैं कि प्रत्येक शास्त्र में कुछ न कुछ पारिभाषिक एवं विशिष्ट शब्दों का प्राधान्य रहता है । पुराणों में भी ऐसे शब्दों की कमी नहीं है । यदि हम वर्णात्मक घट-पटादिक शब्दों का अपौरुषेय और पौरुषेय दृष्टि से विश्लेषण करना चाहें तो समस्त शब्दराशि दो भागों में विभक्त हो जाती है । (१) प्रथम विभाग में उन सब शब्दों का समावेश होगा जो कि वेद में प्रयुक्त हुये हैं और चिरंतन महर्षियों ने जिनको अनादि अपौरुषेय एवं ईश्वरीय रूप में स्वीकार किया है । (२) दूसरे विभाग में बाकी सब शब्दों को गिना जा सकता है । इस प्रकार हम उक्त दोनों विभागों को क्रमशः 'वैदिक' और लौकिक' कह सकते हैं ।

'वैदिक' शब्द व्याकरण के नियमों में आबद्ध न हो सकने की दशा में भी उसी प्रकार निष्पन्न एवं शुद्ध माने जाते हैं तथा उनका सब प्रकार का व्यत्यय तथैव शिरोधार्य समझा जाता है, तथा –

(क) व्यत्ययो बहुलम् । (अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५)

(ख) सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां
कालहलच् स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां
सोऽपि च सिद्धयति बाहुलकेन ॥
(वैदिकीप्रक्रिया)

अर्थात् – वैदिक शब्दों में – सुप् आदि विभक्तियों, तिङ् आदि प्रत्ययों आत्मनेपद, परस्मैपद, पुल्लिङ्ग आदि लिङ्गों, प्रथम मध्यमोत्तम पुरुषों, वर्तमान आदि कालों, व्यञ्जनों, स्वरों, अनुदात्तादि स्वरों, कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों, तथा अदादि जुहोत्यादिगणनिर्दिष्ट विकरणों का व्यत्यय (लौट-बदल – फेरफार) हो जाता है, और वह सब बाहुलक से ही निष्पन्न समझना चाहिए । हम इन व्यत्ययों के क्रमशः उदाहरण और प्रत्युदाहरण देते हैं, जिससे वैदिक शब्दों के अपरिवर्तनीय स्वरूप का पता लग सकेगा और साथ ही साथ व्याकरणनिष्पन्न लौकिक शब्दों का भी परिचय मिल सकेगा ।

(तुलनात्मक विचार)

वैदिक प्रयोग	वर्तमान व्याकरणानुकूल प्रयोग
(१) धुरि दक्षिणायाः ।	'दक्षिणस्यां' । सप्तमी का एक वचन ।
(२) चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति	'तक्षन्ति' । बहुवचन चाहिए ।
(३) ब्रह्मचारिणमिच्छते ।	'इच्छति' । परस्मैपद चाहिए ।
(४) प्रतीपमन्यऊर्मिर्युध्यति ।	'युध्यते' । आत्मनेपद चाहिए ।
(५) मधोस्तृप्ता इवासते ।	'मधुनः' । प्रयोग बनता है ।
(६) अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः ।	'वियूयात्' । प्रथम पुरुष चाहिए ।
(७) श्वोऽग्निनाधास्यमानेन ।	लृट् के स्थान में लुट् का प्रयोग चाहिए
(८) तमसो गा अदुक्षत ।	'अधुक्षत्' । प्रयोग बनता है ।
(९) मित्रवयं च सूरयः ।	'मित्रावयम्' । प्रयोग बनता है ।

(१०) अन्नादाय ।	अ प्रत्ययके स्थान में अण्का विषय
(११) आण्डा शुष्मस्य भेदति ।	'भिनत्ति' रुधादि गणके कार्य चाहियें
(१२) जरसा मरते पतिः ।	'म्रियते' प्रयोग बनता है ।
(१३) इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् ।	'तरेम' प्रयोग बनता है ।

ऊपर शब्दों के वैदिक और लौकिक संज्ञक जो दो विभाग प्रकट किये गये हैं, पुराणों में इन दोनों का ही मिश्रण पाया जाता है । यद्यपि पुराणों का अधिकांश भाग लौकिक शब्दों से परिपूरित है, परन्तु बीच २ में वैदिक शब्दों की छटा भी देखने को मिलती है । ऐसा जान पड़ता है कि श्री वेदव्यास जी ने पुराण-संकलन के समय गुरुपरम्पराप्रचलित पुरातन वैदिक-आख्यायिकाओं को तत्कालीन संस्कृत-भाषा में निबद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया था । इसलिये पुराणों में लौकिक शब्दों का बाहुल्य तो अवश्य हो गया, परन्तु वैदिकता की छाप भी तथैव बनी रही । अतः हम पुराणों को वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों में निबद्ध होने के कारण 'आर्ष' कह सकते हैं । पुराणों में जो शब्द पाणिनीय व्याकरण के नियमों से स्वतन्त्र पाए जाते हैं, विद्वान् लोग उन्हें 'आर्ष' कह कर सम्मान देते हैं और उनके तथैव बने रहने का समर्थन करते हैं । हम पाठकों के लाभार्थ पुराणान्तर्वर्ती कतिपय आर्ष-शब्दों का नमूना नीचे अङ्कित करते हैं, जिससे पौराणिक शब्दों की विशेषता जानने में कृतकार्यता मिल सके ।

पुराणप्रयुक्त आर्ष शब्द	वर्तमान व्याकरणानुसारी रूप
(१) सत्यं परं धीमहि । (श्रीमद्भागवत १ । १ । १)	'ध्यायाम' चाहिये ।
(२) पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः (पद्मपुराण उत्तर ६।१९३।३)	'पुत्र इति' चाहिये !

(३) युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः । (श्रीमद्भागवत १। ४। ११)	ऐषत आत्मनेपद आर्ष है ।
(४) निशामय तदुत्पत्ति विस्तराद्गदतो मम (मार्कण्डेय सप्तशती १ । १)	निशमय प्रयोग चाहिए ।

उपर्युक्त आर्ष शब्दों के अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्रों की भांति पुराणों में 'पारिभाषिक' शब्दों का भी पर्याप्त सन्निवेश है। मन्वन्तर, सन्धि, सन्ध्यांश, परार्ध, युग, दिव्यवर्ष, परमायु, ब्रह्माण्ड, लिङ्ग, भग, नार, महान्, सुमेरु और कक्षा आदि शब्द इसी कोटि में परिगणित किये जा सकते हैं। व्याकरण के अनुसार अथवा लोकरूढ़ि के अनुसार ऐसे पारिभाषिक शब्दों का सामान्य अर्थ चाहे कुछ भी बन सकता हो, परन्तु पुराणों में ये शब्द उसी विशेष अर्थ के बोधक समझे जाएंगे जोकि परिभाषा द्वारा व्यास जी ने इनका निश्चित कर दिया है। इसलिए पुराण पढ़ते समय सर्वप्रथम आर्ष-शब्दों का यथावत् मनन कर लेने के बाद ही तात्पर्य समझने में प्रवृत्त होना चाहिये ।

वाक्य विचार

जिन अनेक शब्दों के यथावद् मेल से अभीष्ट अर्थ का बोध होता है – उसी सार्थक शब्द-समुदाय को हमारी परिभाषा में वाक्य या वचन समझना चाहिये। प्रायः सभी शास्त्रों में विधिनिषेधात्मक जितने वचन पाये जाते हैं, उन्हें प्राचीन ऋषियों ने तीन विभागों में विभक्त किया है। (१) रोचक (२) भयानक और (३) यथार्थ ।

रोचक-वचन

पुरुषों को धर्म-मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए जो रुचिकर वाक्य

कहे जाते हैं, उन्हें 'रोचक' नाम से स्मरण करना चाहिए । वैदिक प्रक्रिया में इन्हीं वाक्यों को विधिप्रशंसक 'अर्थवाद' भी कहते हैं । यथा—

(क) गवां मंडूका ददत शतानि

(ख) वनस्पतयः सत्रमासत ।

(ग) सर्पाः सत्रमासत ।

(घ) जरद्गवो गायति मद्रकाणि ।

अर्थात्—(क) मेण्डकों ने सौ गौवें दान दीं (ख) वनस्पति (घास फूंस आदि) ने यज्ञ रचा (ग) सर्पों ने यज्ञ किया (घ) वृद्ध नील गाय ने सामवेद का गान किया । उपर्युक्त वाक्यों का तात्पर्य केवल एतावन्मात्र है, कि जब मेण्डक सरीखे तुच्छ जीव गोदान करते हैं; तो सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों को तो वह अवश्य ही करना चाहिए । जड़ वनस्पति तथा महाविषधर सर्प भी जब यज्ञ में प्रवृत होते हैं, तो चेतन एवं सर्वोपकारकरणक्षम मनुष्यों को तो अवश्य ही यज्ञानुष्ठान करना चाहिए । इसी तरह गवय नामक मूर्खप्रायः पशु भी जब सामगान में प्रवृत्त होते हैं तब विवेकशील पुरुषों को तो अवश्य ही सामगान करना चाहिए ।

यदि कोई पुरुष-पुंगव उपर्युक्त वेद वाक्यों की रोचकता पर ध्यान न देकर वास्तव में पशु सर्पादि द्वारा किये गए यज्ञ, दान और सामगान के स्वप्न देखने लगे और प्रत्यक्ष में पशु आदि का ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होना असम्भव जानकर वेदों पर असम्भव-प्रतिपादन का आक्षेप लगाये तो उसे महामूर्ख ही समझना चाहिये । इसीप्रकार पुराणों में भी अनेक शुभ कार्यों में पुरुषों की रुचि बढ़ाने के लिए उतर्युक्त वेद-पद्धति का अनुसरण किया है, यथा ।

(क) पूजयित्वा रविं भक्त्या ब्रह्मा ब्रह्मत्वमागतः।
विष्णुत्वं चापि देवेशो विष्णुराप तदर्चनात् ॥
शंकरोऽपि जगन्नाथं पूजयित्वा दिवाकरम्।
महादेवत्वमगमत् तत्प्रसादात् खगाधिप।

(भविष्य ब्राह्म० १७४। १-२)

(ख) श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमशतानि च।
एतच्छिवपुराणस्य नार्हत्यल्पां कलामपि।

(शिवपुराण सनत्कुमार १। ६४)

(ग) यावत्पादं नरो भक्त्या गच्छेद् विष्णुप्रदक्षिणे।
तावत्कल्पसहस्राणि विष्णुना सह मोदते ॥

(पद्मपुराण ७। ११। ५२)

(घ) प्रतिष्ठया सार्वभौम सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥

(श्रीमद्भागवत ११। २७। ५२)

अर्थात्—(क) सूर्य की पूजा करने से ही ब्रह्मा को 'ब्रह्मपद' विष्णु को 'विष्णुत्व' और महादेव को 'शंकरत्व' प्राप्त हुआ है। (ख) वेद धर्मशास्त्र पुराण इतिहास और और अन्यान्य सैकड़ों शास्त्र शिव-पुराण की किंचित् मात्र भी बराबरी नहीं कर सकते। (ग) विष्णु की प्रदक्षिणा करने में मनुष्य जितने कदम चलता है उतने हजार कल्प-पर्यन्त विष्णु भगवान् के साथ आनन्द करता है (घ) भगवान् के मन्दिर की प्रतिष्ठा कराने से चक्रवर्ती बनता है, मन्दिर बनवाने से तीन लोक का राजा होता है, पूजा करने से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और तीनों कार्य करने से विष्णु के समान हो जाता है।

उपर्युक्त पुराण-वाक्यों में सूर्योपासना, शिव-पुराण-पठन, विष्णु-प्रदक्षिणा और देवालयनिर्माणरूप धर्मकार्यों में मनुष्यों की अभिरुचि बढ़ाने की चेष्टा की गई है। यदि कोई मनुष्य यहां कवि के आशय के विरुद्ध—(क) से ब्रह्मादि देवताओं का लघुत्व (ख) से वेदादि शास्त्रों की तुच्छता (ग) से प्रदक्षिणा का सर्वातिशायित्व और (घ) से प्रतिष्ठा आदि कराने पर भी चक्रवर्ती-पद का न मिलना रूप मिथ्याभाषण सिद्ध करना चाहे तो उसे शास्त्रशैली से अनभिज्ञ ही समझना चाहिए। इसलिए जिस प्रकार वेदवर्णित 'अर्थवादों' का आक्षरिक अर्थ ग्रहण न करके तात्पर्यार्थ ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार पुराणान्तर्वर्ती 'रोचक वचनों' का भी तात्पर्यार्थ ही ग्र ण करना चाहिए।

भयानक-वचन

अधर्माचरण से पुरुषों की प्रवृत्ति हटाने के लिये जो भयानक वाक्य कहे गए हैं, उन्हें 'भयानक' नाम से याद किया जाना चाहिए। वेदादि सभी शास्त्रों में ऐसे वचनों का समावेश पाया जाता है। यथाः—

(क) अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।

(यजुः ४० । ९)

(ख) एतानि अविदित्वा योऽधीते···प्रवामीयते।

(कात्यायन अनुक्रमणिका १ । १)

अर्थात्—(क) जो मनुष्य मायाजन्य, जड़ देहादि की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। (ख) जो मनुष्य मन्त्रों के ऋषि देवता आदि को न जानता हुवा वेद पढ़ता है, वह मर जाता है। उपर्युक्त वचनों में माया के फन्दे से निकलने की और ऋषि आदि को जानने की आवश्यकता प्रकट की गई है। वस्तुतः माया-उपासक किसी काल कोठरी (Black

Hoie) में डाल दिये जाते हों, या ऋष्यादि- ज्ञानशून्य मन्त्रपाठी व्यक्ति तत्काल मर जाते हों—ऐसी बात नहीं। यहाँ भी आक्षरिक अर्थ को छोड़ कर तात्पर्यार्थ का ही ग्रहण होना चाहिये। यह केवल इतना ही है कि माया की उपासना करना और ऋष्यादि का न जानना पाप है। पुरुष को इससे बचने के लिये ही अन्धकार और मृत्यु का भय दिखाया गया है, अतः ये वाक्य भयानक हैं। पुराणों में भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए मनुष्यों को दुष्कर्मों से हटाने के लिए भयानक वचनों का पर्याप्त सन्निवेश किया गया है, यथा—

(क) यः पुनः कृष्णवस्त्रेण मम कर्मपरायणः।
घुणो वै पंच वर्षाणि, लाजावास्तुसमाश्रयः॥
(वाराह १३५। १५। १६)

(ख) गत्वा च योषितं श्राद्धे यो भुंक्ते यश्च गच्छति।
रेतोमूत्रकृताहारास्तं मासं पितरस्तयोः॥
(ब्रह्मपुराण २२०। १०८)

अर्थात्—(क) जो पुरुष काले रंग का वस्त्र पहिन कर ईश्वर पूजनादि कार्यों को करता है, वह पांच वर्ष पर्यन्त धान की भुनी हुई खीलों में घुण का कीड़ा बनकर रहता है। (ख) जो पुरुष स्त्री-संग करके जीमता जिमाता है, या जीमने जिमाने के बाद स्त्रीसंग करता है उन दोनों के पितर उस महीने वीर्य मूत्र आदि को खाते हैं।

उपर्युक्त वचनों के अक्षरार्थ के अनुसार कोई ईश्वरपूजन एक साधारण भूल के कारण साक्षात् घुण बन जाता हो अथवा श्राद्धकर्ता पुत्रादि के स्त्रीसंग रूप पाप से निरपराध पितरों को घृणित वस्तु खाने का दण्ड भोगना पड़ता हो, ऐसा यहाँ पुराणकर्ता का अभिप्राय नहीं है किन्तु इनका तात्पर्यार्थ इतना ही है कि शुभकार्यों में काले कपड़े

पहिनना और श्राद्धकार्य में अब्रह्मचर्य से रहना महापाप है। इसीप्रकार अन्यान्य भयानक वचनों का तात्पर्यार्थ समझना चाहिये।

यथार्थ-वचन

रोचकता और भयानकता दोनों से परे रहकर जो अक्षरार्थानुसारी विधि-निषेध-प्रतिपादक वचन हैं, वे यथार्थ कहे जाने चाहियें, यथा वेद में—

(क) अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः। (ऋग्वेद १० । ३४ । १३)

(ख) मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (यजु ४० । १)

(ग) तप्यमानस्य भूयसी कीर्तिर्भवति

(जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० २ । १ । १३)

अर्थात्—(क) जूआ मत खेल, खेती कर, उक्त शिक्षा को मानने पर धन में रमण करने वाला बन। (ख) दूसरे के धन का लालच न कर (ग) तप करने वाले की बहुत कीर्ति होती है। यहाँ जूआ न खेलने और खेती आदि में परिश्रम करने से धनी बन जाना, दूसरे के धन का लालच न करना तथा तपश्चर्या से कीर्ति का पाना आदि जो उपदेश दिये गये हैं, वे यथार्थ में ऐसे ही हैं। अव्यसनी जिमींदारों का धनी होना और तपस्वियों का यशस्वी होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः वेद के ऐसे वचनों को यथार्थ कहा जाता है। पुराण-ग्रन्थों में भी यथार्थ वचनों का अत्यधिक समावेश है, यथाः —

(क) यजते क्रतुभिर्देवान्पितृंश्च श्रद्धयान्वितः।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । ३२ । २३)

(ख) सर्वदुःखहरं व्याधिनाशकं मोक्षदं तथा ।
सदाचारेषु संध्यायाः प्राधान्यं मुनिपुंगव ॥
(देवीभागवत ११ । २० । ५४)

(ग) यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
(पद्म, उत्तर० २३७ । ३२)

अर्थात्—(क) जो पुरुष श्रद्धापूर्वक यज्ञादि के द्वारा देवों और पितरों का पूजन करता है वह सकाम कर्मों के प्रताप से चन्द्रलोक में यथासमय निवास करके पुनः जन्म धारण करता है। (ख) सदाचार में संध्योपासन सर्वमुख्य है, संध्या से समस्त दुःखों और व्याधियों का नाश होता है तथा मोक्षप्राप्ति होती है। (ग) जिस पुरुष के हाथ पांव आदि इन्द्रियें और मन वशीभूत हो, तथा जो विद्या-तप-कीर्ति-सम्पन्न हो वह तीर्थस्नान के पूर्ण फल का भागी है।

उपर्युक्त वाक्यों में जो सकाम कर्मों से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति और पुनर्जन्म तथा संध्या-प्राणायाम से दुःखादि का नाश और मोक्ष की प्राप्ति एवं संयम, ज्ञान और तपश्चर्या से तीर्थसेवन-फल का लाभ प्रकट किया गया है, वह वस्तुतः यथार्थ है। इसलिए ऐसे वाक्यों को यथार्थ कहना चाहिये। इस प्रकार वेदादि समस्त शास्त्रों की भांति पुराणों के वाक्यों को भी रोचक, भयानक और यथार्थ नामक किसी उचित श्रेणी में परिगणित करने के बाद उनकी अर्थसंगति बैठानी चाहिये।

भाषा-विचार

जिस प्रकार अन्वित शब्द-समुदाय को वाक्य या वचन कहते हैं इसीप्रकार यथावत् अन्वित वाक्य-समुदाय को सन्दर्भ या कथानक

कहा जाता है । यहाँ हमारे भाषाविचार का क्षेत्र वही कथानक या संदर्भ है ।

वेदादि शास्त्रों के संदर्भों को प्राचीन ऋषियों ने भाषातत्त्व के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया है । यथा—

समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति तथा परा ।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ।।
(भारद्वाजसंहिता)

अर्थात्—शास्त्रों की भाषा तीन प्रकार की है, पहली—समाधि-भाषा, दूसरी—लौकिकी भाषा और तीसरी—परकीया भाषा ।

समाधि-भाषा

जो बातें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भी पुरुष को प्रत्यक्ष न हो सकती हों और इन्द्रिय, मनः आदि भी जिन रहस्यों के अनुभव करने में समर्थ न हों ऐसे समाधिगम्य अवाङ्मनसोगोचर एवं लोकोत्तर तत्त्वों को जहां नेति-नेति शब्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया हो वह 'समाधि-भाषा' कहलाती है ।

वेदों में समाधि-भाषा का अत्यधिक समावेश पाया जाता है । ऐसे सैंकड़ों मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं कि जिनका अक्षरार्थ तो अत्यन्त सरल और सीधा है, परन्तु मन्त्रोक्त भावों को हजार बार मस्तिष्क में बिठलाने का प्रयत्न करने पर भी वे हृदयङ्गम नहीं हो सकते और ज्यों-ज्यों मानवी बुद्धि उस अज्ञेयता के अगाधसागर में निरवलम्ब होकर डूबती हुई सी जान पड़ती है त्यों २ अप्रतिभ प्रतिभा की वह दयनीय दशा तटस्थ आत्मा को रह रह कर अनुभूत होने लगती है । हम पाठकों को अधिक उत्कण्ठित करना नहीं चाहते, एतदर्थ

नीचे कतिपय उदाहरण देकर उनके वास्तविक तात्पर्य को हृदयङ्गम कर लेने की सिफारिश करते हैं, यथा: —

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्म—
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
(ख) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि,
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं,
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥
(ग) तम आसीत्तमसा गूढमग्रे,
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्,
तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
(ऋग्वेद—१० । १२९ । १—३)

अर्थात्—(क) उस समय न असत् था, और न सत् था, न पृथ्वीलोक था, न अन्तरिक्ष और नांही उससे ऊपर का द्युलोक । न जीवों को आवरण करने वाला कर्म-कलाप था, और नाहीं कोई सुखादि का भोक्ता था, सृष्टि का आदिम तत्त्व दुःप्रवेश एवं अगाध आपः भी नहीं था । (ख) न उस समय मृत्यु थी और नांही अमरपन था, रात और दिन की कुछ भी पहिचान न थी । माया से अविभक्त वह एक ब्रह्म ही था, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ

भी न था । (ग) अन्धकार था, और उसी अन्धकार से सब कुछ ढका हुआ सा था, यह सब नामरूपात्मक जगत् सलिल = (कार्यकारण रूप में अविभक्त) था जो इस प्रकार तुच्छ = सदसद् विलक्षणता से छुपा हुवा था वही एक तपः की महिमा से प्रादुर्भूत हो गया ।

यह है समाधि भाषा का एक उदाहरण, जिसमें सृष्टि के प्रादुर्भाव से पूर्वली अवस्था का वर्णन किया है । यहां शब्द और शब्दार्थ के सरल होने पर भी भावार्थ को हृदयङ्गम करना योगियों का ही काम है । जब सत् न था तो तब तद्-अभाव—असत् अवश्य होना चाहिये यही लौकिक और शास्त्रीय विवेक मान सकता है । इसीप्रकार मृत्यु की अविद्यमानता में निश्चय ही अमरत्व होना चाहिए, परन्तु वेद साफ शब्दों में सत् न होने पर भी असत् का और मृत्यु न होने पर भी अमरत्व का निषेध करता है । उक्त दोनों की अविद्यमानता में वह कौन सी तीसरी अवस्था थी ? उसका वर्णन करना सर्वथा दुरूह है । इस रहस्य का तो तुरीयावस्था में ही अनुभव हो सकता है । पुराणों में भी वेदपद्धति का अनुसरण करते हुये सैकड़ों अवाङ्-मनसोगोचर रहस्यों को समाधि-भाषा द्वारा प्रकट किया गया है, यथा—

(क) इदं दृश्यं यदा नासीत्सदसदात्मकं च यत् ।
तदा ब्रह्ममयं तेजो व्याप्तिरूपं च सन्ततम् ॥
न स्थूलं न च सूक्ष्मं च शीतं नोष्णं तु पुत्रक ।
आद्यन्तरहितं दिव्यं सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥
योगिनोऽन्तरदृष्ट्या हि यद् ध्यायन्ति निरन्तरम् ।
तद्रूपं सकलं ह्यासोज् ज्ञानविज्ञानदं महत् ॥

कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत ।
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युत ॥
(शिवपुराण धर्मसंहिता २।१४-६४)

अर्थात्—(क) यह स्थूल दृश्य जगत् जब उत्पन्न नहीं हुआ था, उस महाप्रलय के अन्त समय में जब सत् और असत् कुछ भी नहीं था (कुछ है या नहीं ऐसा कहा व माना नहीं जा सकता था) उस समय निरन्तर व्याप्तिरूप ब्रह्ममय तेज ही था । वह तेज न स्थूल था न सूक्ष्म था, न शीत था और न उष्ण था। उस अलौकिक दिव्य तेज का आदि वा अन्त कुछ भी न था। वह केवल सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त था। योगी लोग समाधि में दिव्यदृष्टि से जिस तेज का निरन्तर ध्यान करते हैं वही ज्ञान विज्ञान का देने वाला तेज उस समय व्याप्त था। कुछ काल के पश्चात् उस तेज में इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ उसी इच्छा को 'प्रकृति या मूलकारण' कहते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण में पूर्वोक्त वेदमन्त्रों का ही भाव शब्दों के हेरफेर से अभिव्यक्त किया है। निस्सदेह इस रहस्य को समाधि-दशा में ही अनुभूत किया जा सकता है। जब हजार प्रयत्न करने पर भी कोई चतुर चितेरा इस दशा का चित्र नहीं खेंच सकता, तब शाब्दिक चित्र-चित्रण की दुरूहता तो स्पष्ट ही है। अतएव ऋषियों ने ऐसे संदर्भों को समाधिभाषा विभाग में परिगणित किया है।

लौकिकी-भाषा

जिन सन्दर्भों में किसी धार्मिक गूढ़ रहस्य को प्रकट करने के लिये लौकिक पद्धति का अनुसरण किया गया हो, ऐसे तात्पर्य-प्रधान आलङ्कारिक वर्णनों को 'लौकिकी भाषा' में निबद्ध समझना चाहिये, यथा वेद में—

(क) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य,—
नश्नन्नन्य अभिचाकशीति ।।
(ऋग्वेद १ । १६४ । २०)

(ख) ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् ! को नः श्रेष्ठ इति ? तान् होवाच, यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ इति । (छान्दोग्य ५ । १ । ७)

अर्थात्—(क) एक साथ रहने वाले परस्पर संयुक्त और सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी है, जो दोनों एक वृक्ष का आश्रय लेते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के पिप्पल—फल खाता है। दूसरा बिना खाये ही प्रकाशमान होता है। (ख) प्राणों ने अपने बाप प्रजापति के पास जाकर पूछा कि हम सब (इन्द्रिय मनः प्राण आदि) में बड़ा कौन है ? प्रजापति ने कहा तुम सब में से जिसके निकल जाने पर शरीर पापिष्ठ सा (व्यर्थप्रायः) दीख पड़े, वही तुम में सर्वश्रेष्ठ है।

यहाँ पहले उदाहरण में जीव और ब्रह्म का दो पक्षियों के रूप में प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार लोक में पक्षियों के जोड़े वृक्ष पर बैठा करते हैं और उसके फलों को इच्छानुसार खाया करते हैं, या न खाया करते हैं—उसी लोकप्रसिद्ध बर्ताव के अनुरूप संसाररूपी वृक्ष के आश्रित जीवरूपी पक्षी को तो अपने किये कर्मों के फलों को भोगने वाला, परन्तु ब्रह्मरूप दूसरे पक्षी को कर्तृत्व भोक्तृत्व से दूर रहते हुवे केवल साक्षिमात्र कहा है। सो लौकिक व्यवहार शैली से जीव ब्रह्म

सम्बन्धी रहस्य प्रकट करने के कारण उक्त सन्दर्भ लौकिक-भाषा का निदर्शन है।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में इन्द्रिय मनः, प्राण आदि को पुत्र और प्रजापति को पिता कहा गया है। जिस प्रकार लोक में पुत्रों के विवाद हो जाने पर वे अपने पिता से निर्णय मांगा करते हैं और पिता जी किसी विशेष योग्यता के अनुसार अमुक पुत्र को उच्चाधिकार प्रदान किया करते हैं, इसी तरह यहाँ भी वर्णन आता है कि वाणी चक्षुः, श्रोत्र आदि क्रमशः शरीर से निकले, तो भी गूंगा अन्धा और बहरा शरीर जैसे तैसे जीवित रहा, परन्तु प्राण निकलने लगे तो सब इन्द्रिया शिथिल पड़ गईं, शरीर जकड़ सा गया और उसे मिट्टी समझ 'राम राम सत्य' की तैयारी हो गई। बस यह देख इन्द्रियादि ने हाथ बाँध कर प्राणों का प्राधान्य स्वीकार कर लिया। उक्त उदाहरण में भी लोकरीति के आश्रय से 'शारीरिक तत्त्वों के संगठन में प्राणों का स्थान' निरूपण किया है। अतः यह लौकिकी-भाषा का दूसरा नमूना है। इसी शैली का अनुसरण करते हुये पुराणों में भी अनेक गहन तत्त्व लौकिकी-भाषा द्वारा प्रकट किये हैं, यथा—

(क) आसीत् पुरंजनो नाम राजा राजन्! बृहच्छ्रवाः।
तस्याविज्ञातनामासीत्सखाविज्ञातचेष्टितः।
सोन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः॥
ददर्श नवभिर्द्वार्भिः परं लक्षितलक्षणाम्॥
यदृच्छयागतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम्।
भृत्यैर्दशभिरायान्तीमेकैकशतनायकैः॥
पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतिहारेण सर्वतः।
इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः॥

तां प्रविश्य पुरीं राजन्मुमुदाते शतं समाः ।
सप्तोपरिकृतद्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः ॥
महिषो यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ।
स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ॥
द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणं पञ्चबन्धुरम् ।
एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ॥
पंचप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ।
हेमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्म्माक्षयेषुधिः ॥
एकादशचभूनाथः पंचप्रस्थमगाद् वनम् ।
चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ॥
ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् ।
तस्याभजनयत्पुत्रान्पुरंजन्यां पुरंजनः ॥
शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ।
दुहितर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करी ॥
आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम् ।
चण्डवेग इतिख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृपः ॥
गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ।
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः ॥
ते चण्डवेगानुचराः पुरंजनपुरं यदा ।
हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥

स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः ।
पुरंजनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥
कालस्य दुहिता काचित् त्रिलोकीं वरमिच्छती ।
पर्यटन्ती न बर्हिष्मन्प्रत्यनन्दत कश्चन ॥
दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा ।
मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥
कालकन्यापि बुभुजे पुरंजनपुरं बलात् ।
तयोपभुज्यमाना वै यवनाः सर्वतो दिशम् ॥
द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन्सकलां पुरीम् ।
भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वरः प्रत्युपस्थितः ॥
ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ।
विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा ॥
नाविन्दत्तमसाविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ।

(श्रीमद्भागवत ४ । २७—२८—अध्याय)

अर्थात्—'पुरंजन नाम का एक महायशस्वी राजा था । उसका एक अविज्ञात मित्र था, जिसके नाम धाम का पुरजन को कुछ पता न था । पुरंजन ने अपने रहने का स्थान खोजने के लिये पृथ्वी में भ्रमण किया । एक दिन उसने नौ दरवाजों वाला एक नगर देखा । और वहाँ अचानक घूमती हुई एक उत्तम स्त्री को भी देखा । इस स्त्री के साथ ऐसे दस सेवक थे जो कि सौ २ सिपाहियों की जमादारी करते थे । एक पाँच सिर वाला सांप प्रतीहारी बनकर चारों ओर से इस कामिनी की रक्षा कर रहा था । परस्पर चार आंखें हो जाने के बाद पुरंजन और वह

सुन्दरी उस नगर में दम्पती बनकर पूरे सौ वर्ष तक निवास करते रहे। उस नगर के सात दरवाजे ऊपर की ओर थे और दो दरवाजे नीचे की तरफ। रानी जो कुछ चाहती पुरंजन वही किया करता था।

किसी समय पुरंजन एक बड़ा धनुष हाथ में ले शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर पञ्चप्रस्थ नामक वन में गया। इस रथ में पांच घोड़े जुते थे। इसके दण्डों में दो पहिये, एक धुरी, तीन ध्वजदण्ड, पांच बन्धन एक रस्सी, एक सारथी, एक रथी के बैठने का स्थान और दो युग-बन्धन के स्थान हैं। उसमें पांच विषय प्रक्षिप्त होते हैं। इसके सात आवरणवस्त्र हैं और पांच प्रकार की गति है। राजा, स्वर्ण का कवच पहिन अक्षय तर्कस कमर में बाँध इस स्वर्ण-भूषित रथ पर चढ़कर वन को गया। ग्यारह प्रकार की सेना इसके साथ थी। अभिमानपूर्वक धनुर्वाण तानकर उसने शिकार खेला, अनन्तर भूखा प्यासा थककर वापिस घर लौट आया। समय पाकर ऐसे राजा के घर में पुरंजनी में ग्यारह सौ पुत्र और एक सौ दस कन्याएं उत्पन्न हुईं, जो सभी सन्तान माता पिता के कुल की कीर्ति को बढ़ाने वाली थीं। इस प्रकार उसकी आयु का बहुतसा भाग बीत गया। अब वह काल आ पहुँचा जो कि स्त्रीजितों के लिये अत्यन्त अप्रिय है। चण्डवेग नामक गन्धर्वोंका राजा तीन सौ साठ गन्धर्वों को और उतनी ही आधी काली आधी गोरी बलवती गन्धर्वियों को साथ लेकर पुरंजन के नगर पर आक्रमण करने लगा। उस समय नगर के रक्षक प्रजागर ने गन्धर्वों के साथ घमासान युद्ध आरम्भ कर दिया। एक ओर ७२० गन्धर्व सेना थी, दूसरी तरफ अकेला प्रजागर। (लगातार सौ वर्ष तक युद्ध होता रहा) इतने में गन्धर्वराज काल की एक लड़की थी, जिसने कि अपने वर के लिये समस्त संसार को छान डाला था, परन्तु किसीने भी उसे पसन्द नहीं किया था, अतः संसार में उसका नाम दुर्भागिन पड़ गया था। उसने (नारद के कहने से) भय नामक अपने सहोदर भाई को ही वर

लिया था। वह भी अपने पति सहित बलात् पुरंजन के नगर में घुस गई और उसकी यवन फौज ने दरवाजों के रास्तों से नगर में प्रवेश करके समस्त पुर को कुचल डाला। इतने में भय का बड़ा भाई प्रज्वर भी आ पहुँचा और उसने अपने भ्राता की सहायता के लिये पुरंजन के नगर में सब जगह आग लगा दी और बलवान् यवन ने जबर्दस्ती पुरंजन को गिरफ्तार कर लिया। उस समय पुरंजन ऐसा अन्धकार में पड़ा कि अपने बचाने वाले अज्ञात मित्र को भी न बुला सका।

उपर्युक्त कथा में लौकिक शब्दों द्वारा किसी विलासी राजा के जीवन का और उसके अन्तिम परिणाम का चित्रण किया है। लोक में प्रायः जैसी घटनाएं नित्य घटती हैं वैसी वैसी घटनाओं के उल्लेख से उक्त सन्दर्भ में पाठकों के हृदयों को कर्तव्य-पालन की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाणहीनः' के अतिरिक्त शायद ही कोई सहृदय पुरंजन के इस दुःखान्त नाटक को पढ़कर समवेदना अनुभव किये बिना रहे। रह रहकर यह भाव हृदय में प्रबुद्ध होते हैं कि ऐसा प्रभुत्वशाली और सर्वसाधन-सम्पन्न राजा यदि विलासिता के चक्कर में पड़कर, अपने स्वरूप को भूल, कर्तव्यपराङ्मुख न होता तो कदाचित् अन्त में उसका इस प्रकार अपमानपूर्वक सर्वनाश न होता। इन सब भावों की, जागृति का मूलकारण उपर्युक्त घटनाओं से मिलती जुलती हुई आये दिन घटने वाली वे लोक-घटनाएं हैं जो कि सतत अनुभूत होने के कारण हमारे हृदयों में समा सी रही हैं। परन्तु वेदव्यास जी ने उक्त कथा के परिणाम को 'समवेदना' तक ही सीमित नहीं रखा है। जब इस लोकभाषा के गांभीर्यगर्भ में कुछ और नीचे डुबकी लगाई जाती है, तो यही समवेदना आत्मग्लानि के रूप में परिवर्तित हो जाती है। जो विलासिता, जो कर्तव्यपराङ्मुखता विचारे पुरंजन के सिर पर लदी थी वह सब की सब अपने आप में दीख पड़ती है और जो दशा

तथा दुर्गति पुरंजन की हुई थी उससे भी शतगुनी आपत्ति का पहाड़ अपने मस्तक पर टूट पड़ता हुआ नजर आता है । उस समय अन्तरात्मा कह उठता है कि 'यह पुरंजन अण्य कोई नहीं, तू ही पुरंजन है, यह सब सन्दर्भ तेरे ही जीवन का सच्चा फोटो है ।' अगले अध्याय में व्यास जी स्वयं इस लोकभाषा का भांडा फोड़ करते हुये निम्नलिखित सूचना दे देते हैं कि—

(ख) पुरुषं पुरंजनं विद्यात्···पुरुषस्य सखेश्वरः ।
बुद्धिन्तु प्रमदां विद्यात्···संवत्सरश्चण्डवेगः ।।
कालकन्या जरा साक्षात्···प्रज्वारो द्विविधोज्वरः ।
स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ।।

(श्रीमद्भागवत ४ । २९ अध्याय)

अर्थात्—यह जीव ही पुरंजन है, ईश्वर इसका आज्ञात मित्र है । उक्त जीव अनेक योनियों में भटकता हुआ अपने अनुकूल देहरूप नगर को ढूँढता फिरता है । दो आंखें, दो नाक के छिद्र और दो कान मुख, लिङ्ग और गुदा इन नौ छिद्रों वाला मनुष्य शरीर ही सुन्दर नगर है, जिसे यह अपना लेता है । मनुष्य देह रूप नगर में आते ही जीव को बुद्धिरूपिणी स्त्री दीख पड़ती है । दशों इन्द्रियाँ ही इस पुरंजनी के सेवक हैं, जो सैंकड़ों प्रकार के इन्द्रिय-कार्यों के अधिनायक हैं । पाच वृत्तियों वाला प्राण ही पञ्चशीर्ष सर्प है जो प्रतिहारी की तरह इसे सब भांति सुरक्षित रखता है। इस प्रकार जीव और बुद्धिरूप दम्पति मनुष्य देह नगर में आनन्द उपभोग करते हैं । आँख नाक आदि सात ऊपर के दर्वाजे हैं और लिङ्ग गुदा रूप दो नीचे की ओर । जीव बुद्धि के आदेशानुसार सब क्रियाएं दरने लगता है । देह प रथ है, जिसमें पांचों विषयेन्द्रियें रूपी तेज घोड़े जुते हैं, पाप पुण्य दो पहिये हैं, रजः सत्व

और तमः तीनों गुण ध्वज हैं, पञ्च प्राणों से ही पांच जगह बन्धा है। सब घोड़ों की मनरूप एक ही लगाम है, बुद्धि सारथी है, हृदय ही जीव के बैठने का नीड़ = रथ का अग्र स्थान है। सुख और दुःख दोनों जगह बन्धन के स्थान हैं, पाँचों विषय ही प्रहरण हैं तथा अस्थि मांस आदि सातों धातु ही उक्त रथ के आवेष्टन-वस्त्र (झामन) हैं, ऐसे रथ पर सवार होकर जीवरूप पुरंजन मृगतृष्णा की मृगया में आसक्त होता है। ग्यारह इन्द्रियों की फौज उसके साथ रहती है। पाँच विषय ही पञ्चप्रस्थ वन हैं। विषयोपभोग की मृगतृष्णा से थककर हृदय रूप रनिवास में आता है। बुद्धि को अनेक तरह से परेशान पाता है। समय पाकर इसप्रकार अनेक संकल्प विकल्प और वासनाओं का सन्तति-समुदाय भी बढ़ जाता है और जीव इसी परिवार-चक्र में फंस कर अपने आप को भूल बैठता है।

कालके परिमाण का परिचायक संवत्सर ही चण्डवेग नामक गंधर्व-राज है। तीन सौ साठ दिन उसके सेनानायक हैं और अन्धेरी चांदनी दोनों प्रकार की तीन सौ साठ रात्रियां ही गन्धर्वणियाँ हैं, जो सब मिला कर ७२० संख्या वाली सेना जन्मदिन से ही मनुष्य शरीर पर आक्रमण आरम्भ कर देती है। अहङ्कार ही शरीररूप पुरंजन नगर का अध्यक्ष है जो उक्त सेना से अकेला जूझता रहता है। 'जरा' = बुढ़ापा ही काल की कन्या है, जो सब प्राणियों को वरती फिरती है। परन्तु उस हतभागनी को कोई भी पसन्द नहीं करता अतएव वह अन्त में अपने सगे भाई मृत्यु-भय (डर) को अपना पति बनाती है। समय पाकर वह भी पुरंजन नगर पर अपना अधिकार जमा लेती है। आधि-व्याधि, क्षत और शल आदि जरा के अनुचर नाक कान आदि द्वारों से घुसकर शरीर रूप नगर को छिन्न भिन्न करने लगते हैं। मृत्यु का जेठा भाई ज्वर = बुखार ही [illegible] है, जो उक्त नगर को फूंकने लगता है, तब अवसर पाकर मृत्यु रूप यवन

जीव को आ घेरता है। उस समय वह पुरंजन इतना अन्धकारग्रस्त होता है कि उद्धारक अज्ञात मित्र ईश्वर का स्मरण करना भी भूल जाता है।

इस तरह लौकिकी भाषा द्वारा उक्त सन्दर्भ में जीव की इति-कर्तव्यता का निर्देश किया गया है। इसीप्रकार महाभारत में 'संसार अटवी में पथिक रूपी जीव का भ्रान्त हो जाना' यह प्रसिद्ध कथा तथा 'गृध्रगोमायुसंवाद' इसी कोटि के सन्दर्भ हैं। हम विस्तारभय से यहाँ अन्यान्य कथाओं के उद्धरण देना नहीं चाहते, अतः पाठकों को मूल-ग्रन्थों में ही उनका पारायण करना चाहिए।

परकीया-भाषा

जो सन्दर्भ प्रत्यक्ष में अटपटे प्रतीत होते हों और जो बातें न कभी सुनी और न देखीं—ऐसी लोकोत्तर एवं असम्भव सी जंचने वाली भाषा द्वारा जहाँ गूढ़तम वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया हो, वह 'परकीया-भाषा' समझनी चाहिये।

समाधि-भाषा में तो अर्थ-गाम्भीर्य के कारण लोकोत्तरता लक्षित होती है, परन्तु परकीया भाषा में अर्थसंगति ठीक बैठ जाने पर भी असम्भवताभास के कारण तादृश पदार्थ की विद्यमानता में सन्देहाभास खड़ा हो जाता है, यही उक्त दोनों भाषाओं का पार्थक्य है। इसी प्रकार लौकिकी और परकीया दोनों भाषाओं में रूपकालङ्कार का समान समावेश होते हुए भी लौकिकी भाषा में तो लोक-प्रसिद्ध घटनाओं का चित्रण होता है, परन्तु परकीया भाषा में सर्वथा लोकोत्तर घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है, यही इन दोनों का पार्थक्य है। समाधि-भाषा और लौकिकी-भाषा का तो सोदाहरण निरूपण किया जा चुका है। अब प्रसङ्गोपात्त परकीया भाषा का विवेचन किया जाता है, यथा वेद में...

(क) चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

(ऋग्वेद ४ । ५८ । ३)

अर्थात्—(क) एक वृषभ = बैल है, जिसके चार सींग, तीन पाँव, दो सिर और सात हाथ हैं, वह तीन जगह से बन्धा हुआ है और बार बार दड्कता हुआ मनुष्यों में आ घुसा है । परन्तु है वह सब देवों में उत्तम देव । इस मन्त्र में जैसे बैल का वर्णन किया जा रहा है, लोक में कभी किसी ने ऐसे बैल को आज तक न देखा होगा और नां ही सुना होगा । यदि इस मन्त्र के वर्णनानुसार उक्त बैल का चित्र खेंचा जाये तो देखने वाले दङ्ग रह जाएंगे ।

भला ! चार सींग और दो शिर तो हुवे सो हुवे, तथा पांव भी तीन ही रहने दो, परन्तु वे सात हाथ कहां लटकाए जाएंगे ? पाठक जरा कल्पना कर देखें कि इस प्रकार का विलक्षण बैल कहीं मनुष्यों में दड्कता हुआ आ घुसे तो एक बार तो सर्व-साधारण के छक्के छूट जायें ! पुराण-विरोधी आलोचक परकीया भाषा के पुराणवर्णित ऊपर जैसे अंशों पर जो मखौल, जो उपहास, और जो बेपर की उड़ाया करते हैं, उससे कहीं अधिक मजाक एक वेदानभिज्ञ पामर उपर्युक्त मन्त्र पर भी खूब उड़ा सकता है । लेकिन साक्षरों की दृष्टि में इस प्रकार की अनर्गल आलोचनायें हिन्दू-ग्रन्थों के महत्त्व को घटाने के बजाय उल्टा समालोचकम्मन्यों की ही खुश्क खोपड़ी की खुराफात व्यक्त करती हैं । निःसन्देह 'नैषः स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' के अनुसार वे स्वयं अपनी अज्ञता का ढिण्ढोरा पीटते हैं ।

सुतरां वह बैल क्या पदार्थ है, इसका स्पष्टीकरण सुनिये । (१) याज्ञिक लोग कहते हैं कि— यज्ञ ही सर्व कामनाओं का बरसाने

वाला या पूरा करने वाला है, अतएव वही 'वृषभ' है। चारों ऋत्विक् उसके सींग = रक्षक स्थानीय हैं, वेदत्रयी (तीनों वेद) ही पाँव हैं, जिनके आधार पर यज्ञ को खड़ा किया जाता है। यजमान और उसकी पत्नी दोनों शिर हैं, गायत्री आदि सातों छन्दः हाथ हैं, जिनके द्वारा समस्त यज्ञकार्य सम्पादन होता है। प्रातः मध्याह्न और सायंकाल के तीनों सवनों से ही वह बन्धा हुआ है। अतएव यह देवों का देव है तथा मनुष्यों द्वारा आचरणीय होने के कारण उनमें प्रवेश करता है।

सायणाचार्य अपने भाष्य में कहते हैं, कि याज्ञिक अर्थ के अतिरिक्त उक्त सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गाय और घृत यह पांच देवता हैं। तदनुसार इसका अर्थ भी पांचों से सम्बद्ध है। सो (२) अग्निपक्ष में—चारवेद सींग, तीनों सवन पांव, ब्रह्मोदन और प्रवर्ग्य दोनों शिर, सातों छन्द हाथ, मन्त्र, ब्राह्मण = विधि और अर्थवाद तीनों से बन्धा हुआ। (३) सूर्य पक्ष में चारों दिशाएं सींग, वेदत्रयी पांव, दिन रात दो शिर, सातों रश्मियें = किरणें हाथ, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यूः स्थानों में बन्धा हुआ। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' के अनुसार वही वृषभ = वर्षा के करने वाला और मेघादि के रूप में गर्जने वाला है।

पतञ्जलि जी अपने व्याकरण-भाष्य में इसका व्याकरणपरक अर्थ करते हैं, यथा—(४) नाम आख्यात उपसर्ग और निपात चारों सींग, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल पांव, सुबन्त और तिङन्त दो शिर, सातों विभक्तियें हाथ, उरः कण्ठ और शिर तीन स्थानों द्वारा उच्चारित होने के कारण तीन जगह से बन्धा हुआ। वही सब कामों को वर्षाने वाला वृषभ है।

(५) कई पण्डित लोग 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्' के अनुसार धर्म को ही समस्त पदार्थों का वर्षक मानते हैं, अतः वही 'वृषभ' है। चारों वर्ण सींग, श्रुति स्मृति और पुराण तीनों पांव, इष्टापूर्त दोनों शिर,

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि मुख्य सातों अङ्ग हाथ, नित्य नैमित्तिक और काम्य तीन प्रकार के कार्यों में बन्धा हुआ तथा मनुष्य को ही उसके आचरण का अधिकार होने के कारण उनमें प्रवेश करता है। इन अर्थों में जिस पक्ष में जिस वस्तु को सींग, पाँव, हाथ आदि ठहराया है उसका हेतुपुरस्सर विवेचन किया जाए तो इसी एकमात्र का व्याख्यान अनावश्यक बन जाएगा। अतः हम केवल याज्ञिक अर्थ का विवेचन करके शेष अर्थों को भी इसी भांति पल्लवित करने का भार पाठकों पर छोड़ते हैं—

यज्ञ में किसका कौन स्थान है—यह रहस्य उक्त अङ्ग-कल्पना से भली भाँति समझ में आ जाना चाहिए। यज्ञ को सिंह, महिष, मृग या बकरा आदि पशु के रूप में व्यक्त न करके बैल नाम से ही प्रकट करना भी अनेक तत्त्वों से भरपूर है। वस्तुतः यज्ञ में—सिंह की हिंस्र वृत्ति, महिष की मदान्धता, मृग की पलायन-शीलता और बकरे की भीरुता का नामोनिशान भी नहीं है, बल्कि 'वोढारं गौः' श्रुति के अनुसार वह यज्ञ तो बैल के समान ही आपद्ग्रस्त यजमान को पापों की दलदल से निकाल डालने का गौरव रखता है। सौम्यता, भारोद्वहनशक्ति एवं सर्वोपकारिता का जो आदर्श यज्ञ में पाया जाता है, वह बैल को छोड़ कर अन्य किसी पशु में मिलना असम्भव है। अन्य पशु में यह तीनों गुण अप्राप्य हैं, इसलिये यज्ञ को वृषभ शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। वृषभ के शरीर पर आपत्ति आने पर जिस प्रकार अपने सींगों द्वारा वह अपनी रक्षा किया करता है, इसी प्रकार यज्ञ में विधि विपर्यय से जो प्रत्यवाय हो उसे प्रायश्चित्त द्वारा दूर करना होता, अध्वर्यु आदि का कर्तव्य है।

यज्ञ का आधार = जिसके सहारे पर उसे स्थिर रखना है, वह वेदत्रयी है। (इससे तर्क के आधार पर यज्ञ-विधान में न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता—यह भली प्रकार ध्वनित हो जाता है)। शरीर में मुख्य

अङ्ग शिर है, शिर के बिना समस्त अङ्ग व्यर्थ हैं इसीप्रकार सपत्नीक यजमान यज्ञ का शिर है (इससे यह बात बताई गई है कि यज्ञ में यजमान और यजमान-पत्नी दोनों का होना आवश्यक है। इसलिये मर्यादा-पुरुषोतम रामचन्द्र जी ने सीता-त्याग के अनन्तर जो यज्ञ किया था, उसमें पत्नी के स्थान में सुवर्णमयी प्रतिमा रखकर यज्ञ-विधि का पालन किया था अन्यथा यज्ञ होना ही असम्भव था)। जिस प्रकार हाथ, कार्य-सम्पादन का मुख्य साधन है, इसीप्रकार यज्ञ में गायत्री आदि छन्दोज्ञान परमावश्यक है। यज्ञ प्रातः मध्य सायं सवनत्रय से निबद्ध होना चाहिये—इत्यादि यज्ञोपयोगी अनेक शिक्षाएं इस अलंकारकल्पना से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार धर्मपक्ष में ब्राह्मणादि वर्णों की इतिकर्तव्यता का यथायोग विवेचन कर लेना चाहिये।

वेद में परकीया-भाषा के अन्य भी बहुत से उदाहरण विद्यमान हैं। हम विस्तार-भय से उनका यहां लिखना अनावश्यक समझते हैं, तथापि एक आध संकेत किये देते हैं जिससे कि पाठकों के मनोरंजन के साथ २ वेद पुराणादि की शैली समझने का भी अभ्यास बढ़ सके। सुनिये—

(क) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत॥
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः॥
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्।

(यजुर्वेद अध्याय ३१)

अर्थात्—(क) हजार सिर हजार आँख और हजार पाँव वाला एक पुरुष था (शिरों की अपेक्षा निःसन्देह उसे काना और लंगड़ा कहा जा सकता है !) देवताओं ने उस पुरुष का यज्ञ आरम्भ किया। वसन्त ऋतु को घी, ग्रीष्म को समिधा, और शरद् को हविः बनाया, सात परिधियें बनाईं और इक्कीस समिधाएं कीं और उस पुरुष को यज्ञ में पशु बना कर बाँधा गया। इस सन्दर्भ में ईश्वर का वर्णन किया है और उससे सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह रहस्य भी प्रकट किया गया है। समस्त रूपक का सामंजस्य बिठलाने के लिये वेद-भाष्यों का पारायण करना चाहिये। अब हम परकीयाभाषा के पुराणान्तर्गत कतिपय निदर्शन उद्धृत करते हैं, यथा—

(क) एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा।
वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निश्वसन्तावचेतनौ ॥

(पद्म उत्तर ६। १९३। ३८)

अर्थात्—(क) (नारद जी कहते हैं कि मैंने यमुना तट पर देखा कि) वहाँ एक खिन्न मुखवाली युवती स्त्री बैठी है और उसके पास ही दो बूढ़े अचेत पड़े हुये लम्बी सांस ले रहे हैं। (नारद जी के पूछने पर उस स्त्री ने आश्चर्यपूर्वक कहा कि)—

साहं तु तरुणी कस्मात् सुतौ वृद्धाविमौ कुतः।
घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति ॥

(पद्म उत्तर ६। १९३। ५३)

अर्थात्—(मैं माता हूं और ये दोनों मेरे पुत्र हैं) मैं युवती क्यों हूं और ये दोनों मेरे पुत्र वृद्ध क्यों हो गए ? वास्तव में तो माता का जरठ होना और पुत्रों का युवा होना ही घटित होता है। यहाँ

प्रत्यक्ष में माता का युवती होना और पुत्रों का महा वृद्ध हो जाना असंभव-सा प्रतीत होता है। वास्तव में उक्त सन्दर्भ में भक्ति को ही माता कहा गया है और ज्ञान वैराग्य को उसके पुत्र बतलाया गया है। कलिकाल के आरम्भ में और अब भी—'ज्ञान की बात कृपाण की धारा' के अनुसार धारणा, ध्यान, समाधि आदि अष्टाङ्गयोग द्वारा जितात्मा होकर ज्ञान एवं वैराग्य को धारण करने वाले पुरुष बिरले ही मिलते हैं। अतः ग्राहकों के न होने से उक्त दोनों साधनों को यहाँ मृतप्रायः एवं महावृद्ध प्रकट किया है, परन्तु सुगम होने के कारण इस गई गुजरी दशा में भी भक्तिमार्ग के अधिकारी निकलते ही रहते हैं अतः उसे तरुणी बतलाया गया है। यही आशय यहां विवक्षित है। असम्भवाभासोपलक्षित रूपक होने के कारण यह सन्दर्भ 'परकीया भाषा' का अन्यतम उदाहरण है। इसी प्रकार :—

(ख) तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम्॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्॥
गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्।
विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम्॥
पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्।
कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलां बली॥
कोऽवृश्चत्तव पादांस्त्रीन्सौरभेय! चतुष्पद।
इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः॥

निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ।
तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम् ॥
तत्पादमूलं शिरसा समगाद् भयविह्वलः ।
पतितं पादयोर्वीक्ष्य कृपया दीनवत्सलः ॥
शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ।
न वर्तितव्यं भवता कथंचन
क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥
परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः ।
तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥
त्वम्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ ! स्थानं निर्देष्टुमर्हसि ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥
पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः ।
वृषस्य नष्टांस्त्रीन्पादांस्तपः शौचं दयामिति ॥
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीं च समवर्द्धयत् ।

(श्रीमद्भागवत १ । १६-१६ अध्याय)

अर्थात्—(ख) (दिग्विजय से लौटते हुये राजा परीक्षित ने सरस्वती के किनारे देखा) एक गाय और बैल का जोड़ा खड़ा है तथा राजा के समान मुकुट आदि धारण किये एक वृषल—(धर्म विध्वंसक शूद्र) हाथ में दण्ड उठा कर उसे अनाथ की तरह पीट रहा है । वह बैल कमलनाल = बिस के समान धवल है और डर से मूत्र छोड़ रहा है, तथा केवल एक पांव के सहारे दुःखित दशा में खड़ा हुआ शूद्र से पीटा गया कांप रहा है । वह धर्मदुघा गाय भी

शूद्र द्वारा बार बार पांव की ठोकरों से ठुकराई हुई अत्यन्त दीन हो रही है। आंख से आंसू टपक रहे हैं, मानो इसका वत्स नष्ट हो गया। वह दुखित एवं थकित होकर घास को चाह रही है। सुवर्णजटित रथ में बैठे हुये राजा ने पूछा कि मेरी रक्षा में रहने वाली प्रजा को बलात् मारने वाला तू कौन बली है? तथा ऐ चारपाए बैल! तेरे यह तीन पांव किसने काट डाले? (धर्मरूप बैल के सब कुछ बताने पर) राजा ने भूमिरूप गाय और धर्मरूप बैल को आश्वासन दिया, तथा उस कलिकालरूपी राजवेश-धारी शूद्र को मारने के लिये तीखी तलवार उठाई। जब शूद्र ने देखा कि राजा मुझे मार ही डालेगा, तो वह राजवेश त्याग कर भयाकुल हो चरणों में गिर पड़ा। राजा परीक्षित उसे पांव में पड़े देखकर करुणाविष्ट हो गये और उसे शरणागत जान वार न किया, तथा हंसने लगे कि 'ऐ पापिष्ठ! खबरदार! मेरे राज्य की सीमा से बाहर निकल जा।' परीक्षित की ऐसी आज्ञा पाकर खड्ग उठाये साक्षात् काल के समान सिर पर खड़े राजा के प्रति कांपते हुए कलि ने कहा कि—हे धर्मात्मन्! आप मुझे कोई स्थान तो बतला दीजिए जहां मैं गुजर कर सकूं। परीक्षित ने कहा कि जूआ मद्यपान, व्यभिचार और हिंसा यह चारों अधर्म जहां हो रहे हों वहां तू निवास कर। अनन्तर कलि के माँगने पर पाँचवाँ स्थान 'सोना' भी बतलाया। तब राजा ने उस बैल के टूटे हुवे तप, शौच और दया रूप तीनों पांवों को पूर्ववत् जोड़ दिया तथा भूमि को भी आश्वासन देकर समृद्ध किया।

उपर्युक्त सन्दर्भ में एक बैल का तीन पांवों के टूट जाने पर भी एकले पाँव के सहारे खड़ा रहना, गाय के साथ तथा राजा के साथ मनुष्यों की भाँति बातचीत करना एवं पश्चात् राजा द्वारा उसके टूटे हुवे तीनों पांव का तत्काल पूर्ववत् जुड़ जाना इत्यादि असम्भव सी बातें गङ्कित हैं। इसलिये असम्भवाभासोपलक्षित रूप होने के कारण यह

परकीया भाषा का दूसरा उदाहरण है। वास्तव में यहां 'वृषो हि भगवान् धर्मः' इत्यादि स्मृति-वाक्यों के अनुसार धर्म को ही बैल कहा गया है। तपः शौच, दया और सत्य यह चारों धर्म के मुख्य अङ्ग होने के कारण यहाँ पाँव रूप से वर्णित हैं। भूमि का दूसरा नाम गाय भी है। राजा होकर भी जो धर्म और प्रजा पर अत्याचार करते हैं ये ही राजवेशधारी शूद्र कलि के प्रतिनिधि हैं। जान पड़ता है परीक्षित के समय में सरस्वती के पश्चिम किनारे शूद्रप्रायः सामन्त धर्म और धरा का उत्पीड़न करने लग गये थे। उस समय तपः, शौच और दया रूप धर्म के तीन पाँव तो सर्वथा निःशेष हो ही चुके थे। सत्य रूप चौथे पाँव को भी नष्ट करने का प्रयत्न किया जाने लगा था। परीक्षित ने दिग्विजय में बहुत से अधर्म्मियों को मार डाला। अनेकों को अपने शरणागत हो जाने पर देश से निकाला, वा अमुक २ स्थान में नजरबन्द रक्खा, तथा पुनः अपने राज्य में तपश्चर्या, पवित्रता, दयाभाव एवं सत्य की स्थापना की—यह इस कथा का ऐतिहासिक तथ्य है जो परकीया भाषा द्वारा प्रकट किया गया है। साथ ही जूआ (मिथ्याभाषण) मद्यपान (मदान्धता) व्यभिचार (कामोपभोग) और हिंसा (वैर) तथा सुवर्ण (लोभ) इन पांच स्थानों में कलि नामक युग या कलह निवास करता है—यह परमोपयोगी उपदेश भी इस कथानक के उपसंहार से प्रकट कर दिया है।

इस तरह हम त्रिविध भाषा का सोदाहरण निरूपण करने के बाद पाठकों को यह बता देना आवश्यक समझते हैं, कि पुराणान्तरवर्ती प्रत्येक कथा को हमारे पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार किसी उचित श्रेणी में परिगणित करके तत्पश्चात् उसका वास्तविक तात्पर्य समझना चाहिये। जो लोग पुराणों की भाषाटीका में लिखे हुये अक्षरार्थों के आधार पर ऐसे सन्दर्भों को गप्पाष्टक बता कर अपनी मूर्खता का परिचय दिया करते हैं, उन लोगों को कुछ साहित्यशास्त्र का

अध्ययन करना चाहिए, जिससे अभिधार्थ से आगे बढ़कर लाक्षणिक और व्यञ्जक अर्थों के समझने की भी योग्यता हो सके।

यास्काचार्य ने निरुक्त (७ । १ । ३) में उक्त त्रिविध भाषाओं को नामान्तर से स्मरण किया है। आप लिखते हैं कि—

तास्त्रिविधा ऋचः, परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च ।

अर्थात्—वेद की ऋचाएं तीन प्रकार की हैं (१) परोक्षकृत (२) प्रत्यक्षकृत और (३) आध्यात्मिक। सो आध्यात्मिकी को समाधि प्रत्यक्ष को लौकिकी और परोक्ष को परकीया कह सकते हैं। इस प्रकार वेदों और तदनुसारी पुराणों की त्रिविध भाषाओं का मनन करना चाहिये।

अर्थ-विचार

पूर्वाचार्यों ने वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हुये उन्हें कई २ अर्थों में व्याख्यात किया है। वेदार्थ-निर्णय में आजकल निरुक्त का प्राधान्य माना जाता है, या यूं समझिये कि इस समय वैदिक साहित्य-सागर का यही एक रत्न हमारे पास शेष बचा है, जोकि अत्याचारी यवन बादशाहों की अमानुषिक काली करतूत से अग्नि की भेंट न हो सका है और अब भी हमें वेदार्थनिर्णय में गुरु का काम दे रहा है। उक्त ग्रन्थ में एक ही वेदमन्त्र के आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक (कहीं २ ऐतिहासिक और नैरुक्त) पद्धतियों से भिन्न २ अर्थ किये गये हैं, निदर्शनार्थ हम एक मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं, यथा—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता

पृथिव्याः । जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥ (ऋ० अ० ७ अ० ४ व ६)

आधिदैवत पक्ष में—(सोमः) सूर्य [प्रसवनात्] (मतीना) [प्रकाशकर्मणामादित्यरश्मीनां] अपनी प्रकाश किरणों का (दिवः) [द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनां] चमकने वाली किरणों का (पृथिव्याः) [प्रथनकर्मणामादित्यरश्मीनां] फैलने वा फैलाने वाली किरणों का (अग्नेः) [गतिकर्मणामादित्यरश्मीनां] गमन करने वाली किरणों का (सूर्यस्य) [स्वीकरणकर्मणामादित्यरश्मीनां] अपनी ओर आकर्षण करने वाली किरणों का (इन्द्रस्य) [ऐश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनां] सामर्थ्य वाली किरणों का (विष्णोः) [व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनां] व्याप्त हो जाने वाली किरणों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला है जो (पवते) पवित्र करता है (निरुक्त १४ । १२)

अध्यात्मपक्ष में—(सोमः) आत्मा (मतीनां) ज्ञान वाली इन्द्रियों का (दिवः) प्रकाश वाली इन्द्रियों का (सूर्यस्य) ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का (इन्द्रस्य) सामर्थ्यवान् मन का (विष्णोः) व्याप्त हो जाने वाले मन का (जनिता) प्रेरक रूप से उत्पादक है, जो (पवते) पवित्र करता है । (निरुक्त)

उपर्युक्त मन्त्र के सूर्यपरक अर्थ में जिन मति आदि शब्दों द्वारा सूर्यकिरणों के विशिष्ट गुण बताए गये हैं, आत्मपरक अर्थ में उन्हीं मति आदि शब्दों द्वारा इन्द्रियों के विशेष गुण कथन किये हैं । 'सोम' शब्द सूर्य और आत्मा दोनों का वाचक माना गया है । जिस प्रकार समस्त किरणोंका अधिष्ठान सूर्य है इसीप्रकार सब इन्द्रियों का प्रेरक आत्मा है ।

निरुक्त में अन्यत्र भी पचासों अर्थ विभिन्न अर्थों में व्याख्यात हुए

हैं । ऋग्वेद (१।२।३७) वर्णित इन्द्र-वृत्रासुर-संग्राम के विषय में यास्क जी ने लिखा है कि—

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रो असुर इत्यैतिहासिकाः ।। (निरुक्त २ । १६ । २)

अर्थात्—वह वृत्र कौन है ? सो निरुक्तवादी मेघ को वृत्र कहते हैं और इतिहासवादी त्वष्ट्रा के पुत्र एक असुर को वृत्र कहते हैं । यहाँ निरुक्तकार ने दोनों पक्षों को सम्मान दिया है । हमारी इस विस्तृत भूमिका का तात्पर्य है कि पुरातन काल से बहुत से वेदमन्त्रों के कई २ अर्थ करने की शैली चली आई है । हम पीछे 'चत्वारि शृंगा' आदि मन्त्र के चार पाँच अर्थ लिख आए हैं । पाठक वहाँ देखकर हमारे विचार का सामञ्जस्य परख सकते हैं ।

वेदानभिज्ञ मनुष्य को एक मन्त्र के कई अर्थ देखकर यह भ्रम हो सकता है, कि वस्तुतः सत्य अर्थ कौन सा है, परन्तु एक वेदज्ञ की दृष्टि में सभी अर्थ यथार्थ ही होते हैं । उनमें से किसी एक को सत्य मान कर दूसरे को मिथ्या बताने का किसी भी सम्प्रदाय को अधिकार नहीं हो सकता । जिसप्रकार पूर्वोक्त 'सोमः पवते' आदि मन्त्र का अर्थ आधि-दैवत पक्षवादी पुरुष 'सूर्यपरक' कर सकता है, परन्तु उसे इसके 'आत्म-परक' आध्यात्मिक अर्थ के निषेध करने का कोई स्वत्व नहीं है तथा इन्द्र-वृत्रासुर-संग्राम-प्रतिपादक मन्त्रों में निरुक्तवादी लोग वृत्र शब्द का अर्थ मेघ कर सकते हैं, परन्तु उन्हें इतिहासवादियों के अभिमत 'त्वाष्ट्र' असुर अर्थ को मिथ्या कहने का अधिकार नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि व्याकरण आदि वेदाङ्गों से अविरुद्ध और युक्तियुक्त जितने भी अर्थ होंगे वे सभी यथार्थ माने जावेंगे । अधिकारियों को रुचिभेद से उनमें से जो रुचिकर हो वे उसे ग्रहण कर सकते हैं । यहां तक हमने ऋषि-सम्मत वेदार्थ निर्णय-शैली का विवेचन किया है । अब पुराणों के सम्बन्ध में

भी जो अर्थ करने की शैली प्राचीन काल से चली आती है उस पर विचार कीजिये ।

पुराणों में अधिकाँश वर्णन ऐसे हैं जो कि आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के अर्थों में पूर्णरूप से घटित होते हैं । एक पुराण में यदि उसे आध्यात्मिक अर्थ का प्राधान्य सामने रख कर कहा गया है, तो पुराणान्तर में उसे ही आधिभौतिक या आधिदैविक अर्थ की मुख्यता से वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ हम 'ब्रह्मा-दुहिता' से सम्बन्ध रखने वाली प्रसिद्ध वैदिक कथा को ही सामने रखते हैं । यह कथा प्रायः सभी पुराणों में आती है । श्रीमद्भागवत पुराण (स्क० ३ अ० १२) में, ब्रह्मवैवर्त पुराण (ख० ४ अ० ३६) में और देवीभागवत (स्कन्ध १ अ० १४ श्लोक ६६) में भी इसका संकेत मिलता है, परन्तु उक्त तीनों पुराणों में यह भिन्न २ अर्थों को मुख्य रख कर लिखी गई है । यह बात उन २ पुराणों में उक्त कथा का उपसंहार देखने से भली भाँति स्पष्ट हो जाती है ।

श्रीमद्भागवत में यह कथा आधिभौतिक अर्थ में कही गई है । वहाँ इसका यह तात्पर्य है कि प्रजापति (सूर्य) अपनी दुहिता (उषा) के पीछे दौड़ता है, मरीचि आदि पुत्र (६ किरणें उसे रोकते हैं, वह लज्जित होकर अपने कलेवर (वाष्पमय प्रभातकालीन बादल) को त्याग देता है, वह त्यागा हुआ शरीर सब दिशाओं में फैल जाता है जिसे वैज्ञानिक लोग—

नीहारं यद् विदुस्तमः । (भा० ३ । १२ । ३४)

अर्थात्—नीहार = कुहरा = धुन्ध कहते हैं । यहां उपसंहार से स्पष्ट हो गया, कि कुहरे की उत्पत्ति बताने के लिये ही इस रूपक का उल्लेख किया है ।

ब्रह्मवैवर्तत पुराण में यही कथा आध्यात्मिक अर्थ को मुख्य मानकर लिखी गई है। वहाँ उपसंहार में स्पष्ट कर दिया गया है कि —

मन:स्वरूपो ब्रह्मा मे ज्ञानरूपो महेश्वर:।
वागधिष्ठात्री देवी या सा स्वयं च सरस्वती ॥

(४ । ३६ । ५८)

अर्थात्—मनरूप ब्रह्मा, वाणीस्वरूप सरस्वती के पीछे दौड़ता है तब ज्ञानरूप शिव अपने पिता मन का अहंकार रूप मस्तक काट डालता है। यहाँ मरीचि आदि के बजाय शिव द्वारा ब्रह्मा के मस्तक काटने का उल्लेख है, क्योंकि आध्यात्मिक अर्थ में मरीचि आदि ६ पुत्र (किरणें) घटित नहीं हो सकते थे और नाही ब्रह्मा का शरीर त्याग उचित जंचता था, बल्कि ज्ञानरूप महेश्वर द्वारा मन:रूप ब्रह्मा का अहंकार रूप पांचवां मस्तक काट डालना ही उचित प्रतीत होता था। अतएव ब्रह्मवैवर्त में वह लिखा है, जो कि आध्यात्मिक अर्थ में सर्वथा घटित हो सकता है।

'देवीभागवत' में उक्त कथा के आधिदैविक अर्थ को मुख्य मानकर इसका संकेत किया है। अत: वहां ब्रह्मलोक के अधिष्ठाता श्री ब्रह्मा जी अभिप्रेत हैं। तात्पर्य यह हुआ कि यह एक ही कथा तीन पुराणों में तीन अर्थों में प्रयुक्त हुई है।

इस समय पुराणों का अनुसंधान करने वाले महानुभाव अर्थ-विचार में एक दूसरे से किंचित् मतभेद रखते हैं। थियासोफिल सोसायटी की ओर से पुराणों के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें प्राय: रूपक-आलङ्कारिक शैली को मुख्य रक्खा गया है। एक बड़ा जनसमुदाय इस शैली के प्रताप से पुराणों का भक्त बन गया है। हम जहाँ उक्त सोसायटी के पण्डित-मण्डल के उद्योग की भूरि भूरि प्रशंसा करेंगे, वहां यह कहे बिना भी नहीं रह सकते, कि आपके मतानुसार सभी कथाओं को केवल

रूपक स्वीकार करने पर देवसत्ता और ऐतिहासिक तथ्यों पर पानी फिर जाने का भय है। अतः हमारी तुच्छ सम्मति में वास्तविकता को छोड़ कर सभी कथाओं को रूपक के सांचे में ढालने का उद्योग वैसा ही है जैसा कि कोई पुरुष अपनी जिह्वा का प्रयोजन बोलनामात्र समझकर रसास्वादन से पराङ्मुख हो जाय। कहना न होगा कि वास्तव में जिह्वा बोलने और रस चखने—दोनों प्रयोजनों की साधक है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष है, जो पुराण की किसी भी कथा को आध्यात्मिक या आधिभौतिक तथा रूपक मानने को तैयार नहीं। इस समुदाय में संस्कृत-भाषा के प्रौढ़ विद्वान्, पुराणों के विशेष मर्मज्ञ बड़े २ युक्तिविशारद महानुभाव हैं। इनकी ओर से भी कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर पुराणों की महिमा स्थापित की गई है। इस समुदाय की सम्मति में रूपककल्पना महापाप माना जाता है। हम अपने माननीय इन महानुभावों को भी नम्रतापूर्वक यह कहे बिना नहीं रह सकते कि आपके मतानुसार यदि आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ करने से—देव-सत्ता और ऐतिहासिक तथ्य का लोप हो जाता है तो केवल ऐतिहासिक और आधिदैविक अर्थ करने से भी तो वही अनर्थ उपस्थित होता है। कल्पना कीजिए कि आपकी सम्मति में 'ब्रह्मा दुहिता' वाली कथा में ब्रह्मलोक में अधिष्ठाता, सृष्टि के रचयिता श्री ब्रह्मा जी महाराज अभिप्रेत हैं। यहां सूर्य उषा और मनःवाणी-परक आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ नहीं करने चाहियें। इससे जहाँ एक अंश की पुष्टि होगी, वहां दो अंशों का चकनाचूर भी तो हो जायगा, क्योंकि वेद (ऋग्वेद ८। १। २७) ब्राह्मण (शतपथ १। ७। ४। १) और कुमारिल भट्ट ने तन्त्र-वार्तिक १। ३। ७ में इसे 'सूर्य-उषा' परक कथन किया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (४।३६।५८) में स्वयं व्यासजी इसे मनः-वाणी-परक कह रहे हैं। ऐसी अवस्था में किसी एक पक्ष को मानकर शेष पक्षों की अवहेलना नहीं की जा सकती। इसलिये हम तो

स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं कि न तो थियासोफिकल सोसायटी के मतानुसार पुराणों को केवल रूपकालङ्कार के साँचे में ढालना चाहिए, और नांही दूसरे सम्प्रदाय की सम्मत्यनुसार केवल आधिदैविक अर्थ को मान कर शेष अर्थों की अवहेलना करनी चाहिए। किन्तु यथासम्भव आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक एवं ऐतिहासिक---सभी प्रकार के अर्थ ठीक और सत्य मानने चाहिएं। अधिकारी भेद से जिसे जो रुचिकर हो वह उसे ग्रहण कर सकता है। एक कथा के कई २ अर्थ होना, यह पुराणों के लिए दूषण नहीं, किन्तु भूषण है। जैसे वेदों में एक ही मन्त्र कई स्थानों में आता है, परन्तु आर्षसिद्धान्तानुसार इसे पुनरुक्त दोष नहीं कहा जा सकता, किन्तु वह मन्त्र प्रसङ्गानुसार अर्थभेद से कई कार्यों में विनियुक्त माना जाता है। इसीप्रकार पुराणों की कथाएं भी अधिकारी-भेद से यथायोग्य अर्थों वाली हैं। 'चन्द्र तारा' की कथा का जहाँ एक ओर खगोल-विषयक अर्थ होता है वहाँ चन्द्रवंश की उत्पत्ति से भी उसका सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ के 'सन्देहाभासनिवारणाध्याय' में बहुत सी कथाओं का इसी शैली से विवेचन किया गया है। आशा है पाठक महोदय हमारे भाव को समझकर कथाओं का पारायण करेंगे।

पुराण-शैली की विशेषता-विमिश्रण

यहाँ तक हमने प्रायः समस्त शास्त्रों में अविशेष रूप से दीख पड़ने वाली शैली का निरूपण किया है। लौकिक वैदिक किंवा आर्ष शब्दों का प्रयोग, रोचक भयानक और यथार्थ वचनों का अस्तित्व, समाधि लौकिकी और परकीया तीनों भाषाओं का समावेश, एवं आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक आदि अनेक अर्थों का सामञ्जस्य—न्यूनाधिक्य सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, परन्तु व्यास जी ने पुराणों की शैली में जो एक मनन करने योग्य विलक्षणता दिखाई है, वह अन्य किसी ग्रन्थ में ढूंढने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती। हमारे विचार में

उस विशेषता को जान लेना ही पुराणों का वास्तविक स्वाध्याय है, अतः इस प्रघट्ट में हम उस विशेषता का ही निरूपण करते हैं।

पुराणों के प्रतिपाद्य-विषय (१) सर्ग, (२) प्रतिसर्ग, (३) वंश, (४) मन्वन्तर और (५) वंशानुचरित यह पाँच हैं। जैसा कि हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे,—श्री वेदव्यास जी ने उक्त विषयों का वर्णन करते हुए एक ही कथानक में—और कहीं २ तो एक पद्य में ही मानव-इतिहास के साथ २ विज्ञान, अध्यात्म, दैवत एवं अन्यान्य धार्मिक-तत्त्वों को ऐसा विमिश्रित कर डाला है, कि जिनका विश्लेषण करना सर्वसाधारण का काम नहीं। एक सन्दर्भ उपक्रम और उपसंहार से ऐतिहासिक प्रतीत होता है, परन्तु उसी के अन्तर्गत विज्ञान आदि का अंश ऐसे ढंग से मिल जुल कर तादात्म्य रूप हो रहा है, कि जिसका पृथक्करण किये बिना ऐतिहासिक तथ्य को समझना कठिन हो जाता है। यदि ऐसे कथानकों को साद्यन्त इतिहास समझने लगें तो तदन्तर्वर्ती, अध्यात्म आदि विषयों के विमिश्रित-अंश में अनेक प्रकार की असंभवता, अश्लीलता, परस्पर-विरुद्धता एवं धर्मविरुद्धता का आभास प्रतीत होने लगता है, जिससे अमुक व्यक्ति का विशुद्ध ऐतिहासिक-चरित्र जानना असंभव हो जाता है। इसीप्रकार यदि आध्यात्मिक अंश को मुख्य मानकर तदनुरूप समस्त सन्दर्भ का रूपकप्राय: अर्थ-समन्वय करने लगें तब इतिहास पर पानी फिर जाता है। इस तरह उक्त विमिश्रित संदर्भों के प्रत्येक अंश को पृथक् २ किये बिना पुराणों के वास्तविक अर्थों का समझना सर्वथा दुरूह है। हम कतिपय उदाहरण देकर उक्त विशेषता का स्पष्टीकरण करते हैं, यथा—

(इतिहास और धर्मतत्त्व का विमिश्रण)

(क) प्रसूतिं मानवीं दक्ष, उपयेमे ह्यजात्मजः।
　　तस्यां ससर्ज दुहितॄः, षोडशामललोचनाः॥

त्रयोदशादाद्धर्माय, तथैकामग्नये विभुः ।
पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः ।
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिधर्मस्य पत्नयः ॥
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया ।
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ॥
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत ।
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् ॥
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ।
ताविमौ हि भगवतो हरेरंशाविहागतौ ॥
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ।
स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ॥
पावकं पवमानं च शुचिञ्च हुतभोजनम् ।
तेभ्योऽग्नयः समभवंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ।
वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥
आग्नेया इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोम्याः पितर आज्यपाः ।
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ॥
भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।

आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥

(श्रीमद्भागवत ४ । १ । ४७-६५)

अर्थात्—(क) ब्रह्मपुत्र दक्ष ने मनु की कन्या प्रसूति से विवाह किया, उसके सोलह कन्याएं उत्पन्न हुईं, जिनमें से १३ कन्याएं धर्म को विवाही गईं। एक अग्नि को, एक संयुक्त पितरों को और सोलहवीं महादेव को। धर्म के साथ विवाही हुई कन्याओं के नाम—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितीक्षा, ह्री और मूर्ति थे। आगे धर्म द्वारा उक्त पत्नियों में निम्नलिखित पुत्र उत्पन हुवे। श्रद्धा से शुभ, मैत्री से प्रसाद, दया से अभय, शान्ति से सुख, तुष्टि से मुद, पुष्टि से स्मय, क्रिया से योग, उन्नति से दर्प, बुद्धि से अर्थ, मेधा से स्मृति, तितिक्षा से क्षेम, ह्री से प्रश्रय, और मूर्ति से नर नारायण ऋषि। यही दोनों हरि के अवतार होकर यदु और कुरुकुल में कृष्ण तथा अर्जुन रूप में प्रकट हुये थे।

स्वाहा नामक दक्ष की चौदहवीं कन्या में अग्नि द्वारा हवि को खाने वाले पावक, पवमान और शुचि ये तीन पुत्र उत्पन्न हुवे। इन्हीं तीनों पुत्रों से आगे ४५ अग्नि नाम के पुत्र हुवे, सो सब मिलाकर पितृपितामह सहित ४९ आग्नेयी इष्टिकायें ब्रह्मवादियों द्वारा यज्ञ-विज्ञान में निरूपित की जाती हैं। अग्निष्वात्ता, बर्हिषद, सौम्य और आज्यपा से संयुक्त पितर हैं। इनके साथ दक्ष की पंद्रहवीं कन्या स्वधा का विवाह था, जिस से वयुना और धारिणी नामक दो कन्याएं उत्पन्न हुईं। सोलहवीं कन्या का नाम सती था, जो रुद्र से विवाही गई थी, (जिसने तरुण अवस्था में ही दक्ष से रुष्ट होकर उसी के यज्ञ में योगाग्नि से शरीर त्याग दिया का अतः) इससे कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुईं।

दक्ष प्रजापति निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, क्योंकि इन्हीं की असिक्नी नाम वाली दूसरी स्त्री से अन्यान्य कन्याओं के अतिरिक्त अदिति

नाम वाली एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जो कश्यप के साथ विवाही गई थी। आगे चलकर इसीसे विवस्वान् पुत्र उत्पन्न हुवा और उसके श्राद्धदेव तथा मनु नाम के पुत्र हुये। यही मनु प्रसिद्ध सूर्यवंश के आदि पुरुष थे। इस प्रकार दक्ष प्रजापति सूर्यवंश के नाना लगते हैं।

इसी तरह दक्ष की दिति नाम कन्या से कश्यप द्वारा दैत्यवंश की उत्पत्ति हुई है जिस वंश में आगे चलकर प्रह्लाद बली आदि अनेक आदर्श-भक्त उत्पन्न हुवे हैं। और भी अनेक कारण दिये जा सकते हैं जिनसे दक्ष का ऐतिहासिक व्यक्ति होना सुनिश्चित है। परन्तु उपर्युक्त उद्धरण में दक्ष की जिन श्रद्धा, मैत्री आदि कन्याओं का उल्लेख मिलता है, उनके पति और पुत्र आदि सब के नामों का समन्वय करने पर कोई भी समझदार मनुष्य इनमें से किसी भी व्यक्ति को ऐतिहासिक शरीरधारी व्यक्ति मानने के लिये तैयार न होगा, कारण कि धर्म के साथ जिन कन्याओं का विवाह होना लिखा है उनके नाम ही यह व्यक्त कर देते ह कि यहां व्यास जी ने धर्म के साथ सम्बद्ध होने वाले श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति आदि २ गुणों को ही रूपकालङ्कार से पति-पत्नी रूप में वर्णित किया है। धर्मद्वारा उक्त पत्नियों में जो २ पुत्र होने लिखे हैं उनके नाम भी रूपकालङ्कार का समर्थन करते हैं, क्योंकि— धर्म और श्रद्धा के संयोग से शुभ का होना उचित ही है, मैत्री से प्रसाद—प्रसन्नता का होना स्वाभाविक है, और दया से अभय की उत्पत्ति लोकप्रसिद्ध है। इसी तरह धर्म की अन्यान्य पत्नियों के नामों साथ तत्पुत्रों के नामों का सम्बन्ध भी उपर्युक्त वर्णन को आलङ्कारिक प्रकट करता है। अग्नि के साथ स्वाहा का और पितरों के साथ स्वधा का सम्बन्ध भी आलङ्कारिक ही प्रतीत होता है। अन्यथा यज्ञ में चयन की जाने वाली उनंचास आग्नेयी इष्टिकाओं के साथ स्वाहा का सम्बन्ध जोड़ना, तथा अग्निष्वात्ता बर्हिषद् सौम्य और आज्यपा नामक अनेक व्यक्तियों के साथ अकेली स्वधा का विवाहा जाना क्या अर्थ रखता है ?

आगे चलकर श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध अध्याय छः में फिर दक्ष प्रजापति का वर्णन आता है। वहां धर्म के साथ दस कन्याओं का विवाह होना लिखा है, तथा उनके नाम भी—भानु, लम्बा, ककुप्, जानि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वरु, मुहूर्ता और सङ्कल्पा आदि लिखे हैं। तथा इनमें उत्पन्न होने वाले पुत्र भी इन्द्रसेन, विद्योत, संकट, श्रद्धा आदि लिखे हैं। उक्त समस्त संदर्भ का समन्वय करने पर यही जान पड़ता है कि पहिले वर्णन में धर्म के साथ जिन कन्याओं का विवाह लिखा है वे तो प्रायः धर्माङ्गभूत क्रियाओं के ही कल्पित नाम हैं किन्तु दूसरे वर्णन में जो दश कन्याएं लिखी हैं उनका वैयक्तिक इतिहास से सम्बन्ध अवश्य है। इसी तरह पहिले वर्णन में 'स्वाहा' का जहां रूपकालङ्कार से यज्ञेष्टि-काओं के साथ सम्बन्ध प्रकट किया है वहां दूसरे वर्णन में ऐतिहासिक व्यक्ति 'अंगिरा' ऋषि से उसका विवाहा जाना स्पष्ट है। इसी भांति 'स्वधा' शब्द का और तन्नामक कन्या का पितरों से सम्बन्ध प्रकट करना भी आलङ्कारिक एवं ऐतिहासिक दोनों पक्षों में श्लिष्ट होता है। इसलिये इस सन्दर्भ में इतिहास और धर्मतत्त्व का विमिश्रण स्पष्ट है।

इतिहास और भौतिकविज्ञानका विमिश्रण

(ख) सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात्।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिपितृसमो गुणैः॥
तस्य दृग्भ्योऽभवत्पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल।
विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः॥
सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम्।
पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात्तारां नाम हरद् बलात्॥
यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात्।

नात्यजत्तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ।।
शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत्सासुरोडुपम् ।
हरो गुरुसुतं स्नेहात्सर्वभूतगणावृतः ।।
सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वगात् ।
सुरासुरविनाशोभूत्समरस्तारकामयः ।।
निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत् ।
तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत्पतिः ।।
त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे ! मत्क्षेत्रादाहितं परैः ।
नाहं त्वां भस्मसात्कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति ।।
तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम् ।
स्पृहामांगिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ।।
ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन्विवदमानयोः ।
ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन् ।।
सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ।
तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्याभिधां नृप ! ।।

(श्रीमद्भागवत ९ । १४ । २--१३)

अर्थात्—(ख) अनन्त शिर वाले विराट् पुरुष से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । उस ब्रह्मा से गुणों में पिता के समान अत्रि पुत्र हुये । अत्रि की दृष्टि से अमृतमय चन्द्रमा पुत्र उत्पन्न हुआ । ब्रह्मा जी ने उसको ब्राह्मणों औषधियों और नक्षत्रों का अधिपति नियत किया और उसने तीनों लोकों को जीत कर राजसूय यज्ञ किया । एक बार घमण्ड से चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को छीन लिया । गुरु ने बार २

याचना की तब भी उसने तारा को न लौटाया। इसी कारण से देवता और दानवों में घोर संग्राम ठन गया। इधर शुक्राचार्य ने बृहस्पति के द्वेष से चन्द्रमा को असुरों के पक्ष में मिला लिया। उधर अंगिरा से प्राप्तविद्य होने के कारण भूतगण सहित शिव भगवान् ने अपने गुरुपुत्र बृहस्पति का पक्ष लिया और देवगण सहित इन्द्र ने भी अपने गुरु की सहायता की। इस तरह दोनों पक्ष बन्ध जाने पर परस्पर संघर्ष से देव और दानवों का विनाश हो गया। 'यह तारागणों का पारस्परिक युद्ध समझना चाहिये।' अंगिरा के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा जी ने चन्द्रमा को झिड़क कर तारा स्वपति बृहस्पति को दिलवा दी। परन्तु बृहस्पति ने तारा को सगर्भा जानकर कहा कि हे दुर्बुद्धे! मेरे क्षेत्र में दूसरे के बोये बीज को तू जल्दी निकाल, नहीं तो तुझे भस्म कर डालूंगा। मुझे सन्तान की इच्छा नहीं है, तू स्त्री है इसीलिये अवध्य समझता हूं। तारा ने लज्जित होकर सोने के समान कान्ति वाले पुत्र को जना तो इसे देख बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों ने ही लेने की इच्छा की, और—'यह बालक मेरा है तुम्हारा नहीं'— ऐसा कहकर परस्पर झगड़ा करने लगे। तब ब्रह्मा जी ने एकान्त में बुला कर सान्त्वना देते हुये तारा से पूछा और उसने धीरे से 'चन्द्रमा का' ऐसा बताया। तब पुत्र चन्द्रमा ने ग्रहण किया और ब्रह्मा जी ने उसका नाम 'बुध' रक्खा।

यह कथा इसी प्रकार 'अथर्ववेद-संहिता' (५ । १७ । २–५) में लिखी है। सन्देहाभासनिवारणाध्याय में इसका समस्त रहस्य प्रकट किया जायेगा, अतः यहाँ अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। यहाँ केवल एतावन्मात्र बताना आवश्यक होगा कि एक तरफ तो यह कथा चन्द्रवंश के इतिहास से सम्बन्ध रखती है और दूसरी तरफ आकाशस्थ बुध नामक ग्रह की वैज्ञानिक उत्पत्ति इससे प्रकट की गई है। ऐतिहासिक पक्ष में— ब्रह्मा से अत्रि, अत्रि से चन्द्रमा, चन्द्रमा से बुध और बुध से पुरुरवा— इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्तियों की वंश परम्परा इससे जानी जाती है।

वैज्ञानिक पक्ष में – बृहस्पति नामक ग्रह की कक्षा में घूमने वाला तारा नामक उपग्रह – चन्द्रपिण्ड के आकर्षण से उसकी कक्षा में आ गया, जिससे समस्त तारागण के आकर्षण विकर्षण में उथल पुथल मच गई। अनन्तर समय पाकर सूर्य-रूप प्रजापति के अत्यन्त आकर्षण वेग से लौट कर फिर वह तारा नामक उपग्रह बृहस्पति की कक्षा में ही आ गया परन्तु इस आकर्षण विकर्षण की खैंचातानी में चन्द्रमा का बहुत सा भाग टूट कर उस उपग्रह का साम्य सा हो गया था जो पश्चात् आकाशस्थ आग्नेय वाष्प के मिश्रण से एक स्वतन्त्र ग्रह बन गया जिसे आज कल बुध कहा जाता है ! क्योंकि बुध में चन्द्रमा का टूटा हुआ बहुत सा अंश विद्यमान था, अतएव वह उसी का पुत्र माना गया, जो अब भी गति विगति आदि में चन्द्रमा से ही समता रखता है। यही वैज्ञानिक भाव यहां रूपकालङ्कार से प्रकट किया है जो कि अथर्वसंहिता के मन्त्रों की ही विस्पष्ट व्याख्या कोई बुद्धिहीन मनुष्य उक्त वैज्ञानिक रहस्य को ऐतिहासिक घटना न समझ बैठे इसलिये व्यास जी ने बड़ी चातुरी के साथ स्पष्ट शब्दों में मूल में ही इसकी आलङ्कारिकता स्पष्ट कर दी यथा—

समरस्तारकामयः। (श्रीमद्भागवत ९ । १-४ । ७)

अर्थात्—यह युद्ध तारागणों का पारस्परिक संघर्ष ही समझना चाहिए।

शुक्र नामक ग्रह और उसके समकक्ष अन्यान्य ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि चन्द्रपिण्ड के अनुकूल आकर्षण में थे, और सूर्य, वायुचक्र, तथा अन्यान्य तारे सितारे सैय्यारे बृहस्पति पिण्ड की अनुकूलता में आकृष्ट थे। यही ज्योतिष शास्त्र प्रसिद्ध 'ग्रह-युद्ध' यहां देवासुर संग्राम रूप से वर्णित है। इस तरह इस संदर्भ का विश्लेषण करके ऐतिहासिक और वैज्ञानिक तत्त्वों की सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिये फिर किसी वज्रमूर्ख को वैज्ञानिक अंश के विमिश्रण से ऐतिहासिक तथ्य में अश्लीलभास का भ्रम न होगा।

इसी तरह 'ब्रह्मा-पुत्री' 'इन्द्रवृत्रासुर' 'इन्द्रअहिल्या' और 'उतथ्य-ममता' आदि से सम्बन्ध रखने वाली पचासों कथाएं भी इतिहास के साथ २ अध्यात्म, देवचारित्र्य, भौतिकविज्ञान और धर्मतत्त्व आदि रहस्यों के विमिश्रण से परिपूरित हैं जिनका उचित विश्लेषण करने पर ही जिज्ञासु को ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हो सकता है।

यही पुराणशैली की विशेषता है जिस का मनन करने पर पुराणों में प्रतीत होने वाले असंभव, अश्लील परस्पर-विरोध और धर्म-विरोध आदि दोष दोषाभास में परिणत हो जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आखिर श्री वेदव्यास जी ने विमिश्रण का यह गड़बड़झाला किया ही क्यों ? जिससे सर्वसाधारण को चक्कर में पड़कर मनमाने दोष लगाने का अवसर मिल गया ! इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि आर्यसंस्कृति में अनादि काल से गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय प्रणालि को बहुत महत्त्व दिया गया है। इसीलिए सभी ग्रन्थों में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य जानबूझ कर रक्खा गया है जो गुरुचरणों में बैठकर अधिकारी शिष्य को ही प्राप्त हो सकता है। आज के युग की तरह अनधिकारी लोग केवल 'मुतायला' करके आर्ष-साहित्य के तत्त्व को नहीं जान सकते थे। जैसे अमूल्य रत्नों को पेटियों में बन्द करके ताले लगा दिये जाते हैं और रखने के स्थान का द्वार भी ऐसा गुप्त और अटपटा बना दिया जाता है कि जिसमें सर्वसाधारण का प्रवेश ही न होने पाए, ठीक इसी भांति जिन तत्त्वों पर हिन्दूराष्ट्र की सार्वभौमिकता निर्भर थी उन तत्त्वों पर सदा नियन्त्रण रखा जाता था। जैसे आजकल अमेरिका परमाणुबम के रहस्यों को केवल अपने लिये सुरक्षित रखकर संसार पर अपना प्रभुत्व रखना चाहता है, अन्यान्य स्वतन्त्र राष्ट्र भी अपनी अपनी खोज का गर्व रखते हैं और उसे सुरक्षित रखते हैं, इसीप्रकार आर्यजाति ने भी अपने वैदिक रहस्यों को सुरक्षित

रक्खा था। आज की सुरक्षा का आधार तो केवल गोरी या काली चमड़ी का तारतम्य तथा शासक और दास भेद है, परन्तु हमारी सभ्यता में—'असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः' के अनुसार अनधिकारी और अधिकारी बनने के लिये तत्तत् व्यक्ति की आध्यात्मिक योग्यता ही एकमात्र प्रधान आधार थी। सो पौराणिक रहस्य की सुरक्षा का अन्यतम प्रयत्न यह विमिश्रण शैली है ! इससे ऐरे गैरे नत्थू खैरे अनधिकारियों को पुराणों द्वारा वेदों के गहन तत्त्वों तक पहुँचने का अवसर नहीं दिया गया।

इस प्रकार हम पुराणान्तर्वर्ती आर्ष और पारिभाषिक शब्दों, रोचक भयानक और यथार्थ वचनों, समाधि लौकिकी और परकीया नामक त्रिविध भाषाओं, आध्यात्मिकादि बहुविध अर्थों के निरूपण द्वारा पुराणों की शैली और उसकी लोकोत्तर विशेषता को दिखाने के अनन्तर इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं।

शब्द-वाक्य-विन्यास विलक्षण, अर्थ और भाषा सरहस्य।
अद्भुत शैली सुपुराणों की, यही छठा अध्याय प्रशस्य॥

* छठा अध्याय समाप्त *

विषय-विवेचनाध्यायः

(सातवां-अध्याय)

सर्गो विसर्गो मनवो वंशास्तच्चरितानि च ।
पुराण-विषयाः पञ्च साङ्गोपाङ्गा इहाङ्किताः ॥

यद्यपि पुराणों का विषय पुराणों के पढ़ने से ही सर्वांश में विदित हो सकता है तथापि 'विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी' इन चारों अनुबन्धों के निरूपण करने पर ही व्याख्यान की पूर्णता मानी जाती है, एतदर्थ अन्यतम अनुबन्ध 'विषय' के परिज्ञानार्थ इस अध्याय में पुराणों के मुख्य विषयों का भी प्रतिपादिन किया जाता है ।

पुराणों के पांच विषय

प्रायः सभी पुराणों में पुराणों के पांच विषय मुख्य माने जाते हैं, अतः साक्षर समाज में नीचे लिखा श्लोक खूब प्रचलित है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥
(शुक्रनीति ४ । ९३–९४)

अर्थात्—सर्ग—(सूक्ष्म तत्त्वों की रचना उनका विकास अपक्षय और तिरोभाव) प्रतिसर्ग—(स्थूल जगत् की उत्पत्ति स्थिति और उसका संहार) वंश—(ऐतिहासिक व्यक्तियों की वंशपरम्परा) मन्वन्तर— (अमुक घटना का किंवा अमुक व्यक्ति का समय जानने के लिये पौराणिक पद्धति का मन्वात्मक विधान) और वंशानुचरित— (धर्मसंकट के समय न्यायपथ निर्धारण करने में मनुष्य समाज के काम में आने वाले अनेक व्यक्तियों के अनुकरणीय जीवन चरित) ये पांच प्रधान विषय पुराणों में वर्णित हैं।

उपर्युक्त श्लोक ब्रह्माण्डपुराण (१।१।३७-३८) वायु (४ १०—११) मत्स्य, (५३ । ६५) कूर्म (१ । १ । १२) शिव (५ । १ ।३७) गरुड़ (१ । २१५ । १४) भविष्य (१ । २ । ४.५) वाराह (२ । ४) तथा अमरकोश में भी इसीप्रकार लिखा है।

श्रीमद्भागवत (१२ । ७ । ६) में इन्हीं पांच विषयों को प्रपंचित करके पुराण के विषयों की दश संख्या दी है। तथा अग्नि पुराण में मन्त्रशास्त्र एवं सामुद्रिकशास्त्र को भी पुराण विषयों में परिगणित किया है। तात्पर्य यह है कि मुख्यतया ये पाँच विषय तो सर्वत्र समानरूप से ही वर्णित हैं, परन्तु पाठकों के बुद्धिवैशद्य के लिये श्री वेदव्यास जी ने कहीं २ इन्हीं पाँचों के अन्तर्भूत अन्य विषयों का पृथक् २ भी परिगणन कर दिया है, जो लाघव गौरव भेद से उभयथा सुव्यवस्थित है। तथापि हम यहां मुख्य विषयों का ही प्रतिपादन करेंगे।

सर्ग

अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां संभवः सर्ग उच्यते ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ७ । ११)

अर्थात्— जिसमें विशेष आकार नहीं विद्यमान था—ऐसे साम्यावस्थापन्न 'प्रधान-तत्त्व' के तीनों गुणों के क्षोभ से 'महत्तत्व' और उससे 'अहंकार' तथा अहंकार से पञ्चभूतमात्राओं, सूक्ष्म इन्द्रियों और तदधिष्ठात्री देवताओं की उत्पत्ति को 'सर्ग' कहते हैं।

अहिन्दू मत मतान्तर

यह दृश्य जगत् किन २ तत्त्वों से बना है ? तथा उक्त तत्त्वों का पौर्वापर्य क्या है ? यह रहस्य पुराणों को छोड़कर संसार के दूसरी किसी धर्म पुस्तक में ढूंढने पर भी नहीं मिल सकता। मौलाना साहिब कुरान शरीफ के तीन सौ साठ सपारों के सहस्र पाठ कर डालें, मंजिलों में मगजपच्ची करें और आयतों के ताने बाने में तन्मय हो जाएं फिर भी सृष्टि के आदिम तत्त्वों की छाया उन्हें न मिल सकेगी। पादरी साहिब तेंतीस दफे, 'तौरेत' को और बाणवें बार बाईबिल को तथा अगणित बार अञ्जील को घोट २ कर पीजाएं तब भी सृष्टि के आदिम तत्त्वों का पता न पा सकेंगे। यही दशा जैन बौद्ध पारसी और दयानन्दी आदि मतमतान्तरों की है।

वर्तमान विज्ञानवेत्ता (Scientist) भी अंधेरे में चांदमारी खेलने की भाँति इस विषय में बहुत कुछ दौड़धूप करने की चेष्टा करते हैं परन्तु समाधिगम्य इस रहस्य तक बेचारे भौतिक-विज्ञान की पहुँच कहां सम्भव हो सकती है ? अतः वे अभी तक सूक्ष्म से सूक्ष्म जिस तत्त्व तक पहुंच पाये हैं उसे वे 'ईथर' (Ether) के नाम से याद करते हैं। कहा जाता है कि यह पदार्थ वायु से सूक्ष्म—किन्तु आकाश से स्थूल—एवं सर्वव्यापक तथा अतीव तरलतर तत्त्व है। पाठकवर्ग उक्त व्याख्या से ही ईथर का स्थान जान सकते हैं, अर्थात्। आकाश और वायु का माध्यमिक संश्लेषण ही इसे समझना चाहिए।

ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि पुराण ग्रन्थों में तो उक्त तत्त्व के उत्पादक प्रधान, महान् और अहङ्कार आदि पितृपितामह प्रपितामह एवं वृद्ध-प्रपितामह-भूत तत्त्वों का भी सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन मिलता है। इस प्रकार वर्तमान साइन्स (Science) और पुराणों की तात्त्विक खोज का तुलनात्मक विवेचन अच्छी तरह किया जा सकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई ? और कैसे हुई ? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर भी पुराणों के अतिरिक्त संसार भर के अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं मिल सकता। इस समय जो जातियें सभ्य कही जाती हैं उन सब के साहित्य को मथ डालिये परन्तु प्रश्नों का उत्तर देने में सभी मूकप्राय: साबित होंगी। आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व क्या था— यह प्रश्न हल करना हो तो पुराणों का पारायण कीजिए।

भौतिकविज्ञान की दौड़ धूप

सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई—इस विषय को लेकर योरोप और एशिया के विद्वान् बड़े भारी वाद विवाद में पड़े हैं। डा० डारविन मि० हक्सले (Huxley) स्पेन्सर और वालेस आदि ने इस विषय में जो लिखा है वह इतना मतभेद पूर्ण है कि जिसे पढ़कर जिज्ञासु चक्कर में पड़ जाता है। अपनी पदार्थज्ञान प्रणाली (Theories) पर जब इन भद्र पुरुषों को स्वयं विश्वास नहीं फिर दूसरों का तो कहना ही क्या है। इनकी खोज इतनी खोखली और भ्रमपूर्ण हैं कि जिसे पढ़ कर एक साधारण पुराणज्ञ भी हंसे बिना नहीं रहता।

एक समय था जब आधुनिक विज्ञानवादी सृष्टि को बने पाँच छ: हजार वर्ष माना करते थे, फिर केलट्विन के मत को लेकर प्रो० बेकर ने छ: करोड़ के लगभग वर्ष बताये, हजार से करोड़ों पर पहुँचे।

इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध अस्थितत्ववेता डाक्टर विलियम, मि० एलनसृजि, और डाक्टर स्मिथ एडवर्ड आदि, पृथ्वी की उष्णता को जांच कर पृथ्वी की आयु दश करोड़ बताकर रह गये। कई महानुभावों ने युरेनियम, रेडियम, हीलियम, वोलोनियम आदि अनेक धातुओं के परीक्षणों से पृथ्वी की आयु बीस करोड़ से चौबीस करोड़ वर्ष तक मानी है।

अब कई पण्डितों ने पृथ्वी के स्तरों को तेरह भागों में बाँटकर २ से ११ तक में जलजन्तु मत्स्य सामुद्रिक लता गुल्म आदि दिखाएं हैं, एवं १२ से १३ तक पशु पक्षी आदि के पंजराशेष दिखाए हैं। इस प्रकार परिणाम निकाला है कि—वर्तमान सर्वाङ्गपूर्ण मानव जाति क्रमशः उन्नत हुई है और इस उन्नति तक पहुँचने में ३० करोड़ वर्ष से कम समय नहीं लगा।*

कुरान बाइबिल मत

यह तो हुई वर्तमान गवेषकों की पड़ताल, अब इनके धर्मग्रन्थों से भी पूछिये। कुरान शरीफ में लिखा है कि—खुदा ने खाक की मुठ्ठी लेकर कहा 'कुन' अर्थात् बन जा' बस फिर क्या था आन की आन में कुल कायनात बन गई।

---

* टिप्पणी—यहां सृष्टि के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के जो मत दिये गये हैं वे 'सीक्रेट डाक्ट्राइन' (Secret Doctrine) 'पापूलर इस्ट्रानोमी' सृष्टि का इतिहास' और 'विचार दर्शन आदि ग्रन्थों से उद्धृत किये हैं। यदि पाठकों को इन काल्पनिक मत वालों की अधिक उछल कूद देखनी अभीष्ट हो तो वह उक्त मूलग्रन्थों में देखी जा सकती है।

'अंजील' और 'तौरेत' आदम हव्वा को अदन की बागीचियों में ही अचानक उत्पन्न कर देने के स्वप्न दिखाती हैं और यह दोनों ही किताबें केवल सात दिन में * इस विस्तृत भूमण्डल के इस रूप में रचा जाने का पता बताती हैं। आखीर में ईसाइयों का गरीब खुदा भी थक कर लम्बी तान कर सो जाता है। जिस दिन खुदा ने थक कर विश्राम किया था संयोगवश उस दिन रविवार था। बस, इसी थ्यूरी के आधार पर ईसाई लोग 'सन्डे' को अवकाश का दिन मानते हैं। यह सृष्टिविज्ञान उन पुस्तकों लिखा है जो कि धार्मिक और खास खुदा की पाक कलम से लिखी हुई कही जाती हैं।

---

* टिप्पणी—मुसलमान और ईसाइयों की मजहबी किताबों में लिखा है कि "जिसने आसमानों और पृथ्वी को छ: दिन में बनाया"

(कुरान मं० २ सि० ८ सू० ७ आ० ५३)

निश्चय परवरदिगार तुम्हारा अल्ला है, जिसने पैदा किया आसमानों और पृथ्वी को बीच छ: दिन के।

(कुरान मं० ३ सि० ११ सू० १० आ० ३)

और कहा गया, ऐ पृथिवी ! अपना पानी निगल जा। ऐ आसमान बस कर और पानी सूख गया।

(कुरान मं० ३ सि० ११ आ० ४३)

अल्लाह वह है कि जिसने खड़ा किया आसमान को बिना खम्बे के।

(कुरान मं० ३ मि० १३ आ० २।)

आरम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी को रचा। पृथ्वी बेडोल और सूनी थी। और गहराव पर अंधियारा था। ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।

(तौरेत पर्व १ आ०—२)

और ईश्वर ने कहा—उजियाला होवे और उजियाला हो गया।

(तौरेत प० १ आ० ३)

पढ़े लिखे मुसलमान और ईसाई अब इन निस्सार बातों को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। वे समझते हैं कि जब विज्ञान सृष्टि को करोड़ों वर्षों में बनी बताता है फिर कौन ऐसा कूपमण्डूक होगा जो इस विज्ञानयुग में ऐसी बोदी पुरानी बातों पर विश्वास करे। पुराणों के सृष्टि-विज्ञान का यह एक ज्वलन्त एवं विश्वविजयी उदाहरण है। ज्यों ज्यों नया भौतिक विज्ञान उन्नति करता जा रहा है त्यों त्यों वह पुराणों के निकट आ रहा है।

पुराण मत

अब पुराणों से भी पूछिये कि सृष्टि कब बनी। अठारहों पुराण एक स्वर से कहेंगे कि सृष्टि का हिसाब इस प्रकार है—

काष्ठा पञ्चदशाख्याता निमेषा मुनिसत्तम !।
काष्ठास्त्रिंशत्कला त्रिंशत्कला मौहूर्तिको विधिः ॥
तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम् ।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ॥९॥
तैः षडभिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम् ॥१०॥
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ।
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ॥
प्रोच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने ! ॥१५॥
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् मनवस्तु चतुर्दश ।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसंचर ॥२२॥

(विष्णुपुराण प्रथमांशेऽध्ययाः ३)

अर्थ—आंख की पलक गिरने में जितना समय लगता है उसे निमेष कहते हैं, १५ निमेष की एक काष्ठा, ३० काष्ठा की एक कला, ३० कला की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिन और रात) होता है। ३० अहोरात्र का दो पक्ष वाला एक महीना, छः महीने का एक अयन और दक्षिण और उत्तर दो अयनों का एक मानव-वर्ष होता है। एक मानव वर्ष देवताओं का एक दिन, इस प्रकार—दिव्य बारह हजार वर्षों की एक चतुर्युगा होती है। एक हजार चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है, जिसमें १४ मनु व्यतीत होते हैं। ब्रह्मा का एक दिन समाप्त हो जाने पर प्रलय हो जाती है, वह ब्रह्माजी की रात्री है, उसका परिणाम भी दिन के समान है, इस प्रकार १०० दिव्य वर्ष ब्रह्मा की आयु हैं उसे 'परा' कहते हैं।

सृष्टि को बने कितने वर्ष हुवे यह तत्त्व हम पुराणों के आधार पर नित्य प्रति कई बार पढ़ते हैं। सनातनधर्मियों का कोई भी शुभाशुभ कर्म=यहाँ तक कि संध्यावन्दनादिक नित्यकर्म भी इस तत्त्व को भली-भांति जान लेने पर ही आरम्भ होता हैं। जिस सन्दर्भ से आर्यजाति अनादि काल से लेकर आज तक सृष्टिगणना को ठीक २ समझती चली आ रही है उस महामन्त्र का नाम 'संकल्प' है, जो इस प्रकार पढ़ा जाता है।

···ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वत-मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे··· इत्यादि।

अर्थात् ब्रह्मा की आयु के ५० वर्ष व्यतीत होने पर दूसरे 'पर' अर्ध में और श्वेत वाराह नामक कल्प में तथा वैवस्वत नाम के सातवें

मनु के अन्तर में और अट्ठाइसवें कलियुग के प्रथम चरण में (मैं अमुक कार्य करता हूं)।

तात्पर्य यह हुवा—इस समय जो कलियुग है, वह सातवें मनु का २८ वां कलियुग है, अभी जिसका प्रथम चतुर्थांश ही चल रहा है, पाठकों की सुविधा के लिये हम इसे गणित द्वारा नीचे दिखाते हैं—

गत छः मनुवों के वर्ष—	१,८४,०३,२०,०००
इनकी सात सन्धियों के वर्ष—	१,२०.९६,०००
सातवें मनु की गत २७ चतुर्युगी के वर्ष—	११,६६,४०,०००
अट्ठाइसवीं चतुर्युगी के भुक्त वर्ष—	३८,९३,०४४
	योग—१,९७,२९,४९,०४४

इस प्रकार विक्रमाब्द २००० पर्यन्त सृष्टि के आरम्भ से १ अर्ब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ४४ मानव वर्ष बीत चुके हैं।

वर्तमान विज्ञान की उन्नति का अनुमान हमारे इस पौराणिक सृष्टि-गताब्द के निरीक्षण से भली प्रकार लगाया जा सकता है। पाश्चात्य विज्ञान अभी ५—६ सहस्र वर्ष से ३० करोड़ तक ही पहुंच पाया है, परन्तु अभी इसमें अर्बों की कमी है। यदि इसी प्रकार उन्नति होती रही तो वह समय दूर नहीं जब कि यह लोग अपनी भ्रान्ति को दूर करके पुराणों की शरण में पहुँचेंगे।

स्वामी दयानन्द की भारी भूल

इसके अतिरिक्त यहां एक और प्रासंगिक बात बता देनी उचित प्रतीत होती है। वह यह है—कि आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सृष्टि के गताब्द निकाले हैं जो आर्यवत्सर के नाम से आर्यसमाज की सभी पुस्तकों पर छपे रहते हैं, जिसका आधार पुराण ग्रन्थों के मन्वन्तर आदि ही हैं और हमारा यह पूर्वोक्त

सङ्कल्प ही वेदमन्त्र की तरह स्वतः-प्रमाण माना है । हमें वर्तमान आर्यसमाजियों से कहना है कि जब आप पुराणों के विषय में अभद्र सम्मति प्रदान किया करते हैं उस समय यह स्मरण रक्खा करें कि यदि पुराणों में सृष्टि-विज्ञान न मिलता तो वेदों का अनादित्व और आर्यों की प्राचीनता किस प्रकार सिद्ध करते ?

वेदों में तो इस विज्ञान का स्पष्टतया कहीं पर भी प्रतिपादन नहीं किया गया है । यदि होता तो स्वामी जी जिन पुराणों को 'पोपों के बनाये' कहते हैं—उनकी शरण में न आते । वेदों का विज्ञान समाधि-गम्य है, उसे कलियुग के पामर प्राणी नहीं समझ सकते, इसी विचार से प्रेरित होकर भगवान् वेदव्यासजी ने उन समाधिगम्य रहस्यों को पुराणों में सरल बनाकर प्रतिपादन किया है । यदि वेदों से यह पूछना चाहोगे तो वह सम्राट् की तरह—'कोऽद्धा वेद' और कस्तद्वेद यदद्भुतम्' कहकर आपको पुराण पढ़ने का ही आदेश करेंगे ।

स्वामी जी ने पुराणानभिज्ञ होने के कारण इस गणित में बड़ी भारी गलती भी खाई है—एक दो की कौन कहे वह तो पूरी करोड़ों की गलती है । आप अपने कपोलकल्पित आर्यवत्सर में सात सन्ध्यांश के भुक्त १,२०,९६,००० वर्ष जमा करने भूल गये, जिससे आपका आर्यवत्सर १ अर्ब ९६ करोड़ ...आदि ही रह गये, जो सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रन्थों के प्रतिकूल और सर्वथा अशुद्ध है । हम आशा करते हैं कि हमारे भाई 'बालादपि सुभाषितं' के आधार पर हमारे कहने से उसे ठीक कर लेंगे । अन्यथा हठाचरण से 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' मानते रहने पर गणितज्ञों की दृष्टि में स्वामी दयानन्द का यह अशुद्ध लेख खटकता रहेगा, और साथ ही दयानन्दी समाज की गणितपुङ्गवता (?) भी टपके बिना न रहेगी ।

हमारे बार बार कहने पर कुछ आर्यसमाजियों ने स्वामी दयानन्द की इस पर्वतायमान महान् भूल का संशोधन करना आरम्भ किया भी

है। अजमेर में छपी पुस्तकों पर अब १ अर्ब ९७ करोड़ छपने लगा है, परन्तु कालेज पार्टी के कुछ लोग अभी तक १ अर्ब ९६ करोड़ छाप रहे हैं। यह तो सभी जानते हैं कि कालेज पार्टी का प्रादुर्भाव गुरुकुल पार्टी के जन्म के बाद ही हुआ है, परन्तु कतिपय मानव महीनों के अन्तर को करोड़ों वर्षों का बना डालना कहां की बुद्धिमत्ता है। आशा है कि आर्यसमाज के ग्रन्थानुसन्धाता श्री भगवद्दत्त आदि सज्जन अपने रिसर्चस्कालरत्व का इस भूल के परिमार्जन में भी प्रयोग अवश्य करेंगे।

सृष्टि कब हुई? यह प्रश्न भी टेढ़ी खीर है, इसे कोई खीर पार्टी का खुर्राट ही बता सकता है। घास खाने वाले नरपुङ्गव और मांस खाने वाले मनमौजी तो इस प्रश्न को सुनकर 'पलायताम्' हो जाएंगे। कुरान और बाईबल का सृष्टि-विज्ञान तो पाठक पीछे पढ़ ही चुके हैं वहाँ तो बस 'कुन' के छूमन्तर से सब कुछ बन गया।...जिसे विश्वास हो मान लो नहीं तो अपने घर का रास्ता लो? क्यों? और कैसे? पूछा तो काफिर बन जाओगे, बस खेल खत्म।

अब जरा नये विज्ञानवादियों से भी दो दो बातें कर लीजिये। मिस्टर डारविन कहते हैं—पानी में हरकत पैदा हुई उससे बुलबुले बन गये, फिर मछली। उसकी लम्बाई अन्दर को घुसती गई वही एक दिन कच्छू, फिर पक्षी और पशु—उनमें भी बन्दर, उसकी दुम रफूचक्कर हुई तो हजरत इनसान बन गये। आधुनिक साइंटिस्टों के दादा गुरु की फिलासफी खतम हुई। परन्तु पानी कहां से आया? पानी का पिता कहां से बना? और उनका दादा, नक्कड़दादा कैसे पैदा हुये? यह प्रश्न तो बने ही रहे जो कि 'कैसे' के पेट में घुसे बैठे हैं। ईश्वर का तो इस उत्पत्ति से कुछ सम्बन्ध ही नहीं, फिर यह अनवस्था कैसे दूर होगी? इसके अतिरिक्त यह भी बताइये कि अब मनुष्य को आगे क्या बनना है? यदि सचमुच हमारी दुम गुम हो गई तो कल कान भी गुम होंगे और परसों नाक साहिब की भी बारी आयेगी। नये विज्ञान-

वेत्ताओं को चाहिये कि अभी से किसी बीमा कम्पनी से नाक कान का बीमा (Insure) करा लें अन्यथा पीछे हाथ मल मल पछताना होगा।

स्वामी दयानन्द कहते हैं—तिब्बत की पथरीली कंकरीली चोटियों पर निराकार महाराज ने मोटे ताजे युवा युवतियों के जोड़े धड़ाधड़ बरसा दिये। प्रश्न--जवान ही पैदा क्यों किये ? उत्तर—बालक पैदा होते तो उनका पालन कौन करता और वृद्ध पैदा होते तो फिर 'पतिमेकादशं कृधि' को अमल में कैसे ला सकते।

पाठक ! असली शब्द सत्यार्थप्रकाश (सप्तमावृत्ति पृष्ट १३७) में देखलें। हमने तो संक्षिप्त सार लिख दिया है। सत्यार्थप्रकाश के देखने पर और भी कई अद्भुत वैज्ञानिक (?) रहस्य प्रकट होंगे ?

स्वामी जी का विज्ञान (?) बहुत ऊंचा है ! युवायुवतियों को पत्थरों पर पटकना सचमुच किसी निराकार बाबा का ही काम है, अन्यथा आंखों वाला और दिल वाला व्यक्ति इस प्रकार कोमलाङ्ग युवायुवतियों को कूड़े करकट की तरह कब फैंक सकता था। जो स्वय देह वाला नहीं उसे दूसरे की देहों पर क्या दया ? पत्थरों पर गिर कर हड्डी पसली बेशक चकनाचूर हो जाएं उसकी बला से ! जवान जवान उत्पन्न करने का जो कारण बताया है वह भी खूब फिलासफीपूर्ण। यदि युवा न होते तो सचमुच तड़फ कर मर जाते ! पहाड़ तो उन दिनों स्प्रिंगदार रबड़ के गदैलों वाले हुआ करते थे [?] करोड़ों कोस से पटके हुये मनुष्यों का बाल भी बांका नही होता था [?] अतः सब बच गए।

फिर ईश्वर किसी की धाय थोड़े ही था जो घर घर बालकों को दूध पिलाता फिरता। यदि अपनी शक्ति से उनकी पालना करता तो शक्ति का भी तो बहिष्कार हो जाता। कलकी छोकड़ी शक्ति की इतनी जुर्रत कि वह-सृष्टि के ठेकेदार आर्य भाइयों से बिना पूछे ही 'सृष्टि-नियम' के विरुद्ध गड़बड़झाला मचाये !!! निराकार ने 'सृष्टि-नियम के

विरुद्ध जोड़ों को पटका सो तो पटका ही, वह तो हमारा है, इतने पर भी उसने आइन्दा ऐसा न करने की शपथ ली और उस दिन से सृष्टि नियम का पीनलकोट (Penalcode) हमने सदा के लिए अपने नाम रजिस्टर्ड करवा लिया !!! यह है स्वामी दयानन्द और उनके चेले चपटों का सृष्टि-विज्ञान ? इनसे अच्छे तो किरानी और कुरानी हैं जो वैज्ञानिकता का झूठ दम न भर खुदा या गॉड को तो सर्वस्व मान लेते हैं। यहां आर्यसमाज के मन्तव्य में तो 'न इधर के रहे न उधर के रहे' ही पूर्णतया चरितार्थ होता है।

आर्यसमाज की इस आकाश से पटकने वाली विचित्र थ्यूरी पर जब हमने शास्त्रार्थों में बार २ आक्षेप किये और जनता ने स्वामी दयानन्द की अनोखी फिलासफी पर कहकहे लगाये तो दयानन्दी समाज ने घबड़ाकर अब एक इससे भी अनोखी नई थ्यूरी निकाली है और उसका आधार डूबते को तिनके का सहारा के अनुसार यह वेद मन्त्र का टुकड़ा बनाया है— 'आज्येष्ठास: आकनिष्ठास उद्भिज:' अर्थात्—सृष्टि के आदि में वृक्षों की भांति जमीन फोड़ कर मनुष्य उगे, वह न बूढ़े थे और न बच्चे थे, यानी हट्टे कट्टे नवयुवक थे। हम इस नई थ्यूरी पर अधिक कुछ नहीं कहना चाहते। पाठक स्वयं निर्णय करें कि आकाश से गिरने वाली बात को तो यथा कथंचित् सहन भी किया जा सकता था, परन्तु जमीन फोड़ कर मनुष्य उगने की उपहासास्पद फिलासफी तो पागलों की बड़बड़ाहट से अधिक मूल्य नहीं रखती।

मालूम नहीं, आर्यसमाज सर्वशक्ति-सम्पन्न 'कर्तु-अकर्तुं-अन्यथा-कर्तुम् समर्थ भगवान् के साकार रूप को स्वीकार न करके अनेक मनुष्यों को असंभव रीति से उत्पन्न करने में क्या लाभ देखता है। यदि भगवान् आकाश से या जमीन से जोड़े उत्पन्न कर सकता है, तो वह स्वयं क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता ?

यह तो हुई अन्यान्य मतमतान्तरों की बातें ! अब पाठक, सृष्टि

कैसे हुई ?' इस प्रश्न का उत्तर वृद्धपितामह पुराणों से पूछ देखिये क्या उत्तर मिलता है—

गुणव्यतिकराकारोऽनिर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः ।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत् ॥१॥
विश्वं वै ब्रह्मतमात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥२॥
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् ।
सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ॥३॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० १०)

भावार्थ—आदि में संहननरूप और स्वतःनिर्विशेष एवं अनिर्वचनीय होने के कारण 'असत्' [नामरूपउपाधिरहितब्रह्म] पुरुष था । काल-कर्म स्वभाव सामग्री से वह अपनी माया द्वारा अपने ही स्वरूप में प्रकट हुवा । उस अव्यक्त मूर्ति काल द्वारा ही यह सब ब्रह्माण्ड व्याप्त है, यह बीज रूप से पहिले भी था अब भी है और प्रलयान्तर तक भी बना रहेगा, [केवल अवस्थान्तर में परिवर्तन होना ही 'उत्पत्ति' शब्द का वास्तविक अभिप्राय है] सो यह तात्त्विक सर्ग नौ प्रकार का है, जो प्राकृत और वैकृत नाम से कहा जाता है ।

तात्पर्य यह है कि सृष्टिक्रम अनादि है वह 'चक्र-भ्रमण' न्याय से प्रलय के अनन्तर सर्ग के रूप में, और सर्ग के अनन्तर प्रलय के रूप में परिवर्तित होता रहता है, इसी परिवर्तन के व्यक्त रूप को 'सर्ग' कह देते हैं । वह प्राकृत और वैकृत रूप में क्रमशः नौ अवस्थाएं भेदोपभेद सहित नीचे लिखी जाती हैं, पाठक ध्यानपूर्वक पढ़ें—

(प्राकृत सर्ग)

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ॥१४॥
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ।
भूतसर्गतृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ॥१५॥
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ।
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ॥१६॥
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो !
षडिमाः प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ॥१७॥
(भागवत ३ । १० १४-१७)

भावार्थ—पहिला सर्ग 'महत्तत्त्व' है, जो ईश्वर के गुणों की विषमतामात्र है । दूसरा सर्ग 'अहंकार' है, जिसमें द्रव्यज्ञान और क्रिया का उदय हुआ । तीसरा सर्ग भूतसूक्ष्म है, जो महाभूतों का उत्पादक है । चौथा ज्ञान और कर्मसाधक इन्द्रियों का सर्ग है । पांचवां इन्द्रियाधिष्ठाता देवगणों का और मन का सर्ग है, छठा तमः का सर्ग है, जो पांच भेदों वाली अविद्या, आवरण, विक्षेप रूप से पुरुषों की बुद्धि को मुग्ध करता है । यह छः भेद प्राकृत के हैं ।

तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद (१० । ७२ । ३) के 'असतः सद् अजायत' के अनुसार नामरूप-उपाधिरहित ब्रह्म से 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' की भावना उत्पन्न हुई, यही गुणवैषम्य था, जिसको 'महत्' के नाम से प्रथम सर्ग बताया गया है । वही भावना कार्य रूप में परिणत होने के लिये जब फलोन्मुखी हुई तो वह 'अहंकार' नाम दूसरा सर्ग बना । उससे पंचमहाभूतों के बिखरे हुए अव्यक्त परमाणुओं का विकासरूप सूक्ष्मभूतसर्गनामक तीसरा सर्ग हुआ, वही संघरूप में परिणत होकर ज्ञान और कर्म का उत्पादक इन्द्रियसमूहरूप चौथा सर्ग हुवा, उससे

बुद्धि पर आवरण, विक्षेप, जवनिका डालने वाली अविद्या का छठा सर्ग हुआ, यह सब सर्ग प्राकृत हुये—यहां तक हमने 'सर्ग' विषयान्तर्वर्ती तात्त्विक सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण किया है। अब विसर्ग या प्रतिसर्ग का वर्णन किया जाता है।

प्रतिसर्ग

पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः।
विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद् बीजं चराचरम् ॥
(श्रीमद्भागवत १२। ७। १२)

अर्थात्—ईश्वर के अनुग्रह से पूर्वकथित महत्तत्व आदि में जो प्रलयपूर्ववर्ती जीवों की कर्मवासना अवशिष्ट थी—उन वासनामय बीजों से स्थूल जगत् के समस्त पदार्थों की (बीज से बीज और चराचर की) उत्पति को विसर्ग या प्रतिसर्ग कहते हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी में अज्ञात रूप से बिखरे हुए बीजों के द्वारा चतुर्मास में अनेक प्रकार के लतागुल्म आदि घास अपने आप उत्पन्न हो जाती है इसी प्रकार पूर्वतन सृष्टि में विद्यमान जीवों के अवशिष्ट वासनामय कर्मकलाप के संस्कारों से पुनः सृष्टि रचना के समय अनेक भोग्य पदार्थों और उनके भोक्ता प्राणियों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

कहना न होगा कि संसार के समस्त मतामतान्तरों का साहित्य जिस तरह सृष्टि के आदिम सूक्ष्मतत्त्वों का पौर्वापर्य बताने में असमर्थ है इसी तरह स्थूल जगत् के पदार्थों का उत्पत्ति-क्रम भी पुराणों के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता।

मुसलमान आदि जो मजहब पुनर्जन्म के अटल सिद्धांत को न मानने का दुराग्रह करते हैं, उन्हें जरा विचारना तो चाहिए कि सृष्टि के आगाज में जो प्राणी बने, वे किस बात के आधार पर धनी निर्धन

मूर्ख-पण्डित, सर्वाङ्ग-सुन्दर एवं अन्धे, काने, बहरे, लुञ्ज, मुञ्ज तथा राजा रंक आदि अनेक दशाओं में क्यों परिणत हो गए ? क्योंकि उनके ख्याले शरीफ में कर्मविपाक तो कोई वस्तु है ही नहीं ।

अस्तु, हम इस समालोचना को छोड़ कर यहां पुराणवर्णित स्थूल पदार्थों के पौर्वापर्य का दिग्दर्शन करते हैं, पाठक पढ़ें और अपने ऋषियों की सूक्ष्मदर्शिता का दर्शन करें ।

वैकृत-सर्ग

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ॥१८॥
वनस्पत्यौषधिलता त्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥१९॥
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशतिधो मतः ।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ॥२०॥
गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे-अविरुष्ट्रश्च सत्तम ! ॥२१॥
खरोश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून् ॥२२॥
श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥२३॥
कङ्क-गृध्र-वट-श्येन-भास-भल्लूक-बर्हिणः ।
हंस-सारस-चक्राह्व-काकोलूकादयः खगः ॥२४॥

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुखेः च सुखमानिनः ॥२५॥
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अध्याय १०)

भावार्थ—(महत्तत्व से आरम्भ करके अविद्या पर्यन्त छः सर्ग पीछे कह चुके हैं) सातवां सर्ग उद्भिज्जों भूमि फोड़ कर निकलने वाले वृक्षादि) का हुआ, जिनमें यह छः भेद पाये जाते हैं—वनस्पति (बिना फूल फलने वाले वृक्ष) औषधि (फल पकने तक ही जो हरे रहते हैं), लता (बेल), त्वक्सार (बाँस आदि) वीरुध (कूष्माण्ड आदि) और द्रुम (फूल से फलने वाले आम आदि वृक्ष) यह सब नीचे से ऊपर की ओर आहार खेंचने वाले हैं और इनका चैतन्य अव्यक्त है तथा स्पर्शमात्र का अनुभव करने वाले हैं। यही सातवां सर्ग है ॥ १६ ॥

आठवां सर्ग—पशु और पक्षियों का हुआ। जो सब 'कल क्या होगा' इस ज्ञान से शून्य हैं, केवल भोजन मात्र का ज्ञान रखते हैं, नाक से सूंघ कर वस्तु को पहचानते हैं, और सर्वथा अदूरदर्शी हैं, उनके यह अट्ठाईस भेद हैं, यथा:—गाय, भैंस, बकरी, हरिण, सूकर, नीलगाय, बारासिंगा, भेड़ और ऊंट यह नौ फटे खुर वाले हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर (खचरी और घोड़े से उत्पन्न) शरभ (अष्टपद मृग) और चमरी मृग यह छः एक खुर वाले पशु हैं। कुत्ता, गीदड़, चीता, व्याघ्र, बिलाव, शशा, शल्लक, सिंह, वानर हाथी, कछुवा और गोह यह बारह पाँच नाखूनों वाले हैं। सब मिलाकर २७ भूचर हुवे! २८वें कंक, (चील) गीध, बटेरा, सिकरा, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चकवा, काक, उल्लू आदि खग हैं।

शेष पक्षियों की जातियें भी इन्हीं प्रधान जातियों के भेद प्रभेद है। नवाँ सर्ग मनुष्यों का है, जो ऊपर से नीचे की ओर आहार ग्रहण करते हैं। ये रजोगुण प्रधान हैं, निरन्तर कार्य करने वाले हैं, तथा दुःख में सुख मान लेते हैं।

श्रीमद्भागवत के इस सर्गाध्याय का संक्षिप्त सार यह हुआ कि 'महत्तत्व' से अविद्या पर्यन्त जो छः सर्ग हुवे वे इन्द्रियातीत हैं और प्राकृत हैं। इसके अनन्तर उद्भिज्ज, पश्वादि और मनुष्य ये तीन सर्ग वैकृत हैं। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि वर्तमान विज्ञानवादियों ने जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'ईथर' तत्त्व को जाना है, और जिसे वह अपने ज्ञान की चरम सीमा समझते हैं वह, तत्त्व हमारे वायुतत्त्व से परवर्ती और आकाशतत्त्व से पूर्ववर्ती ठहरता है। आकाश का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु 'ईथर' इतना सूक्ष्म नहीं। आर्यजाति के पूर्वाचार्यों ने ईथर के पिता आकाशतत्त्व का और उसके पितामह 'अहंकार तत्त्व' का तथा उसके प्रपितामह 'महत्तत्व' का तथा वृद्ध-प्रपितामह काल कर्म स्वभावादि पर्यायभूत 'प्रधान-तत्व' का भी साक्षात्कार किया था। आज डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु महोदय के जिस 'उद्भिज्ज चैतन्य विज्ञान' पर योरोप के फिलासफर अवाक् रह गये हैं, यह विज्ञान आर्यजाति के आचार्यों ने अर्बों वर्ष हुए न केवल जाना ही था, बल्कि उसके आधार पर पीपल, तुलसी आदि दिव्य वृक्षों की पूजा का निर्देश करके उनसे वास्तविक लाभ भी उठाया था, जो आज तक सनातनधर्मियों में प्रचलित है।

पूर्वोक्त प्रमाणों में १६ वें श्लोक 'तमःप्राया अन्तः-स्पर्श विशेषिणः'—शब्दों को ध्यानपूर्वक पढ़िये ? क्या खूबी के साथ इसमें वृक्षों के सजीव होने का और मनुष्यों के चैतन्य से उनकी चैतन्य की विशिष्टता का वर्णन किया है। आर्यजाति के सपूतो ! आपके पूर्वजों ने अथक परिश्रम करके जो आविष्कार किये हैं उनका सम्मान करना सीखो !

सृष्टि के तात्त्विक समय से लेकर सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्यों की रचना पर्यन्त कितना समय लगा, और इस बीच में हमारी पृथ्वी को किन २ स्तरों से गुजरते हुवे वर्तमान रूप मिला यह रहस्य भी पुराणों में बड़ी

गवेषणा के साथ प्रकट किया गया है। जिस समय प्रधान से महत्तत्त्व और उससे अहंकार-तत्त्व तथा अहंकार से सूक्ष्मभूतों का विकाश हो चुका तो अन्त में वही सूक्ष्मभूत स्थूलरूप में परिणत होने लगे। इस रहस्य का पुराण इस प्रकार वर्णन करते हैं। यथा –

नभसोनुसृतं स्पर्शो विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ।
अनिलो हि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः ।।
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ।
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् ।।
आधत्ताम्भोरसमयं कालमायांशयोगतः ।
ज्योतिषाम्भोनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् ।।
महीं गन्धगुणामाधात् कालमायांशयोगतः ।।

(श्रीमद्भागवत ३ । ५ । ३२-३५)

अर्थात् – विकार को प्राप्त हुवा आकाश स्पर्श दशा को प्राप्त होता है। वह स्पर्श जब अधिक विकार वाला होता है तब वायु बन जाता है। वह वायु भी आकाश से युक्त अनेक शक्तिमान् होकर रूप की दशा को पहुँचता है और फिर उससे तेज का प्रादुर्भाव होता है। तब ईश्वर द्वारा अवलोकित वह वायुयुक्त तेज रसगुण वाले जल को उत्पन्न करता है, वह जल भी ब्रह्म द्वारा अवलोकन किया हुआ तेज से विमिश्रित होकर गन्धगुण वाली पृथ्वी को पैदा करता है। (इस तरह गन्ध रस रूप, स्पर्श और शब्द इन पांचों गुणों सहित स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है)

यह सब कार्य दो चार दश दिन में समाप्त हो गया हो सो बात भी नहीं है, बल्कि लाखों वर्ष पर्यन्त तो पूर्वोक्त पंचमहाभूतों का विमिश्रित अण्ड कारण-जलों में डूबा पड़ा रहा, इसके बाद द्यावा

नामक दो खण्डों में विभक्त हो गया। आज हम जिस भूपिण्ड को शस्य श्यामला सर्वसहा एवं उर्वरा उर्वी के नाम से याद करते हैं, यही मिट्टी का बेडौल डला, सृष्टि के आरम्भ में दमकते हुये सोने के बराबर जाज्वल्यमान तथा आलात-चक्र के समान भयंकर एवं अग्नि की तरह दंदह्यमान उल्का पिण्ड था। कई सहस्र वर्षों के बीत जाने पर क्रमशः वह उष्णता क्षीण होती गई तब कभी इसमें घास फूंस जमा। बीरान जंगल के रूप में भी इसे एक मुद्दत तक पड़ा रहना पड़ा अन्त में प्राणधारी जीवों के निवास का अवसर आया। पुराणों में उक्त भावों को प्रकट करने वाले अध्यायों के अध्याय भरे पड़े हैं, जिनका मनन करने से लोकोत्तर आनन्द मिलता है। यथा—

(क) वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ॥

(श्रीमद्भागवत २। ५ ३४)

(ख) स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपा वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः ॥

(देवीभागवत)

(ग) शतं मन्वन्तरं यावज्ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा।
सुषाव डिम्भं स्वर्णाभं विश्वाधारालयं पदम् ॥

(देवीभागवत)

अर्थात्—(क) कई सहस्र वर्षों तक वह अण्ड जल में शयन करता रहा। (ख) वह स्वेच्छामय अण्ड स्वेच्छा से ही दो भागों में टूट गया। उसका वाम भाग भूमिरूप स्त्री हुआ और दक्षिण भाग द्यौरूप पुरुष हुआ। (ग) वह प्रकृति सैंकड़ों मन्वन्तर पर्यन्त ब्रह्मतेज से जाज्वल्यमान रही, तदनन्तर उससे समस्त विश्व का आधारभूत सोने के बराबर चमकता हुआ डिम्भ—बच्चा पैदा हुआ।

इस प्रघट्ट में जो कुछ लिखा गया है, वर्तमान भौतिक-विज्ञान

इसका सर्वथा समर्थन करता है। अब सभी वैज्ञानिक इस बात को प्रायः स्वीकार करते हैं कि निःसन्देह सृष्टि के बनने में करोड़ों वर्षों से कम समय नहीं लगा, तथा यह पृथ्वी अवश्यमेव आरम्भ में दाहक अग्नि-पिण्ड के समान थी और एक लम्बे अर्से के बाद इसपर घास फूंस उगा तब कभी यह प्राणियों के निवास योग्य हो सकी।

प्रो० लिचाफ साहिब ने अपनी 'सीक्रेट डाक्टराइन' पुस्तक में लिखा है कि—'जमीन को दो हजार डिगरी गरमी से दो सौ डिगरी गर्मी तक पहुँचने में किसी तरह से ३५ करोड़ वर्ष से कम नहीं लग सकते।' सो यही बात पुराण शास्त्रों के उपर्युक्त प्रमाणों में 'ज्वलन्ती ब्रह्मतेजसा' 'स्वर्णाभं' 'शतं मन्वन्तरं' आदि शब्दों के द्वारा स्पष्टता से व्यक्त की है। साथ ही यहां यह बात भी विशेषतया ज्ञातव्य है कि हमारे इस सृष्टि-विज्ञान में न तो 'डारविन' वाली नास्तिकता है, और नांही कुरान आदि के 'कुन' का छूमन्त्र है, बल्कि यथार्थरूप में ब्रह्म से आरम्भ करके मनुष्य-पर्यन्त सब रहस्य ज्यों का त्यों वर्णित है।

जिसप्रकार स्वामी दयानन्द ने निराकार बाबा से एकदम साकार जोड़े टपका दिए, पुराणों और वर्तमान भौतिक-विज्ञान से यह टपका टपकी भी सृष्टि-विज्ञान का उपहास ही सिद्ध होती है। इसलिए पुराणों में तो अव्यक्त को व्यक्त में, और सूक्ष्म को स्थूल में परिणत करने के लिये स्वाभाविक प्रक्रिया का आश्रय लिया है 'ब्रह्म ही क्रमशः ब्रह्माण्ड रूप में परिणत हो जाता है'—यही वेदों का सार्वभौम सिद्धान्त पुराणों में व्याख्यात हुआ है। संसार के समस्त ऊहापोह और वादानुवाद अन्त में इसी सिद्धांत की दुंदुभि बजाते हैं।

सृष्टि का आदिम स्थान

सृष्टि के स्थान का निर्णय यूं तो प्रायः सभी विज्ञानवेत्ताओं ने अपने २ ढंग से किया है, परन्तु यथार्थ में कोई भी उस स्थान को

'इदमित्थं' नहीं कह पाया *। संसार में सबसे पुरानी पुस्तक वेद हैं, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। वेदों को प्रमाण मानने वाली आर्यजाति की प्राचीनता को भी प्रायः सबने स्वीकार किया है, परन्तु इतिहास लिखने के समय न जाने किस गूढ़ अभिप्राय से प्रेरित होकर आर्यजाति के आदिम ग्रन्थों के विरुद्ध विदेशी पण्डित हमें अन्य देशों से भारतवर्ष में आने वालों की संतान बताया करते हैं। आर्यजाति के वर्तमान बालकों में ऐसे भ्रामक भाव फैलाने में विदेशी लोग अपनी कुछ स्वार्थसिद्धि अवश्य समझते हैं। संभव क्या निश्चित ही यह भाव हमें मातृभूमि के प्यार से परे ढकेल कर दासता की जंजीरों में जकड़े रहने का अभ्यासी बनाता है, इसीलिए दासता की टकसाल--स्कूल और कालिजों के साँचे में ढलकर ओबिडियेन्ट सर्वेन्ट (?) बनने वाले भोले भाले भारतीय विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है कि 'तुम्हारे पूर्वज भारत में उत्पन्न नहीं हुए थे बल्कि—खैबर घाटी से—इरान से—तिब्बत से—उत्तरी ध्रुव से गर्ज है कि इधर उधर से भटकते हुये यहाँ आ धमके थे। वे कोरे जंगली थे, न आग जलाना जानते थे और नांही उन्हें समुद्र के अस्तित्व का ज्ञान था। गाय भैंस पालना और जंगली घास फूंस खाकर दिन बिताना उनका पेशा था। कुछ दिन के बाद उन्हें नोकीले पत्थरों से चीज काटने का ज्ञान हुआ। वह पत्थर का

---

* टिप्पणी—आदि सृष्टि किस स्थान में हुई इस सम्बन्ध में विभिन्न समालोचकों के मत इस प्रकार हैं (क) मैक्समूलर और बेबर 'लेमूरिया' में (ख) इतिहासकार हण्टर साहिब 'कास्पियन समुद्र के पास (ग) स्वामी दयानन्द तिब्बत में (घ) बंगाल के उमेशचन्द्र विद्यारत्न 'मंगोलिया' में (ङ) लो० तिलक 'उत्तरी ध्रुव' के पास (च) बी० सी० मजूमदार, हेनरीडगल्कोट, मैकडानल, सर विलियम जोन्स, सर वाल्टर रेले 'आर्यावर्त' में मानते हैं। डाक्टर सम्पूर्णानन्द भी आदि सृष्टि का क्षेत्र 'भारतवर्ष' सिद्ध करते हैं।

जमाना था, फिर एक मुद्दत के बाद लोहे आदि के नोकीले टुकड़े लकड़ियों में बाँधकर तीर कमान बनाने का बोध हुआ, यह धातु का जमाना कहा जाना चाहिए। उस समय चरवाहे लोग नशीले वृक्षों से तैयार किया हुआ एक मादक रस पीकर—जिसे कि वे 'सोमरस' के नाम से पुकारते थे—मनमानी हाँकते थे, आगे चलकर यही चरवाहों के गीत वेदमन्त्र कहे जाने लगे—इत्यादि २ शान्तं पापम् !

उपर्युक्त भाव न्यूनाधिक सभी विदेशियों ने प्रकट किये हैं। कौन ऐसा भारतीय होगा जो कि समुद्रों का पुल बाँधने वाले और पुष्पक विमान जैसे आकाशयान तैयार करने वाले अपने पूर्वजों की शान में ऐसे शब्दों को सहन कर सके ! जिन ऋषियों ने अध्यात्म-विद्या के बल से जीव के ब्रह्म बन जाने का रास्ता परिष्कृत किया हो, आज उन्हें चन्द स्वार्थपरायण समालोचक जंगली सिद्ध करना चाहते हैं और ईश्वरीय ज्ञान के अटूट खजाने वेद भगवान् को चरवाहों का गीत बताना चाहते हैं 'किमाश्चर्यमतः परम्' !

विदेशियों ने अपना शासन बनाये रखने के लिये हमारे ऊपर इस प्रकार के भ्रामक भाव जबर्दस्ती लादे सो तो 'अर्थी दोषं न पश्यति' के अनुसार किसी तरह 'कुटिलनीति' की दृष्टि से क्षन्तव्य भी समझे जा सकते हैं, परन्तु ऋषियों के रक्त से उत्पन्न होने एवं वैदिकता तथा भारतीयता का स्वाँग भरने वाले स्वामी दयानन्द ने भी बिना सींग पूंछ हिलाये विदेशियों की हाँ में हाँ मिला डाली कि आर्यलोग तिब्बत की पहाड़ियों से इधर आए थे ! क्या खूब, न कोई प्रमाण और न कोई दलील ! केवल 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के आधार पर अपनी जन्मभूमि को दुत्कार दिया जाये ! जो 'अकल के अन्धे और गाँठ के पूरे' ऐसी बोदी बातों पर अभी तक भी विश्वास करते हैं, निःसंदेह वे अपनी भावि सन्तानों को भी मानसिक दासता की बेड़ियों में जकड़े रखना चाहते हैं, परमात्मा उन्हें सुबुद्धि दे।

आदिसृष्टि किस स्थान में हुई इस सम्बन्ध में पौरस्त्य और पाश्चात्य समालोचकों के मत पाठक जान चुके हैं। इन सभी समालोचकों ने प्रायः शुष्क और अपूर्ण तर्कों के आधार पर अपने २ मत की स्थापना की है इसलिए इनकी दलीलें ही उक्त मतों की निस्सारता सिद्ध करने में पर्याप्त प्रमाण हैं, अतः हम अपनी ओर से कुछ भी लिखना व्यर्थ समझते हैं। अब वेद आदि शास्त्रों से भी पूछिये कि आदि सृष्टि किस स्थान में हुई ?

यजुर्वेद में सृष्टि के प्रादुर्भाव का 'पुरुषमेधयज्ञ' के रूप में आलंकारिक पद्धति से वर्णन किया है, यह बात प्रायः सभी वेदवेत्ता सज्जन जानते हैं। शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता के पुरुषसूक्त नामक इकत्तीसवें अध्याय में यह सब प्रसंग सुन्दर रीति से वर्णित है, यथा—

(क) सहस्रशीर्षा पुरुषः…… ।
(ख) पुरुष एवेदँ सर्वं…… ।
(ग) यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
(घ) तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
(ङ) तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ।
(यजुः ३१ । १—२२)

अर्थात्—(क) अनन्त शिर आदि अङ्गों वाला एक पुरुष था (ख) यह जो कुछ दृश्य जगत है सब पुरुष है। (ग) देवताओं ने जिस पुरुष को हविः बनाकर यज्ञ रचा। (घ) उस यज्ञ से चारों वेद प्रकट हुवे, (ङ) और उससे ही घोड़े आदि नीचे ऊपर दाँत वाले जीव पैदा हुये तथा उसी से गाय बकरी और भेड़ आदि जीव उत्पन्न हुवे।

आगे चलकर इसी प्रसङ्ग में ब्राह्मणादि चारों वर्णों और विभिन्न देवताओं की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। अब विचारणीय यह है कि ब्रह्मा द्वारा किया जाने वाला यह सृष्टि रूप यज्ञ किस वेदि पर सम्पन्न हुआ सो वेद की शतपथ तथा ताण्ड्य शाखा में स्पष्टतया लिखा मिलता है, यथा:—

(क) तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम् ।

(शतपथ—१४ । १ । १ । २)

(ख) एतावती वाव प्रजापतेर्वेदिर्यावत्कुरुक्षेत्रम् ।

(ताण्ड्य २५ । १३ । ३)

अर्थात्—(क) [आदि सृष्टि कुरुक्षेत्र में हुई] इसलिये कुरुक्षेत्र को देवताओं का 'देवयजन' (सृष्टि रूप यज्ञ का सम्पादन स्थान) कहते हैं (ख) सृष्टिकर्ता श्री ब्रह्मा जी महाराज की—(सृष्टि रूप यज्ञ सम्पादन की) वेदि इतनी ही है कि जहाँ तक कुरुक्षेत्र है।

महर्षि मनु जी महाराज भी अपने ग्रन्थ में ब्रह्मावर्त और कुरुक्षेत्र को ही वैदिक सभ्यता का आदिस्रोत स्थान बताते हुए अन्यान्य देशवासियों को इस स्थान के ब्राह्मणों से अपना चरित्र सीखने का आदेश करते हैं, यथा—

(क) सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥

(ख) कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनिकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥

(ग) तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

(घ) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।
(मनुस्मृति २ । १७ —२०)

अर्थात्—देवताओं की प्रतिष्ठापित सरस्वती (कुरुक्षेत्र की पश्चिमी सीमा पर बहने वाली और प्रयाग में गुप्त रूप से मिल कर गङ्गा यमुना सङ्गम में त्रिवेणी कही जाने वाली प्राचीन नदी) और दृषद्वती (कुरुक्षेत्र की पूर्वीय सीमा पर बहने वाली तथा कानपुर के निकटवर्ती 'बिठूर' नामक स्थान में सरस्वती में ही सम्मिलित होने वाली नष्ट प्रायः प्राचीनतम) नदियों की मध्यभूमि को 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं, यह स्थान साक्षात् देव-निर्मित है । (ख) कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन ये देश भी ब्रह्मावर्त के समान 'ब्रह्मर्षि' देश कहलाने योग्य हैं, (ग) उक्त देशों में परम्परा से ब्राह्मणादि वर्णों का और अनुलोमविलोमात्मक संकर जातियों का जो आचरण चला आता है उसे ही सदाचार समझना चाहिए । (घ) इन (कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्येति कुल्लूकभट्टः) कुरुक्षेत्र आदि देशों में उत्पन्न हुवे अग्रजन्मा ब्राह्मण से पृथ्वी के समस्त मनुष्यों को अपना चरित्र सीखना चाहिए ।

आगे चलकर इसी प्रसङ्ग में मनु जी महाराज ने हिमालय से विन्ध्याचल तक और कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक के भूखण्ड को 'मध्य देश' के नाम से स्मरण किया है, तथा पूर्व के समुद्र से पश्चिमी समुद्र पर्यन्त और हिमालय से विंध्याचल पर्यन्त भू भाग को 'आर्यावर्त' संज्ञा से विभूषित किया है, अन्त में उपसंहार करते हुये वर्णाश्रमी द्विज पुरुषों को उक्त सीमान्तर्वर्ती किसी प्रदेश में ही निवास करने की आज्ञा दी है ।

मनु जी के उपर्युक्त उद्गारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे समस्त भूमण्डल की अपेक्षा आर्यावर्त को पवित्र समझते थे और आर्यावर्त के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा मध्यप्रदेश को तथा मध्यप्रदेश में भी कुरुक्षेत्र मत्स्य आदि स्थानों को एवं 'ब्रह्मावर्त' को परम पवित्र

मानते थे। कहना न होगा कि मनु जी की यह मान्यता अन्धविश्वास पर अवलम्बित नहीं बल्कि आदिम सृष्टि और आदिम सभ्यता का स्रोत जिस स्थान से प्रवाहित होकर जैसे २ आगे बढ़ा वैसे २ ही मनु जी ने उस-उस स्थान को गौरव दिया। अतः इससे स्पष्ट है कि मनु जी महाराज ने भी सृष्टि उत्पत्ति का आदिम स्थान 'ब्रह्मावर्त' माना है, सम्भवतः ब्रह्म में सृष्टि रूप आवर्त जिस स्थान में हुआ हो इसी भाव को लेकर उक्त स्थान का नाम 'ब्रह्मावर्त' पड़ा है। ब्रह्मावर्त एक विस्तृत प्रदेश है उसकी पश्चिमोत्तर सीमा के मध्य में ही कुरुक्षेत्र विद्यमान है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आदिम सृष्टि 'आर्यावर्त' के ब्रह्मावर्त नामक प्रदेश में और ब्रह्मावर्त के भी कुरुक्षेत्र नामक स्थान में हुई थी, इसीलिए वेदों में कुरुक्षेत्र को 'देव यजन' और 'प्रजापति की वेदि' के नाम से स्मरण किया है! धर्मक्षेत्र, स्यमन्तपञ्चक, ब्रह्मक्षेत्र, विनशन क्षेत्र आदि आदि भी इसी स्थान के नामान्तर हैं। कब से---और किस कारण से—इस क्षेत्र का अमुक २ नाम पड़ा यह एक विस्तृत रहस्य है जो वामनादि पुराणों में लिखा है। हम विस्तारभय से तथा अप्रासङ्गिक होने के कारण यहां लिखना आवश्यक नहीं समझते।

वेद और मनुस्मृति के प्रमाणों द्वारा सृष्टि का आदिम क्षेत्र प्रकट किया जा चुका है, पुराण ग्रन्थों में भी स्थान २ पर यही आशय ध्वनित होता है, सो पाठकों के सन्तोषार्थ कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं।

श्री ब्रह्मा जी महाराज के मरीचि आदि दश मानसिक पुत्र और ग्यारहवें स्वायम्भू मनु—यही सब सृष्टि के आदिम पुरुष थे। और पुराणों में इनका निवास प्रायः सरस्वती नदी के आसपास कुरुक्षेत्र ब्रह्मावर्त नामक स्थान में लिखा है। यथा—

स्वायम्भू मनु का निवास स्थान

ब्रह्मावर्तं योऽधिवसञ्शास्ति सप्तार्णवां महीम्।

(श्रीमद्भागवत ३ । २१ । २५)

अर्थात्—[स्वायंभू मनु] ब्रह्मावर्त में अधिवास करते हुए इस सात समुद्रों वाली पृथ्वी का शासन करते थे।

ब्रह्मपुत्र कर्दम का आवास

प्रजाः सृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥

(श्रीमद्भागवत ३। २१। ६)

अर्थात्—जब श्री ब्रह्मा जी ने कर्दम ऋषि को आदेश किया कि 'प्रजा उत्पन्न कर' तब वह सरस्वती नदी के तट पर दस सहस्र वर्ष तक तप करते रहे।

नगर ग्राम आदि के संस्थापक पृथु का स्थान

(क) चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट्।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥२९॥
अथास्मिन्भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
निवासान् कल्पयांचक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥३०॥
ग्रामान्पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान्व्रजान्सशिविरानाकारान्खेटखर्बटान् ॥३१॥
प्राक् पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना ॥३२॥

(ख) अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन च।
ब्रह्मावर्ते मनोःक्षेत्रे यत्र प्राची सरस्व[illegible] ॥१॥

(श्रीमद्भागवत ४ [illegible] १८– १९)

अर्थात्—(क) शक्तिमान् वेनपुत्र पृथु ने धनुष की नोक से पर्वतों के शिखर विदीर्ण करके इस पृथ्वी को प्राय: समतल बना दिया। प्रजाओं के अन्न-दाता पितास्वरूप वेनपुत्र ने तदुपरान्त यथोचित आवास स्थान बनाए। उत्तरोत्तर ग्राम, पुर, नगर, अनेक प्रकार के दुर्ग, गौशाला छावनियें, खानें, खेती क्यारी के क्षेत्र और छोटे बड़े सब तरह के निवास स्थान बनाए। पृथु से पूर्व इस भूमि पर नगर, ग्राम आदि बसने की व्यवस्था न थी। (ख) आदि राजा मनु के आवास स्थान ब्रह्मावर्त में जहाँ कि प्राची सरस्वती बहती है—पृथु राजा ने दीक्षापूर्वक सौ अश्वमेध यज्ञ किये।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है, कि मानव सृष्टि के सूत्रधार भगवान् मनु और उनके समकालीन मरीचि दक्ष आदि मानव ऋषि कहीं बायें दायें से नहीं आये थे, बल्कि 'कुरुक्षेत्र' में ही उत्पन्न हुवे थे, तथा इसी स्थान में दीर्घकाल तक तपश्चर्या करके मानव सृष्टि के विकास में कृतकार्य हुवे थे। इसीलिए पुराणों में सहस्रमुखों से इस देश की महिमा का गुणगान किया है। यथा—वि० पु० २।३।२३-२४ में

(क) अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम !
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥

(ख) गायन्ति देवा: किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते ॥
भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात् ॥

(ग) पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिता:।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥

(महाभारत)

अर्थात्—(क) हजार जन्म बीत जाने पर कभी पूर्व पुण्यों के प्रताप से इस देश में मनुष्य जन्म मिलता है। (ख) स्वर्गादि लोकवासी देवता लोग भी यह गीत गाते हैं कि वे जीव धन्य हैं, जोकि न केवल स्वर्ग, बल्कि मोक्ष पदवी के भी दाता भारतवर्ष में देवत्व का परित्याग करके फिर से मनुष्य जन्म में अवतीर्ण होते हैं ! (ग) वायु से उड़ाई धूल भी कुरुक्षेत्र में महापापियों को सद्गति देती है।

अब हम कुछ युक्तियों द्वारा भी भारत और तदन्तर्भूत ब्रह्मावर्त के कुरुक्षेत्र स्थान में आदिसृष्टि के होने का निरूपण करते है।

यह सभी जानते हैं कि घट वहीं बन सकता है जहाँ कि उसके बनने की समस्त सामग्री (मिट्टी, कुलाल, चक्र और दण्ड आदि) विद्यमान है। इसी प्रकार तेल बत्ती आदि सामग्री की विद्यमानता में दीपक, और सूत जुलाहा तुरी बेमा आदि की समुपस्थिति में कपड़ा बन सकता है। जहां जिस पदार्थ की कारणभूत सामग्री इकट्ठी होगी उसी स्थान में वह कार्य सम्पन्न हो सकेगा, यह स्पष्ट और स्वाभाविक बात है। इसके विरुद्ध कहीं भी यह देखने या सुनने में नहीं आया कि मालवा में मिट्टी पड़ी हो और पेशावर में पानी रहता हो, तथा चटगाँव (बंगाल) में चाक घूमता हो और करांची में कुम्हार बैठा हो, फिर भी सौ सैकण्ड में पका पकाया घड़ा तैयार हो जाये। अर्थात्—अनेक स्थानों में बिखरी हुई कारणभूत सामग्री से कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इसी तरह आवश्यक सामग्री के अनेक अङ्गों की अविद्यमानता में और केवल किसी एक मात्र अङ्ग के उपस्थित रहने से भी कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। जैसे केवल गारा विद्यमान हो, परन्तु कुम्हार चाक और दण्ड आदि न हों तब भी वहां घट रूप कार्य का बन जाना असम्भव है। इस समस्त भूमिका का सार यह हुआ कि जिस स्थान में जिस कार्य की सम्पूर्ण कारण सामग्री विद्यमान होगी उसी स्थान में वह कार्य सम्पन्न हो सकेगा अन्यत्र नहीं। अब

हमें देखना चाहिए कि सृष्टिरूप कार्य की कारणभूत सामग्री क्या है और वह पूर्णरूप से पृथ्वी के किस प्रदेश में विद्यमान है। इसका पता लगने पर अपने आप यह सिद्ध हो जायेगा कि आदिमसृष्टि कहाँ हुई।

कहना न होगा कि प्रकृति (Nature) का पूर्णविकाश ही सृष्टि के प्रादुर्भाव का मुख्य कारण है। इसीलिए प्रकृति के पूर्णविकाश को ही सृष्टिरूप कार्य की कारणभूत सामग्री समझना चाहिए। वह प्रकृति का पूर्णविकाश केवल आर्यावर्त में और तदन्तर्गत ब्रह्मावर्त के 'कुरुक्षेत्र' स्थान में ही दीख पड़ता है अतः आदिसृष्टि कुरुक्षेत्र में ही हुई यह विज्ञानसिद्ध है। आर्यावर्त में प्रकृति का पूर्ण विकास जानने के लिये नीचे लिखे कारणों का मनन करना आवश्यक है।

(१) जब हम संसार के प्राकृत भूगोल पर दृष्टि डालते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि प्रकृति ने संसार के पुरुषों को पाँच रंगों में रंगा है। इस समय संसार के सब मनुष्यों की * संख्या १ अरब ६६ करोड़ के लगभग है: जो भिन्न २ रंग के हैं, और भिन्न २ देशों में रहते हैं, नीचे लिखे चित्र से स्पष्ट हो जाएगा—

रंग।	संख्या।	निवासदेश।
पीले—	५०,००,००,०००	—पूर्वी एशिया के जापान आदि में
काले—	१५,००,००,०००	—अफ्रीका में
लाल—	४,००,००,०००	—अमेरिका में
भूरे —	४५,००,००,०००	—भारत और उत्तरी अफ्रीका में।
श्वेत—	५५,००,००,०००	...इङ्गलैंड आदि स्थानों में।
योग—	१,६६,००,००,०००	

* टिप्पणी—यह जनसंख्या उक्त ग्रन्थ के लेखनकाल में थी अब संवत् २०२८ विक्रमी में तो बढ़कर अन्यून ढाई अर्ब तक पहुँच चुकी है।

इन पांच रंगों में भूरे रंग के अतिरिक्त सब रंग एक प्रकार के हैं, परन्तु भूरा रंग इन चारों का विमिश्रण है जिसका तात्पर्य यह है कि भारत के सिवाय दूसरे देशों में प्रकृति का १/४ विकास है, इसी लिए अन्य देशों में केवल एक रग के पुरुष होते हैं और भारत में सभी रंग के; यहाँ बंगाल में बढ़िया से बढ़िया श्यामसुन्दरमूर्ति देख लो ! और काश्मीर में गौराङ्गों को लजाने वाले 'कुन्द इन्दु सम देह' के दर्शन कर लो ! इससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष में ही प्रकृति का पूर्ण विकास है और आदि सृष्टि वहां ही हो सकती है, जहां कि प्रकृति का पूर्ण विकास हो। अतः आदि सृष्टि भारतवर्ष में हुई ।

(२) भारतवर्ष के अतिरिक्त समस्त देशों में न्यूनाधिक एक ही ऋतु वर्ष भर रहती है, कहीं २ दो या तीन भी, परन्तु भारतवर्ष में पूरी छः ऋतुवें यथासमय होती हैं। ऋतु परिवर्तन प्रकृति के नियन्त्रण से होता है, इससे भी स्पष्ट है कि जहां अन्य देशों में प्रकृति का १/६ है, यहां भारत में पूरा छः है। अतः आदिसृष्टि भारत में हुई ।

(३) खगोल सम्बन्धी गतिविगति जानने के लिये जिस भूमध्य रेखा का उपयोग होता है, वह रेखा—'पुरी रक्षसां देवकन्याथ कांची...... कुरुक्षेत्रमध्ये भुवो मध्यरेखा'—इस प्रमाण के अनुसार लंका (सीलोन नहीं, बल्कि हिन्दमहासागर का निरक्ष प्रदेश) देवकन्या, कांजीवरम् से होती हुई कुरुक्षेत्र के बीचोबीच ऊपर से गुजरती है, अतः भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा कुरुक्षेत्र में सब ऋतुओं का विकास ठीक ठीक समय पर होता है, अतः आदि सृष्टि भारत के कुरुक्षेत्र स्थान में हुई ।

नूतन वेदावलम्बियों को इस विषय का भ्रम दूर करने के लिए वेदों का भी पारायण करना चाहिये, उनमें भारतवर्ष की गङ्गा, यमुना, शतद्रू, सिन्धु आदि नदियों के नाम तो खूब आते हैं, परन्तु इङ्गलैण्ड की 'टेम्स' नदी, आस्ट्रिया की ड'नयूब नदी' और चीन तिब्बत की 'सीक्यां' नदी का

वर्णन नहीं, जिससे स्पष्ट है कि—आर्यजाति का जन्मस्थान, वेदों का विकास स्थान, और आदि सभ्यता का प्रसार स्थान भारत ही है,* अतः पुराणों में उसका महत्त्व वर्णित है।

प्रलय

वर्तमान सृष्टि कब लुप्त होगी ? यह प्रश्न भी पुराणों ने ही हल किया है। पीछे प्रमाण देकर बताया गया है कि आज कल सातवें मनु का २८वां कलियुग चल रहा है, जिसके ५०२२ वर्ष व्यतीत हुवे हैं और शेष कलियुग, ४३ चतुर्युगी ७ मन्वन्तर, ८ सन्धियें सभी भोग्य हैं। यही प्रलय का समय है, जो निम्नलिखित गणित द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

वर्तमान कलि के शेष भोग्य वर्ष—	४२६९६८
भोग्य ४३ चतुर्युगियों के वर्ष—	१८५७६००००
भोग्य ८ सन्धियों के वर्ष—	१३८२४०००
भोग्य सात मनुवों के वर्ष—	२१४७०४००००
योग	२३४७०५०९६८

* टिप्पणी—योरोप और एशिया के अनेक समालोचकों ने भी आर्यावर्त में आदि सृष्टि का होना स्वीकार किया है। यथा—

(क) कर्नल टाड—'आर्यावर्त' के अतिरिक्त और किसी देश में सृष्टि के आरम्भ का हिसाब नहीं पाया जाता। इससे आदिसृष्टि यहीं हुई इसमें सन्देह नहीं। (टाड राजस्थान)

(ख) सर वाल्टर रैले—जल प्रलय के अनन्तर भारतवर्ष में ही वृक्ष लता आदि की उत्पत्ति और मनुष्यों की बस्ती हुई थी (History of the world)

(ग) कुरान और अंजील से भी आदम और हव्वा का अदन की वाटिका से निकल कर भारतवर्ष में आना प्रकट है।

इससे यह स्पष्ट है कि विक्रम संवत् १९८८ से २ अरब ३४ करोड़ ७० लाख ५० हजार ९ सौ ६८ वर्ष के बाद प्रलय हो जायगी। सृष्टि के भुक्त और भोग्य वर्षों के योग से सृष्टि की पूर्णायु इस प्रकार है—

भुक्तवर्ष—	१९,७२,९४,९०,३२
भोग्यवर्ष—	२,३४,७०,५०,९६८
योग—	४,३२,००,००,०००

कुरान के अनुसार हिज्री सन् की १४वीं शताब्दी में 'कयामत' हो जानी चाहिए, परन्तु वर्तमान विज्ञान ने इस बात को मिथ्या प्रमाणित कर दिया है। योरोप के साइन्सवेत्ताओं ने अनुभव करके बताया है कि— इस समय हमारी पृथ्वी की युवा अवस्था है। पुराणों के अनुसार भी छः मनु व्यतीत हो गये ७ वाँ मनु चल रहा है, सात मनु और शेष हैं। यह पुराण-विज्ञान की विश्वव्यापिनी कीर्तिपताका है कि—पाश्चात्य जगत् आज जिस बात को सिद्ध करना चाहता है, पुराणों में वही तत्त्व अरबों वर्ष पूर्व स्पष्ट शब्दों में सर्वसाधारणोपयोगी बनाकर वर्णन किया जा चुका है। *

महा प्रलय किस प्रकार होगी—पुराणों में इस प्रश्न को भी बड़े ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक ढंग से बताया गया है, यथा—

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पान्ते प्रलयाय वै ।।५।।
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते।
अण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसाधिते ।।६।।

---

* टिप्पणी—प्रलय के कई भेद हैं, यहां एक पिण्ड के प्रलय का उल्लेख किया जा रहा है जो ब्रह्मा महाराज की 'रात्रि' कही जाती है, परन्तु महाप्रलय तो ब्रह्मा के शतायुः हो जाने पर ही होती है।

पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन्य वर्षति ।
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रिताः प्रजाः ॥७॥
सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः ।
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ॥८॥
ततः सांवर्तको वह्निः संकर्षणमुखोत्थितः ।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ॥९॥
उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ॥१०॥
ततः प्रचण्डपवनो -वर्षाणामधिकं शतम् ।
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ॥११॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १३ अध्याय ४)

भावार्थ—परमेष्ठी ब्रह्मा जी के १०० वर्ष व्यतीत होने पर प्राकृत प्रलय होता है। उस समय अण्डकोश का संघात लीन हो जायगा। प्रथम सैंकड़ों वर्षों तक वर्षा नहीं होगी, जिससे मनुष्य आदि जीव तड़फ तड़फ कर विनष्ट हो जाएंगे, सब प्रकार के जल को साँवर्तक (प्रलयकालीन) सूर्य खैंच लेता है। अनन्तर संकर्षण भगवान् के मुख से भड़कती हुई अग्नि समस्त चराचर को फूंक डालेगी। इस प्रकार पृथ्वी चारों ओर से जलते हुए गोमयपिण्ड = गोहे के समान हो जायगी। फिर सैंकड़ों वर्षों तक प्रचण्ड वेग से तीव्र वायु चलेगा, और सैंकड़ों वर्ष तक मूसलाधार वर्षा पड़ेगी, जिससे सब संसार जलमय हो जायगा।

उपरोक्त वर्णन को जब वैज्ञानिक रीति से परखते हैं तो यह सोलह आने सत्य प्रतीत होता है। सर्वतन्त्र सिद्धांत से हमारी पृथ्वी कभी अग्नि का गोला थी, करोड़ों वर्ष में क्रमशः ठंडी होती हुई इस दशा को प्राप्त

हुई है। अब भी पृथ्वी के ऊपरी भाग की अपेक्षा ज्यों २ भूगर्भ की ओर बढ़ते हैं तो अधिकाधिक उष्णता मिलती है। समुद्र की बड़वाग्नि और पर्वतों की ज्वालामुखियें इस बात का प्रमाण हैं। वही उष्णता जब क्षीयमाण होती हुई उस सीमा तक पहुँच जावेगी जबकि वह सूर्यकिरणों से वाष्पभूत जल को वृष्टि के रूप में अपनी ओर नहीं खेंच सकेगी, तो सब जीव जलाभाव से विनष्ट हो जाएंगे, और सूर्य का आकर्षण समुद्रों तक के जल को सुखा डालेगा। जब पृथ्वी निर्जल हो जायगी तब भूगर्भस्थ अग्नि ज्वालामुखियों के रूप में भड़क उठेगी—उसे पुराणों में संकर्षण की मुखाग्नि के नाम से बताया है। संकर्षण का अर्थ अपनी ओर खेंचने वाला है, वह भूगर्भस्थ उष्णता ही आकर्षण शक्ति का केन्द्र है। अग्नि के भड़क उठने से तीव्र वायु का चलना स्वाभाविक है। इस प्रकार अग्नि और वायु के संघात के तीव्र हो जाने से आकाशस्थ अनन्त जलराशि मूसलाधार होकर सब कुछ डुबा डालेगी—वह जल उस भड़की हुई अग्नि का शान्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि वह कृत्रिम अग्नि नहीं है, बल्कि प्राकृत है, जैसी कि जलमय मेघों में वैद्युत अग्नि हुआ करती है। इसके सब तत्त्वों के लीन होने का क्रम इस प्रकार है—

तदाभूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे ।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥१४॥
अपां रसमथो तेजस्तल्लीयन्तेऽथ नीरसा ।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥१५॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् ।
स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम् ॥१६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते ।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग ! देवान्वैकारिको गुणैः ॥१७॥

महान् असत्यहङ्कारं गुणाः सत्वादयश्च तम् ॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२ अध्याय ४)

अर्थ—जब जलमग्न पृथ्वी का गुण गन्ध नष्ट हो जायगा तो पृथ्वी भी नष्ट हो जायगी। जल के रस गुण को अग्नि फूँक डालेगी, तब जल भी लीन हो जाएगा। तेज का गुण रूप वायु में लीन हो जायगा, तब तेज भी नहीं रहेगा। वायु के स्पर्शादि गुण आकाश में समा जाएंगे तब वायु भी नष्ट हो जायगा। आकाश के गुण शब्द को सूक्ष्मभूत ग्रास कर जाएंगे, वह भी उसमें लीन हो जायगा, अनन्तर इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता--अहङ्कार—उत्तरोत्तर महत्तत्त्व में लीन हो जाएंगे। तब वही शुद्ध निर्लेप निरञ्जन ब्रह्म रह जायगा—शेष संसार अव्यक्त रूप में परिवर्तित हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उत्पत्ति के समय जो तत्त्व जिस तत्त्व का उत्पादक होता है, ठीक उसी प्रकार विलोम-क्रम से उत्तरोत्तर वह उसी में लीन हो जाता है। जैसे सोने से भूषण बनता है वही कालान्तर में टूट-फूट कर फिर सुवर्ण ही बन जाता है। इस प्रकार पुराणों के दूसरे विषय 'प्रतिसर्ग' का निरूपण करके तीसरे विषय 'वंश' का प्रतिपादन किया जाता है।

वंश

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोन्वयः।

(श्रीमद्भागवत १२। ७। १६)

अर्थात्—ब्रह्मा से उत्पन्न होने वाले राजाओं की भूत, वर्तमान और भावि कुल-परम्परा को वंश कहते हैं।

दो हजार वर्ष से पूर्ववर्ती पुरातन पुरुषों का क्रमबद्ध उल्लेख पुराणों के सिवा संसार की किसी अन्य पुस्तक में प्राप्य नहीं है। अनेक शाखा

प्रशाखाओं में प्रविभक्त इन विस्तृत वंश-परम्पराओं को संक्षिप्त—किन्तु—सुस्पष्ट रीति से लेखबद्ध कर देना श्री व्यास जी की लेखनी का ही काम था। संसार में 'गागर में सागर' वाली कहावत प्रायः सभी को कण्ठस्थ है, परन्तु इसका सर्वाङ्गपूर्ण एवं यथार्थ निदर्शन केवल पुराणों की इन वंशावलियों के मनन करने पर ही प्राप्त हो सकता है।

पुराणों को आर्यजाति के इतिहास का अथाह सागर कह देना अत्युक्ति न होगी। यद्यपि प्रधानतः यह विषय महाभारत रामायण और हरिवंश-पुराण में वर्णित है तथापि पुराणों को विश्वतोमुख बनाने के लिये उनमें भी इस विषय को सन्निविष्ट कर लिया गया है। पौराणिक वंश वर्णन के विषय में किसी को कोई विशेष सन्देह नहीं रहा है, सभी समालोचक इस विषय की भूरि २ प्रशंसा करते हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने भी 'सत्यार्थप्रकाश' में इसी पौराणिक वंश वर्णन के आधार पर आर्यावर्त के राजाओं की वंशावली लिखी है। स्वामी जी ने उसमें कई जगह भयङ्कर गलती भी खाई है जो कि पुराणानभिज्ञ होने के कारण स्वाभाविक थी अतः क्षन्तव्य है। हमारे कई आर्यसमाजी भाई कृतघ्नता की पराकाष्ठा दिखाते हुये इस वंशावली का आधार 'राजतरङ्गिणी' को बताते हैं परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि राजतरङ्गिणी की कौन कहे—संसार की किसी भी अन्य पुस्तक में युधिष्ठिर के पहले का क्रमबद्ध वंशवृक्ष अङ्कित नहीं है।

कई पाश्चात्य समालोचकों को अमुक २ पुराण की वंशावलियों की तुलना करने पर परस्पर बिरोध का आभास हुआ है। उनका कहना है कि अमुक पुराण में ब्रह्मा या मनु से आरम्भ करके राम या भगवान् कृष्ण तक इतनी पीढ़ियें लिखी हैं, परन्तु अमुक पुराण के अनुसाम न्यून या अधिक ठहरती हैं, अतः परस्पर-विरोध के कारण किसे सत्य और किसे असत्य माना जाए ? इसी तरह कुछ समालोचकों को अमुक २ नामों में भी विरोध जंचता है—इन दोनों प्रकार के संशयों का कारण केवल पुराण-

शैली को न समझना ही है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से प्रलय पर्यन्त चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों के एक कल्प की और इसी तरह कल्पान्तर की समूची वंशावलियें लेखबद्ध कर डालना कठिन ही नहीं, बल्कि सर्वथा असंभव है। यदि पीढ़ी दर पीढ़ी प्रत्येक नाम का उल्लेख किया जाय तो—

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे—

—के अनुसार तीन काल में भी यह काम पूरा नहीं हो सकता। इसलिए पुराणों में वंशावलियें कहीं पीढ़ी दर पीढ़ी और कहीं अकिंचित्कर व्यक्तियों के नामों का उल्लेख अनावश्यक समझ उन्हें छोड़कर तत्तद्वंशज प्रधान २ पुरुषाओं की गणना से अङ्कित की हैं। जैसे वर्तमान गवर्नमैंट मनुष्यों और कभी २ पशुओं की गणना करना तो आवश्यक समझती है परन्तु चौमासे के अगणित कीट, पतङ्ग, मच्छर और खटमलों की गणना करके अपने रजिस्टर काला करने की मूर्खता को व्यर्थ समझती है, ठीक इसीप्रकार व्यास जी ने अपने ग्रन्थों में उन्हीं पुरुषों का उल्लेख करना आवश्यक समझा है, जिनका कि मानव जाति के साथ धार्मिक या अन्य किसी दृष्टि से प्रगाढ़ सम्बन्ध बनाये रखना लाभकारी हो। इसीलिए पुराणों की वंशावलियें पढ़ते समय प्रत्येक नाम को पिता पुत्र के क्रम से समझ बैठना भारी भूल है, बल्कि कहीं अमुक का पुत्र और कहीं अमुक का वंशज अमुक—ऐसा अनुसन्धान पूर्वक समझना चाहिये। इस शैली का मनन करने पर परस्पर विरोध का आभास दूर हो जाएगा, तथा नाम भेद का भ्रम भी न रहेगा।

मन्वन्तर

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।
ऋषयोंऽशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥

(श्रीमद्भागवत १२। ७। १५)

अर्थात्—मनु, देव, मनुपुत्र, इन्द्र, ऋषि और भगवान् के अंशावतार इन छः प्रकार की घटनाओं के उल्लेख को 'मन्वन्तर' कहते हैं।

पुराणों का यह चौथा विषय बड़ा ही अपूर्व है। सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर प्रलयपर्यन्त---चार अर्ब बत्तीस करोड़ वर्ष के लम्बे अर्से में—कौन घटना किस समय हुई, अथवा अमुक व्यक्ति का प्रादुर्भाव इस भूमि पर कब हुआ था—इस गंभीर रहस्य को ठीक ठीक जानने के लिये पुराणों में व्यास जी ने 'मन्वन्तर' पद्धति का आविष्कार किया है। दूसरे शब्दों में यूँ समझिये कि जिस तरह वर्तमान घटीयन्त्रों में बारह चिह्न लगाकर दिन के नाप तोल की व्यवस्था की गई है इसी तरह पुराणों की मन्वन्तर रूप घड़ी में मनुरूप चौदह माध्यमिक (Standerd) नियत्त करके एक कल्प के लम्बे समय को नाप डाला है।

कई अधकचरे समालोचक हिन्दू इतिहास के ऊपर यह सबसे बड़ा आक्षेप किया करते हैं; कि उसमें अमुक २ व्यक्तियों का जन्मसंवत् दर्ज नहीं है और नाहीं किसी विशेष घटना का साल संवत् अङ्कित है, अतः भारतीय इतिहास अन्धकारमय एवं अनुपयुक्त है। हमें ऐसा प्रश्न करने वाले कूपमण्डूकों की बुद्धि पर बेतरह तरस आता है: क्योंकि वे केवल दो हजार वर्ष का इतिहास लिखने में जिस ईसा को माध्यमिक (Standerd) नियत्त करके अमुक २ घटना का काल ईसा से इतने वर्ष पूर्व या ईसा से इतने दिन पश्चात्—लिखते हैं, हमारे चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष के लम्बे इतिहास में ईसा जैसे छप्पन करोड़ व्यक्ति हो गुजरते हैं, तब इस अकिंचित्कर प्रणाली से हिन्दू इतिहास की घटनाओं का क्या पता चल सकता है। हमारे विचार में जो लोग मन्वन्तर प्रणाली को छोड़ कर पाश्चात्य समालोचकों का अनुगमन करते हुए अपने इतिहास ग्रन्थों में यह लिखते हैं कि अमुक घटना इतने वर्ष ईसा से पूर्व, या विक्रम से पूर्व अथवा इनके अमुक सन् संवत् में

घटी है, वे सर्वथा उपहासास्पद अदूरदर्शिता करते हैं। जैसे कोई पूछे कि क्यों स्टेशन मास्टर साहिब ! अमुक स्थान को किस समय गाड़ी जाती है ? और स्टेशन मास्टर इसके उत्तर में कहे कि 'हमारे बुद्धू नौकर के झाड़ू लगाने के तीन मिनट बाद, या हमारी घरवाली के रोटी पकाने से आध घण्टा पहिले चला करती है, तो जिज्ञासु को इस उत्तर से क्या लाभ होगा ! उसे अब बुद्धू के झाड़ू लगाने का और बबूआइन के रोटी पकाने का टाइम दर्याफ्त करने की आवश्यकता पड़ेगी। कदाचित् उक्त दोनों जंगी जीव भी सीधा उत्तर न देकर इसी तरह किसी दूसरे कार्य के आगे या पीछे की बात कह डालें तो पूछने वाले के हजार सिर पटकने पर भी कुछ पल्ले न पड़ेगा।

सो इसी भान्ति अरबों वर्ष की घटनाओं का समय निर्धारण करने के लिये ईसा या किसी अन्य व्यक्ति की अगाड़ी पिछाड़ी का जिक्र करना सर्वथा परिहास ही होगा, क्योंकि जब स्वयं ईसा के सम्बन्ध में ही यह निश्चित नहीं कि हजरत स्वयं सृष्टि के आरम्भ से कितने वर्षों बाद उत्पन्न हुवे तब उन्हें स्टैन्डर्ड नियत करना क्या अर्थ रखता है ? ईसा का सन् प्रलय तक इसी तरह चलता रहेगा, यह भी कौन गारण्टी (Guarantee) दे सकता है ! लाखों करोड़ों वर्ष की बातें तो जाने दीजिये, आज से पाँच सहस्र वर्ष मात्र थोड़े से समय पूर्व चलने वाला सम्राट् युधिष्ठिर का संवत् आज लुप्त प्रायः हो चुका है, अंगुलियों पर गिनने लायक प्रौढ़ ज्योतिषियों और शास्त्र-व्यसनी अनुसन्धायकों को छोड़ कर सर्वसाधारण को यह बिल्कुल विदित नहीं कि विक्रम संवत् २०२८ में युधिष्ठिर संवत् कौन है ! और वह संवत्सर किस मास की किस तिथि से आरम्भ होना है ! ! जब काल-चक्र की वक्रगति से युधिष्ठिर-संवत् की यह दशा हो सकती है तो दो चार हजार वर्ष के बाद यही हालत ईसवी सन् की क्यों न होगी !!! यदि आज सर्वसाधारण को युधिष्ठिर जी की बाबत यह विदित है कि वे लगभग पाँच हजार

वर्ष पूर्व इस भूमि पर राज्य करते थे, तो यह युधिष्ठिर-संवत् का प्रताप नहीं है, बल्कि पुराणों के मन्वन्तरों की अङ्गभूत युगपद्धति का ही प्रभाव है, अर्थात्—वर्तमान कलिकाल के गत वर्षों की गणना के आधार पर ही उनका समय जाना जाता है। इसलिये किसी अनिश्चित व्यक्ति को मध्यस्थ बनाकर काल नापने के स्वप्न देखना अदूरदर्शी कूपमण्डूकों को ही शोभा देता है। हमारे पूर्वजों में इस प्रकार की अधूरी बातों का आदर नहीं था। वे तो प्रत्येक सिद्धान्त को सुनिश्चित एवं सर्वतोमुखता की सीमा तक पहुँचा कर छोड़ते थे। सो सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय तक की घटनाओं का समय जानने के लिये उन्होंने 'मन्वन्तर-पद्धति' का आविष्कार किया था। इससे प्रत्येक घटना का समय 'इदमित्थं' जाना जा सकता है।

आज तक छः मनु व्यतीत हो चुके हैं, सातवाँ चल रहा है, और सात मनु प्रलय तक और होने हैं। इन मनुओं के साथ सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग इन चारों युगों का सम्बन्ध है। इनके तारतम्य से प्रत्येक घटना का ठीक समय निकल आता है। यदि आधुनिक समालोचक यह आक्षेप करें कि—'मन्वन्तर' पद्धति से केवल अमुक मनु के समय में, या अमुक युग में—इतना ही विदित हो सकता है, साल संवत् का ठीक ज्ञान नहीं होता—तो इसका उत्तर यह है कि तुम्हारी पाश्चात्य पद्धति से भी तो केवल इतना ही पता लगता है, कि 'इन चन्द शताब्दियों में अमुक घटना ईसवी सन् के इतने वर्ष पूर्व या बाद में हुई है; इससे भी उस घटना के घटने का महीना, तारीख, घण्टा, मिनट, सैकेण्ड तो नहीं जाने जाते! क्या तुम्हारी ही युक्ति के आधार पर तुम्हारा इतिहास अधूरा नहीं ठहरता? यदि कहो महीने और तारीखों की क्या जरूरत है! तथा मिनटों और सैकेण्डों की बारीकी के जानने से क्या लाभ?—वर्ष मात्र जानना ही काफी है। सो जिस तरह तुम्हें अपने अढ़ाई हजार वर्षों के छोटे से अर्से में वर्षमात्र जानना काफी जंचता है इसी तरह

हमें अपने अर्बों वर्षों के इतिहास में युगमात्र जान लेना पर्याप्त क्यों नहीं ? जैसे महीने तारीखें आदि न जानने पर तुम्हारी कुछ हानि नहीं—इसी तरह साल संवत् के न जानने पर हमारा भी कुछ नुकसान नहीं ।

अढाई हजार वर्ष की आयु वाली जाति की और अर्बों वर्ष की आयु वाली जाति की काल-गणना-पद्धति में इतना अन्तर तो होना ही चाहिए, क्योंकि घोड़ा बारह वर्ष में जवान कहा जाता है तो हाथी पचास वर्ष में जवान कहा जाता है । यदि कुछ सहस्र वर्षों के इतिहास में वर्षों का ज्ञान पर्याप्त है तो अर्बों वर्ष के इतिहास में युगों का ज्ञान भी कुछ कम नहीं ! इस विस्तृत विवेचना के बाद अब हम मन्वन्तर पद्धति का निरूपण करते हैं, पाठक ध्यानपूर्वक पढ़े और पुराणों की अलौकिक कल्पना का परीक्षण करें ।

(चौदह मनुवों के नाम)

(१) स्वायम्भुव (२) स्वारोचिष (३) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत (८) सावर्णिक (९) दक्षसावर्णिक (१०) ब्रह्मसावर्णिक (११) धर्मसावर्णिक (१२) रुद्रसावर्णिक (१३) देवसावर्णिक और (१४) इन्द्रसावर्णिक । (वि० पु० १० । ३)

एक कल्प के इतिहास को पुराण कहते हैं । ब्रह्मा जी के एक दिन का नाम कल्प है । एक कल्प में एक सहस्र महायुग और चौदह मन्वन्तर होते हैं । सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चार युगों का एक महायुग होता है । प्रत्येक युग में संध्या और संध्यांश होता है ।

युग के आरम्भ होने के अव्यवहित (जिसके बीच में और कोई न हो) पूर्वकाल को संध्यांश कहते हैं । दो युगों की सन्धि को संध्या कहते हैं । दिन की जिस प्रकार प्रातःसंध्या और सायं-संध्या होती है । इस

प्रकार युग के भी संध्या और संध्यांश होते हैं। युग के अनुसार स्वभाव का परिवर्तन होता है।

यह स्वभाव कालगत है। जैसे प्रातःकाल के समय मनुष्य अपने आप ही शान्त स्वभाव वाला होता है, मध्याह्न में व्यग्र भाव वाला होता है, दिन के अन्त में आलस्य वाला होता है, इसी प्रकार प्रत्येक कल्प में, प्रत्येक मन्वन्तर में और प्रत्येक युग में काल के अनुरूप भिन्नता होती है। दिन के आदि से अन्त तक में यह बात हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, किन्तु दिन के भाव-परिवर्तन को हम जिस प्रकार प्रत्यक्ष करते हैं उसी प्रकार दीर्घव्यापी काल को नहीं कर सकते। हमारा एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। उनके एक वर्ष में हमारे ३६० वर्ष होते हैं। देवमान के अनुसार युगो का परिमाण नीचे लिखा जाता है। इनमें ३६० से गुणा करने पर मनुष्यों के संवत्सर बन सकते हैं।

	संध्या	युगकाल	संध्यांश	जोड़
सत्ययुग	४००	४८००	४००	४८००
त्रेतायुग	३००	३०००	३००	३६००
द्वापरयुग	२००	२०००	२००	२४००
कलियुग	१००	१०००	१००	१२००
				१२०००

एक कल्प में एक सहस्र महायुग होते हैं। इसलिये एक कल्प—

१२००० × १००० = १,२०,००,००० देववर्ष

= १,२०,००,००० × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानव-संवत्सर का होता है।

एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते हैं। इसलिये एक मन्वन्तर का परिमाणकाल— $\frac{१,२०,००,०००}{१४}$ = ८५७१४२ $\frac{६}{७}$ देववत्सर होता है एक मन्वन्तर में $\frac{१०००}{१४}$ अर्थात् ७१ $\frac{३}{७}$ महायुग होते हैं।

'स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम्।'

(श्रीमद्भागवत ३-११-२४)

अर्थात्—एक मन्वन्तर में इकहत्तर सत्य, ७१ त्रेता, ७१ द्वापर और ७१ कलियुग होते हैं। $\frac{३}{७}$ टुकड़े के लिए 'साधिका' शब्द कहा है।

अब यह देखना चाहिये कि—हमारा वर्तमान समय क्या है? ब्रह्मा जी के जीवन के सौ वर्ष होते हैं। अर्थात् हमारा सात लोकों वाला वर्तमान ब्रह्माण्ड ब्रह्मा के काल के सौ वर्षों तक रहने वाला होता है।

ब्रह्मा के काल का परिमाण क्या है?

हमारी पृथ्वी एक कल्प तक रहने वाली है। इस पृथ्वी के प्राणी मर कर कुछ समय तक अन्तरिक्ष लोक में निवास करते हैं। तदनन्तर स्वर्गलोक में सुकृत कर्म का फल भोगते हैं फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति' अर्थात्—पुण्य क्षीण होने पर इस मर्त्यलोक में अर्थात्—पृथ्वी पर लौट आते हैं। इसीलिये पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग, भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। इन तीन लोकों का समाहार त्रिलोक कहलाता है। प्रत्येक कल्प में इस त्रिलोक का नाश हो जाता है, इसको दैनन्दिन नैमित्तिक अथवा काल्पिक प्रलय कहते हैं।

वर्तमान कल्प में हमारी इस पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है और इस कल्प के अन्त में इस पृथ्वी का नाश हो जायगा। एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है और यही कल्प परिमाणकाल ब्रह्मा की रात्रि

होती है। इस प्रकार ३६० दिन रात में ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों की ब्रह्मा की परमायु है। यही ब्रह्मा का काल परिमाण है।

इस काल परिमाण को द्विपरार्द्ध काल कहते हैं। ब्रह्मा के जीवन में एक परार्द्ध व्यतीत हो गया है। अर्थात् ब्रह्मा जी की आयु के पचास वर्ष व्यतीत हो गये हैं। हमारा यह कल्प द्वितीय परार्द्ध का प्रथम कल्प है और इसका नाम वाराह कल्प है। वराह कल्प के छः मन्वन्तर बीत चुके हैं, अब सातवें मनु का अधिकार काल है। सप्तम मनु का नाम वैवस्वत है, अतः इस मन्वन्तर का नाम 'वैवस्वत-मन्वन्तर' है।

वैवस्वत मन्वन्तर में अट्ठाईस सत्ययुग, अट्ठाईस त्रेतायुग और अट्ठाईस द्वापरयुग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवां कलियुग चल रहा है। कलियुग देवताओं के १२०० वर्षों का होता है अर्थात्—

१२००X३६० = ४,३२,००० मानुष वर्षों का कलियुग होता है।

विक्रमी सम्वत् २०१४ का पञ्चाङ्ग उठाकर देखें तो उसमें लिखा हुआ होगा—

'अथ श्वेतवराहकल्पाब्दाः ४,३२,००,००,००० । कल्पगताब्दाः १९७२९४९०५८ तत्कल्पस्य भूसृष्टितोतीतसौराब्दाः १,९५,५८,८५,०४८। कल्यब्दाः ४,३२,००० कलेर्गताब्दाः ५०५८ शेष कलिः ४,२६,९५२।'

जो पूर्ण दृष्टि से कार्य करते हैं वे ही पण्डित हैं। ऋषियों की दृष्टि से इसीप्रकार काल की गति जानी जाती है। इसी कालगति को लक्ष्य में रखकर हिन्दूमात्र कर्म करते हैं। इस प्रकार यह चौथा विषय समाप्त है।

वंशानुचरित

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ।

(श्रीमद्भागवत २१ । ७ । १६)

अर्थात्—अमुक २ वंश में उत्पन्न होने वाले विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र-वर्णन तथा वंश-परम्परा को 'वंशानुचरित' कहते हैं। पुराणों का यह पांचवां विषय बड़े ही महत्व का है। पुरुष अपने जीवन में सेंकड़ों बार आपत्तियों का सामना करता है। कई बार बड़े से बडा धर्मतत्त्वज्ञ भी आपत्ति के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अपना कल्याण-मार्ग निर्धारित नहीं कर पाता। धर्म की ऐसी ग्रन्थियें उलझती हैं कि एक ओर कुआ और दूसरी ओर खंदक ! जरा भी पाँव फिसला कि धर्म के ऊँचे शिखर से सदा के लिये गिर गया। ऐसी जटिल पेचीदा व्यवस्थाओं को सरल बनाने के लिये पुराणों में इस विषय का समावेश किया है। हम उदाहरणार्थ ऐसी एक आध व्यवस्था पाठकों को भेंट करना चाहते हैं।

महाभारत का संग्राम हो चुका है। दुराग्रही दुर्योधन भीमसेन की भयङ्कर गदा के आघात से क्षत-विक्षत होकर एक निर्जन स्थान में अपने अन्तिम श्वास गिन रहा है। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा अपने स्वामी से उऋण होने के लिये इस पाप यज्ञ की पूर्णाहुति में पाँचों पाण्डवों के सोते हुये पांच पुत्रों के मस्तक काट कर ले गया। द्रुपदनन्दिनी पुत्र शोक से कातर होकर करुणाक्रन्दन करने लगी, जिसे सुनकर गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन शोक-मोह-क्रोध के अगाध सागर में निमग्न होता हुआ आगा-पीछा भूल गया। और प्रतिज्ञा कर बैठा कि निरपराध बालकों के हत्यारे का अभी मस्तक काट कर लाता हूं—······। इतना कह रथ में सवार हो अश्वत्थामा को जा पकड़ा। पुत्रघाती होने पर भी गुरुपुत्र होने के कारण सिर काटने का साहस नहीं हुआ। धनुष की डोरी से बांधकर शिविर में ले आया। जहाँ युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदी आदि शोकाक्रान्त हुवे आँसू बहा रहे थे, उसी स्थान में उसे लाकर रख दिया। गुरुपुत्र की इस दुर्दशा को देखकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर का हृदय दयार्द्र हो उठा। अर्जुन से कहने लगे—तात ! जिन विद्यानिधि द्रोणाचार्य की कृपा से हमने धनुर्वेद

पढ़ा है, यह अश्वत्थामा उन्हीं का रूप है, मैं गुरुपुत्र की यह दशा नहीं देख सकता, अतः इसे शीघ्र छोड़ दो। एक तो ब्राह्मण फिर गुरुपुत्र, इसे प्रणाम करो। हमारे पुत्र हमारे ही पूर्व जन्म के पापों से विनष्ट हुये हैं, यह तो कारणमात्र है। फिर इसके मारने से वे जीवित भी नहीं हो सकते। इसलिये इसे शीघ्र छोड़ दो।

युधिष्ठिर जी के इस धर्मोचित वचन को सुनकर भीमसेन का खून खौलने लगा और नेत्रों से चिंगारियें बरसने लगीं, ओष्ठ फड़फड़ा उठे, फिर सिंह की भांति गरज कर बोले—हे गाण्डीवधन्वा! अर्जुन! ज्येष्ठबन्धु का यह वचन निरा कायरतास्वरूप है। जिस पामर ने पाँच निरपराध राजपुत्र बालकों को—शयन करते हुओं को—विनाश करके अपने स्वामी को भी मृत्यु का ग्रास बनाया है वह—हाय! हाय! वह छोड़ा जाय! हरगिज नहीं, खड्ग निकालो! इस हत्यारे को शीघ्रातिशीघ्र मार डालो।

भीम की बात का भगवान् कृष्ण ने भी (परीक्षा लेने के ख्याल से) समर्थन किया, और बोले कि हे—सव्यसाचिन्! तुमने अभी अभी मेरे सामने हत्यारे का शिर काटने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु अब उससे पीछे हटना चाहते हो, यह क्षात्रधर्म के विरुद्ध है। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो।

दयालुहृदया द्रौपदी ने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण के और भीमसेन के भड़कीले भाषण से अव्यवस्थित होकर अर्जुन मेरी ओर देखता है। सोचा कि मेरे ही करुणाक्रन्दन को सुनकर उन्होंने यह भीषण प्रतिज्ञा की थी। अतः अब मेरे ऊपर ही उसका भार समझते हैं। हाय! मैं इस भयङ्कर हत्याकाण्ड का कारण क्यों बनूं... बोली—हे प्राणनाथ! आपने शोकाकुल होकर अनुचित प्रतिज्ञा कर डाली है। हाय! हाय! यह तो उन्हीं द्रोणाचार्य का द्वितीय स्वरूप है जो आपके पूज्य विद्यागुरु थे

हाय ! इन्हीं की यह गति ! आप मेरी ओर देखते हैं, मानो इस विषय में मुझ हतभागिनी की सम्मति जानना चाहते हैं। नहीं? मैं नहीं चाहती कि पतिव्रता गौतमी (अश्वत्थामा की माता) मेरी तरह पुत्रशोक से विह्वल होकर करुणा-क्रन्दन करे, अतः इसे छोड़ दो। अर्जुन ने जब सब की सुनी तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया और विचारने लगा, कि अपनी प्रतिज्ञा तथा भीमसेन की सम्मति की ओर देखता हूं तो अश्वत्थामा का वध करने को भुजा फड़कती है, परन्तु धर्मराज और द्रौपदी की सम्मति इसके प्रतिकूल है। भगवान् श्रीकृष्ण भी प्रतिज्ञापालन करने का परामर्श देते हैं, किंतु अर्जुन का हाथ ब्रह्महत्या और गुरुहत्या करने को उद्यत नहीं होता। ऐसे धर्मसंकट में पड़े हुए अर्जुन अपना वास्तविक कर्तव्य निर्धारित न कर सके। तब भगवान् कृष्ण से 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर व्यवस्था की याचना की। भगवान् ने कहा—

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः।
वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा।
स एष ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः।

(श्रीमद्भागवत १। ७। ५३-५७)

अर्थ—अपराधी ब्राह्मण को प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये, परन्तु यदि वह आततायी विष-प्रयोग अग्निदाह और बालहत्यादि कार्य करने वाला हो तो उसको मारना न्याय है, और उसका मारना यही है कि शिर मूण्ड कर, द्रव्य छीन कर देश निकाला दे दिया जाय, किन्तु शारीरिक हत्या उचित नहीं।

भगवान् की इस धर्मसंगत सम्मति को सबने पसन्द किया। अर्जुन ने भगवान् के आशय को समझकर अश्वत्थामा के मस्तक की मणि निकाल ली और उसे हुँकार तुंकार से लज्जित करके निकाल दिया।

अब पाठक इस समूची घटना पर ध्यान देकर विचारें कि भगवान् की यह व्यवस्था कितनी अमूल्य है। अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी ो गई, भीमसेन भी सन्तुष्ट रहा और अपराधी को दण्ड भी दिया गया तथा ब्रह्महत्या का पाप भी नहीं लगा।

इस प्रकार की सैंकड़ों पेचीदा धर्म-व्यवस्थाएं पुराणों में मिलती हैं जो पुरुषों को अपना चरित्र सुसंगठित करने में सहायता देती हैं। जो पुरुष 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः' को जानना चाहते हों उन्हें नित्यप्रति पुराणों का पारायण करना चाहिये।

इस तरह पुराणों के मुख्य पाँचों विषयों का यथाशक्य निरूपण करने के साथ यह अध्याय समाप्त किया जाता है।

क्या कब कैसे बना विश्व यह, क्योंकर लय हो जाता है,
कौन वंश कब हुआ किया क्या—तत्त्व 'सातवाँ' गाता है।

※ सातवां अध्याय समाप्त ※

वेद-पुराणसमन्वयाध्यायः

(आठवां-अध्याय)

पुराणेषु च ये भावाः प्रोक्ता व्यासेन धीमता।
तेषां हि वेद-वचनैः क्रियतेऽत्र समन्वयः ॥

हम विगत अध्याय में डिण्डिम घोष के साथ कई बार यह भाव प्रकट कर चुके हैं कि पुराणों में जो कुछ सैद्धान्तिक तत्त्व भरा है वह सब वेदवचनों की ही सुस्पष्ट एवं विस्तृत व्याख्यामात्र है। उनमें नई किंवा निर्मूल एक भी बात नहीं लिखी है। यह हो सकता है कि आलस्य, प्रमाद, अयोग्यता अथवा वेद ग्रन्थों के न मिल सकने के कारण हम पुराणोक्त अमुक भाव का बीजभूत वेदवाक्य न ढूंढ सकें परन्तु यह कदाचित् संभव नहीं कि वेद की किसी भी शाखा में तादृश वचन का सर्वथा अभाव हो! हमने अन्यून तीस वर्ष से ज्यों ज्यों वेदों और पुराणों का विशेष अनुसन्धान किया है, त्यों त्यों हमारी उपरोक्त भावना उत्तरोत्तर दृढ़ होती गई है। इसलिये हम तो बिना किसी संकोच के स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध करने को तैयार हैं कि 'पुराणों का प्रत्येक सिद्धान्त वेदमूलक है।

न्यायशास्त्र के अनुसार केवल प्रतिज्ञामात्र से कोई पक्ष सुस्थिर नहीं माना जा सकता, बल्कि तादृश प्रमाणों और युक्तियों के अनुमोदन तथा समर्थन से ही वह पक्ष सिद्धांत कोटि में परिगणित किया जाता है। अतः इस अध्याय में हम ऐसे ही वेदप्रमाणों का संग्रह करना आवश्यक समझते हैं जिनसे कि पुराणों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध भावों का सर्वतोमुखेन समर्थन होता हो।

हमने बहुत कुछ चेष्टा की कि इस अध्याय के विषयों का कुछ भी क्रमबन्धन हो जाए, परन्तु विषय-संकीर्णता के कारण हम इस भावना को सफल बनाने में कृतकार्य न हो सके, इसलिए विज्ञपाठक हमारी इस विवशता पर क्षमा करेंगे ऐसी आशा है। इसके अतिरिक्त अनावश्यक विस्तारभय से हमने वेदमन्त्रों के साथ २ तुलना करने के लिए पुराणों के तादृश-भाव-द्योतक श्लोक जानबूझ कर प्रायः उद्धृत नहीं किये हैं, किन्तु कहीं कहीं आवश्यकता समझने पर उन उन पुराण-प्रकरणों के पते मात्र अङ्कित कर दिये हैं और अधिकतया तो शीर्षक ही ऐसे रखने की चेष्टा की है, जिसमें कि पुराण-प्रसिद्ध भावों को पाठकों के सामने उपस्थित कर सकने की क्षमता है।

यहाँ यह भी बता देना परमावश्यक है कि इस अध्याय के विषयों की सीमा केवल वेदों और पुराणों के समन्वय तक ही मर्यादित है, अतः हम उसे लांघ कर वेद या पुराण के किसी भी भाव की वैज्ञानिकता प्रकट करने के लिए यहां आबद्ध नहीं है, किन्तु 'पुराणों में ऐसा लिखा है तो वेदों में भी ऐसा ही लिखा है' एतावन्मात्र सिद्ध कर देना ही यहाँ हमें अभीष्ट है। यदि पाठकों को इस अध्याय के पढ़ने से वेदों और पुराणों के भावों की समता मात्र का परिज्ञान हो गया तो अगले अध्याय में तादृश निरूपण की वैज्ञानिकता का भी यथायोग्य परिचय मिल जायगा। आशा है यह सूचनात्मक कतिपय पङ्क्तियें इस अध्याय

की शैली समझने में पाठकों के लिए लाभकारी सिद्ध होगी । साम्प्रतं प्रकृतमनुसरामः ।

सृष्टि विषयक भावों की वैदिकता

विष्णु की नाभि में कमल

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ (ऋग्वेद १० । ८२ । ६)

अर्थ—[सायणभाष्यानुसारी] (आपः) जल (प्रथमं) सृष्टि के आरंभ में (तमित्) इस चराचर रूप (गर्भं) गर्भ को (दध्रे) धारण करते हुवे, (यत्र) जिसमें (विश्वे) समस्त (देवाः) देवता (समगच्छन्त) संगत हुवे । (अजस्य) अजन्मा भगवान् * विष्णु की (नाभौ अधि) नाभि के मध्य में (एकं) अद्वितीय तत्त्व (अर्पितं) स्थापित था (यस्मिन्) जिसमें (विश्वानि) समस्त (भुवनानि) लोक (तस्थुः) स्थित हुवे ।

कमल पर सृष्टि का आवास

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः ।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि तत्र तन्मायया हितम् ॥
(अथर्व १० । ८ । ३४)

---

* टिप्पणी—स्वसृष्टे जले शयानस्येति सायणः । अर्थात्--स्वनिर्मित जलमें शयन करते हुवे (श्री विष्णु भगवान् की) ऐसा सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्य में लिखा है ।

अर्थ—(यत्र) जिस [नाभिकमल] में (देवाश्च मनुष्याश्च) देवता और मनुष्य आदि सब प्राणी (नाभौ—अरा इव) पहिये की मध्यस्थ पुट्ठी में गजों की तरह (श्रिताः) आश्रित थे (मैं उस) (अपां पुष्पं) जल के फूल कमल को (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूछता हूँ [जो कि] (तत्र) भगवान् की नाभि में (तन्मायया) उसी की माया से) हितम्) स्थित था ।

सात समुद्र

अहं जजान सप्त सिन्धून् । (६ । ६१ । ३)

अर्थात्—सातों समुद्रों को मैंने ही रचा है ।

सृष्टि के आदिम पुरुष ब्रह्मा जी

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे । (अथर्व ११ । २२ । २१)

अर्थ—(उत) अपि च (भूतानां) सब प्राणियों में (ब्रह्मा) श्री ब्रह्मा जी (प्रथमः) पहिले पहल (जज्ञे) उत्पन्न हुये ।

ब्रह्मा से दश महर्षि

(क) दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । (अथर्व ११।१०।१०)

(ख) ब्रह्म विश्वसृजो दश । (अथर्व ११ । ९ । ४)

अर्थात्—(क) पुराकल्प में सब देवों से पूर्व दश देव उत्पन्न हुवे । (ख) ब्रह्मा से मरीचि आदि प्रजापति उत्पन्न हुए ।

यथा मनु—

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥
(मनुः १ । ३४—३५)

अर्थात्—[श्री ब्रह्माजी कहते हैं कि] प्रजा रचने की इच्छा करते हुये मैंने कठिन तपश्चर्या करने के बाद सर्वप्रथम दश प्रजापति महर्षियों को रचा । जिनके नाम मरीची, अत्रि, अङ्गिरा पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद ये हैं ।

उक्त महर्षियों की अलौकिक

(क) ये (प्रजापतेः रेतः पिण्डा दग्धाः सन्तः) अङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् । यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् ।
(ऐतरेय ३ । ३४)

(ख) यद्रेत आसीत्तदभृज्यत, यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत् । (गोपथ पू० १ । से)

(ग) उतोसि मैत्रावरुणो वशिष्ठ उर्वश्यां ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः । (ऋग्वेद अ० ५ अ० २ व० २४)

अर्थात्—(क) जो प्रजापति के वीर्य पिण्ड जल जाने पर अङ्गारा वन गए वे ही अंगिरस कहलाये और जो अंगारे बुझ कर फिर से जल उठे वही बृहस्पति हुआ । (ख) जो वीर्य भुन गया वही भर्जन के कारण भृगु हुआ (ग) मित्रावरुण से उर्वशी अप्सरा द्वारा मानसिक पुत्र वशिष्ठ जी का जन्म हुआ ।

प्रजापति दक्ष

स प्रजापतिर्वै दक्षो नाम। (शतपथ २।४।४।२)

अर्थात्—वह दक्ष नामक प्रजापति हुआ।

दक्ष यज्ञ में शिव का अपमान

प्रजापतिः [दक्षः] वै रुद्रं यज्ञान्निरभजत्।

(गोपथ उत्तर। १। २)

अर्थात्—दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में रुद्र को भाग नहीं दिया।

भग की आंखें और पूषा के दांत

(क) तस्य भगस्य चक्षुः परापतत्तस्मादाहुरन्धो वै भगः।

(गोपथ उ०। १। २)

(ख) तस्य (पूष्णः) दन्तान्परोवाप तस्मादाहुरदन्तकः पूषा करंभभागः। (कौषीतकि ६। १३)

अर्थात्—[दक्षयज्ञविध्वंस में क्रुद्ध रुद्र गणों ने] भग देवता की आंख निकाल डालीं इसलिए वह अन्ध है। (ख) और पूषा के दाँत गिरा दिये गये जिससे वह 'अदन्त' है इसीलिए यज्ञ में उसके लिये 'करंभ' = सत्तु की बलि दी जाती है।

प्रायः सभी पुराणों में दक्ष प्रजापति की यह समस्त कथा विद्यमान है। पाठक इस यज्ञ में घटने वाली समूची घटनाओं के बीज उक्त प्रमाणों में देख सकते हैं।

मानव सृष्टि के प्रथम सम्राट्-पृथु

पृथुर्ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे।

(शतपथ ५। ३। ५। ४)

अर्थात्—वेन का पुत्र पृथु मनुष्यों में सर्वप्रथम अभिषिक्त हुआ।

पृथु ने पृथ्वी का विस्तार किया

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्तात्। (अथर्व १२। १। ५५)

अर्थात्—यह पृथ्वीदेवी पुरा युग में (पृथुने) विस्तृत की।

पृथु ने पृथ्वी का दोहन किया

मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्। तां पृथी वैन्यो कृषिञ्च सस्यञ्चाऽधोक्। (अथर्व ८। ४। १६)

अर्थात्—वैवस्वत मनु को वत्स बनाया गया, पृथ्वी पात्र था, वेन के पुत्र पृथी (पृथु) ने खेती बाड़ी और चारा घास रूप दूध दुहा [भागवतादि पुराणों में वर्णित पृथु द्वारा विभिन्न पात्रों में विभिन्न वत्सों के सहयोग से विभिन्न प्रकार के दूध दोहने का जो कथानक है वह ज्यों का त्यों अथर्व संहिता काण्ड ८ सूक्त ४ के पूरे सोलह मन्त्रों में आता है]

इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काटे

(क) त्वमिन्द्र ! पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् ! पर्वशश्चकर्तथ। (ऋग्वेद १। ११। ५७। ६)

(ख) पर्वतास्ते पक्षिण आसन् ते परापातमासत यत्र यत्र कामयन्तोऽथवा इयं [पृथिवी] तर्हि शिथिरासीत्। तेषामिन्द्रः पक्षान् अच्छिनत्, तैरिमां [पृथिवीं] अदृंहार।

(मैत्रायणी १। १०। १३) (काठक ३६। ७)

अर्थात्—(क) (वज्रिन् इन्द्र !) हे वज्रधारी इन्द्रदेव !

(त्वं) तैंने (महामुरु पर्वतं) बड़े फैले हुए पर्वत के (पर्वशः) टुकड़े टुकड़े (चकर्तथ) काट डाले । (ख) वे पर्वत पहिले पंखों वाले थे, जहां जहां चाहते वहां गिर जाते थे, जिससे पृथिवी शिथिलप्राय हो रही थी । इन्द्र ने उनके पक्ष काट डाले और उन पर्वतों द्वारा इस पृथ्वी को सुदृढ़ किया ।

इन्द्र-वृत्रासुर-संग्राम

महन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥

(ऋग्वेद १ । २ । ३६)

अर्थ—(इन्द्र) इन्द्र ने (महता वधेन) बड़े मृत्यु के साधनभूत (वज्रेण) वज्र के साथ (वृत्रतरं वृत्रं) अतिवेगवान् वृत्रासुर को (व्यंसं) कन्धों से रहित करके (अहन्) मार डाला । (कुलिशेन) वज्र से (विवृक्णा) कटे हुवे (वृत्रासुर के अङ्ग) (स्कन्धांसीव) वृक्ष के टहनों की तरह [गिरे] (अहिः) वह असुर (पृथिव्याः) भूमि के (उपपृक्) ऊपर (शयते) सदा के लिए सो गया ।

दधीचि की हड्डी से वज्रनिर्माण

इन्द्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत । जघान नवतीर्नव ।

(सामवेद छन्दार्चिक अ० २ दशाति: ७ मं० ५)

अर्थात्—(अप्रतिष्कुतः) जिसके सामने कोई न ठहर सके [ऐसे] (इन्द्रः) इन्द्र ने [प्रसिद्ध] (दधीचः) दधीचि नामक ऋषि की (अस्थिभिः) हड्डियों से [बने हुवे वज्र से] (नवतीर्नव) निन्यानवें [मायारूपधारी] [वृत्राणि] वृत्रासुरों को) जघान) मार डाला ।

इस मन्त्र का भाष्य करते हुवे समाजी स्वामी तुलसीराम मेरठी सायण भाष्य के आधार पर लिखते हैं कि—'दधीचि के दर्शनमात्र से असुर हार जाते थे, फिर जब दधीचि स्वर्ग सिधारा तो समस्त पृथिवी असुरों से भर गई। तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ हो इस दधीचि ऋषि को ढूंढते हुये सुना कि वह तो स्वर्ग को सिधार गया, तब इन्द्र ने वहां वालों से पूछा कि यहां उसका कुछ शेष अङ्ग कोई है ? उस [इन्द्र] से कहा गया कि उसका शिर शेष है जिससे उसने अश्वियों को मधुविद्या कही थी, परन्तु हम नहीं जानते कि वह कहाँ है ? फिर इन्द्र ने कहा कि उसे ढूंढिये । उन्होंने ढूंढा । उसे शर्यणावती में पा कर ले आए [शर्यणावत् कुरुक्षेत्र का नाम है] उसके शिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा।'

[तुलसीरामकृत सामभाष्य पृष्ट १७३]

नमुचि दैत्य का वध

(क) अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।

(ऋग्वेद ८ । १४ । १३)

(ख) अपां फेनं वज्रमसिंचन्न शुष्को नार्द्रमिति तेनेन्द्रो नमुचेरसुरस्य व्युष्टायाᳩ रात्रावनुदित आदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उदवासयत्।

(शतपथ १० । ७ । ३ । १-३)

अर्थात्—(क) हे इन्द्र तैंने (अपां फेनेन) जलों की झाग से (नमुचेः) प्रसिद्ध नमुचि दैत्य का (शिर) मस्तक (उदवर्तयः) काट डाला। (ख) इन्द्र ने जल की झाग से वज्र को सींचकर जब वह न सूखा और न गीला रहा तब उस विचित्र हथियार से—रात

गुजर जाने पर परन्तु दिन उगने से पहले अर्थात् न दिन में न रात में उस असुर नमुचि का शिर काट डाला।

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप

(क) त्वष्टुर्ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्ष आस तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुः···विश्वरूपो नाम।

(शतपथ १।७।३।१)

(ख) तस्य (विश्वरूपस्य) सोमपानमेवैकं मुखमास। सुरापाणमेकमन्नस्याऽशनायैकं तमिन्द्रो दिद्वेष। तस्य तानि शोर्षाणि प्रचिच्छेद।

(शतपथ १।६।३।२)

अर्थात्—(क) त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप नामक था, जिसके तीन शिर और छः आंखें तथा तीन मुख थे (ख) वह एक मुख से सोमपान दूसरे से सुरापान और तीसरे से अन्न खाता था। इन्द्र का उससे द्वेष हो गया, इसलिये इन्द्र ने उसके तीनों शिर काट डाले।

इन्द्रपत्नी शची और उसका अजय अमर पति

इन्द्राणीमासु नारीषु सुभगा महमश्रवम्। म ह्यस्या अपरं च न जरसा मरते पतिः सर्वस्मादिन्द्र उत्तरः।

(अथर्व २०।१२७।१०)

अर्थात्—सब देवाङ्गनाओं में इन्द्रपत्नी शची उत्तम भाग्यवाली सुनी जाती है, इसके समान अन्य कोई नहीं, क्योंकि इसका पति न कभी बूढ़ा होता है न मरता है, इसीलिए इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है (इसी सूक्त में इन्द्र पत्नी को 'शची' नाम से स्मरण किया गया है)।

वेदविद्या के चमत्कार

वृद्ध च्यवन युवा हो गये

पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम् । (ऋग्वेद मं० ६ सूक्त ११८)

अर्थ—हे अश्विनीकुमारो ! आपने (पुनः) फिर वृद्ध (च्यवानं) च्यवन ऋषि को (युवानं) नौजवान (चक्रथुः) कर दिया था ।

च्यवनो वै दाधीचोऽश्विनोः प्रिय आसीत् । सो जीर्य्यत् तमेतेन (वीङ्केन) साम्नाप्सु व्यैकयतान्तं पुनर्युवानमकुरुताम् ।

(ताण्ड्य १४ । ६ । १०)

अर्थ—दधीच च्यवन, अश्विनीकुमारों का बहुत प्रिय था, वह वृद्ध हो गया, उसे अश्विनीकुमारों ने स्नान विशेष से और औषधियों के प्रयोग से फिर तरुण बना दिया ।

सा सुकन्या होवाच यस्मै मां पिता अदान्नैवाहं तं जीवन्तऽँहास्यामीति । (शतपथ ४ । १ । ५ । ६)

अर्थ—सुकन्या ने कहा पिता ने मुझे जिस (वृद्धातिवृद्ध) के लिए दिया है, मैं उसे जीते जी नहीं छोड़ूंगी ।

व्याख्या—पुराण ग्रन्थों में लिखा है कि सुकन्या के पिता ने विशेष कारणवश उसे जरठ च्यवन महर्षि को सौंप दिया था । उसके पातिव्रत्य की परीक्षा के लिये अश्विनीकुमारों ने उसे अन्य पुरुष से सम्बन्ध कर लेने की बात कही, जिसके उत्तर में सुकन्या ने टका सा जवाब दे दिया । इस पर प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने च्यवन को युवा बना दिया । आयुर्वेदमें आज तक 'च्यवनप्राश' का विधान लिखा है ।

इस कथा से 'अन्यमिच्छस्य सुभगे पतिं मत्' मानने वालों को अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए। 'सन्तोष का फल कितना मीठा होता है' यह तत्त्व इस कथा से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है।

कटा मस्तक जोड़ दिया

आथर्वणायाश्विनौ दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम्।

(ऋग्वेद १। १७। ११७। २२)

अर्थ—(अश्विनौ) अश्विनीकुमार—देव वैद्यों ने (आथर्वणाय दधीचे) अथर्वा दधीचि के लिए (अश्व्यं) घोड़े का कटा हुआ मस्तक (प्रत्यैरयतम्) जोड़ दिया।

(दध्यङ् आथर्वणः) तौ अश्विनौ ह, (छिन्नस्य विष्णुशिरसः पुनः सन्धानविद्याध्यापनार्थं) उपनिन्ये, तौ यदोपनिन्ये अथास्य (दधीच आथर्वणस्य) शिरः छित्वा अन्यत्रोपनिदधतुः। अथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतु। (शत० १४। १। १। २४)

अर्थ—अश्विनीकुमार कटे हुए विष्णु शिर को पुनः जोड़ देने की सन्धानी विद्या पढ़ाने के लिए, अथर्वा दधीचि ऋषि के पास आये। आते ही तजुर्बा दिखाने के लिए दधीचि का शिर काटकर अन्यन्त्र रख दिया और एक घोड़े का मस्तक दधीची के धड़ पर जोड़ दिया।

कट जाने पर लोहे की टांग जोड़ दी

विः प्रतिजंघां विश्पलाया अधत्तम्। (ऋ० ११८ संग्रहे ११।८)

सायणभाष्ये—'विश्पलायै संग्रामे छिन्नजंघायै अगस्त्या-

पुरोहितस्य खेलस्य सम्बन्धिन्यै एतत्सञ्ज्ञकायै स्त्रियै आयसीं जघां प्रत्यधत्तम् ।'

अर्थात् —हे अश्विनीकुमारो आपने (विश्पलायै) अगस्त्य ऋषि के पुरोहित खेल की स्त्री विश्पला की (जंघां) कटी हुई जंघा के स्थान में लोहे की टाँग (अधत्तम्) जोड़ दी ।

मृत को जीवित कर दिया

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥
(अथर्व० ३ । ११ । २)

अर्थ—(यदि) अगर (क्षितायुः) आयु क्षय हो चुकी हो (यदि) यद्वा (परेतः) मर चुका हो (यदि) अगर (मृत्योः) मौत के (अन्तिकं) पास (नीत एव) पहुँच गया हो (तं) उस (एनम् अस्पार्षम्) इस निर्जीव को (निर्ऋतेः) मौत के (उपस्थात्) मुख में से (शतशारदाय) सौ वर्ष जीने के लिए (आहरामि) वापिस लौटता हूं ।

हजार वर्ष की आयु

सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् । सहस्रं प्राणा मय्यायतन्ताम् ।
(अथर्व १७ । १ । २७—३०)

अर्थ—हे परमात्मन्, मैं (सहस्रायुः) हजार वर्ष की आयु वाला (सुकृतः) पुण्यकर्म करता हुआ (चरेयम्) विचरूं (सहस्रं) हजार वर्ष तक (मयि) मुझ में (प्राणाः) प्राण (आयतन्ताम्) संचार करें ।

गाय में सब देवता

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्नि-र्ललाटं यमः कृकाटकम् । विश्वरूपं गोरूपम् ।

(अथर्व ५ । ७ । १५ पूरा सूक्त)

अर्थात्—गाय के प्रजापति और परमेष्ठी दोनों सींग हैं । इन्द्र शिर, अग्नि ललाट, यम भ्रू-मध्यभाग । यह सब विश्व ही गोरूप है ।

वैदिक देवतावाद

स्वामी दयानन्द और उनके अन्धभक्तों ने वेदों के सर्वोच्च सिद्धान्त देवतावाद को भी मटियामेट करने के लिए कुछ कोर कसर बाकी नहीं रक्खी है । हिन्दू साहित्य का प्रत्येक ग्रन्थ जिन देवताओं के अस्तित्व का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन करता है, प्रत्यक्षवादी समाजी उन्हीं देवताओं के स्थान में 'बेसवा निदेव शरबत' की रट्ट लगाने वाले अपने पण्डितम्मन्यों को बिठाना चाहते हैं । आर्यसमाजियों का कहना है कि पढ़े लिखे आदमी का नाम देवता है, अर्थात् उनकी दृष्टि में सभी मिडल फेल छोकड़े बने बनाये देवता हैं । इसलिए इस प्रघट्ट में हम देवतावाद सम्बन्धी कुछ प्रमाणों का संग्रह करते हैं, जिससे प्रत्येक आस्तिक हिन्दू को भली भांति विदित हो जाये कि देवसत्ता का अपलाप करने वाले नरपुङ्गव कहां तक वेदाज्ञा का परिपालन कर रहे हैं ।

देवताओं की श्रेणियां

अग्निर्देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो

देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ।

(यजुः १४ । २०)

अर्थात्—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, एकोनपञ्चाशत् मरुत्, विश्वेदेवा, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण ये सब देवता हैं ।

देवताओं का निवास

(क) द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् ।

(शतपथ १४ । ३ । २ । ८)

(ख) देवगृहा वै नक्षत्राणि । (तैत्तिरीय १ । ३ । ३ । २-३)

(ग) तद्यदेतस्मिन्नाके स्वर्गे लोके देवा असीदं-स्तस्माद्देवा नाकसदः । (शतपथ ८६ । १ । १)

अर्थात्—(क) सब देवताओं का निवासस्थान, आकाश है । (ख) तारागण देवताओं के घर हैं । (ग) देवता लोग दुःखरहित स्वर्गलोक में निवास करते हैं, इसलिए उन्हें नाकसद् कहा जाता है ।

देवता सर्वज्ञ होते हैं

(क) देवा वै नृचक्षसः । (यजुः १४ । २४)

(ख) देवा महिमानः । (यजुः ३१ । १६)

(ग) मनो ह वै देवा मनुष्यस्य जानन्ति ।

(शतपथ २ । १ । ४ । १)

(घ) विद्वांसो हि देवाः । (शतपथ ३ । ७ । ३ । १०)

(ङ) मनुष्याणां परोक्षं तद्देवानां प्रत्यक्षम् ।

(ताण्ड्य २२ । १० । ३)

अर्थात्—(क) देवता लोग मनुष्य को अच्छी प्रकार जानते हैं। (ख) देवता महिमा वाले होते हैं। (ग) वे मनुष्य के मन को भली प्रकार जानते हैं। (घ) वे स्वभाव से ही विद्वान् होते हैं। (ङ) जो मनुष्य की आंखों से परे होता है वह देवताओं के लिये प्रत्यक्ष है !

देवता अमर होते हैं

(क) अमृताः देवाः । (शतपथ २ । १ । ३ । ४)

(ख) द्राघीयो हि देवायुषम् । (शतपथ ७ । ३ । १ । १०)

(ग) (प्रजापतिः) अमृतत्वं प्रायच्छत् देवेभ्यः ।

(ताण्ड्य २२ । १२ । १)

अर्थात्—(क) देवता मरते नहीं। (ख) उनकी आयु बड़ी होती है। (ग) प्रजापति ने देवताओं को अमर बनाया।

देवताओं के विशेष गुण

(क) जाग्रति देवाः । (२ । १ । ४ । ७)

(ख) न वै देवाः स्वपन्ति । (शत० ३ । २ । २ । २२)

(ग) अपहतपाप्मानो देवाः । (२ । १ । ३ । ४)

(घ) आनन्दात्मानो ह वै सर्वे देवाः । (१० । ३ । ५ । १३)

(ङ) यदुह किंचिद्देवाः कुर्वते स्तोमेनैव तत्कुर्वते ।

(८ । ४ । ३ । २)

(च) तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः ।

(शत० ३ । ३ । १ । ८)

(छ) सत्यमेव अनृतं मनुष्यः ।

(शत० ३ । ६ । ४ । १)

अर्थात्—(क) देवता सदैव जागते हैं। (ख) वे कभी नहीं सोते। (ग) वे पाप रहित होते हैं। (घ) और आनन्दात्मा होते हैं। (ङ) वे जो कुछ करते हैं वह स्तोम द्वारा करते हैं। (च) वे मनुष्यों से छिपे हुए से होते हैं। (छ) देव सत्य होते हैं और मनुष्य झूठ होते हैं।

देवों का रहन सहन

(क) अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्। नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्। (अथर्व ४ । ३४ । २)

(ख) यत्र सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वाः स्वायाः। (अथर्व ६ । १२० । ३)

अर्थ—(क) (अनस्थाः) अस्थिरहित (पूताः) पवित्र (पवनेन शुद्धाः) वायु से निर्मल (शुचयः) स्वच्छ (शुचिं लोकं) पवित्र स्वर्गलोक को (अपि यन्ति) जाते हैं। (जातवेदाः) कामानि (एषां) इन देवताओं के (शिश्नं) उपस्थेन्द्रिय को (न) नहीं (दहति) जलाता है। और (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (एषां) इनके लिये (बहुस्त्रैणं) बहुत सी स्त्रियों का समूह होता है। (ख) (यत्र) जिस स्वर्ग में (सुहार्दः) मित्रतायुक्त (सुकृतः) पुण्यात्मा जन (स्वायाः) अपने (तन्वः) शारीरिक (रोगं) रोग को (विहाय) छोड़ कर (मदन्ति) आनन्द करते हैं।

देवता युवा ही रहते हैं

न वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकाः। विश्वे सन्तो महान्त इत। (ऋ० मं० ८ सू० ३ मं० १)

अर्थ—(देवासः) हे देवताओ ! (वः) आप लोगों में कोई (अर्भकः) दुधमुंहा बच्चा (न) नहीं (अस्ति) है। और (कुमारकः) कुमार अवस्था वाला भी (न) नहीं है ! (विश्वे) आप सब (महान्तः) बड़े (इत) ही (सन्तः हो।

नव्या नव्या युवतयो भवन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम्। (ऋग्वेद मं० ३० सू० ५५ मं० १६)

अर्थ—स्वर्ग में देवताओं के लिये (नव्या नव्या) नई नई (युवतयः) स्त्रियें (भवन्ति) होती हैं, यह (देवानां) देवताओं के लिये (एकं) एक (महत्) बड़ी (असुरत्वं) आत्मरति है। (असुषु प्राणेषु रमणं तस्य भावस्तस्य तत्त्वम्)।

अनधिकारी को दीखते नहीं

(क) परोक्षं वै देवाः। (३।१।३ २५)

(ख) न ह वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति।

(कौशीतकी ब्राह्मण ३।२)

(ग) न ह वा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति।

(ऐतरेय ७।११)

(घ) परो वा अस्माल्लोकात्स्वर्गो लोकः।

(ऐतरेय ६।२०)

(ङ) यद् यद् रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति।

(निरुक्त अ० १०। खण्ड १७)

अर्थात्—(क) देवता पुरुष से परोक्ष होते हैं। (ख) देवता अनाड़ी की हवि को नहीं लेते। (ग) और न दीजवक पुरुषों की हवि को ग्रहण करते हैं। (घ) इस लोक से स्वर्ग लोक उत्कृष्ट है। [वे वहां रहते हैं] (ङ) वे जब जैसा रूप चाहते हैं वैसा ही धारण कर लेते हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त प्रमाणों से यह भलीभान्ति स्पष्ट हो जाता है कि देवताओं की एक विशेष योनि होती है। उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं तथा वे भोगयोनि के जीव होने के कारण [illegible] शोक और आपद्ग्रस्त नहीं रहते, बल्कि अपने किये सकाम कर्मों का फल भोगने के लिये स्वर्ग में निवास करते हैं। किये हुए पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर उन्हें जन्म-मरण के चक्र में लौटना पड़ता है। इसीलिए शास्त्रों में निष्काम कर्म की प्रशंसा की है क्योंकि वह मुक्ति का उत्पादक होता है। देवताओं का रहन सहन सब मनुष्यों की अपेक्षा बड़ा विलक्षण है। वे सूक्ष्म शरीर तथा अणिमा आदि ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण आवाहन करने पर आते हैं और अपने भक्तों को वर देते हैं। जो पुरुष पुराणों में देव-चरित्रों को पढ़कर सन्देहग्रस्त हो जाते हैं उन्हें इस सारे वैदिक देवचरित्र को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। शंकाओं का मूल केवल यही है कि उन्हें साधारण पुरुष समझ लिया जाता है। यदि उन्हें दिव्य देव रूप में ग्रहण किया जावे तो फिर शंका का अवकाश नहीं रहेगा। निरुक्त में यास्काचार्य ने देवतानिर्णय बड़े ही मार्के का किया है। जो लोग विद्वानों को ही देवता समझ बैठे हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि 'सत्यार्थप्रकाश' और 'संस्कारविधि' भी इस बात का खण्डन करते हैं, यथा—सं० विधि नामकरण प्रकरण में तिथि और नक्षत्रों के देवता लिखकर उनके लिए अग्नि में आहुति डालनी लिखी है। यदि

विद्वान् ही देवता होते तो गरमागरम घी समाजी उपदेशकों के ही मुखारविन्द में स्वाहा किया जाता, फिर समाजी उपदेशकों में आश्लेषा का पति 'सर्प' तथा अश्विनी का पति 'घोड़ा' भी तो कोई बनने को तैय्यार न होगा !

आर्यसमाजी जब देवसत्ता को वेदमन्त्रों द्वारा सिद्ध हुई समझ लिया करते हैं तो फिर 'हमें प्रत्यक्ष दिखा दो' का शोर किया करते हैं, अतः इस विषय में भी हम ने वेदों की सम्मति उद्धृत की है, जिससे उन्हें कुछ भी हुज्जत करने का अवकाश न रहे ।

महादेव

सोऽवर्धत स महानभवत् स महादेवोऽभवत् ।

(अथर्व १५ । १ । ४)

अर्थात्—वह बढ़ा और महान् हो गया उसे महादेव कहते हैं ।

रुद्र ने अन्धक असुर को मारा

रुद्रेणान्धकघातिना । (अथर्व ११ । २ । ७)

अर्थात्—अन्ध नामक असुर को मारने वाले रुद्र भगवान् ।

निष्कर्ष—यजुर्वेद (१६ । २८–३५) में रुद्र, नीलग्रीव शितिकण्ठ गिरिश, मृड, कपर्दी और पशुपति आदि सब नाम आते हैं जिन नामों की व्याख्या नाना कथानकों के रूप में पुराणों में वर्णित है । इसी प्रकार पार्वती के अम्बा, उमा, हैमवती, दाक्षायणी आदि नाम भी उपनिषद् ग्रन्थों में विद्यमान हैं जो पुराणों की अनेक कथाओं के बीज कहे जा सकते हैं ।

दुर्गा भगवती

दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ।

(अथर्व १२ । ४ । २३)

अर्थात्—दुर्गा भगवती के अधिष्ठान में भूमि से आदि लेकर सब देवता बसते हैं।

जलों में वरुण देव का निवास

अप्सु ते राजन् वरुण! गृहः। (अथर्व ७। १। ८३)

अर्थात्—हे राजन् वरुण, आपका जलों में घर है।

कामदेव अजेय है

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम! नम इत् कृणोमि। (अथर्व ९। २। १९)

अर्थात्—कामदेव सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, जिसे देव पितर और मनुष्य न पा सके, इसलिए हे काम! तू सबसे बड़ा विश्वविजयी है अतः तुम्हें नमस्कार करता हूं।

तपस्वी और धर्मयोद्धा स्वर्ग में जाते हैं

तपसा ये स्वर्ययो।···ये युद्ध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणांश्चिदेवापि गच्छताम्। (अथर्व १२। २। १६-१७)

अर्थात्—जो पुण्यात्मा तपश्चर्या द्वारा स्वर्ग को प्राप्त हुवे हैं। जो शूरवीर धर्मयुद्ध में लड़ते २ शरीर छोड़ते हैं और जो सहस्र दक्षिणा देते हैं वे सब स्वर्ग को जाते हैं।

सूर्य का एकचक्र वाला रथ

एकचक्रं वर्तते एकनेमि। (अथर्व १०। ८। ७)

• अर्थात्—एक चक्र और एक ही नेमिवाला सूर्य का रथ घूमता है।

सूर्य द्वारा तेरहवाँ महीना

त्रिशदङ्गं त्रयोदशमासं यो निर्मिमोते। (अथर्व १३।३।८)

अर्थात्—जो सूर्य तीस दिन का तेरहवां महीना बनाता है।

भूमि के खात पुनः पूरित हो जाएंग

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

(अथर्व १२। १। ३५)

अर्थात्—(ब्रह्महत्या का चतुर्थांश स्वीकार करने पर इन्द्र ने भूमि को वर दिया कि) हे भूमि, जो तुझे खोदा जाएगा शीघ्र ही तेरा वह खात पुनः पूरित हो जायेगा।

वेदोक्त पितृयोनि

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं, पितृलोकं गमयञ्जातवेदः।
तद्व एतत्पुनराप्यायामि साङ्गात्स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥

(अथर्व ३८। ३। ४। ६४)

अर्थ—(पितरः) हे पितरो ! (पितृलोकं) पितरलोक को (गमयन्) जाने के समय (वः) आपके (यद्) जिस (एकं) एक (अङ्गं) अङ्ग को (जातवेदोऽग्निः) जातवेदा अग्नि ने (अजहात्) जलाया है (वः) आपके (तद्) उस अङ्ग को (कर्मकाण्ड द्वारा) (पुनः) फिर (आप्यायामि) पुष्ट करता हूं जिससे (साङ्गाः) सम्पूर्ण शरीर वाले आप (स्वर्गे) स्वर्गलोक में (मादयध्वम्) आनन्द करें।

मृतकों की ही पितर संज्ञा है

पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। (अथर्व १२।२।४५)

अर्थ —(ये) जो (मृताः) मर चुके हैं वे (पितृणां लोकं) पितरों के लोक को (गच्छन्तु) जाएँ।

कहाँ रहते हैं ?

तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।

(अथर्व १८। २। ४८)

अर्थ—अन्तरिक्ष के उस तीसरे स्थान में पितर रहते हैं जिसे 'प्रद्यौः' कहते हैं।

पितृलोक की विशेषता

(क) अन्तर्हितः पितृलोको मनुष्यलोकात्।

(तैत्तिरीय १। ६। ८। ६)

(ख) तृतीये ह वा इतो लोके पितरः।

(तैत्ति० १। ३। १०। ५)

(ग) पितृणां वा एषा दिग्यद्दक्षिणा। (षड्विंश ३। १)

(घ) उभे दिशावन्तरेण विदधाति प्राचीं च दक्षिणां चैतस्यां ँ ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम्।

(शत० १३। ८। १। ५)

अर्थात्—(क) पितृलोक मनुष्यलोक से छिपा हुआ है। (ख) इससे तीसरे स्वर्गलोक में पितर रहते हैं। (ग) दक्षिण दिशा पितरों की है। (घ) पूर्व और दक्षिण दिशा के मध्यभाग में होने वाली दिशा में पितृलोक का द्वार है।

निष्कर्ष—मृतों को ही पितर कहा जाता है वे इस मनुष्यलोक से किसी भिन्न स्थान में रहते हैं, जो दक्षिण दिशा में पितृलोक के नाम

से प्रसिद्ध है। समाजियों का 'संस्कारविधि' के बलिवैश्वदेव प्रकरण में स्वामी दयानन्द ने भी पितृनिमित्तक बलियों को दक्षिण की ओर देना लिखा है जो मृतक पितर के लिए देना ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा समाज के सभी पितर लंका में ही रहते हों सो बात नहीं।

श्राद्ध कैसे पहुंचता है ?

त्वमग्न ईडितो जातवेदो वाड् हव्यानि सुरभीणि कृत्वा प्रादाः पितृभ्यः। (अथर्व १६। ३। ४८)

अर्थ—(अग्ने !) हे अग्निदेव (त्वं) तू (ईडितः) स्तुति किया हुवा (जातवेदः) जिस योनि में जहाँ हमारे पितर रहते हैं, उनका जानने वाला है। (वाड् हव्यानि) हमारा प्रदान किया हुआ स्वधाकृत हव्य (सुरभीणि) सुगन्धित (कृत्वा) बनाकर (पितृभ्यः) पितरों को (प्रादाः) प्रदान कीजिये।

अग्निमुखा एतत्पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायान्ति।

(शत० १३। ८। ४। ६)

अर्थ—अग्नि द्वारा ही पितर लोग, पितृलोक से जीवलोक को आते हैं।

ब्राह्मणभोजन

इममोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्ग्यम्।

(अथर्व ४। ३४। ८)

अर्थ—मैं (इमं) इस (ओदनं) भात आदि भोजन को (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में (निदधे) स्थापना करता हूं=खिलाता हूँ। जो (विष्टारिणं) सद्गति का विस्तार करने वाला है (लोकजितं) इच्छित लोकों को जीतने वाला है, (स्वर्ग्यं) स्वर्गधाम का दाता है।

अग्निष्वात्ता फायरमैन नहीं होते

वान् अग्निरेवदहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः ।

(शत० २ । ६ । १ । ७)

अर्थ—जिनके शरीर विधिपूर्वक अग्नि ने ही जलाकर भस्म कर दिये हों वे पितर अग्निष्वात्ता हैं ।

यमराज

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतत् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

(अथर्व १८ । ३ । १४)

अर्थ—(मर्त्यानां) सब मनुष्यों में (यः) जो प्राणी (प्रथमः) पहले (ममार) मरा, और (यः) जो (प्रथमः) पहले पहिल (एतत्) उस (लोकं) पितृलोक में (प्रइयाय) पहुँचा (जनानां) मनुष्यों को (संगमनं) नियम में चलाने वाले (वैवस्वतं) सूर्य के पुत्र [उस] (यमं राजानं) यमराज को (हविषा) हविद्वारा (सपर्यत) पूजित करो।

यमो वैवस्वतो राजेत्याह यस्य पितरो विशः ।

(शत० १३ । ४ । ३ । ६)

अर्थ—विवस्वान् का पुत्र यमराज है, उसकी प्रजा पितर हैं।

यमदूत

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतान् । (अथर्व ८ । २ । ११)

अर्थात्—विवस्वान् के पुत्र द्वारा प्रेषित यमदूत ।

पापियों को नरक में डालो !

पाशे बद्धो नरके नियुज्यताम् । (अथर्व २ । १२ । २)

अर्थात्—पाश में बांध कर पापियों को नरक में डालो।

पापियों को कहीं ठौर नहीं

तं वृक्षा अपसेधन्ति छायां नो मोपगा इति। यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभिनारद ! मन्यते। (अथर्व ५।१९।९)

अर्थात्—हे नारद ! जो ब्राह्मण के पवित्र धन को चुरा कर अपना मानता है उसे वृक्ष भी बर्जते हैं कि तू हमारी छाया में मत आ।

यममार्ग के दो कुक्कुर

उरूणसा वसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतां जनाँ अनु।
(अथर्व १८।२।१३)

अर्थात्—ऊँची नाक वाले, पापियों के प्राण पी जाने वाले, बड़े मोटे यम के दूत दो श्वान पापी लोगों का पीछा करते हैं।

यमलोक में गोदान एक मात्र सहायक

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
(अथर्व १२।४।३६)

अर्थात्—विधिवत् दान की हुई गाय, यमलोक में दाता के सब मनोरथ पूर्ण करती है।

निष्कर्ष—गरुड़पुराण आदि में यमलोक सम्बन्धी जितनी कथाएं लिखी हैं उन सबके बीज वेदों में सुतरां उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ यहां कतिपय बातें अङ्कित की गई हैं।

मालपूवा

अपूपापिहितान्कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्च्युतः ।।
(अथर्व १८ । ४ । २५)

अर्थ—हे पितृदेवो ! (यान्) जो अपूपापिहितान्) मालपूवों से ढके (कुम्भान्) घट (ते) आपके लिये (देवाः) अग्नि, विश्वेदेवा आदि श्राद्ध देवताओं ने (अधारयन्) धारण किये हैं, (ते ते) वे वे सब (मधुमन्तः) मधु से युक्त और (घृतश्च्युतः) जिनसे घी चू रहा हो ऐसे पदार्थ आपके लिए (स्वधावन्तः) तृप्ति करने वाले (सन्तु) हों ।

निष्कर्ष —गरुड़ आदि पुराणों में इसी आधार पर पितृलोक का विशेष वर्णन और श्रद्धादि से मृत पितरों की तृप्ति का उल्लेख किया है । मृतश्राद्ध के वैदिक होने पर भी कई भाइयों की आँख में नरम खीर कांटे की तरह खटकती रहती है और हमारे खाये हुये गरम कोमल पूड़े उनके पेट में बेतरह दर्द उठा दिया करते हैं। उन्हें अपनी चिकित्सा के लिए उपरोक्त प्रमाणों का खूब मनन करना चाहिये । अब तो आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् वेदसम्मेलन के सभापति श्री पं० दामोदर सातवलेकर औंध (सितारा) निवासी ने तथा गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक पं० मङ्गलदेव तड़ितकान्त विद्यालङ्कार से 'यम पितर' नामक अपनी पुस्तक में दो सहस्र से अधिक वेदमन्त्रों का संग्रह करके यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि वेद में मृतकों का ही श्राद्ध लिखा है । इस पुस्तक का लेखन सम्बन्धी इतिवृत्त भी बड़ा ही रोचक है । कहा जाता है कि 'आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब' ने कई शास्त्रार्थों में हम से हार खाकर अपने उक्त पण्डितों को वेद में श्राद्ध की इतिकर्तव्यता के अनुसंधान के लिये नियुक्त किया था । उक्त पण्डितों ने अपने अनुसन्धान का

परिणाम 'यम पितर' नाम से गुप्तरीति से छपाकर विशिष्ट आर्यसमाजियों को भेजा। उक्त ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर छपा है कि 'यह पुस्तक विक्रयार्थ नहीं—केवल वैदिकधर्मियों के लिये है।' इसकी एक प्रति यथा तथा हमारे हाथ भी लग गई, जो अभी तक हमारे पुस्तकालय में सुरक्षित है। जब हमने लाहौर के शास्त्रार्थ में इस गुप्त पुस्तक का प्रमाण उपस्थित करके आर्यसमाज के दम्भ का भंडा फोड़ किया तो वह अवाक् रह गये। पश्चात् उन्होंने उक्त ग्रन्थ की उपलब्ध सब प्रतियें अग्नि की भेंट कर दीं। पाठक यदि इस अप्राप्य पुस्तक के अभाव में भी इसका सारांश देखना चाहे तो श्री दामोदर सातवलेकर के अथर्व वेदभाष्य के अठारहवें काण्ड में देख सकते हैं जो सर्वत्र प्राप्य है।

भूतयोनि

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णी पुरोमुखाः खलजाः शकधूमजा उरुंडा ये च मट्मटाः। कुम्भमुष्का अयाशवः। तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतिबोधेन नाशय।

(अथर्व ८।६।१५)

अर्थ—(येषां) जिनके (पश्चात्) पीछे की ओर (प्रपदानि) पैर हैं (पुरः) आगे की तरफ (पार्ष्णी) एड़ी होती हैं। (पुरोमुखा) आगे निकला हुआ मुख होता है, जो (खलजा) खलिहानों में पैदा होते हैं। (शकधूमजाः) गोबर धूम आदि में उत्पन्न होते हैं। (उरुंडा) बिना शिर के (मट्मटाः) मट २ शब्द करते हैं। (कुम्भमुष्काः) जिनके अण्डकोष घड़े के समान होते हैं और (अयाशवः) वायुवत् शीघ्रता से घुसने वाले हैं। (ब्रह्मणस्पते!) हे अथर्ववेद के जादू टोना जानने वाले देव! तू उन भूतों को (प्रतिबोधेन) सुफेद सरसों के प्रयोग से (नाशय) दूर कर।

निष्कर्ष—जो दुर्गति से मरते हैं, वे भूतयोनि को प्राप्त होते हैं। ऐसे जीव प्रायः नाना प्रकार की कामनाओं को पूरा करने के लिए अवसर पाकर निर्बल आत्मा वाले स्त्रीबालकादिकों में घुस जाते हैं। वे स्वामी दयानन्द के शब्दों में 'वायुभूतो दिगम्बरः' होते हैं। अथर्ववेद के इस समग्र सूक्त में उसी भूतयोनि का वर्णन है और उनसे बचने के उपाय बताये गये हैं। उक्त विषय का विशेष विवेचन प्रत्यक्षाध्याय में किया जायेगा।

पिशाच योनि

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय॥

(अथर्व० ४। २०। ९)

अर्थ—(यः) जो पिशाच (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष मार्ग से (पतति) गिरता है (यश्च) और जो (दिवं) द्यूलोक में (अतिसर्पति) यथेच्छ घूमता है। (यः) जो (भूमिं) पृथिवी का (नाथं) स्वामी अपने आपको (मन्यते) मानता है। हे ओषधे! (तं) उस (पिशाचं) पिशाच को (दर्शय) दिखा।

निष्कर्ष—यह योनि भूतयोनि से भी निकृष्ट है। जिनकी और्ध्वदैहिक क्रिया नहीं होती है वे उग्र पापी इसी योनि में भटकते हैं। पुराणों में उन कर्मों का भी वर्णन है, जिनके कारण यह योनि प्राप्त होती है। और इससे छूटने के अर्थ गयादि श्राद्ध का विधान किया है। नये आत्म-तत्त्व-वेत्ताओं का कथन है कि हर समय हमारे चारों ओर अगणित रूहें घूमती हैं। जब वे किसी पर आक्रमण करती हैं तो पुरुष की वृत्ति पाप की ओर झुक जाती है।

राक्षसी योनि

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं, जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं, दृषदेव प्रमृण इन्द्र ! रक्ष ।।

(अथर्व ८ । ४ । २२)

अर्थ—(इन्द्र !) हे इन्द्रदेवता, आप (उलूकयातुं) उल्लू की तरह घूमने वाले (शुशुलूकयातुं) भेड़िये की तरह घूमने वाले राक्षस का (जहि) नाश कर (श्वयातुं) कुत्ते की तरह घूमने वाले (उत) और (कोकयातुं) चकवे की तरह फिरने वाले (सुपर्णयातुं) गरुड़ की तरह घूमने वाले (उत) और (गृध्रयातुं) गीध की तरह घूमने वाले राक्षसों को भी (दृषदेव) पत्थर की तरह (प्रमृण) मार दे और हमारी (रक्ष) रक्षा कर ।

निष्कर्ष—यह भी एक विशिष्ट जाति है, इसका प्रभाव और बल प्रायः देवताओं के विरोध में व्यतीत होता है । माया द्वारा अनेक रूप धारण करके उपद्रव मचाना ही इस जाति का पेशा है ।

गन्धर्व और अप्सरा

याः क्लन्दास्तविषीचयो अक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यः अप्सरोभ्योऽकरं नमः ।।

(अथर्व २ । २ । ५)

अर्थ—(याः) जो (क्लन्दाः) बुलाने वाली (तविषीचयः) बलवती (अक्षकामाः) द्यूत में परस्पर जीतने वाली (मनोमुहः) मन को मोहने वाली हैं (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्वों की पत्नीस्वरूप (अप्सरोभ्यः) अप्सराओं को (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूं ।

निष्कर्ष—अथर्ववेद के इस सूक्त में विश्वावसु, चित्ररथ आदि गन्धर्वों का और घृताची मेनका आदि अप्सराओं का स्पष्ट वर्णन लिखा है। यह जाति भी देवताओं की ही एक विशेष शाखा है। दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के (५७१) पृष्ठ पर इन्हें रजोगुणविशिष्ट उत्तम योनि माना है। इनके अतिरिक्त विद्याधर, यक्ष, किन्नर, गुह्यक, सिद्ध आदि भी दिव्य योनियें हैं, जैसा कि 'अमरकोश' के प्रथम काण्ड में लिखा है।

विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥

अर्थात्—यह सब देवयोनि हैं। पुराणों में दिव्य अदिव्य सभी प्रकार के प्राणियों का वर्णन है। दिव्य योनि के प्राणियों के चरित्र अलौकिक होते हैं, उनके कार्य पुरुषों की शक्ति से बाहिर हैं। आजकल प्रायः जितने सन्देह उत्पन्न होते हैं उनका एकमात्र मूल यह है कि लोग दिव्य चरित्रों की साधारण लोगों के चरित्रों से तुलना करते हैं। जब वे दिव्यचरित्रवर्णित कार्य करने की शक्ति अपने में नहीं देखते तो बस उस कथांश को गप्प, असम्भव, नामुमकिन कहकर छोड़ देते हैं। यदि पात्रों के दिव्यादिव्य भाव का विचार कर लिया जावे तो श्री १०८ स्वामी सन्देहानन्द जी महाराज सदा के लिए गया जी चले जाएं।

दिव्य शक्ति और योगशक्ति

हम दिव्य शक्तियों के विषय में सब से प्रथम आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की सम्मति प्रकट करते हैं, क्योंकि ऐसे चमत्कारों पर प्रायः यही लोग विश्वास नहीं करते। आपने यजुर्वेद भाष्य में साधारण योगियों के विषय में बड़ी अद्भुत २ बातें लिखी हैं। यथा—

आकाश में चढ़ना

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्याँ रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारँ सु विद्वाँसो वितेनिरे ॥

(यजु० १७ । ६८)

भाष्य—(स्वामी दयानन्दकृत) जो अच्छे पण्डित योगीजन योगाभ्यास के पूर्व नियम करते हुवों के समान अत्यन्त सुख की अपेक्षा करते हैं, वा आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते हैं, अर्थात्—लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते हैं, वा प्रकाशमय योगविद्या और उस यज्ञादि कर्म का विस्तार करते हैं, वे अविनाशी सुख को प्राप्त होते हैं ।

सूर्य में घुसना

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

(यजु० १७ । ६७)

(दयानन्द भाष्य)—हे मनुष्यो ! जैसे किये हुवे योग के अङ्गों के अनुष्ठान, संयम, सिद्ध अर्थात्—धारणा ध्यान और समाधि में परिपूर्ण मैं पृथ्वी के बीच आकाश में उठ जाऊँ वा आकाश से प्रकाशमान सूर्यलोक को चढ़ जाऊं वा सुख कराने हारे प्रकाशमान उस सूर्यलोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊं वैसा तुम भी आचरण करो ।

भावार्थ—(दयानन्द लिखित) मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमा आदि सिद्धि उत्पन्न होती हैं, उसके पीछे कहीं से न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

दूसरों के शरीर में घुसना

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः। त्वँ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ (यजु० १७ । ७१)

(स्वामी दयानन्दकृत भावार्थ)—जो योगी पुरुष तपः स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि योग के साधनों से योग (धारणाध्यान समाधि संयम) के बल को प्राप्त होता और अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि कार्यों को कर सकता है, अनेक पदार्थों का वा धनों का स्वामी हो सकता है उसका हम लोगों को अवश्य सेवन करना चाहिए।

निष्कर्ष—योगशास्त्र में आठ सिद्धियें लिखी हैं यथा—

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥

अर्थात्—शरीर छोटा बड़ा बनाना, हल्का भारी बनाना, जिसे चाहे उसे प्राप्त करना, वश में करना, प्रभुत्व जमाना, इच्छानुकूल गमन करना, इत्यादि सभी तरह के दुर्लभ कार्य सहज में कर डालना योगी के बांयें हाथ का खेल है। जो इन सिद्धियों पर विश्वास नहीं रखते, वे पुराणों में जहां ऐसी बातें सुन पाते हैं तो भौंचक्के रह जाते हैं। हमने बड़े परिश्रम के साथ स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य का पारायण करके अपने भाइयों को विश्वास दिलाने के लिये उपरोक्त तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं और उनका भाषाभाष्य तथा भावार्थ भी स्वामी जी का बनाया हुआ ही ज्यों का त्यों उतार दिया है। क्या अब भी उन्हें भागने को जगह है ?

वेदोक्त-तांत्रिक-विधान

वेदों में—खासकर अथर्ववेद में, मारण मोहन उच्चाटनादि अनेक विधानों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि ऐसे विधानों का अनुष्ठान तामसी होने के कारण हमारे पूर्वजों ने प्रायः तिरस्कृत सा ही माना है, तथापि कोई साक्षर यह भी कहने का साहस नहीं कर सकता कि वैदिक साहित्य में इस विषय का सर्वथा अभाव ही है। कुछ विधान यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

वशीकरण

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे। इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ (अथर्व ३।२५।१)

अर्थ—[सायणभाष्यानुवाद] (उत्तुदः) व्यथित करने वाला कामदेव (त्वा) तुझे (उत्तुदतु) व्यथित करे (स्वे) अपने (शयने) सेज पर तू (मा) मत (धृथाः) ठहर (कामस्य) कामदेव का (या) जो (भीमा) भयङ्कर (इषुः) वाण है (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय में (विध्यामि) भेदता हूं [इस समग्र सूक्त में इस विषय का वर्णन है।]

मोहन

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ति गृहाण अङ्गान्यप्वे परेहि। (अथर्व ३।२।५)

अर्थ—[सायणभाष्यानुवाद] (हे अप्वे!) संमोहन कृत्ये! (अमीषां) इन हमारे शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती)

प्रत्येक को मोहित करती हुई [इनके सारे] (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) ग्रहण कर—जकड़ दे [और] (परेहि) जा [इस समस्त सूक्त में प्राय: मोहन विधान का ही प्राधान्य है ।]

उच्चाटन

हरीतालेन गोहृदयशोणितेन न···यं द्विष्यात् प्रमᳫ हिष्टें येनास्य शय्यामवकिरेदंगारं च भस्मना नैकग्रामे वसति । (सामविधान २ । ६६)

अर्थात्—हरताल और गोरोचन को अभिमन्त्रित करके, जिससे द्वेष हो तथा जिसे निकालना अभीष्ट हो—उसकी सेज पर गिरा दे और भस्म भी डाले तो वह किसी एक गांव में न ठहर सकेगा—अर्थात् मारा मारा फिरेगा ।

मारण

इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् । मायया शाशदानम् । (ऋग्वेद ७ । १०४ । २५)

अर्थ—(इन्द्र !) हे इन्द्र ! (मायया) माया से कपटाचार से (शाशदानम्) दुःख देने वाले (यातुधानं) राक्षस (पुमाँसं) पुरुष को (उत) और (स्त्रियं) स्त्री को (जहि) मार दे ।

त्रिरात्रोपोषित: कृष्णचतुर्दश्याᳫ शवादंगारमाहृत्य चतुष्पथे वाधकमिध्ममुपसमाधाय वैभीतकेन स्रुवेण सर्षपतैलेनाहुतिसहस्रं जुहुयात् । संमील्येन यत्र वृश्चशब्द: स्यात्तत्र पुरुष: शूलहस्त उत्तिष्ठति यं ब्रूयादमुं जहीति हन्त्येनम् । (सामविधान ३ । ६ । ३)

भावार्थ—तीन रात व्रती रहकर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को चिता से अग्नि लाकर चौराहे में आक आदि उग्र वृक्षों की लकड़ियों में और भलावे के स्रुव से सरसों के तेल की एक हजार आहुति दे। सन्नाटे में जहां आहट प्रतीत हो वहाँ एक शूलधारी पुरुष खड़ा होगा, उससे कह दे कि मेरे अमुक शत्रु को मार दे; वह मार देगा।

कृत्या जादू टोना करनेवाले को ही खा जाय

यो वः प्राहैत् तमत्त:। (अथर्व २। २४। १)

अर्थात्—हे कृत्ये! जिसने तुम्हें भेजा है, उसे ही खा जाओ।

निष्कर्ष—उपरोक्त सूक्तों में मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि का विस्तृत वर्णन लिखा है। हम विस्तारभय से एक से अधिक मन्त्र उद्धृत नहीं कर सके। पुराणों में ऐसे तान्त्रिक विधान देखकर कई महानुभाव शंकित हो जाया करते हैं। अत: हमने ऐसे विधानों को वेदमूलक सिद्ध करने के लिये यहां चारों वेदों के मन्त्रों का समावेश किया है। जादू टोनों के प्रत्यक्ष प्रभाव तो हम रात दिन देखते हैं, परन्तु इस समय प्राय: सावर मन्त्रों का प्रचार है। वेदानुयायी सज्जनों का कर्तव्य है कि वे विशुद्ध मन्त्रों द्वारा अपने समस्त कार्य सिद्ध किया करें। इससे जहाँ वेदों का प्रचार बढ़ेगा, वहाँ एक लुप्तप्राय पुरातन विद्या का उद्धार भी हो जायगा।

वैदिक अवतारवाद

पुराण प्रतिपादित मुख्यत: १० और २४ तथा आँशिक भेद से अनन्त अवतारों का वर्णन वेद में भी विशद रूप से उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध १० अवतारों का वर्णन यहाँ लिखा जाता है। इन मन्त्रों को उद्धृत करके 'मन्त्र रामायण' और 'मन्त्र भागवत' आदि

ग्रन्थों में श्री पं० नीलकण्ठ जी ने जो भाष्य किया है, हम यहाँ 'मार्गस्थो नावसीदति' के न्याय से उसे उद्धृत करते हैं। पाठक पढ़ें और मनन करके तथ्य तक पहुंचें।

मत्स्य

मनवे ह वै प्रातः...मत्स्यः पाणी आपेदे स हास्मै वाचमुवाच विभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति। कस्मान्मा पारयिष्यति—इति औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढास्ततस्त्वा पारयितास्मि (शतपथ १।८।१।१)

अर्थात्—एक समय मनु जी ने नदी के तट पर अवनेजन के लिये ज्योंही जल हाथ में उठाया तब एक मछली का बच्चा अकस्मात् हाथ में आ गया। मनु जी विचारने लगे, तब उस मत्स्य ने कहा, कि तू मेरी पालना कर मैं तुझे पार उतारूँगा। मनु जी ने चकित होकर पूछा कि मुझे कहां से पार करोगे। मत्स्य ने कहा कि जब प्रलय में ये सब जीव जलनिमग्न हो जायेंगे तब मैं तुम्हें पार करूँगा। (इसके बाद मत्स्य का बढ़ना तथा समुद्र में पहुँचना) और महा प्रलय का होना आदि वर्णन भी पुराणों के समान ही शतपथ में दश कण्डिका तक लिखा है। कुरान और बाइबिल वर्णित 'नुह की किस्ती' इसी के आधार पर लिखी गई है। नुह शब्द मनुः शब्द का ही अपभ्रंश है।

कूर्म

"अन्तरतः कूर्मभूतः...तमब्रवीत्, मम वै त्वङ् मांसात्समभूत्, नेत्यब्रवीत्, पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्। स सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् भूत्वोदतिष्ठत्। (तैत्तिरीयारण्यक १।२३।३)

अर्थात्—प्रजापति के शरीर रस से कम्पायमान हुआ, उस जल में कूर्म रूप से विचरते हुए भगवान् को देखकर प्रजापति ने कहा कि हे कूर्म ! तू मेरी त्वचा मांस से उत्पन्न हुआ है। कूर्म ने कहा—नहीं, मैं पहिले से ही यहाँ था, अतएव मुझे 'पुरुष' [पुरः+तिष्ठतीति] कहते हैं। तब कूर्म भगवान् [यजुर्वेद प्रतिपादित] सहस्रों शिर, नेत्र, पांव वाला विराट् रूप धारण करके स्थित हुए।

वाराह

(क) वाराहेण पृथिवी संविदाना। (अथर्व १२।१।४८)

(ख) उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।

(तैत्तिरीय १।१।३०)

अर्थ—(क) वाराह भगवान् ने पृथ्वी का उद्धार किया। (ख) हे पृथ्वी, तू सहस्रभुजाधारी भगवान् वाराह ने उद्धृत की थी।

नृसिंह

वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि नरसिंहः प्रचोदयात्। (तैत्तिरीय १।१।३१)

अर्थ—वज्रनख और तीक्ष्णदंष्ट्र नृसिंहस्वरूप भगवान् का हम ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

वामन

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे। (ऋग्वेद १।१२।१७)

अर्थ—वामनावतारधारी विष्णु ने इस जगत् को तीन चरणों से आक्रान्त कर पद धरे हैं और इनके धूलीधूसर पद में यह भूमि आदि समस्त लोक अन्तर्हित हो गये।

वामनो ह विष्णुरास। (शतपथ १।२।५।५)

अर्थ—भगवान् वामन विष्णु थे।

परशुराम

प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय।

(ऐतरेय ७।५।३४)

अर्थ—भृगुवंशावतंस परशुरामजी ने विश्वान्तर के प्रति यह ज्ञान कहा।

रामचन्द्र

अर्थ—मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णन किया जाता है।

अयोध्या

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, तेषां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।

(अथर्व १०।२।३१)

अर्थ—आठ चक्र (गोल बाजार) और नव दर्वाजों वाली साक्षात् देवपुरी अयोध्या नगरी है। जिसमें सुवर्णपूरित कोश (खजाना) स्वर्गीय ज्योति से प्रकाशित था।

सरयू नदी

सरयूः सिन्धुरुर्मिभिर्महोमहीरवसा दन्तु वक्षणि।

(ऋग्वेद १०।५।६४।९)

अर्थ—सरयू नदी अपनी महती तरङ्गों से हमारे यज्ञ की रक्षा के अर्थ यहाँ उपस्थित हो।

महाराज दशरथ

चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः। (ऋग्वेद २। १। ११)

अर्थ—महाराजा दशरथ के चालीस शोण (लाल रंग के विचित्र घोड़े) थे

शक्तिरूप सीता की वन्दना

अर्वाची सुभगे भव सीते ! वन्दामहे त्वा।

(ऋग्वेद ३। ८। ६)

अर्थ—हे सुभगे सीते ! हम आपको प्रणाम करते हैं। आप हमारे अनुकूल हों।

शिवधनुर्भंग

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।

(ऋग्वेद १२५। ६)

अर्थ—(भगवान् कहते हैं) मैं ही ब्रह्मद्वेषी राक्षसों का विनाश करने के लिये रामावतार धारण करके महादेव के धनुष को ज्या (रोंदा) से युक्त करता हूं।

राम विवाह

इन्द्रः सीतां विगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु।

(ऋग्वेद ३। ८। ६)

अर्थ—रामजी सीता को ग्रहण करें, और जनकजी उसे प्रदान करें।

विश्वामित्र यज्ञरक्षा

विश्वामित्रो यदवहत् सुदासम्। (ऋग्वेद ३। ३। २२)

अर्थ—विश्वामित्र जी सुदासगोत्रोत्पन्न राम जी को लिवा ले गये।

वनगमन

भद्रो भद्रया सचमान आगात्।

(साम० उत्तरार्चिक १५। २। १। ३)

अर्थ—सेवनीय रामचन्द्र जी पुण्यश्लोका सीता सहित वन में गये।

सीताहरण

जारोऽभ्येति पश्चात्। (साम० उत्तरार्चिक १५। २। १। ३)

अर्थ—रामचन्द्रजी के चले जाने पर मायावी रावण जार बुद्धि से आया।

रावण

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।

स सोमं प्रथमं पपौ स चकारारसं विषम्॥

(अथर्व ४। ६। १)

अर्थ—पहिले एक दशमुख और दश शिर वाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। उसने प्रथम तो यज्ञानुष्ठान तपश्चर्यारूप अमृत पान किया, पश्चात 'वर' प्राप्त हो जाने पर उसे विष बना दिया। अर्थात्—शक्ति का दुरुपयोग किया।

सीता की अग्नि परीक्षा

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुषद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ।
(साम उत्तरार्चिक १५ । २ । १ । ३)

अर्थ—सुन्दर चिन्हों से और दीप्तिमान् वर्णों से उपलक्षित द्युलोक की साधनभूत, रामपत्नी सीता सहित अग्निदेव रामचन्द्र के सन्मुख उपस्थित हुये ।

रामराज्य

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको विराजति । (यजु० १२ । ११७)

अर्थ—तेजोविवृद्ध रामचन्द्र जी भूत और भविष्यत् कालवर्ती राजाओं में अद्वितीय सम्राट् हुए, जो अपनी प्रिय प्रजा की समस्त कामनाओं को पूरा करते थे ।

कृष्णावतार

श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द जी का चरित्र भी कुछ विस्तार से लिखते हैं ।

कारागार में जन्म और गोकुल गमन

यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः ।
(ऋग्वेद ४ । ७ । १ । ९)

अर्थात्—हे भगवान् आप को (अप्रवीता) निगड़ बन्धन में बद्ध श्री देवकी जी गर्भ में धारण करती हुई और आप अवतरित होते ही तत्काल माता से पृथक् हो गए, अर्थात् गोकुल चले गये ।

विद्याध्ययन

एतद् घोर अंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच ।

(छान्दोग्य ३ । १७ । ६)

अर्थ—यह उपदेश घोर अंगिरस ने देवकी पुत्र कृष्ण के लिए कहकर सुनाया था ।

माखन लीला

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभिरक्षतादिदम् ।

(अथर्व २ । १३ । १)

अर्थ—[ग्वालन कहती है] हे भगवन्, इस सुन्दर स्वादिष्ट गाय के माखन को खाकर जिस प्रकार पिता पुत्र की रक्षा करता है, इस प्रकार आप हमारी करें ।

चीरहरण

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।

(अथर्व २ । १३ । ५)

अर्थ—हे कुमारीगण ! (यस्य) जिस (ते) तेरे [नग्न स्नान के कारण] (प्रथमवास्यं) [कात्यायनी व्रत रूप] यश के नाशक (वासः) वस्त्र को [हम गोपों ने] (हरामः) हरण किया है (विश्वेदेवाः) वरुणादि सब देवता (त्वा) तुम्हारे (तं) उस व्रत की (अवन्तु) रक्षा करें ।

कालीयदमन

कालिको नाम सर्पो नवनागसहस्रबलः ।
यमुनह्रदे ह्यसौ जातो यो नारायणवाहने ।।

(ऋक् परिशिष्ट)

अर्थ—नौ सहस्र हाथियों के बल वाला कालीय नामक नाग यमुना के ह्रद में रहता था। कृष्ण जी ने उसे वाहन बनाया अर्थात् शिर पर सवार होकर उसे नाथा।

कृष्ण जी विष्णु थे

नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। (तैत्तिरीयारण्यक १०। १। ६)

अर्थ—वसुदेव के पुत्र नारायण के अवतार श्रीकृष्ण जी का हम ध्यान करते हैं। वह विष्णु हमें सन्मार्ग के लिये प्रेरित करें।

द्वारकापुरी

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्। मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः। (अथर्व ६। १०६। २)

अर्थ—यह जल वाला अपार समुद्र स्थान है, जिसके मध्य में हम लोगों के घर हैं।

निष्कर्ष—इस प्रकार वेदों में समस्त अवतारों का संक्षिप्त वर्णन उपलब्ध होता है। हम विस्तारभय से दिग्दर्शन मात्र कराना पर्याप्त समझते हैं। पुराणों में सब अवतारों का चरित्र इसी आधार पर लिखा गया है। कोई मूर्ख इससे यह न समझ बैठे कि इससे तो वेदों का अनादित्व मिट जाता है। क्योंकि 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदे प्रतिष्ठितम्' के अनुसार वेदों में भी नित्य इतिहास विद्यमान है और उसकी विद्यमानता से वेदों के अनादित्व पर कुछ भी आक्षेप नहीं आ सकता, यही ऋषियों का सिद्धान्त है।

वैदिक ग्रह-शान्ति

शन्नो ग्रहाश्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
शन्नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ।।

(अथर्व १९ । ९ । १०)

अर्थ—चन्द्रमा के साथ के सब ग्रह तथा सूर्य के साथ राहु तथा मृत्युसूचक धूमकेतु एवं विकराल रुद्रगण हमारे लिये कल्याणकारी हों ।

दुःस्वप्न का नाश हो !

यन्मे मनसो न प्रियं तद्दुःस्वप्न्यं प्रतिमुञ्चामि ।

(अथर्व ९ । २ । २)

अर्थात्—जो दुःस्वप्न मेरे मन को नहीं रुचता, मैं उसको दूर करता हूं ।

स्वप्न में अन्न खाना अशुभ

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि सर्वं तदस्तु मे शिवम् ।

(अथर्व ७ । १०१ । १)

अर्थात्—स्वप्न में जो मैंने अन्न खाया है वह कल्याणकारक हो ।

भूकम्प आदि अपलक्षण शान्त हों !

शं नो भूमिर्वेप्यमाना.....शं गावो लोहितक्षीराः...
नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु । (अथर्व १९ । ९ । ८-१०)

अर्थात्—काँपती हुई भूमि कल्याण करे । रक्त की भान्ति लाल दूध देने वाली गौवें कल्याण करें । नक्षत्रों से गिरने वाली उल्काएं कल्याण-प्रद हों ।

मूलनक्षत्र में उत्पन्न बालक सुखद हो !

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परिपाह्येनम् ।

(अथर्व ६ । ११० । २)

अर्थात्—बड़े भाई का नाश करने वाले मूल नक्षत्र में जो बालक उत्पन्न हुआ है उक्त शान्ति द्वारा इसकी रक्षा कर ।

ऊपर के दाँत निकालना अशुभ

यौ व्याघ्रावरूढौ जिघत्सत पितरं मातरं च । तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते ! शिवौ कृणौ जातवेद ।

(अथर्व ६ । १४० । १)

अर्थात्—जो व्याघ्र की भान्ति प्रथम उत्पन्न हुवे दाँत हैं, वे माता और पिता दोनों के घातक हैं । हे ब्रह्मणस्पते ! तू उन्हें कल्याणकारी कर ।

काक-मैथुन किंवा स्पर्श अशुभ

इदं यत् कृष्ण: शकुनिरभिनिष्पतन्···अवामृक्षन् निर्ऋते ते मुखेन । अग्निर्मा तस्मादेनसा गार्हपत्य···प्रमुञ्चतु ।

(अथर्व ७ । ६४ । १-२)

अर्थात्—यह जो काला कौव्वा मुझ पर गिर पड़ा, हे पापी ! तेरी चोंच ने जो मुझे स्पर्श किया और मैथुन में प्रवृत्त दीखा, इस पाप से गार्हपत्य अग्नि मुझे छुड़ाए ।

निष्कर्ष—पुराणों में जो सूर्यादि नव ग्रहों की शान्ति के लिये पूजनादि का विधान लिखा है, वही अथर्ववेद के १९वें काण्ड में विस्तार से लिखा मिलता है । हमारे साथ ग्रहों का क्या सम्बन्ध है और वे हमारे लिये क्या अनिष्ट कर सकते हैं तथा क्यों ? यह एक विस्तृत कथा है, जो विज्ञान के गहरे समुद्र में गोता लगाने से समझ में आ सकती है ।

तथापि हम इतना तो यहाँ अवश्य बता देना चाहते हैं कि यह संसार विराट् भगवान् का शरीर है, और ग्रह नक्षत्रादि उसके अंग प्रत्यङ्ग हैं। हमारा शरीर भी विराट् का अंश है। अतः उसमें भी समस्त ग्रहादिकों के अंशाँश विद्यमान हैं। विराट् रूप के प्रतिपादन में यजुर्वेद पुरुषसूक्त के 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि मन्त्रों में संसार की वस्तुएं विराट् के जिस अंग प्रत्यङ्ग के रूप से वर्णित की गई हैं, उनका ठीक हमारे उसी अङ्ग से विशेष सम्बन्ध है। जैसे 'चक्षोः सूर्योऽजायत' में सूर्य को विराट् का नेत्र माना गया है, तो हमारे नेत्रों से सूर्य का प्रगाढ़ सम्बन्ध है, उसके बिना हमारे नेत्र चर्म विशेष मात्र हैं। चन्द्रमा विराट् का मन है तो हमारा मन भी पूर्ण चन्द्रमा को देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। मङ्गल विराट् के रक्त से बना है इसलिए उसका हमारे रक्त से सम्बन्ध है। इसी प्रकार बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु की बात है। अब जिस प्रकार पृथिवी की गति से ग्रीष्म, वसन्त, और वर्षादि ऋतुयें होती हैं और पुरुष को गर्मी सर्दी आदि भोगनी पड़ती है ठीक इसी प्रकार अन्यान्य ग्रहों की गति विगति से मनुष्यों के शुभाशुभ फल की बात है। मनुष्य के जन्म के समय जो ग्रह जिस स्थान में था उसी के हिसाब से आयुपर्यन्त वह जब जब जैसी-जैसी दशा में पहुँचता है मनुष्य को तब २ वैसा २ ही शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है। यही फलित ज्योतिष का सार है। क्रूर ग्रहों का फल दूर करने के लिए, ईश्वर के अङ्गभूत उन्हीं ग्रहों की प्रार्थना दान पुण्यादि करना कहा गया है, क्योंकि हमारे दुष्कर्मों का परिणाम उन्हीं ग्रहरूप ईश्वर के अङ्गों द्वारा मिलता है। इसलिये वेदों में ग्रहशान्त्यर्थ प्रार्थनाएं की गई हैं और इसी के आधार पर पुराणों में इस सिद्धान्त का विस्तार किया गया है।

वैदिक प्रतिमापूजन

मा असि प्रमा असि प्रतिमा असि। (तैत्ति० प्रपा० ४ मनु ५)

अर्थ— हे महावीर, तुम ईश्वर की प्रतिमा हो।

सहस्रस्य प्रतिमा असि। (यजु० १५। ६५)

अर्थ—हे परमेश्वर आप सहस्रों की प्रतिमा (मूर्ति) हैं।

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।

(ऋग्वेद ६। ५। ५८। ८)

अर्थ —हे बुद्धिमान् मनुष्यो ! उस प्रतिमा का पूजन करो, भलीभाँति पूजन करो।

मूर्ति के अङ्ग प्रत्यङ्ग

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः। अंगभ्यस्त उदराय जिह्वाय आस्याय ते दद्भ्यो गन्धाय ते नमः।

(अथर्ववेद ११। २। ५-६)

अर्थ—हे पशुपते शिव ! आप के मुख को, तीन नेत्रों को, त्वचा को, रूप को, अङ्गों को उदर (पेट) को, जिह्वा को और नासिका को नमस्कार हो।

पत्थर में आवाहन

एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्॥

(अथर्व० २। १३। ४)

अर्थ—हे परमात्मन् ! तुम आकर इस पाषाण में विराजमान हो, यह आप का शरीर बन जावे और सब देवता सैंकड़ों वर्ष पर्यन्त इसमें आपकी विभूति को स्थिर करें।

प्राणप्रतिष्ठा

एतु प्राणा एतु मनः एतु चक्षुरथो बलम् ।

(अथर्व ५ । ३० । १२)

अर्थ—इस प्रतिमा में प्राण आयें, मन आये, नेत्र और बल आये ।

मूर्ति को नमस्कार

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु देव्याय प्रस्तराय ।

(अथर्व १६ । २ । ६)

अर्थ—हे प्रतिमा ! तू ऋषियों का पाषाण है, तुझ दिव्य पाषाण के लिये नमस्कार हो ।

निष्कर्ष—इस प्रकार वेदों में प्रतिमापूजन का विधान स्पष्ट मिलता है और पुराण शास्त्रों में उसीका स्पष्टीकरण किया गया है । स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि (पृष्ठ ६२–७४) में उखल, भूसल, छुरा, झाड़ू, कुश और जूते तक का पूजन लिखा है । यजुर्वेद (१२।७०) में सुहागे के लिये 'जल वा दुग्ध से सींचा हुआ पटेला घी तथा शहद वा शक्कर आदि से संयुक्त करो, पटेला हम लोगों को घी आदि पदार्थों से संयुक्त करेगा'—लिखकर उसका पंचामृत से स्नान कराना और उससे अभीष्ट वरदान का पाना लिखा है । मुसलमानों की 'कबर परस्ती' मक्के में संगे अस्वद (पत्थर) को चूमना, ईसाइयों का क्रास (चूमना) एक प्रसिद्ध बात है । इतने पर भी केवल सनातनधर्मियों को बुतपरस्त कहना महा अज्ञता है । सनातनधर्मी ईश्वर की सर्व-व्यापकता का वास्तविक आदर्श स्थापित करने वाले हैं । वे गीता के 'यद् यद् विभूतिमत्सत्वम्' के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करके दिखाते हैं । हमें आशा है कि भ्रान्त भाई इस तत्त्व को समझने का प्रयत्न करेंगे ।

वैदिक-शकुनवाद

स्वस्ति मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।

(अथर्व १६ । ८ । ३)

अर्थ—(अग्ने !) हे अग्निदेव ! (मे) मेरे लिये (सुप्रातः) सुन्दर प्रातःकाल (सुसायं) सुन्दर सायंकाल (स्वस्ति) कल्याणकारी हो (सुदिवं) शुभ दिन हो (सुमृगं) मृगादि पशु शुभ हों (सुशकुनं) सुन्दर पक्षी (मे) मेरे लिये कल्याणकारी (अस्तु) हो ।

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परातान्सवितः सुवः ।।

(अथर्व १६ । ८ । ४)

अर्थ—(सवितः) हे सवितादेव ! (अनुहवं) चलते को पीछे से बुलाना (परिहवं) दोनों ओर से बुलाना (परिवादं) (विवाद परिक्षवम्) छींक आदि (सर्वैः) सब प्रकार से (रिक्तकुम्भान्) खाली घड़ों को (मे) मेरे से (तान्) उनको (परासुवः) दूर करो ।

(क) पूर्णनारि ! प्रभर कुम्भमेतम् । (अथर्व १६।८।८)
(ख) सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते । (अथर्व २।४२।३)
(ग) यदुलूको वदति मोघमेतत् । (अथर्व ६।२६।१)

अर्थ—(क) हे सौभाग्यवती नारी ! तू इस घट को भरकर मेरे सामने आ । (ख) ऐ पक्षी तू शुभ बोलता हुआ मंगलकारी हो । (ग) यह जो उल्लू पक्षी बोलता है, इसका दुष्परिणाम विफल हो ।

निष्कर्ष—पुराण शास्त्रों में उक्त मन्त्रों के आधार पर शकुनों का वर्णन किया गया है । कई महानुभाव (?) इसे पोप लीला कहकर अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया करते हैं, परन्तु हमारा दावा है कि

यह सब वेदमूलक है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर शकुनों की वास्तविकता खूब व्यक्त हो जाती है। चूंकि भावी शुभाशुभ का परिज्ञान उद्भिज्जों और तिर्यञ्चों को हमसे बहुत पूर्व हो जाता है, अतः ऋषियों ने उनकी बोलचाल से उसे जानने का प्रयत्न किया था। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जब वर्षा होने का समय निकट हो परन्तु अभी बादलों का नामोनिशान भी न हो, तब हमें तो वर्षा का अनुमान नहीं होता, लेकिन छोटी २ चींटियें सुफेद २ अण्डे मुंह में दबाये सैंकड़ों की संख्या में सुरक्षित स्थान में जाने को निकल पड़ती हैं। अतः उनकी ऐसी क्रिया को देखकर भावी वर्षा का अनुमान कर लेना प्रकृति निरीक्षण मात्र ही है। इसी प्रकार अन्यान्य शकुनों का तत्व समझना चाहिए। पुराणों में उक्त सभी शकुनों का वर्णन यथास्थान किया गया है, जिज्ञासु जन वहां देखकर लाभ उठा सकते हैं।

वैदिक वर्णव्यवस्था

अन्य सिद्धान्तों की तरह वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में भी वेदों में पुराण-प्रतिपादित व्यवस्था का ही समर्थन किया गया है, यथा—

विराट् के अंगों से चारों वर्ण

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत ॥

(यजुः ३१ । ११)

अर्थात्—उस विराट् के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरु स्थान से वैश्य और पांवों से शूद्र पैदा हुये हैं।

वर्ण जन्म से होता है

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्। (आपस्तम्ब १। १। १)

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। पहिला पहिला वर्ण दूसरे की अपेक्षा जन्म से श्रेष्ठ है।

(क) यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त। (शतपथ)
(ख) ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत। (शतपथ ६। १। १। १०)
(ग) क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिः।
(घ) ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः। (तैत्तिरीय ३।१२।६।२)
(ङ) स शौद्रवर्णमसृजत्। (शतपथ १४। ४। २। २५)

अर्थात्—(क) क्योंकि ये मुख्य हैं, इसलिए वे मुख से रचे गये। (ख) ब्राह्मण ही पहिले बनाये (ग) समस्त जीवों के अधिपति क्षत्रिय का जन्म हुआ (घ) वैश्य वर्ण ऋक् से उत्पन्न हुआ है। (ङ) उसने शूद्र वर्ण बनाया।

केवल कर्म से वर्ण नहीं बदलता

(क) ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता। (शतपथ १। २। १। ८)
(ख) तस्माद् वैश्यपुत्रं नाभिषिञ्चति।
(शतपथ १३। २। ६। ८)

अर्थात्—(क) ब्राह्मण ही राक्षसों का हनन करने वाला (ख) इस कारण से वैश्य का पुत्र अभिषिक्त नहीं किया जाता।

इस प्रकार वेदों में जन्म-प्रधान वर्णव्यवस्था का धाराप्रवाह वर्णन मिलता है। इतिहास भी जन्मप्राधान्य का ही समर्थन करता है, अन्यथा

राक्षस कर्मकारी रावण और क्षात्रधर्मनिष्ठ वीर-शिरोमणि परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा आदि व्यक्ति गुण कर्म के अनुसार ब्राह्मण न बने रहते ! इसी तरह ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा जनक क्षत्रिय न रहते, तथा राणा प्रताप की दाईं भुजा सेठ भामाशाह वैश्य = बणिया न कहलाते। तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल तक आवश्यकतानुसार आपद्धर्मरूप से अनेक व्यक्तियों ने वर्णान्तर के धर्म से भी अपना जीवन बिताया और गुण कर्म स्वभाव में भी सोलहों आने तादृश बने रहे, तथापि उनका जन्मसिद्ध वर्ण तथैव प्रसिद्ध रहा। यदि ऐसा न होता तो प्रसिद्ध धनुर्धारी और अर्जुन के मुकाबले में डटने वाले योद्धा कर्ण को—अविदित-कुल होने के कारण सूतपुत्र कहकर न चिढ़ाया जाता ! क्योंकि गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार तो वह किसी भी क्षत्रिय वीर से कम न था। अतः वेदादि शास्त्रों की यही व्यवस्था है। अमुक वर्ण में जन्म लिया और उसी वर्ण के धर्म का पालन किया तो वह व्यक्ति पूर्णतया उस वर्ण का माना जाना चाहिए, परन्तु जो उत्पन्न तो अमुक वर्ण में हुआ और कर्म वर्णान्तर के करता है वह अपने जन्मसिद्ध वर्ण का कहलाता हुआ भी तादृश सम्मान का अधिकारी नहीं; अर्थात्— जन्म-प्राधान्य से गुण कर्म और स्वभाव की विद्यमानता वर्ण का मुख्य लक्षण है, तथा गुणादि की अविद्यमानता में जन्म मात्र होना गौण लक्षण है, किन्तु जन्म की अविद्यमानता में गुण कर्म और स्वभाव का अस्तित्व किसी वर्ण-विशेष का बोधक नहीं।

वेदोक्त तीर्थ महिमा

इमं मे गंगे ! यमुने ! सरस्वति ! शुतुद्रि ! स्तोमं सचत परुष्ण्या असिक्न्या मरुद्वृधे ! वितस्तयार्जीकीये श्रृणुया सुषोमया ॥ (ऋग्वेद १० । ७५ । ५)

अर्थ—[सायणभाष्यानुसार] हे गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, (सतलज), परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, (झेलम) सोमा, और आर्जीकीया नाम वाली दश नदियों ! तुम हमारी प्रार्थना को श्रवण करो और स्वीकार करो।

प्रयाग में गङ्गा यमुना संगम

सितासिते सरिते यत्र संगते, तत्र प्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते ॥

(ऋक्परिशिष्ट)

अर्थ—जिस स्थान में सफेद और काली नदियों (अर्थात्—गंगा और यमुना) का संगम हुआ है उस स्थान में यात्रा व स्नानादि करने से स्वर्ग मिलता है। और जो धीर पुरुष इस स्थान में शरीर त्याग करते हैं, वे अमरपद को प्राप्त होते हैं।

गंगाजल महौषधि है

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः।
आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥

(अथर्व ६। २४। १)

अर्थ—[सायणभाष्य का भाषानुवाद] [गंगादिनदीरूपाः पापक्षय-हेतवः—पापों को नष्ट करने वाले गंगा आदि नदियों के] (आपः) जल (हिमवतः) हिमाचल से (प्रस्रवन्ति) बहते हैं। [और उनका] (सिन्धौ) समुद्र में (समह) समानरूप से (सङ्गमः) सङ्गम है [वह गंगाजल] (देवीः) दिव्य जल हैं [सो] (मह्यं) मुझे (हृद्द्योतभेषजम्) हृदय के दाह को दूर करने वाला अथवा हृदय को प्रकाशमय बनाने वाला = औषध (ददन्) प्रदान करे।

जगन्नाथ जी

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ।।

(ऋग्वेद १० । १५५ । ३)

अर्थ—[सायणभाष्यानुवाद]—(अदो = विप्रकृष्टदेशे वर्तमानं) वह सुदूर उड़ीसा प्रदेश में विद्यमान (अपूरुषं) किसी निर्माता पुरुष का न बनाया हुआ (यद्दारु—दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरं) लकड़ी के कलेवर वाला श्री पुरुषोत्तम भगवान् का शरीर (सिन्धोः पारं) ठेठ समुद्र के किनारे पर (प्लवते) विद्यमान है, (दुर्हणो) हे अमरपद के अभिलाषी मनुष्य ! (तदारभस्व) तू उसकी शरण में जा [और] (तेन) उन दारुमय देव की उपासना से (परस्तरं—अतिशयेन तरणीयं उत्कृष्ट वैष्णवं लोक) सर्वोत्कृष्ट वैकुण्ठपद को (गच्छ) प्राप्त हो ।

यत्र देवो जगन्नाथः पर पारं महोदधेः ।
बलभद्रः सुभद्रा च तत्र मामभृतं कृधि ।।

(ऋग्वेद परिशिष्ट)

अर्थात्—महोदधि = समुद्र के किनारे जहाँ देवाधिदेव श्रीजगन्नाथजी बलभद्र जी और सुभद्रा जी विद्यमान हैं, मुझे इस स्थान में अमरपद-भागी बनाइये । तीर्थों की महिमा अकथनीय है । यूं तो प्रायः सभी पन्थों में किसी न किसी स्थान को पवित्र मानकर यात्रा करने की प्रथा विद्यमान है, परन्तु वे पन्थ मनुष्यकल्पित होने के कारण अपने तीर्थों की भित्ति प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक आधार पर स्थिर नहीं कर सके, इसलिए उनके सेवन से लाभ के स्थान में हानि ही होती है । परन्तु सनातनधर्म में उन्हीं स्थानों को तीर्थ रूप में माना जाता है जिनका कि प्राकृतिक वातावरण ही स्वभावतः पवित्र हो और विज्ञान की कसौटी पर उनके

लाभ पूरे उतरते हों। उदाहरणार्थ भगवती भागीरथी गंगा को ही लीजिये। आज यूरोप के बड़े से बड़े डाक्टर गंगाजल की परीक्षा करने के बाद — यह मानने को विवश हो गये हैं कि गंगाजल रोगों के अस्थिगत कीटाणुओं को भी नष्ट कर डालता है और गंगा किनारे का वातावरण— खासकर हरिद्वार से ऊपर उत्तर काशी पर्यन्त, तपेदिक आदि असाध्य रोगों को नाश करने की शक्ति रखता है। इसी प्रकार अन्यान्य तीर्थस्थान भी वैज्ञानिक कसौटी पर लाभप्रद सिद्ध होते हैं। क्या हम आशा करें कि उक्त प्रमाणों के आधार पर लिखी हुई पुराणोक्त तीर्थ-महिमा को हमारे भाई मातृभूमि की वन्दना का आदर्श समझ कर उससे समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

वेद और पुराणों के विषयों की इयत्ता नहीं हो सकती, अतः हम एतावन्मात्र निरूपण करके इस अध्याय को समाप्त कर देते हैं। यदि पाठकों को विशेष कुछ उत्कण्ठा हो तो उन्हें किसी वेद-पुराणों के विशेषज्ञ महानुभाव से स्वाध्याय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस लघु कलेवर ग्रन्थ में वेद पुराणों के अटूट खजाने की रत्न-राशि कहाँ तक समा सकती है—यह बात पाठक समुदाय ही स्वयं सोच सकता है। इसलिए 'दिङ्मात्रमिह दर्शितम्' कहते हुए हम विश्राम लेते हैं।

जो भाव पुराणों में जैसे, श्री वेदव्यास बताते हैं।
सो ज्यों के त्यों ही वेदों में, अध्याय आठ में आते हैं॥

* आठवां अध्याय समाप्त *

सन्देहाभासनिवारणाध्याय:

(नौवां-अध्याय)

अश्लीलताऽसंभवता-विरुद्धताऽऽ-
भासः, पुराणेषु य उच्यते परैः ।
सर्वं समाधाय तमत्र, वर्ण्यते
पुराण-तत्त्वं निगमागमान्वितम् ।।

•••○○○•••

आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व जिस तरह बौद्धों, जैनियों और चारवाक-मतावलम्बियों ने वेदों को बदनाम करने के लिये 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः' का कर्णकटु कोलाहल मचा रक्खा था, इसी तरह आज कतिपय पाश्चात्य पामरों और अदूरदर्शी एवं उद्दण्ड दयानन्दियों ने पवित्र पुराणों को पददलित करने के लिये 'पुराण कोई पाठ्य पुस्तक नहीं हैं, वे तो पोपों के गपोड़े हैं, उनके पढ़ने से पुरुषों को पाप करने का प्रोत्साहन मिलता है,' इत्यादि अनेक निर्मूल भ्रम फैला रक्खे हैं ।

यद्यपि पुराणों के निष्पक्ष समालोचक—मि० पार्जिटर तथा मि० विसेन्ट स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एवं गुरुकुल कांगड़ी के प्रो० श्री रामदास गौड़ तथा पं० नरदेव शास्त्री आदि दयानन्दियों ने तथ्य को समझ कर पुराणों के अनुपम महत्त्व को भली प्रकार स्वीकार किया

है, तथापि इन इने गिने व्यक्तियों के तादृश विचारों का -- मिस मेयो और उसके पिछलगुवे, ऐरे-गैरे, नत्थू खैरे जैसे संकीर्णहृदय व्यक्तियों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। आर्य्योपदेशक पद को कलंकित करने वाले सैंकड़ों पण्डितम्मन्य अभी तक भी पुराणों के प्रतिकूल अनुचित आन्दोलन करते ही जा रहे हैं। दुर्भाग्यवश सर्वसाधारण में भी मि० पार्जिटर के ग्रन्थ 'ऐतिहासिक किंवदन्ति' (Historical Tradition) का परिचय मुट्ठीभर शास्त्रव्यसनी पंडितों तक ही सीमित है, परन्तु मिस मेयो की 'मदर इण्डिया' का बदनाम नाम शैतान की तरह देहातियों तक में भी प्रख्यात सा हो गया है। इसी तरह सभ्य समाजियों के पुराण प्रशंसक भाव तो पोथियों के पत्रों और समाचार पत्रों के स्तम्भों में ही विश्राम ले रहे हैं, परन्तु फक्कड़ कक्कड़ों की लिखी हुई भविष्य-शिव-गरुड़ आदि पुराणों की कटु आलोचनाएं तथा 'पुराणतत्त्व प्रकाश' 'पुराणमत पर्यालोचन' जैसे थोथे पोथे, नवयुवकों के अपरिपक्व मस्तिष्क को बिगाड़ने के लिये दयानन्दियों और सुधारकों—बनाम बिगाड़कों द्वारा संचालित प्रत्येक पुस्तकालय में तत्परता से रक्खे जाते हैं, तथा समाजी स्कूलों में 'वाद समिति' (Debating club) बनाकर अथवा 'सत्यार्थप्रकाश' की कथा सुनाकर प्रत्येक बालक को पुराणों के प्रतिकूल बगावत मचाने के लिए पहलवान बनाने का जघन्य प्रयत्न किया जाता है। हमारे इस लम्बे रोने धोने का तात्पर्य यह है कि इस समय पुराणों को पददलित करने का जो प्रबल प्रयत्न किया जा रहा है वह इतना भयंकर एवं इतना विनाशकारी है कि जिसके कुछ दिन तक इसी तरह जारी रहने से हिन्दू संस्कृति हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू जाति का अस्तित्व भी सुरक्षित रखना महा कठिन हो जाएगा। इसलिए देश जाति और धर्म का भला चाहने वाले सज्जनों को इस बढ़ते हुवे तूफान से युवकवर्ग का अवश्य त्राण करना चाहिए।

जिस तरह शवर स्वामी, कुमारिल भट्ट, आद्यशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य आदि महानुभावों ने अनेक ग्रन्थ लिखकर तत्कालीन बौद्धादि के पाखण्ड का खण्डन किया था और एक बार फिर से वेद-विज्ञान की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी थी, इसी तरह अब भी साक्षर समुदाय को पुराणनिन्दकों की प्रबल प्रवञ्चना का पड़दाफाश करके पुराणों का वैज्ञानिक तत्त्व सर्वसाधारण के सामने ग्रन्थ रूप में समुपस्थित करने का पुनीत प्रयत्न करना चाहिये।

उपरोक्त भाव से प्रेरित होकर हम इस ग्रन्थ के विगत अध्याय में पुराणों की 'बहिरङ्ग-परीक्षा' तो प्रायः कर चुके हैं, अब इस अध्याय में अवसर प्राप्त 'अन्तरङ्गपरीक्षा' भी की जाती है।

नास्तिकों और अर्धनास्तिकों की ओर से पुराणों पर जितने आक्षेप किए जाते हैं उन सबको सामान्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ आक्षेप ऐसे हैं जिनका मूल कारण अश्लीलताभास बताया जाता है और दूसरे ऐसे हैं जिनमें असम्भवताभास को हेतु ठहराया जाता है, तथा तीसरे वे हैं जिनमें परस्पर विरुद्ध अथवा वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध होने का आभास दीख पड़ता है। बस ! इन्हीं चार प्रबल दोषाभाषों को पर्वतायमान करके पुराण-साहित्य को अनेक दोषों का खजाना कहा जाता है। इसलिये हम इस अध्याय में यथासम्भव सभी आक्षेपों पर उचित विचार करना चाहते हैं। आशा है विज्ञ पाठक इस विभाजन-पद्धति से जहाँ उन समग्र दोषाभाषों का क्रम जानने में कृतकार्य हो सकेंगे वहाँ आक्षेपों की इयत्ता से भी पूर्णतया परिचित हो जाएंगे। अथच इससे यह लाभ भी होगा कि विस्तार-भय से इस ग्रन्थ में जिन आक्षेपों का समाधान न भी लिखा गया हो ऐसे आक्षेपों को भी उक्त विभाग-चतुष्टय में से यथायोग्य किसी एक में परिणत कर लेने पर उस उस विभाग के समाहित-आक्षेपों की भांति नये आक्षेपों का भी पाठक स्वयं समाधान कर सकेंगे।

१—ब्रह्मा-दुहिता-प्रसंग

आर्यसमाज की ओर से पुराणों की समालोचना या दुरालोचना में आज तक जितने ट्रैक्ट लिखे गए हैं, उन सब में—सम्पादकों ने प्रायः कथाओं के वास्तविक स्वरूप को जान बूझकर छुपाने का दुराग्रह किया है, यहाँ तक कि—'ब्रह्मा दुहिता' वाली कथा को वेद के मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग द्वारा तथा श्री कुमारिल भट्ट और स्वयं दयानन्द सरस्वती द्वारा भी, वास्तविक अभिप्राय प्रकट किये जाने पर भी अभी तक ये निरे निठल्ले उक्त कथा को वीभत्स रूप में पेश करके जनता को भ्रम में डालने का जघन्य प्रयत्न करते हैं, इसलिए सर्वप्रथम इसी कथा का रहस्य प्रकट किया जाता है, यथा —

वैदिक-स्वरूप

(क) प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन् । (ऋग्वेद १०।६१।७)

(ख) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् । (ऐत० ३।३३)

(ग) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ । (शत० १।७।४।१)

(घ) पिता दुहितुर्गर्भमाधात् । (अथर्व ९।१०।१२)

(ङ) प्रजापतिर्वा इदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत्ता-
म्मिथुनं समभवत्सा गर्भमादधत्त ।

(ताण्ड्य २० । १४ । २)

(च) प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरम् ।

(ताण्ड्य ८ । २ । १०)

अर्थात्—(क) प्रजापति ने अपनी पुत्री का धर्षण किया। (ख) प्रजापति ने अपनी पुत्री का अनुगमन किया। (ग) प्रजापति ने अपनी पुत्री को चाहा। (घ) पिता ने पुत्री में गर्भ स्थापित किया। (ङ) प्रजापति अकेला था और वाक् सरस्वती दूसरी थी, उन दोनों ने संग किया वह गर्भवती हो गई। (च) प्रजापति ने अपनी पुत्री उषा के पीछे गमन किया।

पौराणिक-स्वरूप

(क) वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः! सकाम इति नः श्रुतम्॥
तमधर्म्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या ऋषयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन्।
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे॥
(ख) स इत्थं गृणतः पुत्रान्पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा॥

(श्रीमद्भागवत २। २१। २८-३३)

अर्थात्—(क) [मैत्रेय ने कहा हे विदुर!] काम के वश होकर स्वयम्भू ने कामनारहित 'वाक्' नाम वाली पुत्री को चाहा, ऐसा हमने सुना है। उस पिता की इस प्रकार अधर्म में बुद्धि देखकर मरीचि आदि पुत्रों ने हठात् समझाया कि—आज तक ऐसा कर्म न किसी ने किया है और न अब तथा आगे को कोई ऐसा करेंगे (ख) प्रजापति ने इस प्रकार अपने सामने ही पुत्रों को कहते हुये सुनकर लज्जित हो अपना वह शरीर छोड़ दिया।

उपर्युक्त वेद-प्रमाणों और पुराणों-श्लोकों को ध्यानपूर्वक पढ़ जाने

मात्र से प्रत्येक संस्कृतज्ञ इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि श्रीमद्भागवत में जो कुछ लिखा है वह शब्दों के हेरफेर से वेदमन्त्रों का ही सरल अनुवादमात्र है। यदि इसमें कुछ अन्तर है तो वह यही है जहाँ वेदों ने सम्राट् की तरह निधड़क होकर खुले शब्दों में 'पिता द्वारा पुत्री में गर्भ स्थापित कर देना' लिखा है, वहाँ पुराणों में इस स्पष्टता को वालिश-जन-भयावह जानकर सभ्यतापूर्वक केवल 'कामनामात्र' करना बताया है।

इतने पर भी इस पाप रूप जंचने वाले वैज्ञानिक भाव का सामंजस्य बिठलाने के लिये और लोकमर्यादा की शृङ्खला को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए धर्मशास्त्रोक्त प्रायश्चित्तानुष्ठानार्थ स्वय ब्रह्मा जी का शरीर त्यागना लिखा है।

प्रतिवादी-जन पुराणों पर आक्षेप करते समय शायद यह भूल जाया करते हैं, कि यह कथा वेदों में भी ज्यों की त्यों कई स्थानों पर आती हैं, अतः जो समर्थन वैदिक कथा का होगा वही पौराणिक का भी हो जायगा। अस्तु, यह तो हुई आक्षरिक समानता की बात, अब इसका वास्तविक भाव भी सुनिये।

आधिभौतिक अर्थ*

यह एक वैज्ञानिक कथा है। इसमें बताया गया है कि सर्दी के दिनों में सूर्योदय के समय जो कुहरा छा जाया करता है वह क्या है? पाठकों ने प्रायः देखा होगा कि हेमन्त और शिशिर ऋतु के दिनों में प्रातःकाल

---

* टिप्पणी—यहाँ सूर्यपिण्डाभिमानी चेतन देव अभिप्रेत नहीं है, किन्तु पांचभौतिक, स्थूल एवं जड़, सूर्यपिण्ड से ही कुहरे की उत्पत्ति प्रकट करना अभीष्ट है। अतः हम इस अर्थ को 'आधिभौतिक' शीर्षक द्वारा व्यक्त करना उचित समझते हैं।

सूर्य के चारों ओर भापों के पड़त बादलों की तरह छा जाया करते हैं, जिसे नीहार-धुन्ध या कुहरा के नाम से पुकारते हैं। कभी २ तो यह कुहरा इतना गहरा हो जाया करता है कि घन्टों तक सूर्य भगवान् के दर्शन भी नहीं हो पाते और वृक्षों के पत्तों पर छोटे २ जलकण सिमट कर खासी टपकन आरम्भ हो जाती है। बस, इसे ही वैज्ञानिक रूप से बताना, उक्त आलङ्कारिक कथा का तात्पर्य है।

यहाँ ब्रह्मा नाम सूर्य का है, जैसा कि आगे चलकर स्वयं वेदभगवान् स्पष्ट कर देते हैं। यथा—

(क) यो ह्येव सविता स प्रजापतिः। (शतपथ १२।३।५।१)

(ख) प्रजापतिर्वै सविता। (ताण्ड्य ८।२।१०)

अर्थात्—(क) (ख) प्रजापति नाम सूर्य का है।

इसी प्रकार उस सूर्य से उत्पन्न होने के कारण उषा (प्रातःकालीन प्रकाशमय लालिमा) ही उसकी पुत्री है। प्रतिदिन आगे २ ऊषा (पौ) और पीछे २ सूर्य का उदय होना इसे ही आलंकारिक रूप से वेद पुराणों में पुत्री के पीछे पिता का जाना बताया है। सूर्य के आकर्षण से खिचा हुआ जल वाष्परूप में पृथ्वी पर पड़ने से ठिठुर जाता है और सिमट २ कर कुहरे के रूप में बरसता है। श्रीमद्भागवत में इस कथा के उपसंहार में भूल ही यह भाव स्पष्ट कर दिया गया है, यथा—

तां दिशो जगृहु घोरां नीहारं यद् विदुस्तमः।

(श्रीमद्भागवत ३ । १२ । ३४)

अर्थात्—ब्रह्मा जी ने पुत्रों के समझाने पर जो शरीर त्याग किया था उसे दिशाओं ने ग्रहण कर लिया, जो कि घोर अन्धकार नीहार = अर्थात्—कुहरा कहा जाता है।

तात्पर्य यह हुआ कि जब उषा के पीछे २ सूर्यरूप ब्रह्मा चले तब उसके पुत्ररूप किरणों ने समझाया, जिससे सूर्य ने अपने चारों ओर घिरे

हुए वाष्परूप शरीर का त्याग कर दिया और पूर्वादि दिशाओं ने इसे ग्रहण किया, अर्थात्—वह सब दिशाओं में छा गया। वही नीहार है। वेदों में इसे ब्रह्मारूप सूर्य द्वारा पुत्रीरूप उषा में नीहाररूप गर्भ का धारण कहा गया है, और पुराणों में शिष्टता की रक्षा के लिये ब्रह्मारूप सूर्य का पुत्रीरूप उषा के पीछे भागना और किरणरूप पुत्रों के समझाने पर अपने कलेवररूप कुहरे का त्याग कर देना बताया गया है। इसमें न कोई अश्लीलता की बात है और नांही अधर्म की गन्ध है, किन्तु एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की सरलता है, और वह भी वेदों तथा पुराणों दोनों में ही समानरूप से वर्णित है। फिर केवल पुराण-शास्त्रों को ही व्यर्थ क्यों कोसा जाता है, यह हमारी समझ में नहीं आता ?

कुमारिल भट्ट की सम्मति

हमारे इस वास्तविक भाव को पढ़कर सम्भव है कई पाठकों के हृदय में यह आशंका उत्पन्न हो जाय कि—यह कल्पना अभी घड़ ली गई है। हम इस अभियोग से बचने के लिए पूर्वाचार्यों की सम्मतियें उद्धृत करना उचित समझते हैं। जब बौद्ध और जैनों ने वेदों में 'ब्रह्मा का पुत्री के पीछे भागना' अश्लील बताकर कोलाहल मचाया था, उस समय पण्डित-चक्र-चूड़ामणि श्री कुमारिल भट्ट ने उन्हें मुँहतोड़ उत्तर देते हुये बताया था कि—

प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकाराद् आदित्य एवोच्यते स च अरुणोदयवेलायां उषसमुद्यन्नभ्यैत्। सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते तस्यां चारुणकिरणाख्यबीजनिक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः। (तन्त्रवार्तिक १।३।७)

अर्थात्=संसार का रक्षक होने के कारण सूर्य ही प्रजापति है, वह अरुणोदय (पौ फटने) के समय उषा (प्रभातकालीन श्वेतिमा) के पीछे २ उदित हो जाता है, वह उषा सूर्य से ही उत्पन्न होती है अतः उसका पुत्रीवत् वर्णन किया है। उसी (उषा) में वह (सूर्य) अपना लाल किरण रूप बीज डालता है, जो उपचार से स्त्री पुरुष के संयोग की तरह कहा जाता है।

स्वामी दयानन्द की सम्मति

सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालंकारोक्तिः। स च पिता तां रौहितां किंचित् रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋस्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति।··· तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्येण सूर्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कटदीप्तिः। (ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका अ० प्रा० विषये पृ० २८)

अर्थात्—[स्वामी दयानन्द कृत भाषार्थ] यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य को जिसकी दो कन्या एक प्रकाश दूसरी उषा क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसकी ही सन्तान कहाता है। इसलिए उषा जोकि तीन चार घड़ी रात्री शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है, उनमें से उषा के सन्मुख प्रथम किरण जाकर पड़ती है वही वीर्य स्थापन के समान है उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात्—दिवस उत्पन्न होते हैं।

पाठक गण ! कुमारिल भट्ट और आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द की सम्मति पढ़कर इस कथा की वास्तविकता को समझ गये होंगे। पुराण शास्त्रों में इसका यही भाव है जैसा कि पुराण के शब्दों से ही भली भांति विदित हो जाता है। श्रीमद्भागवत के शब्दों पर ध्यान दीजिए, वहाँ वेदव्यास जी ने अपने कवित्व कौशल से पुत्री का विशेषण 'तन्वी' लिखा है, जिसका अर्थ—सूक्ष्म शरीर वाली होता है। इससे यह व्यक्त कर दिया गया कि इस कथा का सम्बन्ध स्थूल शरीरधारी किसी कन्या से नहीं है। सो उषा भी प्रकाश विशेष होने से सूक्ष्म कही जा सकती है, अतएव पुराणों में वही अभिप्रेत है। आगे चलकर इसी प्रसङ्ग में 'इति नः श्रुतम्' आदि शब्द भी बड़े महत्व के हैं, जिनमें उक्त कथा के श्रुतिसम्मत होने की सूचना दी गई है तथा ब्रह्मा जी के पुत्रों को श्रीमद्भागवत में इस कथा का अर्थ सूर्य उषापरक है। यह बात पाठकों को भली भाँति विदित हो जाये अतएव समस्त कोशकारों का अभिमत सूर्यकिरण का पर्याय 'मरीचि' शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है। यही इस कथा का आधिभौतिक अर्थ है जिसमें रूपकालंकार पद्धति द्वारा 'कुहरे' की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाल भौतिकविज्ञान भली भांति प्रकट किया गया है।

आध्यात्मिक अर्थ

हम शैलीनिरूपणाध्याय में विस्तारपूर्वक यह लिख आये हैं कि जिस तरह वेद के एक ही मन्त्र के निरुक्तादि ग्रन्थों में आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक पक्षों में घटित होने वाले भिन्न २ अनेक अर्थ प्रकट किये गये हैं, इसी तरह पुराणों में भी वेद के उन २ मन्त्रों की (एक पुराण में आधिदैविक पक्ष में तो दूसरे में आध्यात्मिक पक्ष में और तीसरे में आधिभौतिक पक्ष में) त्रिविध व्याख्या की गई है। सो

उपर्युक्त कथा की श्रीमद्भागवत वर्णित आधिभौतिक व्याख्या तो ऊपर प्रकट की जा चुकी है, अब 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में की गई 'आध्यात्मिक-व्याख्या' नीचे अङ्कित की जाती है।

अच्छा! 'ब्रह्मा पुत्री के पीछे भागा' इस वेदवर्णित कथा का आध्यात्मिक अभिप्राय क्या है—इस जिज्ञासा के उत्तर में वेद भगवान् कहते हैं कि—

(क) तस्य [पुरुषस्य] मन एव ब्रह्मा। (कौषी० १७।७)
(ख) मन एव ब्रह्मा। (गोपथ पू० २। १०। उ० ५। ४)
(ग) यत्प्रजापतिस्तन्मनः। (जैमिनि उपनिषद् १। ३३। २)
(घ) प्रजापतिर्वै मनः। (शतपथ ४। १। १। २२)
(ङ) वाग् वै सरस्वती। (कौषीतकि ५। १)
(च) वाक् सरस्वती। (शतपथ ७।५।१।३१)
(छ) वाक् तु सरस्वती। (ऐतरेय १। ३)
(ज) मनो ह वै पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति। (ताण्ड्य १। १। १। ३)
(झ) स [प्रजापतिः] वाचमयच्छत्। (ऐतरेय २। ३३)

अर्थात्—(क ख ग घ) प्रजापति या ब्रह्मा 'मनः' को कहते हैं। (ङ च छ) सरस्वती नाम वाणी का है। (ज) वाणी से पूर्व मनः का स्थान है, सो जो कुछ पहिले मन से सोचा जाता है वही फिर वाणी से कहा जाता है। (झ) उस प्रजापतिरूप मन ने वाणी रूप सरस्वती को काबू में किया।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार आध्यात्मिक पक्ष में उक्त कथा का तात्पर्य यह है कि मनः में जैसा संकल्प उठता है वही वाणी रूप से प्रकट

होता है अर्थात्—मन की सत्ता से ही वाणी की उत्पत्ति होती है। इसीलिए इन दोनों का यहां पिता पुत्री रूप में वर्णन किया है। जब मनः, रूप पिता वाणी रूप अपनी पुत्री में प्रेरणारूप वीर्याधान करता है तभी उससे शब्दरूप पुत्र उत्पन्न होता है, सो ब्रह्मवैवर्त पुराण में उक्त आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट करने के लिए श्रीराधा जी के पूछने पर श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

मनःस्वरूपो ब्रह्मा मे ज्ञानरूपो महेश्वरः ॥५८॥
वागधिष्ठात्रो देवी या सा स्वयं च सरस्वती ॥५९॥

अर्थात्—मनः ही ब्रह्मा है, ज्ञान को महेश्वर समझो तथा वाणी की अधिष्ठात्री देवी ही सरस्वती है।

यहां इतना और भी समझ लेना आवश्यक है कि इस कथा के अध्यात्म-प्रधान रूपक में—मरीचि आदि पुत्रों का समझाना घटित नहीं होता था, अतएव ब्रह्मवैवर्त में श्री वेदव्यास जी ने उक्त घटना के बजाय यह प्रकट किया है कि 'पुत्री के पीछे भागते हुये ब्रह्मा को उसके पुत्र महादेव ने सावधान किया।' इस अंश का तात्पर्य यह है कि वाणी का अनुगमन करते हुए मन को विवेक बार २ सावधान करता है। यही इस कथा का 'आध्यात्मिक-अर्थ' है, जिससे मनोविज्ञान का एक अद्भुत रहस्य प्रकट होता है।

आधिदैविक अर्थ

ब्रह्मलोक के अधिष्ठाता, सृष्टि के रचयिता, चतुर्मुख एवं दिव्य-गुणोपेत श्री ब्रह्मा जी महाराज ईश्वर की त्रिगुणमयी मूर्ति के एक अङ्ग हैं। वेदों में 'ब्रह्मा देवानाम् प्रथमः संबभूव' आदि अनेक मन्त्र उनकी सत्ता, प्रतिष्ठा तथा महिमा का वर्णन करते हैं, इस बात का दिग्दर्शन हम 'वेद पुराण समन्वयाध्याय' के आरम्भ में कर चुके हैं, सो 'ब्रह्मा

ब्रह्माभवत् स्वयम्' (तैत्तिरोय ३ । १२ । ६ । ३) के अनुसार जब ब्रह्म ही साकार रूप में प्रकट होकर सृष्टि रचना करता है, उस समय उसे 'ब्रह्मा' कहते हैं।

उक्त ब्रह्मा जी से सनकादिक ऋषि मरीचि आदि कई एक मानसिक पुत्रों की उत्पत्ति होती हैं, परन्तु उक्त मानसिक सन्तानों के विचार प्रायः निवृत्तिपरक थे, अतः सृष्टि की यथेच्छ वृद्धि न देखकर श्री ब्रह्मा जी ने अपने शरीर के दो भाग बना डाले। उनका वामभाग स्त्रीरूप हो गया और दक्षिणभाग पुरुष बना। यह सब रहस्य वेदों और स्मृतियों में भी इसी रूप में लिखा है, यथा—

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्,—स ह एतावानास, यथा स्त्रीपुमांसौ परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्विधापादयत् ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। ततो मनुष्या अजायन्त। सा ह इयमीक्षांचक्रे कथं नु मां आत्मन एव जनयित्वा सम्भवति, हंत तिरोसानीति। सा गौरभवत् वृषभ इतरः। सतामेव समभवत्ततो गावोऽजायन्त। बडवा इतरा अभवदश्व इतरः। गर्दभी इतरा अभवद् गर्दभ इतरः। सतामेव समभवत्तत एकशफा अजायन्त। अजा इतरा अभवत् वस्त इतरः। अविरितरा मेष इतरः। सतामेव समभवत्तत अजा अवयश्च अजायन्त। यदिदं किंच मिथुनं आपिपीलिकाभ्यः तत्सर्वमसृक्षीत्। सो वेद अहं वाव सृष्टिरस्मि। अहं हि इदं सर्वमसृक्षीति। ततः सृष्टिरभवत्॥

(शतपथ १४ । ३ । ४ । ३)

अर्थात्—उसको अकेले में आनन्द नहीं आया, इसलिए संसार में भी अकेले में आनन्द नहीं आता। उसने दूसरे को चाहा, वह इतना मोटा हुआ कि जितने स्त्री पुरुष दोनों मिलकर हो सकते हैं। तब उसने अपने परिपुष्ट शरीर के दो भाग किये, एक भाग पति और दूसरा पत्नी बना। उनसे मनुष्य उत्पन्न हुए। पत्नी ने देखा कि इसने मुझको अपने शरीर से ही बनाकर मुझ से रमण किया, इस खेद से वह छुप कर गौ हुई, पुरुष ने भी वृषभ बनकर उससे व्यवाय किया उससे गौ जाति उत्पन्न हुई। फिर वही पत्नी घोड़ी हुई पुरुष घोड़ा बना, वह गधी बनी वह भी गधा बन गया, दोनों ने मैथुन किया उससे एक टाप वाले (बिना फटे खुर वाले) अश्व गर्दभादि पैदा हुए। फिर पत्नी बकरी बनी, पति बकरा बन गया वह भेढ़ हुई वह भी मेंढा हो गया, दोनों ने रमण किया, उससे भेड़ बकरी आदि उत्पन्न हुए। इसी प्रकार वे चिउंटी तक बनते गये और संसार बनता गया। तब उसने जाना कि मैं ही सृष्टि हूँ। मैंने ही इस सब (चराचर) को पैदा किया, इसलिये उसी का नाम सृष्टि है, क्योंकि उससे ही सृष्टि बनी है। यही आशय मन्वादि धर्मशास्त्रों में व्यक्त किया है, यथा—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

(मनु १। ३२)

अर्थात्—वह ब्रह्मा अपने देह के दो भाग करके आधे हिस्से से पुरुष और आधे से स्त्री बन गया। तब उसने मैथुन धर्म से उस पत्नी में 'विराट्' नामक पुत्र को उत्पन्न किया।

अन्य मत वालों से दो दो बातें

यह कथा इस रूप में केवल हिन्दू-धर्मग्रन्थों में ही लिखी हो सो

बात भी नहीं है। मुसलमानों और ईसाईयों के धर्मग्रन्थों में हमें इन्हीं भावों की धुंधली किन्तु अपरिमार्जनीय छाया दीख पड़ती है, जैसे——

(क) तब परमेश्वर ने भूमि की धूल से आदम बनाया और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूंका। (तौरेत २।७)

(ख) ईश्वर ने आदम को बड़ी नींद में डाला, और वह सो गया, तब उसने उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली...और ईश्वर ने आदम की उस पसली से एक नारी बनाई और उसे आदम के पास लाया '(तौरेत २।१२-२२

(ग) आदम तू और तेरी जोरू बहिश्त में रह कर आनन्द में जहाँ चाहो खाओ। (कुरान १।१।२।३३)

अच्छा! तो ब्रह्मा के वामाङ्ग से जो स्त्री उत्पन्न हुई थी उसी का नाम सरस्वती या वाक् है। जन्यजनक भाव की दृष्टि से इन दोनों को पिता पुत्री भी कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में यह दोनों पति पत्नी रूप से सृष्टि के उत्पादक हैं। यदि मुसलमान और ईसाई उक्त कथा पर आक्षेप करने का साहस करें तो पूर्व उनको भी तो यह विचार लेना होगा कि आदम की पसली से पैदा होने वाली औरत भी तो उसकी पुत्री कही जा सकती है। सो उक्त आदम और हव्वा के परस्पर मैथुन से सब आदमी पैदा हुए, अतः वे सभी पिता पुत्री के संयोग से हुवे ठहरेंगें।

यदि दयानन्दी लोग यही आक्षेप करें तो उनको भी यह सोचना होगा कि 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखानुसार एक ही निराकार से आदि-सृष्टि के समय जो जीवों के जोड़े उत्पन्न हुवे थे, वे सब एक पिता से पैदा होने के कारण परस्पर भाई बहिन माने जाने चाहियें। आगे चलकर जब वे मैथुन धर्म में प्रवृत होकर इस समस्त मनुष्य समाज के उत्पादक हुवे तो सब आर्यसमाजी भाई-बहिन के संयोग से उत्पन्न हुए मानने पड़ेंगे। कदाचित् मुसलमान ईसाई और दयानन्दी आदि इस आपत्ति से बचने के लिए कहने लगें कि 'वेशक हव्वा आदम की पसली से बनी है,

परन्तु हम उसे उसकी पुत्री मानने को तैयार नहीं। यदि अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण हव्वा को आदम की लड़की ठहराया जा सकता हैं, तब तो मनुष्य के रुधिर और पसीने से—जूं, लीख, खटमल आदि अनेक तरह के जीव पैदा होते हैं वे सब भी उनकी सन्तान होनी चाहियें, तथा उनका भी दूसरी सन्तानों की तरह पैतृकसम्पत्ति (Paternal Property) में हिस्सा होना चाहिए ! क्या कोई बुद्धिमान् इस प्रकार के उपहास को पसन्द करेगा ? इसी प्रकार यदि दयानन्दी जवाब दें कि निःसन्देह आदिसृष्टि के समय एक ही निराकार बाबा की बदौलत जीवों के जोड़े टपक पड़े थे, तथापि हम उन्हें परस्पर भाई-बहिन मानने को प्रस्तुत नहीं । पिता पुत्र और भाई-बहन का सम्बन्ध तो मैथुनी-सृष्टि में ही लागू होना चाहिए। हमारी धर्मपत्नी जी 'आर्याभिनव' का पाठ करती हुई परमात्मा को बार बार 'हे परम पिता परमात्मन् !' ऐसा संबोधित करती हैं और हम भी इसी तरह परमात्मा को पिता पिता कहते हैं, क्या इससे हम दोनों एक पिता की सन्तान बन सकते हैं ?

यदि उक्त सम्प्रदायों की ओर से दिए उपरोक्त उत्तर ठीक हैं तो फिर कोई भी बुद्धिमान् सरस्वती को भी ब्रह्मा की तादृश पुत्री कह सकने का साहस नहीं कर सकता ! क्योंकि किसी भी वेद या पुराण में ऐसा लेख नहीं मिलता कि 'ब्रह्मा जी ने अपनी अमुक धर्मपत्नी के साथ मैथुन करके सरस्वती नामक कन्या को उत्पन्न किया था' बल्कि सर्वत्र यही वर्णन आता है कि जैसे आदम की पसली से हव्वा बनी और निराकार से धड़ाधड़ जोड़े निकल पड़े, इसी तरह ब्रह्मा की इच्छा से उसका अपना ही वामभाग स्त्री रूप में परिणत हो गया जिसे सरस्वती नाम से पुकारा जाता है।

यदि कोई प्रश्न करे कि (१) जब वह वस्तुतः पुत्री है ही नहीं तब उसे वेदों और पुराणों में पुत्री नाम से क्यों स्मरण किया ? तथा

(२) मरीचि आदि महर्षियों को ब्रह्मा जी के इस कार्य में अधर्म की गन्ध क्यों आई ? (३) ब्रह्मा जी ने अन्त में प्रायश्चित्तस्वरूप अपना शरीर क्यों छोड़ा ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर यह है कि—

(१) सनातनधर्म अकेले ब्रह्म को ही सब कुछ मानता है, अतः इस संसार को भी वह ब्रह्म का विवर्तमात्र समझता है, जैसे कि 'हरिरेव जगद् जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्नतनूः' आदि वेदान्त सूत्रों में प्रकट किया गया है। ऐसी दशा में परमात्मा संसार का—'अभिन्ननिमित्तोपादानकारण' ठहरता है। सो यही रहस्य प्रकट करने के लिये उक्त कथा में सरस्वती का ब्रह्मा से उत्पन्न होना लिखा है, फिर उसी के संसर्ग से आगे सृष्टि का क्रम स्थिर किया गया है। यही इसको पुत्री रूप से वर्णन करने का तात्पर्य है।

(२) हमारे यहाँ प्रत्येक कार्य को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि से परखने की शैली चली आती है। सो ब्रह्मा और सरस्वती का संयोग मरीचि आदि ऋषियों को व्यवहार दृष्टि से विपरीत सा जंचता था, क्योंकि वे 'यो यस्य उत्पादकः स तस्य पिता' इस व्याप्ति से सरस्वती को पुत्री ही मानना उचित समझते थे। परन्तु परमार्थ दृष्टि से विधि-निषेधात्मक विधान की सीमा मैथुनी स्थूल-सृष्टि तक ही सीमित है, मानसिक दिव्य देहधारी सूक्ष्म जगत् को तादृश नियमों में जकड़ने की आवश्यकता नहीं, यही गूढ़तर धर्मरहस्य प्रकट करने के लिए श्री ब्रह्मा जी ने सरस्वती द्वारा समस्त प्राणियों को उत्पन्न किया। यही दूसरे प्रश्न का समाधान है।

(३) परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मा जी का सरस्वती द्वारा सृष्टि उत्पादन करना यद्यपि दोषास्पद नहीं था, तथापि मैथुनी और अमैथुनी सृष्टि के विभिन्न धर्मों का गूढ़ तारतम्य न समझ कर कदाचित् कोई स्थूल-शरीरधारी पुरुष भी आगे ऐसे व्यवाय में प्रवृत्त होने के लिये ब्रह्मा जी के दृष्टान्त का अनुकरण न करने लगे, अतः लोकमर्यादा की

रक्षार्थ श्री ब्रह्मा जी ने मैथुनी सृष्टि का आरम्भ हो जाने पर अपने इस दो भागों में विभक्त होने वाले शरीर का त्याग कर डाला। इसका तात्पर्य हुआ कि मरीचि आदि ऋषियों की व्यवहार दृष्टि में जंचने वाले कार्य का जो प्रायश्चित्त हो सकता था ब्रह्मा जी ने वह कर डाला। इससे भावी पुरुषों को ऐसी प्रवृत्ति से रोकने के लिये यह प्राणत्याग की अर्गला लग गई।

सो आधिदैविक-पक्ष पर आक्षेप करने वाले महाशयों को यह समझना चाहिये कि—ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुई सरस्वती केवल उत्पत्ति के कारण गौणरूप से पुत्री पुकारी जा सकती है, वास्तव में उससे पुत्री का नाता नहीं है। पीछे दौड़ना या भोग करना उसी अंश तक पाप हो सकता है जहाँ तक कि स्थूल शरीर का सम्बन्ध हो। यहां तो दिव्य चरित्र है। निरुक्तादि के अनुसार 'देवता जैसा रूप चाहते हैं वैसे ही बन जाते हैं'। पिता, माता, पुत्र, पुत्री, साला और भनोई आदि सम्बन्ध भी स्थूल पांचभौतिक शरीर पर ही लागू होते हैं। आत्मा तो इन सब सम्बन्धों से भी बरी है और देवता आत्मास्वरूप होते हैं, जैसा कि 'वेद पुराण-समन्वयाध्याय' के देवतावाद प्रघट्ट में विस्तार से समझाया गया है। अतः यहां धर्माधर्म का विवेक दिव्य अदिव्य के विचार से ही करना न्याय्य है। यदि हठात् दिव्य-देहधारियों को भी स्थूल शरीरधारियों के नियम से जकड़ने का प्रयत्न किया जायगा तो महान् अनर्थ उपस्थित होगा। क्योंकि सृष्टि के आदि में पहिले पहिल जो स्त्री पुरुष उत्पन्न हुए वह किसी एक ही व्यक्ति के पुत्र पुत्री मानने पड़ेंगे! फिर उनका परस्पर सम्बन्ध भाई-बहन का सम्बन्ध ही होगा। यह आपत्ति सभी मतमतान्तरवादियों के मत में उपस्थित होगी और इसका यह फल होगा कि सारा संसार ही बहिन भाई के संयोग से उत्पन्न हुवा सिद्ध हो जायगा। इसलिये मानसी अयोनिज सृष्टि में नाम मात्र का अमुक सम्बन्ध रहने पर भी वह लोकव्यवहार में बाधक नहीं

होता, यही शास्त्र-सम्मत सिद्धान्त है। अतः ब्रह्मा का सरस्वती के पीछे भागना इसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए, फिर शंका उत्पन्न होने का कोई अवसर न रहेगा।

ब्रह्मा और बालखिल्य

२

ब्रह्मा जी के चरित्र पर कलि-कलमष-कलुषित-हृदय-धारी पुरुषों की ओर से दूसरा आक्षेप यह किया जाया करता है, कि पुराणों में लिखा है—'जब महादेव और पार्वती का विवाह-संस्कार होने लगा तो संस्कार कराने वाले ब्रह्मा जी ने पार्वती का रूप लावण्य देखने की उत्कट इच्छा से गीली समिधाएं जलाकर धूंआधार कर डाला। ज्योंही सब लोग धूंवे से बचने के लिए अपने अपने मुख ढाँपने लगे त्योंही ब्रह्मा जी ने झटपट घूंघट उठा कर पार्वती जी का मुख देख लिया। मुख के दर्शन करते ही तत्काल उनका वीर्यपात हो गया, जिसे छुपाने के अभिप्राय से ब्रह्मा जी ने वह वीर्य अग्नि में स्वाहा कर दिया और उससे बालखिल्य नामक साठ हजार ऋषि उत्पन्न हुए। यह वर्णन अतीव अश्लील और असंभव है तथा सभ्य-समाज के सामने कहने सुनने के अयोग्य हैं—इत्यादि।

हम इस कथा का समाधान करने से पूर्व यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हमने कई शास्त्रार्थों में दयानन्दी समाज की ओर से उपरोक्त आक्षेप किये जाने पर इस कथा का पूरा पता पूछा, परन्तु एक बार भी किसी महाशय ने कुछ न बताया। 'पुराण मत पर्यालोचन' 'पुराण-तत्त्व-प्रकाश' आदि पुस्तकों में भी मूल श्लोक और पूरा पता ढूंढा मगर न मिला। हां, 'पुराण-तत्त्व-प्रकाश' के लेखक ने 'गौर्या विवाहे' इत्यादि एक श्लोक उतार कर उसे 'विष्णुपुराण धर्मसंहिता

अध्याय १०' का बताया है। पाठकवर्ग सारे विष्णुपुराण को पढ़ डालें परन्तु उसमें कहीं 'धर्मसंहिता' नामक प्रकरण का उल्लेख नहीं मिलेगा। विष्णुपुराण का विभाजन अंशों में किया गया है, उसमें छः अंश हैं और प्रत्येक अंश में अमुक संख्याक अध्याय हैं। फिर मालूम नहीं स्वयम्भू लेखकों ने यह 'धर्मसंहिता' वाला विष्णुपुराण कहाँ से निकाल डाला है ?

जो लोग पुराणों के हिन्दी अनुवादों को पढ़ने की भी योग्यता नहीं रखते और अमुक ग्रन्थ को देखे बिना ही अटकल पच्चू प्रमाण उतार कर अट्ट सट्ट पता छपा डालते हैं, वे न सिर्फ भोलेभाले पाठकों से ही विश्वासघात करते हैं, अपितु 'तां तु यस्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः' इस मनु (४। २२६) वचन के अनुसार अपनी आत्मा की भी वंचना करते हैं। ईश्वर ऐसे 'पंडितंमन्य' पञ्चम-अन्यथासिद्धों से हिन्दू साहित्य की रक्षा करे ! आस्तां, तावत्।

वैदिक स्वरूप

(क) रुद्रो वै ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च देवानाम् (कौषीतकी २५। १३)

(ख) स द्वितोयमैच्छत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।
(शतपथ १४। ३। ४। ४)

(ग) तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्। (शतपथ ८। ३। ३। १२)

(घ) ब्रह्मा वा ऋत्विजाम् अभिषिक्ततमः।
(शतशथ १। ७। ४। १९)

(ङ) स प्रजापतिर्व्यस्रँ सत। (शतशथ ८। २। २। ६)

(च) ते देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुदन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्,तन्मा-

दुषस्य मादुषत्वम् । मादुष ह वै नामैतत् यन्मा-
नुषम् । तन्मादुषं सन् मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण ।
(एतरेय ३ । ३३)

(छ) अस्माद् वीर्यमुदक्रामत् । तं देवा अग्नौ प्रावृंजन् ।
(शतपथ ७ । १ । २ । १--६)

(ज) यद्वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिलमिति वै तदा-
चक्षते । बालमात्रा उ हेमे प्राणा असंभिन्नास्तद्यद-
संभिन्नास्तस्माद् बालखिल्याः । (कौषीतकि ३० । ८)

(झ) प्राणा वै बालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति । ता
यद् बालखिल्या नाम । (शतपथ ७ । १ । २ । १-६)

अर्थात्---(क) रुद्र भगवान् देवताओं में बड़े और श्रेष्ठ हैं। (ख) उसने दूसरे को चाहा, तब पति और पत्नी होने लगे। (ग) जहाँ सब देवता शिव का [विवाह] संस्कार करते हुए। (घ) ब्रह्मा जी सब ऋत्विजों के प्रधान नियत हुवे। (ङ) वह प्रजापति ब्रह्मा स्खलित हो गये। (च) देवताओं ने कहा 'प्रजापति का यह रेत (वीर्य) दुषत = (दूषित-दुष्ट किंवा हेय) मत हो'--सो जो 'मादुषत,' हो ऐसा कहा इसी से 'मादुष' शब्द की प्रवृत्ति हो गई। यही 'मादुष' शब्द का निर्वचन है। और इस मादुष से ही (मनुष्य शब्द का पर्याय) मानुष शब्द बना है क्योंकि परोक्षरीति से मादुष को ही मानुष कहा जाता है (अर्थात्—ब्रह्मा का वह स्खलित तेजः मादुष' (मत दुष्ट) कहे जाने कारण 'मानुष' शब्द का प्रवर्तक हुआ)। (छ) इस ब्रह्मा का जो वीर्य निकला था देवताओं ने उसे अग्नि में डाल दिया। (ज) सो जो पदार्थ अणुमात्र भी भिन्न नहीं हो उसे 'खिल' कहते हैं। ये प्राण बालमात्र से अभिन्न हैं इसलिये असंभिन्न होने के कारण इन्हें बालखिल्य कहते हैं।

(ज्ञ) प्राणों को बालखिल्य कहते हैं जोकि यज्ञ में इस नाम वाली इष्टि-काएं उपधान की जाती हैं वे प्राणों की ही प्रतिनिधि समझनी चाहियें।

पौराणिक स्वरूप

(क) गौर्या विवाहे तत्पादौ, दृष्ट्वा प्रस्खलितोऽभवत्।
यत्र ते बालखिल्यास्तु जाताः सद्ब्रह्मचारिणः॥
(शिवपुराण धर्मसं० ६। ७४)

(ख) प्रदक्षिणं तथा चाग्नेश्चतुर्धा च कृतं तदा।
ब्रह्मणः स्खलनं जातं शिवाङ्गुष्ठप्रदर्शनात्॥
तद्गोपितं तदा तेन ह्युत्सङ्गे पतितं च यत्।
ततो जातास्त्वसंख्याता बटुका ब्रह्मरूपकाः॥
जटादण्डधरास्ते च बद्धकक्षा सहस्रशः।
नमस्कृत्य च ब्रह्माणं स्थितास्ते तु तदाग्रतः॥
शिवोऽपि बटुकान्दृष्ट्वा ब्रह्मणे कुपितस्तदा।
संप्रार्थितस्तदा देवों गंगां दत्वा च पार्वितः॥
अनुगृह्य पुनस्तत्र स्थापितश्च पितामहः।
बटुकान्सूर्यशिष्यांश्च कृत्वा कार्यमथाकरोत्॥
बटुका वर्द्धितास्तत्र सूर्यसेवापरायणाः।
रथपृष्ठे रथाग्रे च धावन्ति ते तपस्विनः॥
ब्रह्मचारिस्वरूपेण स्थितास्ते वेदपारगाः।
अवशिष्टं तु यत्कृत्यं कारयामास वै तदा॥
(शिवपुराण, ज्ञानसंहिता १८। ६८--६८)

अर्थात्—(क) गौरी के विवाह में ब्रह्मा जी प्रस्खलित होगए, जिस में प्रसिद्ध बालखिल्य नामक ब्रह्मचारी उत्पन्न हुए। (ख) जिस समय अग्नि की चार प्रदक्षिणा की जाने लगी उस समय पार्वती के अंगूठे को देखकर ब्रह्मा जी स्खलित हो गये और गोद में पड़े हुये तेज को ब्रह्मा जी ने छुपाया, जिससे यज्ञोपवीत एवं जटादण्डधारी असंख्य ब्रह्मचारी पैदा हुए। वे ब्रह्मा जी को नमस्कार करके आगे खड़े हुये। शिव भगवान् उन बटुकों को देख कर ब्रह्मा जी पर रुष्ट हुए, अनन्तर प्रार्थना करने पर शिव जी ने सन्तुष्ट हो ब्रह्मा जी को गङ्गोदक देकर पवित्र किया। और अनुग्रहपूर्वक फिर विवाह यज्ञ में उसी ब्रह्मपद पर नियत किया, तथा उन बटुकों को भी सूर्य भगवान् की शिष्यता में समर्पण कर दिया। सूर्य की सेवा करते हुए वे बटुक बड़े हो गये और तपस्वी एवं वेदों के पारंगत होकर ब्रह्मचारिस्वरूप में भगवान् के रथ के आगे पीछे भागते हैं। इस समस्त व्यवस्था के बाद विवाह का अवशिष्ट कर्म सम्पादन किया गया।

तुलना

उपर्युक्त आख्यायिका के वैदिक और पौराणिक-स्वरूप की शाब्दिक तुलना करना पर प्रत्येक संस्कृतज्ञ सहज में ही इस परिणाम पर पहुँचेगा कि श्री वेदव्यास जी ने उक्त कथा में जो २ भाव व्यक्त किये हैं वे सब के सब वेदों में स्पष्टतया उपलब्ध होते हैं। उक्त दोनों स्वरूपों में यदि कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि जहाँ वेदों में—ब्रह्मा के स्खलित हुए वीर्य को समस्त देवताओं द्वारा डंके की चोट पवित्र घोषित करते हुये उसे अग्नि में स्वाहा कर डालना बेरोकटोक लिख दिया गया है, वहाँ शिवपुराण में उक्त भावों को अत्यधिक शिष्ट-सम्मत बनाने के लिए इस समस्त प्रसङ्ग में वीर्य रेत: आदि शब्दों के भी समावेश से बचने का प्रयत्न किया है, तथा अंगूठा मात्र ही दीख पड़ना व्यक्त किया

है। इतने पर भी स्खलन को छुपाना और गङ्गोदक के स्पर्श से पवित्र होने की आवश्यकता प्रकट करना—लोकमर्यादा की सुरक्षा की पराकाष्ठा कर दिखाई है, जो वेदव्यास जी ने अपनी लोकोत्तर कविता-चातुरी से वेदोक्त भावों को अभिव्यक्त करते हुये भी तथैव अक्षुण्ण रहने दी है। अस्तु, यह तो हुई शाब्दिक तुलना की बात अब इसका वास्तविक तात्पर्य भी समझिये।

वास्तविक भाव

ब्रह्म-माया अथवा पुरुष और प्रकृति ही यहाँ शिव और गौरी समझने चाहियें। इनका विवाह = ऐक्य = मिथुनीभाव सृष्टि रचना का उपलक्षण है, और इस रचना कार्य के सूत्रधार सूर्य भगवान् को ही यहां ब्रह्मा समझना चाहिए। वेदों में सूर्य भगवान् को सृष्टिकार्य का सर्वस्व माना है, यथा—

(क) सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (यजु० ७। ४२)

(ख) प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत।

(तैत्तरीय १। ६। ४। १)

अर्थात्—(क) सूर्य जंगम और स्थावर जगत् का आत्मा है (ख) प्रजापति ने सूर्य बनकर प्रजा की रचना की।

सो सृष्टि के आरम्भ में जब पुरुष और प्रकृति का मिथुनीभाव सम्पन्न होने लगा उस समय 'पद्भ्यां भूमिः' (यजु ३१। १३) के अनुसार प्रकृति की चरणस्थानीया भूमि को देखकर सूर्य रूप ब्रह्मा का तेज छिटक पड़ा और वही तेज अनेक दिव्य शक्तियों के तारतम्य से घनीभूत आग्नेय वाष्प में व्याप्त हो गया, जो कि अभी तक भी प्रकाशक सूर्यरश्मियों द्वारा जीवमात्र को प्राणप्रद तत्त्व (Oxygen) के रूप में परिणत होकर अनुप्राणित करता है। यही बालखिल्यों की उत्पत्ति का तात्पर्य है।

वर्तमान साइन्स (Modern science) प्राणों का आधार एक मात्र प्राणप्रद वायु को प्रकट करता है और इस आक्सिजन का आधार केवल सूर्यरश्मियों पर अवलम्बित है। इसीलिये वेदों और पुराणों दोनों में भी प्राणों अथवा बालखिल्यों का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट किया गया है। यथा—

उद्यन्नु खलु वा आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्राणयति तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते। (ऐतरेय ५। ३१)

अर्थात्—उदित होता हुआ सूर्य समस्त प्राणियों को प्राण दान देता है इसलिए सूर्य को प्राण कहते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णन आता है कि यज्ञ में बालखिल्य नामक जिन इष्टिकाओं का उपधान किया जाता है वे सब प्राणों की ही प्रतिनिधि भूत प्रतिमाए हैं।

प्राणविज्ञान का निरूपण करना ही इस आख्यायिका का मुख्य तात्पर्य है, जो संक्षेप से यहां प्रकट कर दिया गया है कदाचित् शंकावादी महाशय शिव गौरी ब्रह्मा और बालखिल्य आदि को कर्म-फल-जन्य स्थूल शरीरधारी, स्व-सदृश पुरुष मानने का दुराग्रह करें तब भी इस वेदोक्त गाथा पर कुछ आक्षेप नहीं आ सकता क्योंकि पूर्व समय में पूर्वाफाल्गुनी और पुष्य इन दोनों नक्षत्रों को भी कई एक ऋषियों के मत से वैवाहिक नक्षत्रों में गिना जाता था, परन्तु प्रत्यक्ष में उक्त नक्षत्र में विवाहे जाने वाले दम्पती की हानि दीख पड़ती थी, यथा पूर्वाफाल्गुनी में विवाह होने के कारण भगवान् रामचन्द्र जी और सीता जी को प्रायः आयुभर वियुक्त सा रहना पड़ा और अन्यान्य राजाओं की भांति पूर्णतया गार्हस्थ्य-सुख नहीं मिल सका। अतः यह नक्षत्र वियोजक समझा गया। इसी प्रकार श्री ब्रह्मा जी का सरस्वती के साथ पुष्य नक्षत्र में विवाह हुआ था जिसका फल अत्यन्त कामवृद्धि हुआ और इस

फल को लोकसंग्रह के लिए प्रत्यक्ष दिखा देने के लिए समस्त देवताओं की भरी पंचायत में ब्रह्मा जी से उपर्युक्त नाटक रचा। जिस तरह नाटक के पात्र अनेक प्रकार के स्वांग रचकर जनता को 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' का उपदेश दिया करते हैं इसी तरह ब्रह्मा जी ने भी सृष्टि के भावी मनुष्यों को पुष्य नक्षत्र में विवाह करने का कुपरिणाम कामवृद्धि दिखाने के लिये यह स्वांग रचा और इस नक्षत्र को शाप दे डाला। उस दिन से ये दोनों नक्षत्र वैवाहिक नक्षत्र की तालिका से बहिष्कृत समझे जाने लगे। इस तरह उक्त लीला से संसार का महान् उपकार हुआ। इस घटना का उल्लेख ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवाह-वृन्दावन' में आता है यथा :—

प्राचेतसः प्राहुः शुभं भगर्क्षं सीता तदूढा न सुखं सिषेवे।
पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव प्रजापतेराप स शापमस्मात्॥

अर्थात्—प्राचेतस ऋषि पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र को विवाह में शुभ मानते थे, किन्तु इस नक्षत्र में विवाही गई सीता जी को आयुभर सुख नहीं मिला। और ब्रह्मा जी ने कामवर्द्धक पुष्य नक्षत्र में विवाह किया था जिसका कुपरिणाम दिखा कर इसे शाप दे दिया [इस तरह यह दोनों नक्षत्र विवाह में अग्राह्य सिद्ध हुये और आस्तिक संसार ने इनमें विवाह करना छोड़ दिया]।

इतने पर भी यदि प्रतिवादी को वीर्यपात की बात पर अपनी जात दिखाने का चाव हो तो उसे समझ लेना चाहिये कि यह वही वीर्य है कि जिसे अढ़ाई लाख दयानन्दी प्रातः सायं सपरिवार इकट्ठे होकर आर्याभिविनय का पाठ करते हुये निराकार बाबा से—वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। [यजुः १९। ९]—अर्थात्—हे ईश्वर! तू वीर्य है मुझे वीर्य दे। इत्यादि मन्त्र बोलकर मांगा करते हैं। श्री ब्रह्मा जी उक्त वीर्य याचना से अत्यधिक तंग आ गये तो उन्होंने एक साथ ही भर २

कुल्हड़ लुढ़का दिये और कहा कि लो ! दयानन्दियो ! वीर्य्य के एक बार ही यथेच्छ मटके भर लो ! क्यों दिन रात व्यर्थ तंग करते हो ! समझे अब तो ब्रह्मा के वीर्य्य उडेल देने का तात्पर्य महाशयो !

असुरों का ब्रह्मा से बलात्कार

३ कई निरे निठल्ले ब्रह्मा के चरित्र पर तीसरा आक्षेप यह भी किया करते हैं कि—ब्रह्मा ने असुरों को बनाया, असुर लोग ब्रह्मा का रूप देखकर मोहित हो गये और अपनी पाप वासना मिटाने के लिए ब्रह्मा के ऊपर चढ़ गये तथा···करना आरम्भ किया। तत्पश्चात् ब्रह्मा भाग कर विष्णु की शरण में आ गया और विष्णु जी के कहनेसे उस अशुद्ध शरीर को छोड़दिया यह लीला अत्यन्त अश्लील है, तथा ब्रह्मा की निर्बलता की द्योतक है।

वैदिक-स्वरुप

(क) स [प्रजापतिः] जघनादसुरानसृजत्।

(ख) ते पितरमेत्याब्रुवन् रेतो वां असिंचामहै।...तान् प्राजापत्या अप्सरो रूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत्। तस्यामेषां मनः समपतत्। (कौषीतकि ६।१)

(ग) अथ संध्यायां यदपः प्रयुंक्ते ता विप्रुषो वज्रीभूत्वा असुरानपाघ्नन्ति। (षडविंश ४।५) (तैत्ति० २।२।६।७)

अर्थात्—(क) उस प्रजापति ने अपने जघन भाग से असुरों को उत्पन्न किया। (ख) वे अपने पिता के पास आकर बोले कि वीर्य सींचेंगे,

उनके आगे प्रजापति की देह अप्सरा का रूप बना कर उदित हो गई, उसमें असुरों का मन गिर गया। (ग) इसलिये संध्योपासना करते हुये जो जल सूर्य को अर्घ दिया जाता है वे जल के कण वज्र बनकर उन असुरों को नष्ट कर देते हैं।

पौराणिक-स्वरूप

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान्।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे॥
ततो हसन्स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत्॥
स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम्।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम्॥
पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजा।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो॥
सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो, विमुमोच ह॥
तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम्।
उपलभ्यासुरा धर्म! सर्वे संमुमुहुः स्त्रियम्॥
इति सायन्तनीं संध्यामसुराः प्रमदायतीम्।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम्॥

(श्रीमद्भागवत। ३। २०। २३--३७)

अर्थात्—ब्रह्मा जी ने अपने जघन भाग से अतीव लोलुप असुरों को

उत्पन्न किया, वे लौल्य के कारण उसे ही ग्राम्यधर्म के लिए चाहने लगे। निर्लज्ज असुरों ने घृणापूर्वक हंसते हुए ब्रह्मा जी का पीछा किया और ब्रह्मा जी क्रोधावेश एवं भय से गिर पड़े। तब भक्तों की पीड़ा को हरण करने वाले श्री विष्णु भगवान् की शरण में जाकर ब्रह्माजी ने प्रार्थना की कि हे भगवन् ! आपकी आज्ञा से में प्रजा रच रहा हूँ, परन्तु ये पापिष्ठ असुर मेरा पीछा करते हैं अत: आप रक्षा कीजिए। तब भगवान् का संकेत पाकर ब्रह्मा जी ने अपना वह कलेवर तत्काल छोड़ दिया। जो अनेक वस्त्र और भूषणों से सुसज्जित स्त्री के रूप में असुरों के सामने दीख पड़ने लगा। और वे असुर उसके रूप लावण्य पर लट्टू हो गये। इस प्रकार मूढ़ बुद्धि वाले असुरों ने सायंकाल की संध्या को मदभरी औरत के समान प्रलोभन करती हुई देखकर उसे अपना लिया।

उपर्युक्त आख्यायिका के वैदिक और पौराणिक स्वरूपों की आक्षरिक समता सुस्पष्ट है, अत: कुछ अधिक लिखना व्यर्थ है। इस कथा में 'अन्धकार-विज्ञान' के निरूपण के साथ २ आसुरी वृत्ति का सच्चा चित्र खींचते हुए असुरों की अपने दादा ब्रह्मा जी के साथ जो अत्यन्त निन्दनीय चेष्टा प्रकट की है, न जाने उससे यार लोगों को ब्रह्मा जी के महत्त्व पर क्या शंका हो गई है ? यदि कोई नालायक छोकरा अपने बूढ़े दादा का अपमान करने पर तुल जाये तो इससे शास्त्र और संसार की दृष्टि में बेटे की ही महा नीचता व्यक्त होगी दादा की नहीं !

रहा आत्मरक्षा के लिये ब्रह्मा जी का बिष्णु से प्रार्थना करना—सो यदि कोई गुण्डा किसी जज साहिब पर आक्रमण करे तो वह पुलिस में ही इसकी शिकायत करेगा : क्योंकि मुजरिम को हथकड़ियों में जकड़ना जज का काम नहीं, बल्कि पुलिस इन्चार्ज का काम है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि जो जज अपनी भी आत्मरक्षा नहीं कर सकता

और दौड़ा २ पुलिस में इत्तिला देता है वह भला दूसरों की कानून से क्या रक्षा कर सकता है ? इसी प्रकार जगत् की रक्षा का भार श्रीविष्णु भगवान् पर निर्भर है। असुरों द्वारा किसी भी देवी देवता के सताये जाने पर उसकी शिकायत विष्णु भगवान् से ही की जानी चाहिये इसमें निर्बलता या सबलता का सवाल नहीं, बल्कि अधिकार और प्रबन्ध व्यवस्था का आदर्श है। यह कतिपय पंक्तियें मनुष्य दृष्टि को सामने रखकर लिखी गई हैं, अब इसका वास्तविक भाव समझना चाहिए।

ब्रह्मा रूप सूर्य के जघन=अधोभाग से अन्धकार रूप असुरगण की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार वेदशास्त्र में सूर्य के आगे २ उषा का चलना बताया जाता है उसी प्रकार सूर्य के पीछे २ अन्धकार चलता है। अर्थात्—जिस २ प्रदेश में सूर्य अस्ताचल को लांघता जाता है वहीं-वहीं अन्धकार का साम्राज्य छा जाता है। यही असुरों का ब्रह्मा जी के पीछे दौड़ने का तात्पर्य है। जब विष्णु रूप नियामक शक्ति के तारतम्य से सूर्य रूप ब्रह्मा अपने अन्धकाराक्रान्त कलेवर को त्याग देता है तब वही सूर्य की उन्मुक्त रश्मियें लालिमा-लावण्य से परिपूरत होकर सायं संध्या के रूप में प्रकट हो जाती हैं और अन्धकार क्रमशः उस संध्या को आत्मसात् कर लेता है। यही इस कथा का आलंकारिक तात्पर्य है, जो इस कथा के उपसंहार में मूल में ही श्रीवेदव्यास जी ने 'इति सायंतनीं संध्याम्' आदि श्लोक द्वारा प्रकट कर दिया है।

वृन्दा-विष्णु-समागम

४

पद्मपुराण (उत्तर खण्ड अध्याय २) वर्णित 'कार्तिक महात्म्य' में तथा देवी भागवत (६।१६वें अध्याय से ३५वें अध्याय तक) में वृन्दा या तुलसी का भगवान् विष्णु द्वारा पातिव्रत धर्म भङ्ग किया जाना और उसके पति जलंधर या शङ्खचूड़

का मारा जाना लिखा है। कई महाशय उक्त कथा को भी आक्षेप रूप से पेश करते हैं, अतः हम विष्णु-चरित्र की विशुद्धता प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम इसी कथा पर विचार करना उचित समझते हैं।

इस विस्तृत आख्यान का संक्षिप्त सार यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण के शिशुलीलासखा सुदामा गोप ने शापवश दानवी योनि को प्राप्त होकर इस पृथ्वी पर जन्म लिया, जो जलन्धर या शंखचूड़ नाम से विख्यात हुआ। वह परम तेजस्वी दानव अपनी पतिव्रता स्त्री के सतीत्व-प्रभाव से सर्वथा अजेय था। वह समस्त देवताओं के अधिकार छीन कर अनेक प्रकार के अत्याचार करने लगा और देवाङ्गनाओं के पातिव्रत्य धर्म को भी धूल में मिलाने पर तुल गया। एक दिन यह दुष्ट ऐसे ही दुर्भाव से महादेव जी का स्वांग भर कर जगज्जननी पार्वती के पास भी पहुँचा, परन्तु वहाँ इसका छलकपट न चल सका। अन्त में देवदानवों में महाघोर संग्राम ठन गया। देवताओं की रक्षा के लिये साक्षात् शिव भगवान् ने देव-सेना का सेनापति-पद ग्रहण किया और एक लम्बे अर्से तक घमासान युद्ध होने पर भी वृन्दा के सतीत्व प्रभाव से वह दानव न मर सका। तब तो सब देवताओं ने आत्मरक्षा के लिये विष्णु भगवान् की शरण ली और भगवान् ने संसार की समस्त स्त्रियों का पातिव्रत्य बचाने के लिये वृन्दा का सतीत्व भङ्ग करना ही अनिवार्य जानकर इस दुष्ट की आरम्भ की हुई पद्धति का अनुसरण करते हुये जलन्धर का रूप धारण करके वैसा किया, जिससे वह दुष्ट दानव मर गया। जब वृन्दा को यह भेद मालूम हुआ तो उसने विष्णु भगवान् को स्त्रीवियुक्त एवं पाषाणमय होने का शाप दिया और स्वयं चिता बना कर जल गई। जन्मान्तर में वही वृन्दा पातिव्रत्य धर्म के प्रताप से तथा विष्णुस्पर्श के प्रभाव से तुलसी पौदे के रूप में प्रकट हुई और शालिग्रामरूप पाषाणभूत विष्णु भगवान् की अनन्यप्रिया समझी जाने लगी।

वैदिक-स्वरूप

(क) पाप्मा वै सपत्नः। (शतपथ ८। ५। १। ६)

(ख) स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्। पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद। (ऋग्वेद १०। ३४। ११)

(ग) देवाश्च असुराश्च उभये प्राजापत्या अस्पर्धन्त, ते देवाः···असुरानभ्यायन्। (शतपथ ६। ६। २। ११)

(घ) स [विष्णुः] देवानां श्रेष्ठोऽभवत्।
(शतपथ १४। १। १। ५)

(ङ) नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजाया चित्या॥
(अथर्व ५। १८। १२)

(च) अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य। (ऋग्वेद १०। ३४। ४)

(छ) आरादरातिनिर्ऋतिं परोग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवापहन्मसि।
(अथर्व ८। २। १२)

(क) 'पाप्मा' नाम वाला एक देवशत्रु था। (ख) (यः) जो (कितवं) धूर्त = छल कपटकारी (पूर्वाह्णे हि) प्रातःकाल उठते ही (बभ्रून्) भूरे रंग के (अश्वान्) घोड़ों को (युयुजे) रथ में जोतकर [जहाँ तहां जाता] और (अन्येषां) दूसरे पुरुषों की (सुकृतं च योनि) वस्त्र भूषणादि अलंकारों से सजी हुई (जायां स्त्रियं) नौजवान धर्मपत्नियों को (दृष्ट्वा) देखकर (कामाग्नि से) (तताप) तपा करता था,

(ख) वह (वृषलः) [स्त्रियों के पातिव्रत्य] धर्म का नाश करने वाला [असुर] (अन्ते) आखीर में (अग्नेः) इस कामरूप अग्नि के कारण (पपाद) पतित हो गया—मारा गया। (ग) देवता और असुर दोनों प्रजापति के पुत्र आपस में स्पर्धा करते थे, वे देवता [अत्याचारों की हद्द हो जाने पर] असुरों पर टूट पड़े। (घ) वह विष्णु भगवान् देवताओं के मुखिया हुये। (ङ) (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस [असुर के] राज्य में (ब्रह्मजाया) ब्राह्मणों [उपलक्षण से] प्रजाजनों की धर्मपत्नियां (चित्या) [पातिव्रत भंग की] चिन्ता से (निरुध्यते) हर घड़ी घिरी रहती हैं, (अस्य) इसी असुर की (शतवाही) [पातिव्रत के प्रताप से पति को अजेय, अछेद्य, अभेद्य एवं दुराधर्ष बना सकने की] सैंकड़ों शक्तियों वाली (जाया) धर्मपत्नी—'वृन्दा' किंवा तुलसी (हम देवताओं के लिये) कल्याण करने वाली नहीं है (अर्थात् वृन्दा के पातिव्रत से यह अजर अमर है और इसके जीवित रहने से समस्त देवाङ्गनाओं का पातिव्रत भङ्ग हो जाना स्वाभाविक है अतः) (तल्पमाशये) (इसकी) सेज पर सोना चाहिये (च) जो संसार भर की स्त्रियों के धर्म भ्रष्ट करने पर तुला है इसी के मार्ग का अनुकरण करते हुए (अस्य) इस असुर की (जायाँ) स्त्री वृन्दा का (अन्ये) दूसरे भी (परिमृशन्ति) स्पर्श करते हैं। (छ) इसलिये (परोग्राहि) दूसरों की स्त्रियों को ग्रहण करने वाले, (क्रव्यादं पिशाचं) कच्चा मांस और रुधिर खाने वाले (यत्सर्वं दुर्भूतं तत्) जो कुछ संसार में बुराइयां हो सकती हैं वे सब जिस एक में विद्यमान हों ऐसे इस निर्ऋति महापापी (रक्षो अरातिं) राक्षस शत्रु को (तम इव) अन्धकार की तरह (अराद् हन्मसि) हर तरह से मार डालूंगा।

पौराणिक-स्वरूप

(क) सुदामा नाम गोपश्च श्रीकृष्णांशसमुद्भवः ।

सांप्रतं राधिकाशापाद् दनुवंशसमुद्भवः
शंखचूडेति विख्यातस्त्रैलोक्ये न च तत्समः ।

(देवीभागवत ६ । १७ । २८-३०)

(ख) कामतः स जगामाशु यत्र गौरी स्थिताऽभवत् ।
दशदोर्दण्डपंचास्यस्त्रिनेत्रश्च जटाधरः ॥
महावृषभमारूढः सर्वथा रुद्रसन्निभः ।
आसुर्य्या मायया व्यास स बभूव जलन्धरः ॥
अथ रुद्रं समायान्तमालोक्य हरबल्लभा ।
अभ्याययौ सखीमध्यात्तद्दर्शनपथेऽभवत् ॥
यावद् ददर्श चार्वांगीं पार्वतीं ।।दनुजेश्वरः ।
तावत्स वीर्य्यं मुमुचे जडाङ्गश्चाभवत्तदा ॥

(शिवपुराण युद्धखण्ड २२ । ३७-४१)

(ग) सतीत्वहानिस्तत्पत्न्या यत्र काले भविष्यति ।
तत्रैव काले तन्मृत्युरिति दत्तो वरस्त्वया ॥

(देवीभागवत ६ । १६ । ६१)

(घ) शंखचूडस्य रूपेण जगाम तुलसीं प्रति ।

(देवीभागवत ६ । २३ । ११)

अर्थात्—(क) जो भगवान् कृष्ण के अंश से उत्पन्न होने वाला सुदामा नाम गोप था, वही समयान्तर में श्री राधा जी के शाप से दानव वंश में जन्म धारण करके 'शंखचूड़' नाम से विख्यात हुआ, यह अपने समय में तीन लोकों में अद्वितीय वीर था । (ख) एक बार वह जलन्धर कामान्ध होकर जहाँ श्री पार्वती जी विराजमान थीं वहाँ

पहुँचा। इसने माया से दश भुजाएं, पांच मुख, तीन नेत्र, मस्तक पर जटाजूट आदि सब कुछ शंकर भगवान् के समान बनाये और बैल पर सवार होकर आसुरी माया से शिव महाराज के तुल्य बन गया। पार्वती जी दूर से इसे शिव भगवान् जानकर प्रत्युत्थान देने के लिए सखियों के बीच से उठ खड़ी हुई। जब इस दानवराज ने पार्वती के रूप लावण्य को देखा तो यह स्खलित एवं शिथिल अङ्ग हो गया। [पार्वती जी तत्काल अन्तर्धान हो गई और मिलने पर विष्णु भगवान् से परामर्श किया कि--] (ग) जब तक इस दुष्ट की धर्मपत्नी का सतीत्व नष्ट न होगा तब तक यह न मरेगा इस दानव को वरदान मिला है। (घ) [सो विष्णु भगवान् संसार भर की स्त्रियों का सतीत्व बचाने के अभिप्राय से] शङ्खचूड़ का रूप बनाकर तुलसी के पास गये। इत्यादि।

यहाँ तक उपर्युक्त कथा के मुख्य मुख्य भावों की वेदों से तुलना की गई है। प्रत्येक संस्कृतज्ञ ऊपर लिखे वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों का पाठ मात्र कर लेने पर किंचिन्मात्र भी विभिन्नता अनुभव न करेगा, अब अवसर प्राप्त वास्तविक भाव प्रकट किया जाता है।

आधिभौतिक

'पद्म-पुराण' में इस आख्यायिका का जो कथानक (Plot) अङ्कित किया है वह भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। तुलसी नामक प्रसिद्ध औषधि त्रिदोषजन्य अनेक ज्वरों एवं मलेरिया के कीटाणुओं (Germs) को समूल नष्ट कर देती है यह बात आजकल की नई खोज में भी सिद्ध हो चुकी है। प्राचीन ऋषियों ने 'ऋतम्भरा' प्रज्ञा द्वारा इस रहस्य की साङ्गोपाङ्ग गवेषणा की थी, इसीलिए हमारी दैनन्दिनी दिनचर्या में तुलसी के सेवन का पर्याप्त उपयोग पाया जाता

है। प्राचीन भारत में वह कोई आर्य घर न था जिसमें कि तुलसी की वाटिका न हो। इस लघु किन्तु अलौकिक पौदे की महती उपयोगिता जानकर ऋषिजनों ने इसे धार्मिक सिंहासन पर बिठाकर सम्मानित किया था। अतएव यह पौदा ईश्वरभक्त धर्मात्माओं के निवास-स्थान का परिचायक बन गया था। उस दिन हनुमान् जी ने राक्षसपुरी लंका में सीता को खोजते हुए अचानक विभीषण के घर में गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में 'नव तुलसी के वृन्द बहु' देखकर ही एक अपरिचित व्यक्ति में विश्वास करके उसके सामने अपना हृदय निकाल कर रख दिया था।

इस पौदे को यह सम्मान अन्धविश्वास के कारण मिल गया हो ऐसी बात भी नहीं है। 'वनस्पति विज्ञान' के जगत्प्रसिद्ध आचार्य श्री जगदीशचन्द्र वसु महोदय ने तो अभी हाल में तुलसी के सम्बन्ध में अपनी खोज का वर्णन करते हुये यहाँ तक कहा है कि तुलसी के संसर्ग से सुवासित वायु जहां तक घूमती है वहाँ तक मलेरिया आदि बीमारियों के घातक कीटाणु (Deadly Germs) नष्ट होते चले जाते हैं। यदि इस पौदे को गरीब अनाथों से लेकर महामहिम महाराजाओं तक को समान रूप से आरोग्य प्रदान करने वाला ईश्वरीय औषधालय कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।' इत्यादि।

हमारे पूर्वजों ने भी इन्हीं सब लाभों को ध्यान में रखते हुए ईश्वराराधना स्तोत्रपाठ जप तप एवं समस्त धार्मिक कृत्यों को 'तुलसी-वनसंश्रितः' (विष्णुसहस्रनाम) होकर करने का आदेश किया है। इसके सींचने से और परिक्रमा करने से अनेक लाभ बतलाए हैं। तुलसीदल को दांतों से कुचलना, दाँतों को शीघ्र गिरा देता है और नेत्रज्योति को भी हानि पहुँचाता है, अतएव सुवर्णकणों से अभिव्याप्त गण्डकी नदी के पाषाण (शालिग्राम) के जल से इसे संमिश्रित किया जाता है

और घिसे हुए चन्दन आदि विशुद्ध काष्ठिक द्रव्यों के मेल से इसे पान किया जाता है। इस तरह यह अछिन्न दल बिना किसी कष्ट के गले के नीचे उतर जाता है और अनुपान के संयोग से इसकी वैद्युती शक्ति सुरक्षित रहती है। धार्मिक परिभाषा में इसे 'चरणामृत' कहते हैं और इसके पीने से—'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्'—के अनुसार अकालमृत्यु की निवृत्ति और समस्त व्याधियों का विनाश माना जाता है।

तुलसी के पौदे में यह महाशक्ति कहाँ से आई? और शालिग्राम शिला का संसर्ग इसके साथ क्यों सम्बद्ध हुआ? इत्यादि जिज्ञासाओं की पूर्ति करने के लिये श्री वेदव्यास जी ने वेदोक्त 'वनस्पति-विज्ञान' के आधार पर उपर्युक्त विष्णु वृन्दा आख्यान का निम्न विवेचन किया है—

जल को धारण करने वाला बादल ही 'जलंधर' है और उस बादल में सर्वात्मभाव से रहने वाली 'विद्युत्-शक्ति' ही वृन्दा है। साध्वी स्त्री का सर्वस्व जिस प्रकार उसका एकमात्र पति ही होता है इसी प्रकार मेघान्तवर्ती विद्युत् का भी अनन्य आश्रय बादल ही है। वह मेघ क्षण क्षण में नये २ रूप बदलकर आकाश में विचरता है। कई बार तो वह 'कुन्द-इन्दु-सम-धवल-देह-द्युति' बन कर एवं बीच बीच में नीलकण्ठ सी छटा दिखाता हुआ—'भव, भव विभव पराभव कारिणी! विश्वविमोहिनी, स्ववशविहारिणी—प्रकृतिरूप पार्वती देवी को भी विमुग्ध कर डालने को उद्यत होता है। सूर्य चन्द्रादि ग्रह, नक्षत्र, तारे, सितारे और सैयारे अपनी अपनी कान्ति रूप कान्ताओं को इस घनघमण्ड के प्रतिरोध से मानो व्याकुलित सी देख पाते हैं। यह जलन्धर दैवी-सम्पदा रूप प्राणीमात्र के जीवन आधार जलों को आत्मसात् कर के मानो सबके जीवन को मुट्ठी में ले लेता है अतएव वे सब विचलित हो उठते हैं। परन्तु मेघान्तर्वती विद्युत् की प्रवाह धारा जब तक अविछिन्न रूप से

प्रवाहित होती है तब तक वाष्पभूत जलन्धर का एक कण भी पृथ्वी पर नहीं टपक सकता। अतएव पार्वती रूप प्रकृति के परामर्श से व्यापनशील वायुरूप विष्णु—तरलता से प्रवाहित होता हुआ मेघान्तवर्ती विद्युत् रूप वृन्दा का सर्वतोभावेन सस्पर्शन करता है, बस ! इस वायु के संसर्ग से ज्योंही मेघान्तवर्ती विद्युत् में स्पन्दन-क्रिया का संचार हुआ कि वाष्पभूत जलसंघ सिमट सिमट कर कणशः पृथ्वी पर गिर जाता है।

वायु का प्रत्येक प्रवाह वर्षा का कारण होता हो सो बात नहीं है। वर्तमान विज्ञानवेत्ता भी एक खास प्रकार की मानसून (Monsoon) नामक हवा को ही वृष्टिकारक बताते हैं। सो उक्त रूपक में भी वायु रूप विष्णु जलन्धर का वेश बदल कर ही वृन्दा के निकट पहुँचता है तभी उसका पति विदीर्ण होकर पृथ्वी पर गिरता है। अर्थात्—वायु का स्वाभाविक रूप बरसात का कारक नहीं यह भाव उक्त रूपक में बड़ी चातुरी से अभिव्यक्त किया है। अस्तु, वही मेघान्तवर्ती विद्युत् शक्ति—(जिसे न्यायशास्त्र में—भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। —के अनुसार 'दिव्य अग्नि' के नाम से स्मरण किया है)—जलकणों से संमिश्रित होकर 'अद्भ्यः पृथ्वी, पृथ्वीभ्य ओषधयः', सिद्धान्त के अनुसार तुलसी नामक पौदे के रूप में उत्पन्न होती है अर्थात्—तुलसी के अन्दर जो अलौकिक शक्ति विद्यमान है वह परम्परा से मेघान्तवर्ती दिव्य अग्नि के प्रवाह से ही इसमें आई है। इस गूढ़ रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिये श्री वेदव्यास जी ने वृन्दा का सती होकर जन्मान्तर में तुलसी वृक्ष के रूप में उत्पन्न होना दिखाया है। वृन्दा ने विष्णु भगवान् को जड़ीभूत हो जाने का शाप दिया था, सो शालिग्राम शिला मानो व्यापक वायु का ही जड़ीभूत पिण्ड है। जैसे अग्नि के साथ वायु का स्वाभाविक सम्बन्ध है और वायु के झोंकों से अग्नि की अगण्य सी चिनगारी भी उत्तरोत्तर अभिवृद्ध हो जाती है

इसीप्रकार तुलसीदल में जो परम्परागत दिव्य अग्नि है वह वायुसंघात-भूत शालिग्राम शिला के संसर्ग से और भी अनन्त गुण हो जाती है, यही इसका आशय है ।

यद्यपि इस कथानक में पात्रों के नाम तक भी ऐसे चुने गये हैं कि जिनके कहने मात्र से उक्त रूपक का ढाँचा सहसा मन में बैठ जाता है, जैसे—असुर का नाम 'जलन्धर' होना ही अक्षरार्थ के अनुसार उसे मेघ सिद्ध करता है, और संत्रीभूत जलवृन्द की नियामक शक्ति को वृन्दा के अतिरिक्त और कुछ कहा ही क्या जा सकता है । तथापि किसी अन्यथा सिद्ध को अप्रामाणिकता के पचड़े में पड़ने का अवसर न मिल सके, एतदर्थ यहाँ तादृश प्रमाणों का कुछ संकेत करना अनावश्यक न होगा, यथा—

(क) [प्रजापतिः] तं पाप्मानं अवृश्चत् । यदवृश्चत् तस्माद्वृष्टिः । (तैत्तिरीय ३ । १० । ६ । १)

(ख) वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव । विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति । (ऐतरेय २ । ४१)

(ग) अयं वै वर्षस्येष्टे योयं [वायुः] पवते । (शतपथ १ । ८ । ३ । १२)

(घ) तस्माद्यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति । (शतपथ ८ । २ । ३ । ५)

अर्थात्—(क) प्रजापालक विष्णु भगवान् ने उस 'पाप्मा' नामक असुर को छेदन कर डाला । क्योंकि उसका व्रश्चन (छेदन) किया गया था अतएव इस क्रिया को वृष्टि कहते हैं (ख) यजन योग्य विद्युत् ही वस्तुतः वृष्टि है क्योंकि यह विद्युत् ही वर्षा और अन्न आदि पदार्थों के

देने वाली है । (ग) यह जो वायु स्पन्दन करता है यही वर्षा क्रिया का आधायक है । (घ) इसलिये जिस तरफ को वायु बहता है उसी तरफ पीछे २ वृष्टि जाती है ।

इस प्रकार तुलसी विटप के अलौकिक चमत्कार का परोक्षपद्धति से निर्देश करने वाला यह कथानक, 'पौराणिक-वनस्पति-विज्ञान' का ज्वलन्त उदाहरण है । इसका हम आधिभौतिक निरूपण करने के बाद अब आधिदैविक विवेचन करते हैं ।

आधिदैविक

वैकुण्ठाधिपति विष्णु भगवान् ने संसार की समस्त स्त्रियों का सतीत्व बचाने के लिये ही वृन्दा का पातिव्रत भङ्ग किया है, यह हम कई बार लिख आए हैं । कई महाशयों को इस चरित्र में पापाचार की पर्याप्त मात्रा दीख पड़ा करती है उनकी शङ्काओं का सार यह है कि—

(१) विष्णु ने छल से एक साध्वी स्त्री का सतीत्व नष्ट किया अतः वे कपटी, परस्त्रीगामी, व्यभिचारी एवं महापापी ठहरते हैं ।

(२) जिसे एक दानव स्त्री का शाप भुगतना पड़ा हो वह 'सर्व-शक्तिमान्' नहीं कहला सकता ।

पहिले आक्षेप का समाधान यह है कि—जलंधर नित नए रूप धर कर समस्त देवाङ्गनाओं को छलने का प्रयत्न करता था, यहां तक कि जगज्जननी पार्वती को भी ठगने के लिए इसने कुछ उठा न रखा । अतः ऐसे दुष्ट को इसी के आरम्भ किये मार्ग का अनुसरण करके मार डालना छल-कपट का द्योतक नहीं, बल्कि 'शठं प्रति चरेच्छाठ्यम्' नीति का निदर्शन है । आजकल के 'आर्यवीर' (?) भले ही इस

नीति को पुश्तों से गुलामी जीवन बिताने के आदी होने के कारण 'कपटाचार' कहकर स्वयं धर्मात्मा होने का दम भरते हो परन्तु हमारे पूर्वज तो-- व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः । अर्थात्—जो पुरुष मायावी = धूर्तों में स्वयं भी धूर्तता से पेश नहीं आते वे महामूर्ख पद २ पर अपमानित हुवा करते हैं।—इस उग्र नीति के पुजारी थे। तभी वह ब्रह्माण्डाधिनायक और जगत्सूत्रधार बनकर आन और शान से जीवन बिताया करते थे। अपनी कायरता एवं बुजदिली को छुपाने के लिए झूठ मूठ धर्म की आड़ लेना कोरी आत्म-प्रवञ्चना एवं बिडम्बनामात्र ही है। अतः विष्णु भगवान् की यह लीला कपटाचार नहीं बल्कि देशोद्धार का उपकार है। यहां तक हमने कापटचलांछन का परिमार्जन किया, अब 'परस्त्रीगमन' का खुलासा सुनिये।

ब्रह्मदृष्टि से

शङ्कावादी महाशय 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू' के अनुसार इस कथा के उतने अंश को तो ठीक मान लेते हैं, जितने अंश में कि विष्णु द्वारा वृन्दा के आलिंगन का निरूपण है, परन्तु वह अंश उन्हें फूटी आँख भी नहीं सूझता जिसमें कि विष्णु भगवान् कोकर्म फल-जन्यशरीरधारी न मान कर, अजर अमर, अविनाशी, अविकार स्वरूप एवं सर्वाधार माना गया है। 'परस्त्रीगमन' के आक्षेप का मूल केवल यही है कि शङ्कावादी ने विष्णु भगवान् को पुराण वर्णन के सर्वथा प्रतिकूल कर्मफलजन्यशरीर वाला अपने जैसा निरा निठल्ला आदमी समझ रखा है तभी तो महाशय जी की तंग खोपड़ी में—स्वस्त्री और परस्त्री का खफ्त समाया है तथा गमनागमन का तूफान आया है। अन्यथा सर्वरूप और सर्वाधार ईश्वर के लिये कोई भी पर (पराया) नहीं होता बल्कि उसके निकट तो परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त के

सभी पदार्थ स्व (अपने) ठहरते हैं। वह अकेला ही चिउंटी से लेकर हाथी तक समस्त प्राणियों में व्याप्त होकर रमण करता है। तरंगें भले ही अपनी २ भिन्न सत्ताएं एवं विभिन्न रूप मानने लगें, परन्तु समुद्र के निकट तो वे सब उसी एक की सत्ता से सत्ता वाली हैं तथा अनेक होती हुई भी समुद्र के ही एक रूप में पर्यवसित होती हैं। इसी प्रकार हम सब मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में भले ही माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता, भगिनी एवं मित्र बान्धवादि अनेक नाम नियत कर लें परन्तु वह व्यापक विष्णु तो हम सब में अकेला ही आत्मरूप से अवस्थित हो कर अपने एकत्व को नहीं छोड़ता। अतएव वेद में—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

—कहकर उसे स्मरण किया है। सो इस दृष्टि से जलन्धर और वृन्दा दोनों ही उस विष्णु के अंशभूत थे। देवीभागवत में तो स्पष्ट ही, शंखचूडापरनामक जलन्धर को सुदामा गोप और वृन्दा को तुलसी नामक गोपिका लिखा है, जो शापवश इस आसुरी योनि को प्राप्त हो गये थे। अतएव स्थान २ में—

(क) श्रीकृष्णांशसमुद्भवः।

(ख) तदंशा तत्सखी प्रिया। (देवीभागवत ९।१८।२३-२८)

अर्थात्—जलन्धर और वृन्दा दोनों ही विष्णु भगवान् के अंश से उत्पन्न हुवे थे—ऐसा लिखा है।

जबकि वे दोनों ही विष्णु के अंशभूत थे तब विष्णु का जलन्धर रूप से वृन्दा के साथ संसृष्ट होना 'आत्मरति' ही कहला सकता है। इसलिए वृन्दा को 'परस्त्री' समझना विवेकरहित महाशयों का ही काम है। इसके अतिरिक्त गमनागमन का प्रश्न भी 'कर्मफलजन्य-

शरीरधारी मनुष्यों तक ही सीमित है क्योंकि सर्वव्यापक भगवान् तो भले बुरे समस्त पदार्थों में समान रूप से अभिव्याप्त होता हुआ किसी भी दुर्गुण से विलिप्त नहीं होता। वह तो—'रवि पावक सुरसरी की नाँई' समस्त मलों का मलत्व दूर करने पर भी स्वयं निर्लेप ही बना रहता है। अतः पौराणिक दृष्टिकोण से उक्त लीला का परीक्षण करने पर यह सर्वथा निर्दोष सिद्ध होती है।

पुरुष दृष्टि से

कदाचित् इतना लिखने पर भी शङ्कावादी महाशयों को भगवान् के इस चरित्र में 'अधर्म' की गन्ध आती रही तो हमें विवश होकर उनसे उनके अभिमत धर्म की परिभाषा मालूम करनी पड़ेगी कि वे वास्तव में किस बला को धर्म समझ बैठे हैं ! पूर्वाचार्यों ने तो—धर्म का रूप निर्णय करते हुये निम्नलिखित लक्षण किया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः ।

अर्थात्—जिन कर्तव्यों के अनुष्ठान से जीव की इस लोक में पूर्ण उन्नति हो और परलोक में कल्याण हो वे सब कार्यकलाप धर्मसीमा के अन्तर्गत समझने चाहियें।

यदि उपर्युक्त धर्म-लक्षण की कसौटी पर भगवान् की इस लीला को परखा जाए तो यह सर्वथा धर्मसंगत सिद्ध होती है। क्योंकि दुष्ट जलन्धर को मारे बिना देवता लोग स्वतन्त्र नहीं हो सकते थे और नांही उसके अत्याचारपूर्ण शासन का अन्त हो सकता था, यह स्पष्ट बात है। परन्तु यह कण्टक भी तब तक मर ही नहीं सकता था जब तक कि उसकी पतिव्रता पत्नी का सतीत्व अखण्डित बना रहे। ऐसी दशा में उस दुराचारी को मारने के लिये अगत्या उसकी धर्मपत्नी का सतीत्व

खण्डित करना ही अनिवार्य था, दूसरे शब्दों में—संसार भर की साध्वी स्त्रियों के पातिव्रत धर्मों को सुरक्षित रखने के लिए अकेली वृन्दा का सतीत्व छुड़ा देना सर्वथा और सर्वदा धर्मानुकूल था।

अहिंसा, सत्य अस्तेय आदि धर्म के मुख्य दश अङ्ग हैं, प्रायः सभी मतमतान्तरवादी न्यूनाधिक इनके अनुष्ठान के समर्थक हैं, परन्तु इसका स्वरूप क्या होना चाहिए इस विषय का तत्त्व शास्त्रों की गहराई तक पहुंचने वालों की ही समझ में आ सकता है। कल्पना कीजिए एक उद्दण्ड दुराचारी हाथ में खड्ग उठाये किसी नगर में कत्लेआम कर रहा है, आबाल वृद्ध जो भी उसके आगे आता है उसे ही वह तलवार के घाट उतार देता है। मेरी भुजाओं में वह शक्ति है कि यदि मैं चाहूँ तो उस अत्याचारी को मार कर नगर के निरीह प्राणियों की जान बचा सकता हूं। परन्तु मुझे ख्याल है कि उस कातिल के मारने से मुझे 'मनुष्य वध' का पाप लगेगा। अतः क्या मैं धर्मभीरुता से हाथ पर हाथ रक्खे कत्ले-आम का वीभत्सपूर्ण दृश्य आँखें उघाड़े देखता रह जाऊं? कहिये क्या मेरी इसप्रकार की प्रवृत्ति धर्मसंगत मानी जा सकेगी? शायद कोई समझदार मनुष्य इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में न देगा। वास्तव में मेरा कर्तव्य ऐसे समय में यही होना चाहिये कि मैं कमर बाँध कर शीघ्राति-शीघ्र कातिल का गला काट डालूं, निस्संदेह ऐसा करते हुए मुझे एक मनुष्य की तो हिंसा करनी पड़ेगी परन्तु धर्मदृष्टि से यह हिंसा अहिंसा ही सिद्ध होगी, क्योंकि इसके अनुष्ठान से मैं अगणित प्राणियों के बचाने का पुण्य कार्य कर सकूंगा। इसलिये वेदादि शास्त्रों में भी ऐसी आज्ञाओं का उल्लेख मिलता है। यथा—

(क) इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्।
मायया शाशदानम्॥ (ऋ० ७। १०४। २४)

(ख) गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।

(मनुः ८ । ३२५)

अर्थात्—(क) हे इन्द्र ! छल बल से घात करने वाले अत्याचारी पुरुषों व स्त्रियों को मार डाल (ख) गुरु, बालक, वृद्ध किंवा बहुश्रुत ब्राह्मण कोई भी यदि आततायी (आग लगाने वाला, विष खिलाने वाला, स्त्री चुराने वाला तथा कत्ल आदि करने वाला) हो तो उसे बिना किसी विचार के मार डालना चाहिये ।

इत्यादि प्रमाणों का सामञ्जस्य करने से यही सिद्धांत स्थिर होगा कि अहिंसा त्रिकालाबाधित धर्म नहीं है बल्कि खास परिस्थितियों में अमुक अत्याचारी को मारना भी धर्म कहा जा सकता है । इसी प्रकार सत्य, अस्तेय आदि धर्माङ्ग भी खास २ परिस्थितियों में अधर्म साबित हो सकते हैं, जैसे—कसाई के हाथ से छूटी हुई गाय को अमुक तरफ भागती हुई देखकर कसाई के पूछने पर ठीक उसी दिशा का पता बतलाना सत्य होते हुए भी धर्मसंगत नहीं कहला सकता, बल्कि यहां चुप रहना ही अधिक न्याय्य हो सकता है । इसीतरह अत्याचारी के हथियार को हथिया लेना किंवा किसी को मार डालने के अभिप्राय से आततायी के घर में रक्खे हुये विष को चुरा कर नष्ट कर डालना चोरी होते हुये भी अधर्म नहीं कहला सकता । वर्तमान सभ्य गवर्नमेंट के कानून एसी परिस्थितियों में एक हद्द तक ऐसे अभियुक्तों को दोषी करार नहीं देते । धर्म की इस सूक्ष्मता को ध्यान में रखते हुए भगवान् श्रीकृष्ण जी ने परमपावनी भगवद्गीता में खुले शब्दों में लिख दिया है कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

(भगवद्गीता ४ । १८)

अर्थात्—जो मनुष्य वेद शास्त्रविहित अहिंसा, अस्तेय, सत्य आदि (अनुष्ठेय कर्मों से अमुक अमुक परिस्थिति के अनुसार प्राप्त होने वाली) अकर्म = नानुष्ठेयता की सीमा को जानता है, और इसी प्रकार वेद शास्त्र निषिद्ध हिंसा, असत्य, चोरी आदि त्याज्य, अतएव अकर्मों में (परिस्थितिवशात् प्राप्त होने वाली) कर्म = करणीयता को देखता है, वही मनुष्य बुद्धिमान् कहा जा सकता है और वही योगी है। तथा उसी को यथावत् समस्त विहित कर्मों का करने वाला समझना चाहिए।

इसलिये 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' इस उक्ति के अनुसार उपर्युक्त धर्माधर्म की दृष्टि भी अगणित पतिव्रताओं के सतीत्व की रक्षा के लिये विष्णु भगवान् का वृन्दा से संगत होना अधर्म नहीं ठहर सकता, बल्कि 'अनैकान्तवाद' सिद्धांत के अनुसार 'आनुषंगिक-कर्तव्य' ही निश्चित होता है। यही पहिले आक्षेप का संक्षिप्त समाधान है।

वृन्दा का जो दूसरा आक्षेप है उसका उत्तर यह है कि विष्णु भगवान् ने जलन्धर को मारने के लिए ही अनिच्छा से वृन्दा का संसर्ग किया था, किसी कामवासना से प्रेरित होकर नहीं। इससे जलन्धर मर गया, वह मरना ही चाहिये था। परन्तु निरपराध वृन्दा को जो अपनी लीला का लक्ष्य बनाना पड़ा इसका भी तो कुछ मूल्य उस बेचारी को देना उचित था, अतः भगवान् ने 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् प्रभुः' होते हुए भी स्वेच्छा से इसके शाप को शिरोधार्य किया, जिससे पातिव्रत्य की अलौकिक शक्ति का चमत्कार तीन लोक को विदित हो गया और इस तरह साध्वी वृन्दा की कीर्ति सदा के लिए अमर हो गई।

जिस प्रकार दुधमुँहे बच्चे अपने बूढ़े दादाओं की आंखों में अंगुलियें डाल देते हैं तथा उनकी दाढ़ी और मूछों को नोच डालते हैं, तब भी बूढ़े बाबा बदला चुका सकने की सामर्थ्य रखते हुए भी, वात्सल्यवश उन बच्चों को मारते नहीं, बल्कि हँसकर उस क्षणिक ; व र लेते इसीप्रकार भगवान् भी तथैव सर्वशक्तिमान्

होते हुये अपने भक्तों के चोचलों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेते हैं। इसलिये भगवान् को वृन्दा का शाप भुगतना नहीं पड़ा, बल्कि वह तो उन्होंने स्वेच्छा से स्वीकार किया है। अतः 'सर्वं परवशे दुःखं सर्वं स्वात्मवशे सुखम्' के अनुसार भगवान् का यह शाप स्वीकार करना उनकी सर्वशक्तिमत्ता को कुछ हानि नहीं पहुँचा सकता।

इस तरह हम विविध दृष्टियों (Different Views) से विष्णु वृन्दा आख्यायिका का विवेचन करने के अनन्तर इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह आख्यान 'वृष्टि विज्ञान' 'वनस्पति-विज्ञान' का सर्वाङ्गपूर्ण निदर्शक है। यदि न्याय और निष्पक्षतापूर्वक किसी भी दृष्टि से इसे परखा जाएगा तो इसके किसी भी अंश पर कुछ आक्षेप करने का अवसर न मिल सकेगा।

मोहिनी रूप में छल कपट

५

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वर्णन आता है कि जब देव और दानवों ने मिलकर क्षीरसागर को मथ डाला और उसमें से अन्यान्य रत्नों के साथ अमरतादायक अमृत भी निकल आया तो दानव लोगों ने बलात्कार से उसे हथिया लिया। बेचारे देवता विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे। भगवान् ने मोहिनी रूप बनाकर दैत्य दानवों को तो हावभाव में ही फाँस रक्खा और छल-कपट से देवताओं को 'अमृत' पिला दिया।

कई नौसिखिये विवेकहीन महाशय इस शिक्षा-पूर्ण चरित्र में भी अन्याय का आभास ढूंढा करते हैं। हम उनके परिज्ञानार्थ इस कथा पर भी उचित विचार करना आवश्यक समझते हैं। तद्यथा—

वैदिक-स्वरूप

(क) यददो वात ! ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो धेहि जीवसे। (ऋग्वेद १०। १८६। ३)

(ख) अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे
परेहि। (अथर्व० ३। २। ५)

(ग) [प्रजापतिः] अप्सरो रूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत्।
तस्यामेषां मनः समपतत्। (कौषीतकी ६। १)

(घ) [प्रजापतिः] तेभ्य एतेन नवरात्रेणामृतत्वं
प्रायच्छत्। (ताण्ड्य २२। १२। १)

(ङ) अथ हैनँशश्वदपि असुरा उपसेदुः···तेभ्यस्तमश्व
मायां च प्रददौ। (शतपथ २। ४। २। ५)

अर्थात्—(क) (वात) हे परमात्मन् विष्णु ! (ते गृहे) आपके निवास स्थान [क्षीरसागर] में (यददः) यह जो (अमृतस्य निधिः) अमृत का खजाना (हितः) स्थिर है (ततः) उनसे (जीवसे) जीवित बने रहने के लिये (नः) हम को (धेहि) पोषित कीजिए। (ख) (अप्वे) हे मोहिनी माये ! (अमीषां) इन असुरों के (चित्तानि) चित्तों को (प्रतिमोहयन्ती) सब प्रकार से मुग्ध करती हुई [तू इनके] (अङ्गानि) समस्त अङ्गों को (गृहाण) काबू करले [और] (परेहि) इधर लौट आ। (ग) प्रजा के रक्षक विष्णु भगवान् मनोहर स्त्री रूप बनाकर आगे उपस्थित हुवे, इनके रूप लावण्य में सब असुरों का मन फंस गया। (घ) तब उन सब देवताओं को तो इस नवरात्र=अभिनव-रमणीय

मोहिनी रूप द्वारा अमृत दे दिया। (ङ) जब इसके पास बार २ असुर पहुंचे तो उन्हें तम = कोरा झाँसा और माया = भूल भुलैया में रख दिया।

पौराणिक-स्वरूप

नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन्कलशेऽमृतभाजने ॥३६॥
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः ॥
इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान् भृत्यकामकृत् ॥३७॥
योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥४१॥
सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि !
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥६॥
विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥९॥
यद्यभ्युपेत क्व च साध्वसाधु वा,
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥१२॥
अप्रमाणविदस्तस्यास्तत्तथेत्यन्वमंसत ॥१३॥
असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम्।
मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥१९॥
दैत्यान् गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः।
दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥२१॥
तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः।
बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किंचन विप्रियम् ॥२२॥

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अध्याय ८-९)

अर्थात्—(जब) वह अमृत से भरा हुआ कलश असुरों ने हथिया लिया तो दुःखित हुए देवता भगवान् विष्णु की शरण में पहुंचे। इस प्रकार देवताओं की दीनता देखकर शरणागतपालक भगवान् ने बड़े २ चतुरों को भी चकित कर देने वाला अत्यन्त सुन्दर एवं अवर्णनीय स्त्री-रूप धारण किया। [भगवान् के इस रूप-लावण्य पर मुग्ध हुवे दैत्यों ने कहा] हे लचकीली कमर वाली सुन्दरी ! हम दो भाई भाई इस अकेले—अमृत कलश पर आपस में लड़ रहे हैं, सो आप जिस तरह से हमारा कल्याण हो वैसे ही निबटारा कर दीजिये। (यह सुन कर मोहिनी रूप धारी भगवान् ने खुले शब्दों में संकेत किया कि—) बुद्धि-मान् पुरुष मुझ सी कामिनी (भक्तों का काम बनाने वाली) स्त्रियों में विश्वास नहीं किया करते। (इतने पर भी जब दानवों ने वह कलश भगवान् के हाथ में सौंपकर यथोचित बांट देने की प्रार्थना की तो भगवान् ने स्पष्ट कह दिया कि—) मैं उन्नीस वा इक्कीस चाहे कुछ भी कर दूं यदि तुम्हें वह सब कुछ स्वीकार हो तो तभी मैं इस अमृत को बांट सकती हूं। यह सुनकर उन विवेकहीन असुरों ने कुछ भी न समझा और बिना सींग पूंछ हिलाये यह शर्त मान ली। तब तो अच्युत (अपनी मर्यादा पर स्थिर रहने वाले भगवान्) ने यह जान कर कि इन तामसी असुरों को अमृत पिलाकर अमर बना देने में वैसी ही अनीति है, जैसी कि विषधर सर्पों को परिपुष्ट करने में हो सकती है। सो इन्हें जाति-नृशंस (जन्म से ही क्रूरता दुर्गण वाले) जानकर अमृत नहीं दिया, बल्कि समस्त दैत्यों को तो हावभाव कटाक्षों से काठ का उल्लू बनाये रक्खा और दूर बैठे हुए देवताओं को सब का सब अमृत पिला दिया। असुर यह सब कुछ देखते हुए भी उस मोहिनी रूप में अतीव आसक्त-चित्त होने के कारण प्यार टूट जाने के ख्याल से कुछ भी अप्रिय नहीं बोले, किन्तु चुपचाप अपना सर्वस्व लुटता देखते रह गयें।

विवेचन

उपर्युक्त कथा के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर प्रत्येक संस्कृतज्ञ इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि इन दोनों धर्म-ग्रन्थों में समान रूप से ही इस आख्यायिका का उल्लेख विद्यमान है। इसके अतिरिक्त पौराणिक-स्वरूप के उद्धरण में जो मूल शब्दों में ही भगवान् की इस प्रकार की लीला रचने का कार्य-कारणपूर्वक विवेचन किया है, उसका मनन करने पर तो कोई भी बुद्धिमान् उक्त कथा के किसी अंश पर कुछ आक्षेप करने का मजाज नहीं रखता। क्योंकि भगवान् असुरों को साफ कह रहे हैं कि—'स्त्री का विश्वास मत कीजिए', इतने पर भी जब वह सचेत नहीं हुए तो फिर भगवान् ने अपनी स्थिति स्पष्ट रखने के लिये अपनी इच्छानुकूल विभाग कर देने की शर्त पेश की, वह भी असुरों को स्वीकृत हुई। अन्त में जब केवल देवताओं को अमृत पिलाया जा चुका तब भी वे बेचारे चुस्के तक नहीं। जो महाशय असुरों के आनरेरी वकील बनकर भगवान् के इस चरित्र को छल-कपट-विश्वासघात कहते हुए अपनी बात व औकात दिखाया करते हैं उन्हें इतना भी होश नहीं कि अमृत के उम्मेदवार मुद्दई असुरों को भी जिस फैसले पर कुछ आपत्ति नहीं उस पर किसी दूसरे ऐरे गैरे को बक झक करने का क्या अधिकार? यदि भगवान् असुरों को विश्वास दिलाते कि 'मैं तुम्हें अमृत दूंगा' और पीछे कपट से उन्हें कोरा धोखा देते तो शायद किसी अंश में भगवान् पर विश्वासघात का आक्षेप उचित होता परन्तु जब भगवान् बार २ ललकार कर कह रहे हैं कि—मैं उसी हालत में तुम्हारा निर्णायक हो सकता हूं जब कि मुझे जैसा उचित जंचे वैसा सब कुछ कर सकने का पूरा अधिकार हो और तुम्हें उसके मानने में कुछ भी एतराज न हो। ऐसी दशा में उनका किया हुआ निर्णय विश्वासघात या छद्म कपट कैसे कहा जा सकता है?

हां ! भगवान् ने असुरों को अमृत देना उचित क्यों नहीं समझा— इस अंश पर विचार अवश्य किया जा सकता है। सो इसका कारण भी 'असुराणां सुधादानम्' आदि श्लोक द्वारा मूल में ही लिखा है। यद्यपि इस श्लोक का तात्पर्य सरल ही है, परन्तु वेदव्यास जी ने इसकी शब्द योजना से जिन जिन गम्भीर भावों को अभिव्यक्त किया है, वे सब मनन करने योग्य हैं। कल्पना कीजिए कि महाशयों की सिफारिश के अनुसार भगवान् दैत्य दानवों को भी भरपेट अमृत पिला देते तो इसका यही परिणाम होता कि वे सब तामसी जीव अमर बन कर अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव काल के लिए दैवी-सम्पदा का विनाश कर डालते ! क्या असुरों को अमृत पिलाना—आततायी के हाथ में दुधारी तीखी तलवार देने के बराबर नहीं है ? अत्याचारियों को अमर बनाना—भैंसों के आगे बीन बजाने के समान नहीं है ? और स्वभावतः ही 'अदमो द्विजान् देवयजीन्निहन्म:' को जीवन का आदर्श मानने वाले जंगी जीवों को मौत से भी निर्भय बना देना—एक करेला फिर उसे नीम चढ़ाने के तुल्य नहीं है ! इसलिए जिस तरह माली बाग में फूलों से और फलों से रसीले पौदों को ही पानी से सींचा करता है तथा इससे विरुद्ध नोकीले कंटीले झाड़ भूंडों को समूलोन्मूलन करके फेंक देता है इसी प्रकार जगत् की [illegible] को सुस्थिर रखने वाले विष्णु भगवान् भी सदा आसुरी सम्पदा का विनाश करके दैवी सम्पत् को आश्रय देते आये हैं।

भगवान् की इस प्रकार की भावना में—'देवताओं की रियायत' का स्वप्न देखना भी अनावश्यक है : क्योंकि अमृत पिलाने से जिस प्रकार देवताओं का भला हुआ इसी प्रकार असुरों को अमृत न पिलाने से भी उनका अत्यधिक उपकार ही हुआ है। कदाचित् भगवान् असुरों को अमर बना देते तो वे असुर सदैव असुर ही बने रहते। अपने जीवन को सुधारने—या मुक्त हो जाने का उनको कभी भी सुअवसर न मिलता।

इस तरह वे असुर-शरीरावच्छिन्न अगणित आत्माएं अनन्त काल तक घोर अन्धकार में पड़ी रहतीं। ऐसी दशा में पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि भगवान् ने असुरों को अमृत न पिलाकर उनका भला किया है या बुरा ? सो वेदव्यास जी ने इन्हीं गम्भीर भावों को प्रतिध्वनित करने के लिये ही असुरों को 'जातिनृशंस' विशेषण द्वारा सम्बद्ध किया है। जो व्यक्ति जाति = स्वभाव, निसर्ग एवं प्रकृति से ही नृशंस, क्रूर या घातक हो उसे पाप करने के लिये और अधिक मौका देना किसी भी हितचिन्तक का काम नहीं हो सकता ! सो भगवान् का उन असुरों के पापमय आसुरी शरीरों को अमर बनाने में 'दुर्नय' = अनीति या सरासर अन्याय देखना ठीक ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई रोगी किसी ऐसे कुपथ्य को खाने के लिए तैयार हो कि जिसके भक्षण से उसका सदा के लिये रोगी रहना सुनिश्चित हो, तो सुयोग्य चिकित्सक कभी भी उसे वह कुपथ्य खिलाने को तैयार न होगा, बल्कि येन केन प्रकारेण लल्लो चप्पो कर उसे कुपथ्य से बचाने का ही प्रयत्न करेगा। ठीक इसी प्रकार भगवान् ने भी आसुरी शरीरावच्छिन्न आत्माओं को अमृतरूप कुपथ्य देकर सदैव के लिये असुर ही बनाये रखने का अहित करना उचित नहीं समझा।

जबकि असुर मोहिनी भगवान् के हाथ में अमृत का कलश सौंप कर बार २ यह प्रार्थना करते हैं कि 'शं विधत्स्व' अर्थात्—जैसे हमारा कल्याण हो वैसा ही कीजिये, फिर भगवान् उनकी प्रार्थना को अनसुनी करके उनका बुरा कैसे कर सकते थे ? वास्तव में अमृत न पिलाने में ही उनका कल्याण था, क्योंकि समुद्र मंथन से निकले हुई रत्नों के बांटने में ही देवासुर-संग्राम का सूत्रपात हो गया था जिसमें कि वे सब असुर भगवान् के हाथ मरकर सद्गति को प्राप्त हो गये थे। अमृत पीकर अमर बन जाने की दशा में उन्हें यह जीवन-सुधार का अलभ्य लाभ

नहीं मिल सकता था। इसलिये किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न परीक्षा कीजिए भगवान् का यह चरित्र न्यायसंगत ही ठहरेगा।

जल में वीर्यस्खलन

६ ब्रह्मवैवर्तपुराण में सृष्टि उत्पत्ति का इन्द्रियातीत रहस्य सुस्पष्ट करने के लिये रासलीला का रूपक बाँधा है, जिसमें बताया गया है कि—समस्त देवताओं की समाजमण्डली चारों ओर खड़ी थी, अग्नि वायु आदि की स्त्रियें भी उनके निकट थीं, मध्य में कृष्ण भगवान् थे, उनका वीर्यस्खलन हो गया, लज्जा से कृष्ण ने उसे जल में छोड़ दिया और वहां एक हजार वर्ष बाद एक बच्चा पैदा हुआ जिसे 'विराट्' कहते है—इत्यादि।

साधारण योग्यता रखने वाला पुरुष भी उपर्युक्त रूपक का सीधा तात्पर्य समझ सकता है कि 'प्रकृति' की अनेक शक्तियें और उनके अधिष्टातृदेव ही यहां रास का समाज मण्डल है, तथा समस्त शक्तियों का आधारभूत 'ब्रह्म' ही कृष्ण है जो कि सबके मध्य में खड़ा होने के उपलक्षण से समस्त सृष्टि-विधान का केन्द्र (Centre) प्रकट किया गया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' की भावना ही उसका स्खलन है तथा सृष्टि के सर्गोन्मुख होने का सम्पूर्ण कार्य-कारण-कलाप ही जल या आपः कहा जा सकता है। सो ब्रह्म के माध्यस्थ द्वारा प्रकृति की प्रेरणा से जो आरम्भिक कारण सामग्री का प्रादुर्भाव हुआ उसे ही पारिभाषिक शब्दों में यहा 'विराट्' नाम से स्मरण किया है। यही इस रूपक का सरल स्पष्टीकरण था, परन्तु एक महाशय को 'पुराण-मत-पर्यालोचन' पुस्तक में इस रूपक पर भी अकाण्ड ताण्डव करने का शौक चर्रा उठा है। आपकी पवित्र (?) सम्मति में यह वर्णन भी अश्लीलता का एक

उदाहरण है। हमें महाशय जी की सूझ पर दया आती है। जब कि वेदों और स्मृतियों में भी हूबहू यही वर्णन मिलता है तो फिर आपका बेचारे पुराणों पर ही कलम कुठार चलाने का यह कैसा प्रयास है ? वास्तव में न यहाँ अश्लीलता है नांही उसका आभास है, किन्तु 'काम-रेतः-जल और रेचन' आदि पारिभाषिक शब्दों के शास्त्रोक्त अर्थ न समझना और मनमानी आलोचना करने का जघन्य उपहास है। अस्तु, हम इस रूपक की भी वैदिकता प्रकट कर देते हैं, जिससे पाठक इन स्वयम्भू समालोचकों की अनुपम अक्ल का अन्दाज कर सकें।

वैदिक-स्वरूप

(क) कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्

(ऋग्वेद १० । १२६ । ४)

(ख) तस्य रेतः परापतत् । (तैत्तिरीय १ । १ । ३ । ८)

(ग) अग्निर्हवाऽऽपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति, ताः सम्बभूव, तासु रेतः प्रासिचत् ।

(शतपथ २ । १ । १ । ५)

(ग) ततो विराडजायत । (यजुः ३१ । ५)

अर्थात्—(क) (अग्रे) सृष्टि के आरम्भ समय में (कामः) ['एकोऽहं बहु स्याम्'] रूप संकल्प (आसीत्) था (तदधि) इसके उपरान्त (मनसः) ज्ञानरूप ब्रह्म से (यत् प्रथमं) जो मुख्य किम्वा पहिला (रेतः) वीर्य है (वह) (समवर्तत) उत्पन्न हुआ। (ख) उसका वीर्य गिर गया (ग) अग्नि ने अहः = जलों = (संघीभूत सर्ग कारणों) को चाहा कि मैं इनसे मिथुनीभाव को प्राप्त हो जाऊं, वे प्रकट हो

गए, उन जलों में रेत, वीर्य (किंवा उत्पादक प्रगति) को सेचन किया। (घ) उससे विराट् उत्पन्न हुआ।

पौराणिक-स्वरूप

कृष्णस्य कामबाणेन रेतःपातो बभूव ह ।
जले तद्रेचनं चक्रे लज्जया सुरसंसदि ॥२३॥

(ब्रह्मवैवर्त ब्र० ख० अ० ४)

अर्थात्—कृष्ण = (योगियों के चित्त को आकृष्ट करने वाले) ब्रह्म का काम ('एकोऽहं बहु स्याम्') रूप—संकल्प के क्षोभ से रेतः—(उत्पादनात्मक) वीर्य का पात हो गया था, जिसे लज्जा से देवताओं की सभा में जलों में छोड़ दिया गया।

साक्षर समुदाय उपर्युक्त दोनों स्वरूपों की शाब्दिक तुलना करने पर स्वयं सोच सकता है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है वही वेद में भी तथैव विद्यमान है, इसमें यदि कुछ भेद है तो एतावन्मात्र है कि जहां वेद में द्रविड़ प्राणायाम पूर्वक वीर्य का पात लिखा है, वहां पुराणों में संक्षेप से ठीक इसी आशय के श्लोक पाये जाते हैं यथा—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् । (मनु: १ । ८)

अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में जलों को रचा और उनमें बीज को डाल दिया।

कहना न होगा कि रेत , वीर्य, बीज आदि शब्द परस्पर पर्यायभूत हैं। क्या अब भी महाशय जी राई का पहाड़ बनाकर पुराणों को कोसते हुए न लजायेंगे ?

माया मोह का दुरुपदेश

७

विष्णुपुराण (अंश ३ अध्याय १७-१८) में और पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड अध्याय १३) में वर्णन आता है कि एक समय दैत्यों ने बलपूर्वक समस्त दैवीसम्पत्ति का अपहरण कर लिया और वेदोक्त यज्ञानुष्ठानों के प्रभाव से अजेय बनकर समस्त ब्रह्माण्ड को पीड़ित करने लगे । देवताओं ने विष्णु की शरण ली । भगवान् ने देव-रक्षा के लिये कपट मुनि का स्वांग भर कर दैत्यों को ऐसा छकाया कि वे वैदिक अनुष्ठानों से पराङ्मुख हो गए । अथ च अन्त में निर्वीर्य हो जाने के कारण पराजित हो गए ।

महाशय जी को भगवान् की इस नीतिमत्ता में भी 'छल' की बू आती है ! सच है; लम्बे अर्से तक कालिजों की गुलामी में परिपुष्ट होने वाले विदेशी शिक्षा दीक्षितों के मस्तिष्क में इस प्रकार का राष्ट्रीय भाव कहां समा सकता है ? यदि महाशय जी आततायी, अत्याचारी, एवं सर्वस्व-अपहरण करने वाले शत्रु की तीखी तलवार के छीन लेने में भी 'छल' का आरोप कर सकते हैं तो 'किमाश्चर्यमत: परम् ?' जिन यज्ञानुष्ठानों के बल से वे दैत्य संसार में अन्धेरगर्दी मचा रहे थे और वेदों दुरुपयोग कर रहे थे यदि चकमा देकर उन्हें उस मार्ग से गिरा दिया गया, और भक्तजनों के प्राण बचा दिए तो इससे अनर्थ कौनसा हो गया ? आस्तां तावत्, इस प्रसङ्ग पर भी चन्द पंक्तियें लिखना अनावश्यक न होगा ।

वैदिक-स्वरूप

(क) इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते ।

(ऋग्वेद ६ । ४७ । १८)

(ख) यो नः पूषन्वधो वृको दुःशेव आदिदेशति ।
अप स्म तं पथो जहि । (ऋग्वेद १ । ४२ । २)

(ग) असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः ।
(ऋग्वेद उपोद्घात)

अर्थात्—(क) इन्द्र, परमात्मा अपनी मायाओं द्वारा अनेक तरह के रूप बनाकर लीला करता है । (ख) हे देवसत्ता के पोषण करने वाले देव ! जो पापी क्रूर हमारे स्वत्व को छीनने वाला और अकारण रुष्ट होने वाला दुष्ट हम पर शासन करता है, आप उस असुर को मार्गभ्रष्ट कर दीजिए । (ग) [वेद विद्या आदेश करती है कि—] निन्दक, कुटिल, और उद्दण्ड पुरुष के प्रति मुझे मत बताओ ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) मायामोहोयमखिलांस्तान्दैत्यान्मोहयिष्यति ।
भवता सहितः सर्वान् वेदमार्गबहिष्कृतान् ।।

(ख) अल्पैरहोभिः संत्यक्तास्तैर्दैत्यैः प्रायशस्त्रयी ।।
(पद्म० सृष्टिखण्ड १३ । ३४६, ३६४)

अर्थात्—(क) [विष्णु भगवान् ने कहा कि—] माया मोह अवतार वेदमार्ग से बहिष्कृत उन समस्त दैत्यों को मोहित करेगा । (ख) इस तरह थोड़े ही दिनों में उन दैत्यों ने वेदत्रयी का प्रायः त्याग कर दिया ।

जब कि वेद भगवान् स्पष्ट शब्दों में मायावी रूप बना कर अत्याचारियों को मार्गभ्रष्ट कर डालने का आदेश करता है और दुष्टों के लिये वेदोपदेश का सर्वथा निषेध करता है तब भगवान् के इस

चरित्र पर आक्षेप करने का साहस करना नितान्त उपहास नहीं तो और क्या है ?

बली से छल

८ भागवतादि पुराणों में वर्णन आता है कि एक समय दैत्यराज बली ने समस्त देवताओं को पराजित करके उनकी विपुल सम्पत्ति को हथिया लिया। देवता विष्णु की शरण में गए ! भगवान् ने उनकी रक्षार्थ बटुक = वामन रूप धार कर बली से तीन पांव भूमि मांगी और अन्तमें विराट् रूप बनाकर तीन पांव में ही समस्त ब्रह्माण्ड को नाप डाला। इस तरह देवताओं को पुनः उनका स्वत्व मिल गया तथा भगवान् ने सन्तुष्ट हो बली को भी तलातल का अमर सम्राट् नियत कर दिया, इत्यादि……।

वैदिक-स्वरूप

(क) देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यभिवासुरथ हासुरा मेनिरे अस्मा-कमेवेदं खलु भुवनम्। ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहे। ते हासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति। वामनो ह विष्णुरास। (शतपथ १। २। ५। १-५)

(ख) स विष्णुरिमांल्लोकान्विचक्रमे। (ऐतरेय ६। १५)

(ग) इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीये-न दिवमुत्तमेन। (शतपथ १। ९। ३। १-९)

(घ) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे । (ऋग्वेद १ । २२ । १७)

अर्थात्---(क) देवता और असुर दोनों प्रजापति कश्यप के बेटे थे, वे आपस में स्पर्धा रखते थे । तब देवताओं की शक्ति क्षीणप्राय: हो गई और असुरों ने समझा कि यह सब भुवन = प्रवृद्ध साम्राज्य हमारा ही है। वे बोले इस पृथ्वी को बांटेंगे । असुरों ने फटकारते हुए कहा कि बस ! जितनी भूमि पर यह विष्णु लेटा है उतनी ही तुम्हें देंगे । विष्णु भगवान् वामन थे [अत्यधिक छोटा शरीर होने के कारण ही दैत्यों ने मजाक में उन्हें पृथ्वी नापने का पैमाना नियत करना चाहा था, परन्तु उन्हें क्या पता था कि 'चोरों की बजाजी और लाठियों के गज' वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी] (ख) विष्णु ने इन समस्त लोकों को नाप डाला । (ग) इस भूमण्डल को पहिले कदम से, अन्तरिक्ष को दूसरे से, तथा द्यूलोक को तीसरे से (नाप डाला) (घ) त्रिविक्रमावतारधारी भगवान् ने इस समस्त ब्रह्माण्ड को नाप डाला । उन्होंने तीन प्रकार से पांव रक्खा, यह समस्त दृश्य जगत् उसके धूलिधूसर एक पाँव में समा गया।

पौराणिक-स्वरूप

मन्वन्तरे तु संप्राप्ते तथा वैवस्वते द्विज !
वामन: कश्यपाद् विष्णुरदित्यां संबभूव ह ।।
त्रिभि: क्रमैरिमांल्लोकां जित्वा येन महात्मना ।
पुरन्दराय त्रैलोक्य दत्तं निहतकण्टकम् ।।

(विष्णुपुराण अंश ३ । १ । ४२-४३)

अर्थात्—वैवस्वत मन्वन्तर के प्राप्त होने पर महर्षि कश्यप द्वारा अदिति के पेट से विष्णु भगबान् ने वामन अवतार धारण किया था । जिस

महात्मा ने तीन कदमों के नाप से इन समस्त लोकों को जीत कर इन्द्र को तीन लोक का निष्कण्टक साम्राज्य दिलाया था।

श्रीमद्भागवत में यह आख्यान बड़ी ही प्राञ्जल भाषा में निबद्ध किया है। जब शुक्राचार्य के हजार बार हटाने पर भी बली ने उदारता-पूर्वक सर्वस्व दे देने का आग्रह न छोड़ा और भगवान् ने समस्त ब्रह्माण्ड को तीन पावों में नाप डाला, तो उस समय बली ने भगवान् के इस कार्य की भूरि २ प्रशंसा करते हुये कहा कि—

त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः।
यो नो राजमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत्॥

(श्रीमद्भागवत ८। २२। ५)

अर्थात्—हे भगवन्! आप हम असुरों के लिये छुपे हुवे परम गुरु हो, जो कि आप राजमद से अन्धे हुवे हम लोगों की फूटी आंखों को खोल देते हो। बली की उदारता और धर्मनिष्ठा को देखकर भगवान् भी अत्यन्त सन्तुष्ट हुये और बोले—

एष दानवदैत्यानामग्रणी कीर्तिवर्द्धनः।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात्क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मं नायं त्यजति सत्यवाक्॥
एषः मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरे योयं भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥

(श्रीमद्भागवत ८। २२। २८—३१)

अर्थात् —कीर्ति को बढ़ाने वाले इस दानव मुख्य ने मेरी अजेय माया को भी जीत लिया है, जोकि यह आपत्ति में फंसकर भी सत्य से पराङ्मुख नहीं हुवा। सम्पत्ति चली गई, राजसिंहासन से गिर गया, सैंकड़ों फटकारें पड़ीं, शत्रुओं ने बाँध लिया, बांधव साथ छोड़ गये, अनेक यातनाएं सहीं, गुरु ने डाँटा और शापित किया— सब कुछ होने पर भी इस सुव्रत ने अपने सत्य को न छोड़ा। मैंने भी परीक्षार्थ छलपूर्वक धर्मभ्रष्ट करने की चेष्टा की परन्तु यह टस से मस न हुआ। अतः इसे मैं वह स्थान देता हूं कि जो देवताओं को भी नहीं मिल सकता। फिर सावर्णि मन्वन्तर में यह मेरे आश्रय से इन्द्र पद को प्राप्त होगा।

महाशय जी को इस चरित्र में भी छल कपट का उमड़ा हुआ तूफान दीख पड़ता है। यद्यपि इस बली वामन आख्यायिका का सुस्पष्ट वर्णन प्रायः चारों वेदों में विद्यमान है और वेदों का थोड़ा सा स्वाध्याय करने वाले विद्वान् उन प्रसिद्ध मन्त्रों से सुपरिचित हैं तथापि जैसे तैसे पुराणों को बदनाम कर डालने की शपथ उठाने वाले महाशय लोग आंखों पर ठीकरी रखकर 'दशहस्ता हरीतकी' कहे बिना नहीं रह सकते।

यदि कोई बलवान्=बली 'शक्तिः परेषां परिपीडनाय' के अनुसार दूसरों के स्वत्वों को हड़प कर रहा हो! और कोई न्यायशील पुरुष लड़ाई झगड़ा बढ़ाए बिना और लाखों का खून बहाए बिना ही उन दोनों को अपने अपने २ स्वत्वों का अधिकारी बनाकर—वेद (यजुः ४०। १) की—

'मा गृध कस्यस्विद्धनम्'—

आज्ञा का आदर्श समझा दे तो यह न्याय होगा या अन्याय? हमें आश्चर्य होता है कि महाशय जी की उल्टी सूझ में गुण भी दोष क्यों जंचता है? क्या संसार के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा भी उदाहरण मिल सकता है कि जिसमें किसी मध्यस्थ ने दो महान् राष्ट्रों के

सर्वान्तकारी संघर्ष को इस तरह शान्तिपूर्वक मिटा कर उभयपक्ष को अपने २ वास्तविक स्वत्व पर नियत कर दिया हो ? वह विष्णु भगवान् की ही महिमा है कि—

न तीर छूटे, न तेगें चमकों,
न तोप बन्दूक दगने पाईं ।
पलक झमक में जो जिसका हक था,
वह उसके आगे पड़ा हुवा था ॥

—अस्तु, पूर्वोक्त वेदमन्त्रों में भी इस आदर्श-क्रान्ति की बांकी झाँकी देखिये और अनुभव कीजिए कि बली और वामन दोनों ही किस तरह इस लीला में एक दूसरे की भूरि २ प्रशंसा करते हैं, तथा 'छल' का आरोप करने वाले महाशय 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' वाली कहावत के अनुसार किस तरह दूर खड़े लजाते हुये नजर आते हैं ।

वृकासुर से कपट

९ श्रीमद्भागवत (१० । ८८ । १३--४०) में वर्णन आता है कि 'वृकासुर दैत्य ने घोर तपस्या करके महादेव जी से यह वर पाया कि वह जिसके शिर पर हाथ रख दे वही पुरुष मर जाये—इस असुर को वर पाते ही शरारत सूझी कि पहिले महादेव जी पर ही हाथ साफ क्यों न किया जाय ! इस तरह वरदान की सचाई भी विदित हो जाएगी और महादेव के भस्म हो जाने पर पार्वती के समान सुन्दर स्त्री भी मिल जायगी । महादेव जी ने इस दुष्ट के पीछा करने पर किसी तरह दौड़ भाग कर विष्णु भगवान् से यह सब किस्सा सुनाया । भगवान् ने बटुक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर इस असुर को समझाया कि तू क्यों व्यर्थ

भागता है, कहीं महादेव का वर भी सच्चा हो सकता है ? यदि तुझे परीक्षा करनी हो तो पहिले अपने मस्तक पर हाथ रख कर देख, यदि कुछ भी ताप अनुभव हुवा तभी सच्चा समझना। उसने वैसा ही किया तो वह तत्काल वहीं ढेर हो गया'—इत्यादि कथा में भी कुछ लोगों को छल दीख पड़ता है, अतः इसपर भी कतिपय पंक्तियें लिखना जरूरी समझते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्यचित्।
पदाभितिष्ठ तपुषिम्। (ऋग्वेद १ । ४२ । ४)
(ख) मायाभिरिन्द्र ! मायिनम्। (ऋग्वेद १ । २१)
(ग) नमो वञ्चते परिवञ्चते। (यजुः १६ । २१)

अर्थात्—(क) हे भगवान् ! (त्वं) तू (तस्य) उस (द्वयाविनः) [मुझ से वर पाकर मुझे ही भस्म कर डालना रूप—] दोनों प्रकार की हानि पहुंचाने वाले (अघशंसस्य) हमारा अनिष्ट चिन्तन करने वाले (कस्यचित्) अज्ञात असुर के (तपुषिम्) तपाने, फूंकने किंवा भस्म कर डालने वाले अङ्ग को (पदाभितिष्ठ) पांवों से कुचल डाल। (ख) (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (मायिनम्) उस मायावी वृकासुर को आप भी अपनी (मायाभिः) मायाओं द्वारा [काबू कीजिये] (ग) हे ठगने वाले के लिए महान् ठगने वाले भगवन् ! आपको नमस्कार हो।

पौराणिक-स्वरूप

देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम्।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥

इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः ।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः ॥२३॥
तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः ।
दूरात्प्रत्युदियाद् भूत्वा वटुको योगमायया ॥२७॥
इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः ।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात् ॥३५॥
अथापतद्भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ॥३६॥

(श्रीमद्भागवत १० । ८८ । २१-३६)

अर्थात्—उस पापिष्ठ असुर ने महादेव जी से ऐसा भयंकर वर माँगा कि मैं जिस २ के शिर पर हाथ रक्खूं वही मर जाय ! (महादेव जी के तथास्तु कहने पर) वह असुर गौरी को हरण करने की लालसा से शिव भगवान् के मस्तक पर ही हाथ रखने चला, जिससे शिव भगवान् भयभीत हुये । विष्णु जी यह आपत्ति देखकर योगमाया से बटुक रूप बनाकर उस असुर को मिले [और अनेक तरह के बचन कह कर उसे उल्लू बना डाला] भगवान् के पालिसी भरे वचनों से आगा पीछा भूलकर उस दुष्ट ने अपना हाथ अपने ही शिर पर रख लिया, जिससे तत्काल ही वज्र से चुटियाए हुये की भाँति वह छिन्न-मस्तक होकर गिर पड़ा ।

हमने दोनों स्वरूपों को प्रकट कर दिया है । जब कि वेद के उपर्युक्त मन्त्र में मायावी को माया द्वारा मार डालने की खुली आज्ञा विद्यमान है फिर भी इस चरित्र पर आक्षेप करना केवल अपनी अनुपम योग्यता (?) प्रकट करना नहीं तो और क्या हैं ? महाशय जी ! अब भले ही ढीली धोती बांधकर आततायी दुष्टों के अत्याचारों को

सहन करने में 'अहिंसा' के स्वप्न देखते हों, परन्तु आन और शान पर मिटने वाले हमारे पूर्वज तो दुष्टों के लिए—

निशिचरहीन करौं मही, भुज उठाइ प्रण कीन ।

—के पक्के पुजारी थे। सो उक्त चरित्र में भी एक महाकृतघ्न और परस्त्री तकने वाले पापी असुर को—'मियां की जूती मियां का शिर' वाली कहावत के अनुसार सफाए हस्ती से मिटा डालने का अनुकरणीय आदर्श विद्यमान है।

कृष्ण की माखन चोरी

१० श्रीमद्भागवतादि पुराणों में लिखा है कि 'भगवान् विष्णु ने कृष्णावतार में बाललीलायें करते हुवे कई बार माखन भी चुराया था'—यह सार्वजनीन प्रसिद्ध बात है। कई महाशयों के पेट में इस माखन लीला से बेतरह दर्द उठा करता है अतः इस पर भी विचार किया जाता है।

वैदिक-स्वरूप

(क) घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभिरक्षतादिमम् ॥ (अथर्व २ । १३ । १)

(ख) मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः । (ऋग्वेद १ । १०४ । ८)

(ग) तस्कराणां पतये नमो नमः । (यजुः १३ । २१)

अर्थात् —(क) [ग्वालन प्रार्थना करती है कि—] हे भगवान् ! ताजा, मीठा जो गाय का माखन = घृत है आप उसे ग्रहण कीजिए और

जिस तरह पिता अपनी सन्तान की रक्षा करता है इस तरह हम सब भक्तों की रक्षा कीजिए (ख) [सूखे बिस्कुटों पर छापा मारते हुवे निराकार बाबा को देखकर तंग हुये स्वामी दयानन्द सरस्वती 'आर्याभिविनय' प्रथम प्रकाश मन्त्र ४६ में उपरोक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुवे लिखते हैं कि—] हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! 'मानः प्रिया०' हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावै। (ग) चोरों के स्वामी भगवान् को नमस्कार हो।

पौराणिक-स्वरूप

(क) स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः ।२६।
(ख) हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैः ।
छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ।।३०।।
(श्रीमद्भागवत १० । ८ । २६-३०)

अर्थात्—(क) भगवान् कृष्ण बनावटी चोरी के अनेक ढंग बनाकर स्वादिष्ट दही दूध माखन आदि चुरा कर खा जाते थे। (ख) कदाचित् माखन ऊंचे छींके पर रक्खा हो और वहाँ तक हाथ न पहुंचता हो तो भगवान् पीढ़े ऊखल आदि चीजों का मचान बाँध लेते थे। यदि यह वस्तुवें भी न मिलें तो लठिया के साथ छींके पर लटकती हुई माखन की हंडिया में छेद करके ही अपना काम निकाल लिया करते थे।

विस्कुटभोजी मौजी महाशयों को इस बालकेलि में भी चोरी की दफा आयद होती नजर आती है, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि जब घर का स्वामी हाथ बांध कर निरन्तर अपनी किसी वस्तु को उड़ा ले जाने की प्रार्थना करता रहा हो, तब कभी एक दिन बड़े नाजो नखरे के साथ नन्दकिशोर चोर ने भक्त की ओर कृपा कोर की हो और

जिसका माखन लुटा हो वह स्वयं अपने अहोभाग्य मानकर सीरणी बांटता फिरता हो तो फिर किसी 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' को ख्वाहमखाह बाड़ में बोहिया तुड़वाने की क्या जरूरत ? पढ़िये प्राचीन कवियों ने इस लीला को किन हृदयस्पर्शी शब्दों में गूंथा है—

नीतं यदि नवनीतं, नीतं नीतं च किं तेन ।
आतपतापितभूमौ माधव ! मा धाव ! मा धाव !!

अर्थात्—[माखन उठाकर भागते हुए कृष्ण को देखकर घर की मालकिन गोपी प्रेमविह्वल होकर कहती है कि—] प्यारे कृष्ण ! यदि तैंने माखन ले लिया तो ले लिया, इससे क्या हुआ, हे माधव ! तू नंगे पाँवों इस धूप से तपी हुई भूमि पर मत भाग ! बिल्कुल मत दौड़ !

कभी लुटे हुवे व्यक्ति चोरों के लिये भी इस तरह हमदर्दी दिखाया करते हैं ? और सुनिये एक दिन भगवान् यशोदा जी से कह रहे थे कि—

(क) मैय्यारी मोही माखन भावे ।
जो मेवा, पकवान कहत तूं मोंहि नहीं रुचि आवे ।

—वहां एक ग्वालिन खड़ी यह बात सुन रही थी, वह मन ही मन सोचने लगी कि—

(ख) ब्रज युवती इक पाछे ठाड़ी सुनत श्याम की बात ।।
मन में कहत कभूं अपने घर देखूं माखन खात ।।
बैठें जाय मथनिया के ढिग तब मैं रहौं छिपानी ।
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी ग्वालिन मन की जानी ।।

—एक दूसरी ग्वालिन तो साफ ही कह उठी कि—

(ग) धेनु के चरैया प्यारे भय्या बलभद्र जू के,
नन्द के ललैया मोरे अंगना में आउरे ।

दही दूध बहुत प्याऊं माखन धनो सो लाऊं,
मीठो मीठी तान नेक गाय के सुनाउरे ॥
नन्द जू के किशोर! मेरे चितहू के चोर,
नेक तो अधर धर बांसुरी बजाउरे।
या छवि ऊपर कोटि काम वार डारे,
दया सखी प्रेमवश हिय में समाऊ रे ॥

—इस तरह लंबी चौड़ी प्रार्थना के बाद तब कभी हमारे चोरराज ने चोरी करनी स्वीकार की—

(व) गए श्याम तिहि ग्वालिन के घर।
हरि आवत गोपी जब जान्यो आपन रही छिपाई।
सूने सदन मथनिया के ढिग बैठि गए अरगाई ॥
माखन भरी कमोरी देखी लै लै लागे खान।
चिते रही मणि खंभ छाहिं तन तासों करें सयान ॥
प्रथम आज मैं चोरी आये भलो बन्यो है संग।
आप खात प्रतिबिम्ब खवावत गिरत कहत का रंग ॥
सुन सुन बात श्याम के मुख की उमग हंसी सुकुमारी।
सूरदास प्रभु निरखि ग्वालिन मुख तब भजि चले मुरारी ॥

यदि इतने पर भी महाशयों की तसल्ली न हो तो उनके लिये अदालत का दरवाजा खुला पड़ा है, जाकर हम कृष्णभक्तों की नालिश कर दें कि—'सनातनधर्मियों के इष्टदेव ने हमारे नक्कड़ दादा का सवा सात मन माखन चुरा खाया, हर्जाना मिलना चाहिए। फिर देखिये कि पौने पाँच साल की आयु वाले दूधमुंहे कृष्ण पर कौन सी दफा कायम होती है।

जिस माखन-लीला के चिन्तन से रसखान सरीखे अहिन्दू कवियों का भी चित्त गद्गद हो उठता था, यदि उसी लीला पर हिन्दुत्व का

दम भरने वाले अधकचरे महाशय कुछ बकवास करें तो यह उनकी हिमाकत ही समझनी चाहिए।

ऊपर के पद्यों के अनुसार एक तो हमारे कृष्ण भगवान् हैं कि जिन्हें हम सौ सौ बार अपना दही माखन खिलाने को पुकारते हैं तब कभी वे एक आध बार अपनी कृपा दिखाते हैं। उधर दयानन्दियों का भूखड़ निराकार है कि जो 'मानः प्रिया०' आदि मन्त्र की व्याख्यानुसार स्वामी दयानन्द जी द्वारा हजार बार झिड़का जाने पर भी सूखे बिस्कुटों पर दलबल सहित छापा मारे बिना नहीं मानता! यदि सुज्ञ पाठक दोनों सम्प्रदायों की भावना और उनके इष्टदेवों की सभ्यता का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे तो उन्हें विदित हो जायगा कि एक ओर प्रार्थना है तो दूसरी ओर फटकार! इधर प्रेमरस की उमंगें हैं तो उधर हाहाकार!! यहाँ हाथी की तरह झूमते हुवे नखरे से मलीदा खाना, तो वहां 'देख बिगानी चोपड़ी गिर पड़ बेईमान' कहावत का इजहार!

राष्ट्रीय दृष्टिकोण

यह सर्व विदित बात है, कि हिन्दू जाति सदा से निरामिष भोजी रही है। हमारे पूर्वज ऋषि महर्षि राजा रङ्क सभी सात्विक अन्न खाकर ही जीवन बिताया करते थे। शारीरिक शक्ति की अभिवृद्धि के लिए वे दुग्ध घृतादि का पर्याप्त सेवन करते थे। मानव जीवन के लिए नितान्त उपयोगी इस प्रकार के पदार्थों—जीवन की आधारमय वस्तुओं—यहाँ तक की शरीर और प्राणों तक का भी, चाँदी तांबे की ठीकरियों से मोल करने वाले स्वार्थान्ध मनुष्य कहीं विक्रय न करने लग जावें, एतदर्थ उन्होंने इनका विक्रय अपने आदेशों द्वारा सर्वथा रोक रक्खा था।

किन्तु समय के प्रभाव से आधुनिक काल की भाँति उस समय भी

समाज में भी इस आज्ञा की अवहेलना की जाने लगी थी। गोप गोपियां सहस्रों की संख्या में मथुरा के बाजारों में दुग्ध घृतादि बेचने जाने लगे थे। आवश्यकता से अधिक धन को इकट्ठा कर घर में जमा रखने की प्रवृत्ति ने उनको इस पाप की ओर ढकेला। चांदी के चमकते टुकड़ों का लोभ दिखाकर नागरिकों ने उन बेचारे भोले भाले ग्रामीणों के रक्त को चूसना प्रारम्भ कर कर दिया। कंस के काले कानून भी इस प्रथा को पर्याप्त प्रोत्साहन देते थे क्योंकि इस तरह बिकने वाले गोरस पर जजिया कर द्वारा राजसत्ता को प्रभूत लाभ होता था।

भगवान् कृष्ण को यह कुरीतियां बहुत अखरीं। उनकी दृष्टि में यह प्रथा समाज के लिए कलङ्क थी और भावी सन्तान को निर्बल बनाने वाली थी। इन वस्तुओं के विक्रय का समाज पर क्या दुष्प्रभाव पड़ता है, वर्तमान समय के करुण चित्र को देखकर यह भली भांति समझा जा सकता है। आज भारत के उन लाखों मनुष्यों को, जो कि ठेठ देहातों में बैठे घी दूध पैदा करने के लिये खून पसीना एक करते हैं दुग्ध घृतादि के दर्शन भी नहीं होते। कंस जैसे शासक की राजधानी के नागरिकों के संसर्ग से, गोपियों के आचरण पर दूषित प्रभाव पड़ने का पूरा अन्देशा भी था। अतः उनका इस प्रकार खुले आम वहां जाना भला उस समाज-सुधारक को कैसे सह्य हो सकता था?

एक बात और, भारत सर्वदा से कृषि-प्रधान देश रहा है। यहाँ के प्राचीन निवासी अपने अमूल्य गोधन पर सदा गर्व करते रहे हैं, किन्तु उस समय नागरिकों ने अपनी इस अमूल्य निधि की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी थी। आज की तरह धन के बल पर संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को सुलभ समझने की प्रवृत्तिकी ओर से भी बालकृष्ण के हृदय में घृणा उत्पन्न हो गई थी। फल यह हुआ कि इन कारणों के उपस्थित होने पर उन्होंने इस कुरीति को बन्द करने के लिये पग बढ़ाया।

पहिले वे गोपों को समझाते और शिक्षा देते रहे, किन्तु लोभ तथा कंस के भय के कारण वे इस ओर कुछ ध्यान नहीं देते थे। अब विवश होकर उन्हें क्रियात्मक पग उठाना पड़ा ! सर्व प्रथम अपनी अवस्था के बाल-ग्वालों का एक मण्डल बनाया। जब जिसके घर में माखन की मटकी भर जाती थी और अगले रोज इसके मथुरा ले जाने की सम्भावना होती थी तो बारी बारी से संघ का प्रत्येक सदस्य इस दल को अपने घर में निमन्त्रित करता था और जमा किया हुआ गोरस सदस्यों को भर पेट खिलाता था। कुछ समझदार गोपियाँ भी इस आन्दोलन से सहानुभूति रखती थीं और वे अपने घर माखन पर छापा मारने के लिये स्वयं भगवान् को संकेत करती थीं। इस बात का आभास श्रीमद्भागवत के श्लोकों और सूरदास जी के पद्यों में खूब मिलता है। इस तरह गोप ग्वालों को माखन खाने की काफी चाट लगी और लोकमत बहुत कुछ इस आन्दोलन के अनुकूल हो गया, परन्तु अभी तक गोपियों द्वारा मथुरा में गोरस का बेचा जाना सर्वथा बन्द न हो पाया था। इसके लिये भगवान् ने सुधार के अन्तिम शस्त्र सविनय प्रतिरोध (पिकेटिङ्ग) क प्रयोग किया। भगवान् दल-बलसहित मथुरा के रास्ते रोककर खड़े हो गये। जो ग्वालिन समझाने बुझाने पर भी वापिस न लौटती थीं तो उनकी मटकियें छीन ली जातीं और गोरस लुटा दिया जाता था। यहीं तक नहीं, बल्कि अडङ्गा नीति से काम लेने के लिये मटकियों को फोड़ भी दिया जाता था। भगवान् की सेना में सभी किशोरावस्था के बालक थे और लोकमत पर्याप्त जागृत हो चुका था इसलिये कुछ दिन की पिकेटिंग के बाद इस विनाशकारी प्रथा का सर्वथा नाश हो गया और भगवान् अपने मिशन में सफल हुए।

यह है माखन चोरी का तात्त्विक रहस्य, भागवतादि में जिसका वर्णन भक्ति-दृष्टिकोण से किया गया है। भगवान् की पुराणवर्णित

इस लोकोत्तर लीला पर किये जाने वाले आक्षेपों का उतना ही मूल्य है जितना कि कुछ दिन बाद महात्मा गांधी द्वारा नमक कानून को तोड़ने के लिए प्रसिद्ध डांडीयात्रा करके छापा मारने व पिकेटिङ्ग करने के पवित्र उद्देश्यों पर होने वाले आक्षेपों का हो सकता है।

चीरहरण

११

बहुत से महाशय, भगवान् द्वारा गोपियों के वस्त्र चुराए जाने वाली कथा पर भी कई तरह के आक्षेप किया करते है अतः इस कथा पर भी चन्द शब्द लिखना अनावश्यक न होगा—

वैदिक-स्वरूप

(क) अहतवसानोऽवभृथादुपेति। (ताण्ड्य १६। १३। ६)

(ख) एतद्वै पत्न्यै व्रतोपनयनम्। (तैत्तिरीय ३। ३। ३। २)

(ग) अप्सु वै वरुणः। (तैत्तिरीय १। ६। ५। ६)

(घ) अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।
(तैत्तिरीय १। ७। २। ६)

(ङ) यस्य ते वासः प्रथमवास्यं हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः। (अथर्व २। १३। ५)

अर्थात्—(क) बिना फटा वस्त्र ओढ़े हुए याज्ञिक-स्नान करना चाहिए। (ख) स्त्री के लिये भी नग्न स्नान न करना आवश्यक व्रतोपनयन है। (ग) [क्योंकि—] जलों में वरुण देवता का निवास है। (घ) जो पूर्वोक्त नियम को झुठलाता है उसे वरुण पकड़ता है। (ङ) हे कुमारीगण! (यस्य जिस) (ते) तेरे [नग्न स्नान के कारण---]

(प्रथमवास्यं) [कात्यायनी व्रतरूप—] यश: के नाशक (वास:) वस्त्र को [हम गोपों ने] (हराम:) हरण किया है। (विश्वेदेवा:) वरुणादि सब देवता (त्वा) तुम्हारे (तं) उस व्रत की (अवन्तु) रक्षा करें।

पौराणिक-स्वरूप

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिका:।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जाना: कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१॥
नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रु: सलिले मुदा ॥७॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वर:।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥८॥
तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वर: ॥९॥
अत्रागत्याबला: कामं स्वं स्वं वास: प्रगृह्यताम्।
आकण्ठमग्ना: शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१३॥
जानीमोऽङ्ग! व्रजश्लाघ्य! देहि वासांसि वेपिता: ॥१४॥
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिता: ॥१५॥
ततो जलाशयात्सर्वा दारिका: शीतवेपिता:।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरु: शीतकर्शिता: ॥१७॥
भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादित:।
यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता,
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ॥

बध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहंसः,

कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २२ । १-२८)

अर्थात्—हेमन्त ऋतु के प्रथम महीने = मार्गशीर्ष में नन्द ब्रज की रहने वाली कुमारिकाएं—लगभग पाँच छः वर्ष की आयु वाली कन्याएं हविष्य अन्न को खाकर कात्यायनी देवी का व्रत किया करती थीं। एक दिन वे नित्य की तरह यमुना के किनारे सब वस्त्र उतारकर नंगी नहाने लगीं और भगवान् कृष्ण के गीत गाने लगीं। योगेश्वर कृष्ण उनका सब अभिप्राय जानकर उस व्रत की पूर्ति के लिए गोपों-ग्वालों सहित वहाँ आये और उनके वस्त्र उठाकर झटपट कदम्ब पर चढ़ गए। (कन्याओं के वस्त्र मांगने पर भगवान् ने कहा कि—) हे अबलाओ ! यहाँ आकर अपने २ वस्त्र ले लीजिए। (परन्तु वे कन्याएं तथैव) कण्ठपर्यन्त ठण्डे जल में डूबी हुईं तथा कांपती हुईं कहने लगीं कि हे भगवान्, हम आपको ब्रज में श्लाघनीय जानती हैं अतः इस तरह कांपती हुई हम अबलाओं के वस्त्र दे दीजिए। (भगवान् ने उनकी बाल्यभाव सुलभ 'नग्निका' अवस्था की परीक्षा के लिए कहा कि—) हे पवित्र मुस्कान वाली कन्याओ ! यहाँ आकर अपने २ वस्त्र ले लीजिए। तब शीत से कांपती हुई वे कन्यायें दोनों हाथों से अपने अङ्गों को ढांपकर तत्काल जल से निकल आईं। भगवान् उनके इस विशुद्ध भाव को देख कर अतीव प्रसन्न हुवे और कहने लगे कि—हे देवियो ! तुमने कात्यायनी व्रत धारण करते हुवे भी जो नग्न होकर स्नान किया है इससे वरुण देव का अपमान हुआ है, अतः पहिले इस पाप के प्रायश्चित्तार्थ तुम्हें मस्तक पर अंजलि बांधकर नमस्कार करना चाहिए।

पाठक दोनों स्वरूपों का मनन करके परिणाम निकालें कि वेद भगवान् किस प्रकार खुले बन्दों नग्न स्नान का निषेध कर रहे हैं।

खासकर व्रतनिष्ठ स्त्रियों के लिये तो उपर्युक्त आज्ञा का पालन करना कितना आवश्यक है—यह बात भी पूर्वोक्त वेदमन्त्रों में सुस्पष्ट प्रकट कर दी गई है। किसी प्रकार का आक्षेप करने से पूर्व इस लीला के नीचे लिखे भावों को समझ लेना आवश्यक है।

(१) स्नान करने वाली सब ५ से ८ वर्ष तक की आयु वाली क्वांरी कन्यायें थीं, क्योंकि कात्यायनी व्रत का विधान ऐसी कन्याओं के लिये ही शास्त्रसम्मत है। अतएव पौराणिक-स्वरूप में उन्हें 'कुमारिका'—और 'दारिका' शब्द से याद किया है।

(२) ये सब भगवान् की शरणागत होकर यह व्रत कर रही थीं अतएव उनके लिये 'हविष्यं भुञ्जानाः' 'कृष्णं-गायन्त्यः, ऐसा लिखा है। इससे भगवान् को उनकी देख रेख करना आवश्यक था।

(३) भगवान् की आयु भी इस समय छः साल और तीन महीने की थी क्योंकि गोवर्द्धन उठाने के समय—'क्व सप्तहायनो बालः' (श्री० भा० १०। २६ १४) आदि शब्दों में भगवान् को सात वर्ष का लिखा है, चीरहरण लीला इससे ठीक ११ मास पूर्व घटी थी अतः उतनी छोटी अवस्था के बालक बालिकाओं में किसी प्रकार के कुप्रभाव की सम्भावना नहीं हो सकती।

(४) यह स्नान प्रायः पौ फटते होता है जबकि एक दूसरे का मुंह भी नहीं ताक सकता। अब भी प्रायः कार्तिक स्नान जो गुर्जर महाराष्ट्र में मार्गशीर्षस्नान कहा जाता है उसी समय किया जाता है।

(५) भगवान् एकले नहीं थे बल्कि—'वयस्यैरावृतः' के अनुसार अपनी बराबर आयु वाले ग्वालों के झुण्ड सहित थे। कुवसाना वाले व्यक्ति तो दूसरे को कानों कान भी ऐसी बात नहीं पहुंचाना चाहा करते इससे भी भगवान् का विशुद्ध भाव स्पष्ट है।

(६) ये कन्याएं नित्य ही नग्न स्नान किया करती थीं जैसा कि—'तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्' शब्दों से विदित होता है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि शायद पहिले भी उन्हें एक दो बार नग्न स्नान करने से जबानी हटाया जा चुका हो, परन्तु न हटने पर अन्त में वस्त्र उठाकर शर्मिन्दा करने की नौबत आई हो : क्योंकि पिछले दिनों गङ्गा-स्नान के समय नंगी नहाने वाली औरतों को हजार बार समझाने पर भी जब यह कुप्रथा न हटी तो महावीर दल के नेताओं ने इसी तरह शर्मिन्दा करने की ठान ली थी, अतः भगवान् का यह वस्त्रों पर छापा मारना एक कुप्रथा को जड़ से मिटा देना ही हो सकता है।

(७) भगवान् वस्त्र उठाते ही झटपट कदम्ब वृक्ष की सघन पत्तियों में मुंह छिपाकर बैठ गये जैसा कि 'नीपमारुह्य सत्वरः' आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है। क्या इससे नग्न-स्नाताओं को न देखने की अभिरुचि ध्वनित नहीं होती ?

(८) भगवान् ने जब लज्जित करने के लिये बाहर आने की बात कही तो वे कन्याएं 'आकण्ठमग्नाः' ही बनी रहीं।

(९) अन्त में—नग्न स्नान से किन कन्याओं का व्रत भङ्ग हुआ है यह जांचने के लिये जब दूसरी बार फिर बाहर आने का आग्रह किया गया तो वे सब आ गईं। इसका तात्पर्य है—शास्त्रों में और लोक में भी उसी व्यक्ति को अपराधी ठहराया जाता है जो कि अमुक कार्य को बुरा भला समझने लायक मस्तिष्क रखता हो—यह एक नियम है। अबोध बालक या सदसद्-विवेक-हीन पागल द्वारा इत्तिफाकिया पिस्तौल का घोड़ा दब जाने पर किसी व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है, परन्तु ऐसी हालत में अज्ञानी होने के कारण उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता यह कानून है। ठीक इसी तरह भगवान् भी जानना चाहते थे कि ये कन्याएं सभी अबोध हैं किंवा इनमें से किसी को वस्त्र ढाँपने की

आवश्यकता का भी यौवन-सुलभ परिज्ञान है । इस परीक्षा का साधन उन्हें एकमात्र नंगी दशा में जल से बाहर आ जाने को विवश करना ही हो सकता था । कदाचित् उनमें यदि एक भी सुवासिन या मुटियार होती तो वह सारे संसार के भी हजार बार चिल्लाने पर नग्न दशा में बाहर आने को तैयार न होती और इस पड़दे के बोध के कारण वह वरुणदेव के अपमान की भी पापभागिनी सिद्ध होती । परन्तु हमारे घरों में अबोध बालिकायें एक समय तक अंग ढांपने की परवाह नहीं करतीं क्योंकि अभी तक उन्हें स्त्री पुरुष की विशेषता का भान ही नहीं होता, अतः शास्त्र में उन्हें 'नग्निका' नाम से याद किया है और पड़दे का बोध हो जाने वाली कन्याओं को 'अनग्निका' कहा गया है । सो भगवान् भी यह बात जानना चाहते थे कि ये सब की सब नग्निकायें हैं किंवा इन में कोई अनग्निका भी है । सो परीक्षा करने पर विदित हुआ कि सभी नग्निका हैं, अतः भगवान् ने वरुणदेव को नमस्कार मात्र कर देने से नग्न स्नान का प्रायश्चित्त करवा दिया : क्योंकि जो अभी अबोध हैं वरुणदेव भी उन्हें सापराध नहीं मान सकते । कदाचित् कोई अनग्निका होकर भी नग्न स्नान करती तो वह जानबूझ कर पाप करने वाली होने के कारण अधिक प्रायश्चित्त की भागिनी होती ।

रासलीला

१२

भगवान् कृष्ण की रासलीला से प्रायः सभी हिन्दूमात्र परिचित हैं । कुछ ब्रैक्टिड हिन्दू उक्त लीला के विषय में भी अपनी कलिकल्मष-कलुषित प्रवृत्ति से विवश होकर अनावश्यक अनाप शनाप बका करते हैं, यह लीला मानों पुराणों को बदनाम करने के ठेकेदारों का अमोघ ब्रह्मास्त्र है । अपनी नाक खुद काट कर दूसरे का शकुन बिगाड़ने के शौकीन समाजी, प्रायः सभी शास्त्रार्थों में इस लीला का मनमाने

ढंग से जिक्र किये बिना दम नहीं लेते । अतः एक सीमा तक सर्वसाधारण में भी उक्त कथा का गूढ़ रहस्य न समझ सकने की अयोग्यता के कारण भ्रम फैला हुआ है । कहा जाता है कि उस दिन थियासोफिकल सोसाइटी की सर्वस्व श्रीमती एनीवेसेन्ट ने भी शङ्कावादियों से ऊब कर यहां तक कह डाला था कि—'प्यारे कृष्ण ! यदि तुम्हें अपनी रासलीला का रहस्य समझा सकने वाले किसी योग्य ऋषि को वर्तमान भारत में भेजना स्वीकार नहीं था तो कृपा करके श्रीमद्भागवत को अपने साथ ही ले जाना चाहिये था !"

श्रीमती जी के ये उद्गार जहां उनकी अनुपम कृष्णभक्ति एवं रासलीला की गूढ़ता के द्योतक हैं, वहाँ उक्त लीला के भागवत-वर्णित स्वरूप का पूर्वापर सम्बन्धपूर्वक समन्वय न कर सकने की असमर्थता के भी परिचायक हैं। हमारा दावा है कि यदि कोई साक्षर अन्तर्मुख होकर इस लीला का रहस्य ढूंढना चाहे तो उसे कहीं बाहर दौड़धूप करने की आवश्यकता न होगी, किन्तु श्रीमद्भागवत के मूल शब्दों में ही उसे अपनी सब शङ्काओं का सन्तोषजनक समाधान मिल जावेगा ! इसलिये क्रमागत विवेचनशैली के अनुसार हम उक्त लीला के वैदिक और पौराणिक स्वरूपों को प्रकट करके इस पर समुचित प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे । तद्यथा—

वैदिक-स्वरूप

(क) नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् । (तैत्तिरीयारण्यक १० । १ । ६)

(ख) मर्त्या ह वाग्रे देवा आहुः । (शतपथ ११।१।२।१२)

(ग) अपहतपाप्मा देवाः । (शतपथ २ । १ । ३ । ४)

(घ) अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः ।
(अथर्व ४ । ३४ । २)

(ङ) एकाकी न रमते । (बृहदारण्यक १ । ४ । ३)

(च) ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि । (अथर्व ५ । १ । २)

(छ) कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः । (अथर्व ६ । २ । १६)

(ज) नव्या नव्या युवतयो भवन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम् । (ऋग्वेद ३ । ५५ । १६)

(झ) त्वं काम ! सहसासि प्रतिष्ठितो,
विभुर्विभावा सख आ सखीयते ।
(अथर्व १६ । ५२ । २)

(ञ) त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि । सखा सखीभ्य ईड्यः । (ऋग्वेद १ । ७५ । ४)

अर्थात्—(क) वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण भगवान् साक्षात् नारायण विष्णु थे। (ख) सब देवता भी मनुष्य [गोप बनकर] अवतीर्ण हुवे थे। (ग) देवता स्वभाव से ही पापरहित होते हैं । (घ) वे सब दिव्य शरीर वाले एवं वायु के तुल्य सर्वथा पवित्र होते हैं। (ङ) भगवान् अकेला रमण नहीं करता। (च) तब अपने अनेक रूप बनाता है। (छ) कामदेव सब में मुख्य है अतएव उसे देव पितर और मनुष्य नहीं पा सके। (ज) यह भी देवताओं का ही देवत्व है कि जो वे नई नई युवतियों के रूप में परिणत हो सकते हैं। (झ) हे कामदेव ! तू साहस में प्रतिष्ठा पाये हुये है। हे सखे ! (कृष्ण !) आप घट घट में व्यापक हो

एवं विशेषतया हमारे भावों के ज्ञाता हो (अतः) सब तरह से सखीजन की तरह आचरण कीजिये । (अ) हे तजस्वी कृष्ण ! आप हम भक्तजनों के बन्धु मित्र और प्यारे हो (अतएव) हम सखीजनों के सखा होने के कारण सर्वथा स्तुत्य हो ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान्पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥२२॥
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ॥२३॥
(श्रीमद्भागवत १० । १ । २२-२३)

(ख) गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । १८ । ११)

(ग) यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।
कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥
(श्रीमद्भागवत १० । २६ । ३)

(घ) भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुम्मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥८॥
अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।९।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीण-बन्धनाः ॥११॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान्व्रजयोषितः ।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥१७॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१६॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्म्मो ह्यमायया ॥२४॥
श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥
मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितं नृशंसं,
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ॥
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्देवो
यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥
सिञ्चाङ्ग ! नस्त्वदधरामृतपूरकेण,
हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा,
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ! ते ॥३५॥
व्यक्तं भवान्व्रजजनार्तिहरोऽभिजातो,
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ॥
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो !
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम् ॥४१॥

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ।।४२।।
बाहूप्रसारपरिरम्भकरालकोरु—
नीविस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा—
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ।।४६।।
एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः ।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ।४७।
तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ।।४८।।
(श्रीमद्भागवत १० । २९ । १-४८)

(ङ) न खलु गोपिकानन्दनो भवा-,
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये,
सख ! उदेयिवान्सात्वतां कुले ।। ४ ।।
प्रणतदेहिनां पापकर्शनं,
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं,
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ।।७।।
(श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ४)

(च) इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।।

रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः ॥१ ।
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३२ । १-२)

(छ) तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः ।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥
कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः, स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥१७॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥१८॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३३ । २-३८)

अर्थात्—(क) [ब्रह्मा जी ने देवताओं के प्रति कहा कि—] साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेव जी के घर में अवतार लेंगे । इस लिये हे देववृन्द ! आप और आपकी स्त्रियों को भी उनके सहयोग के लिये ब्रजभूमि में अपने २ अंशों से अवतीर्ण होना चाहिये । (ख) सो सब गोपाल लोग ग्वाल वेश में छुपे हुवे देवता ही थे । (ग) भगवान् कृष्ण ने सात वर्ष की छोटी सी आयु में गोवर्द्धन पर्वत को एक हाथ में उठा लिया जैसा कि कमल के फूल को मत्त हाथी उठा लिया करता है । [उसके अगले वर्ष में रासलीला हुई थी जब कि भगवान् की आयु आठ वर्ष की थी] (घ) भगवान् ने शरद् ऋतु की विकसित मल्लिका वाली रात्रियों को जानकर अपनी योगमाया के आश्रय से क्रीड़ा करने का विचार किया ॥१॥ स्त्रियों के मन को लुभाने वाली कलनिनादिनी

बंशी बजाई ॥३॥ (सुनते ही ब्रजस्त्रियें—) पतियों पिताओं भ्राताओं और बन्धुओं के रोकने पर भी—कृष्ण ने जिनकी आत्मा को चुरा लिया था वे सब की सब मुग्ध हुई गोपियें न हटीं ॥८॥ जिन गोपियों को घर में बन्द होने के कारण निकलने का अवकाश न मिला वे (भगवान् में तीव्र अनुराग होने के कारण—) तत्काल इस गुणमय शरीर को त्याग कर मुक्त हो गईं ॥६॥११॥ सुवक्ता भगवान् ने उन ब्रज स्त्रियों को अपने पास आई जानकर हृदय को लुभाने वाले शब्दों में कहा कि—॥१७॥ हे ब्रज सुन्दरियो ! यह घोर रात्रि है और इस वन में अनेक भयङ्कर जीव रहते हैं इसलिये तुम सब वापिस ब्रज को लौट जाओ यहाँ किसी भी स्त्री को नहीं ठहरना चाहिए ॥१६॥ क्योंकि निश्छल भाव से पति की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है ॥२४॥ और मुझमें भी जैसी प्रेमभक्ति सुनने, देखने, ध्यान करने और कीर्तन करने से उत्पन्न होती है वैसी निकट रहने से नहीं होती। अतः तत्काल अपने २ घरों को लौट जाओ ॥२७॥ (भगवान् के इन वचनों को सुनकर गोपियों ने कहा कि) हे भगवन् ! आपको इस तरह के रूखे वचन कहने उचित नहीं, क्यों हम तो संसार के समस्त विषयों को छोड़कर आपके चरण शरण में आने वाली भक्ता हैं, इसलिये आप हमें मत दुत्कारिए ! बल्कि जिस प्रकार मुमुक्षुजनों को आदिपुरुष परमात्मा शरण में रखता है इसी प्रकार आप भी हमें शरण में लीजिये ॥३१॥ आप तो निश्चित ही समस्त शरीरधारियों में व्याप्त रहने वाली प्यारी आत्मा हो ॥३२॥ आपके देखने और प्यारी बांसुरी की ध्वनि सुनने से जो हमारे हृदयों में कामाग्नि धधक रही है उसको अपने अधरामृत का प्रवाह सींच कर शान्त कीजिये वरना—प्यारे कृष्ण ! हम सब इस विरहाग्नि की ज्वालाओं से जलकर तुम्हारा ध्यान करती हुईं यहीं आपके चरणों में विलीन हो जायेंगी (मर जायेंगी) ॥३५॥ निस्सन्देह आप देवताओं के रक्षक, आदिपुरुष परमात्मा हो और ब्रजवासियों की

पीड़ा को दूर करने के लिये अवतीर्ण हुवे हो ? हे आर्तबन्धो ! इसलिये अपने हस्तकमल हम किंकरियों के स्तनों और शिरों पर रखिए ।।४१।। योगेश्वर भगवान् को इस तरह उन गोपियों का करुणक्रन्दन सुनकर दया आ गई और अपने आप में ही रमण करते हुवे भी वे हँसकर गोपियों को रमण कराने लगे ।।४३।। बाहु फैलाना, लिपटना, गले लगाना, हाथ, अलक, जंघा, नीवी (कमर के कपड़े की गांठ) और स्तनों को छूना, हँसी मसखरी, नखच्छेद देना, क्रीड़ा, कटाक्ष और मन्द मुस्कान आदि से कामोद्दीपन करते हुवे भगवान् गोपियों को रमण कराने लगे ।।४६।। इस प्रकार महात्मा कृष्ण जी से मान पाकर वे गोपियें अपने आपको भूमण्डल में सर्वाधिक सुन्दरी समझने लगीं ।।४७।। भगवान् इनके इस सौभाग्य मद और मान को नष्ट करके कृपाभाव दिखाने के लिये तत्काल वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ४८ ।। (ङ) [तब विरहकातर गोपियें रो रो कर कहने लगीं कि—] हे भगवान् ! आप निश्चित ही किसी गोपी के पुत्र नहीं है बल्कि समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा हैं । हे प्यारे कृष्ण ! आप तो ब्रह्मा जी की प्रार्थना से इस विश्व की रक्षा के लिये सात्वत कुल में अवतीर्ण हुए हो ।। ४६ ।। हे भगवन् ! आपके—शरणागत प्राणियों के पापों को दूर करने वाले लक्ष्मी के घर होते हुवे भी भक्तिवश गौवों के पीछे भागने वाले और विषधर कालीय सर्प के क्रूर फणों पर नृत्य करने वाले जो चरण कमल हैं उन्हें हमारीं कुचाग्रों पर रखकर कामदेव को विनष्ट कर डालिये ।।७।। (च) इस तरह गोपियें गाती हुईं और अनेक प्रकार के प्रलाप करती हुईं भगवान् के दर्शनों की इच्छा से ऊँची आवाज में रोने लगीं ।।१।। तब उन सब के बीच में मन्द २ मुस्काते हुवे साक्षात् कामदेव को भी लजाने वाले भगवान् आविर्भूत हुवे । जो पीताम्बर पहिने और गले में माला धारण किये हुवे थे ।। २ ।। (छ) तब वहाँ भगवान् ने अपनी परम भक्त सुप्रसन्न गोपियों के हाथों में हाथ डालकर रासक्रीड़ा

(Dance) आरम्भ की ।।२।। जितनी ब्रजस्त्रियें थीं उतने ही अपने रूप बनाकर वह आत्माराम भगवान् लीला से उन गोपियों के साथ रमण-करने लगे ।।२०।। जैसे बालक कांच या जल आदि स्वच्छ पदार्थों में दीख पड़ने वाले अपने प्रतिबिम्ब से खेला करता है इसी तरह लक्ष्मीपति भगवान् भी उन ब्रज-सुन्दरियों के साथ रमण करने लगे ।।१७।। माया से मोहित हुये गोपों ने अपनी २ स्त्रियों को अपने निकट ही समझा, इसलिए वे भगवान् के इस चरित्र पर कुछ भी दोषारोपण नहीं कर सके ।

परीक्षित की दो जिज्ञासायें और उनका उत्तर

रासलीला के विषय में परीक्षित जी ने दो प्रश्न किये हैं । जो वास्तव में किसी भी विज्ञ श्रोता के हृदय में उक्त कथा के सुनने पर स्वभावतः उत्पन्न हो सकते हैं । हम पाठकों के लाभार्थ उन दोनों प्रश्नों को तथा वेदव्यास जी द्वारा किये गये उनके समाधानों को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं । तद्यथा, पहिला प्रश्न—क्रीड़ा में सम्मिलित न हो सकने वाली गोपियों के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

(१)

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने !
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ।।

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धि यथागतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ।।

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।।
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।

(श्रीमद्भागवत १० । २६ । १२-१५)

अर्थात्—राजा परीक्षित ने पूछा कि—हे शुकदेव मुने ! वे गोपियें भगवान् कृष्ण को केवल अपना परम प्रेमी कान्त समझकर ही प्रीति करती थीं, ब्रह्म या अवतार बुद्धि से उनमें विशुद्ध प्रेम नहीं करती थीं—फिर उन गुणासक्त गोपियों का गुणमय प्रवाह कैसे शान्त हो गया ? (अर्थात्—राग द्वेषादि के निवृत्त हो जाने पर ही जीव मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, वे तो स्वयं अत्यन्त अनुरागमयी थीं फिर उनका मुक्त हो जाना कैसे सुसम्भव है) श्रीशुकदेव जी ने कहा कि हे राजन् ! मैंने पूर्व ही तुम्हें समझाया था कि—भगवान् कृष्ण का परम द्वेषी शिशुपाल द्वेषबुद्धि से भी निरन्तर भगवान् का स्मरण रखने के कारण मुक्त हो गया था। सो यदि द्वेषभावना से तन्मयता को प्राप्त होने वाला व्यक्ति मुक्त हो सकता है तो ये गोपियें तो भगवान् में अनुरागात्मिका कान्ता-भक्ति रखती थीं फिर वे क्यों न मुक्त होतीं ? हे नृप ! भगवान् का प्रादुर्भाव ही मनुष्यों के परमकल्याण के लिये हुआ है क्योंकि अव्यय, अप्रमेय और निर्गुण, ब्रह्म का गुणात्मा हो जाना तभी सप्रयोजन हो सकता है। जो मनुष्य काम क्रोध भय स्नेह एकता और सोहार्द किसी भी कारण से प्रेरित होकर परमात्मा में निरन्तर 'लौ' लगाते हैं वे भावना के परिपक्व हो जाने से अवश्य ही 'तन्मयता' को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि 'तीव्रसंवेग' ही मुक्त हो जाने का द्वार है, फिर चाहे वह किसी भी साधन से उत्पन्न क्यों न हो ! जिस तरह एक भगवद्भक्त प्रेमविह्वल हो कर खाते पीते सोते जागते हर घड़ी और

हर पल चारों ओर अपने प्यारे कृष्ण की झांकी देखा करता है इसी तरह एक द्वेषी भी अपने जानी दुश्मन की करतूतों से तंग आकर रात दिन उसी की भयानक सूरत को अपने आगे खड़ी देख पाया करता है। यही हालत उन आशिकों की है जो कि तन्मय होकर यहाँ तक कह दिया करते हैं कि—

दिल के आईने में है तसवीरे यार की,
जब जरा गर्दन झुकाई देखली।

—इसलिये शुकदेव जी का यह उत्तर कि—काम, क्रोध, स्नेह आदि किसी भी साधन से 'तन्मयता' हो सकती है और यह तन्मयता रूप 'तीव्रसंवेग' ही देहाध्यास को दूर करके मुक्ति-पथ में आरूढ़ करने का कारण है—सो इस नियम के अनुसार जैसे भगवद्-द्वेषी शिशुपाल मुक्त हो गया था इसी तरह अनुराग-सम्पन्न गोपियें भी मुक्त हो गईं।'—सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रत्यक्ष में भी प्रायः देखा जाता है कि तुलसीदास, सूरदास आदि कवियों का जीवन आरम्भ में अत्यन्त निकृष्ट एवं गये गुजरे स्त्री-भक्तों से भी गया बीता था। कहा जाता है कि उस समय वे अपनी प्रियतमाओं के हाड़ चाम से बने और मलमूत्र से सने, नश्वर शरीरों की चाह में ऐसे पागल,—ऐसे दीवाने,—ऐसे तन्मय और ऐसे मस्ताने हुए थे कि बहता हुआ मुर्दा उन्हें काठ का लट्ठा जान पड़ा था। यही क्यों झरोखे में लटकता हुआ विषधर सर्प कमन्द का रस्सा सूझ पड़ा था, परन्तु जब उनकी प्रियतमाओं ने—

जैसो प्रेम हराम में, ऐसो हर में होय।
चला जाय वैकुण्ठ को, रोक सके ना कोय॥

—कहकर उनकी वर्तमान अवस्था का सच्चा चित्र आगे रक्खा, तब आन की आन में—पलक की झपक में—वह उमड़ा हुआ स्त्री विषयक

प्रेम प्रवाह—एक दम भगवद्-भक्ति के रूप में परिणत हो गया था। जो अनुराग और 'तीव्र संवेग', जो तन्मयता, अभी अभी एक गन्दे पानी के क्षणभंगुर बुलबुले को पाने के लिये बेचैन थी वही कर्मनाशा की गन्धली धारा अब पतितपावनी भागीरथी के रूप में बहने लगी थी। कहना न होगा कि उक्त कवियों की विशुद्ध भगवद्-भक्ति चिराभ्यस्त स्त्री भक्ति की ही प्रतिमूर्ति थी, इसलिए शुकदेवजी का उपरोक्त समाधान कि 'येन केन प्रकारेण भी उत्पन्न होने वाला 'तीव्रसंवेग' मुक्ति का दायक है' ठीक ही है।

दूसरा प्रश्न—रासलीला की विशुद्धता के विषय में इस प्रकार है—

(२)

राजोवाच—संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन्! परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥
श्रीशुक उवाच—धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय, वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥३२॥

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३४॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषां चैव देहिनाम् ।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३५॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३३ । २७-३५)

अर्थात्—राजा परीक्षित ने पूछा कि—भगवान् कृष्ण साक्षात् जगदीश्वर हैं, धर्मस्थापन तथा अधर्मविनाश के लिये ही अवतीर्ण हुवे हैं ॥२७॥ हे ब्रह्मन्, सो जो स्वयं धर्ममर्यादाओं का वक्ता, कर्ता और रखवाला हो उसने ही दूसरों की स्त्रियों का स्पर्शरूप धर्मविरुद्ध कार्य क्यों किया ? ॥ २८ ॥ हे सुव्रत ! आप्तकाम यदुपति ने निःसन्देह यह जुगुप्सित किया है । परन्तु ऐसा करने का अभिप्राय क्या है ?—मेरे इस संशय को कृपया दूर कीजिये ॥२९॥ शुकदेव जी ने कहा कि—सामर्थ्य-वालों का साहस और धर्मव्यतिक्रम भी देखा जाता है, किन्तु तेजधारियों को उसका कुछ दोष नहीं होता, जैसे अग्नि दूषित पदार्थ को खाकर भी दूषित नहीं होता ॥३०॥ जो इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं रखता उसे मन से भी कभी ऐसे आचरण का अनुकरण करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए । यदि कोई मूढ़तावश ऐसे भयावह मार्ग में पाँव रक्खेगा तो वह तत्काल ही नष्ट हो जाएगा, जैसा कि भगवान् शंकर के हलाहल विषपान का अनुकरण करने से विनष्ट होना अवश्यम्भावी है ॥३१॥ अतः सामर्थ्य वालों का वचन तो सर्वांश में सत्य होता है, परन्तु उनका आचरण एक सीमा तक ही । सर्वसाधारण को सामर्थ्य वाले महानुभावों के उपदिष्ट मार्ग पर तो अवश्य चलना चाहिए, परन्तु उनका आचरण सर्वांश में

अनुकरणीय नहीं मानना चाहिए यही बुद्धिमानों को उचित है ।।३२।। जिस भगवान् के चरणकमलों का रसपान करने से तृप्त हुये मुनिजन 'तीव्रसंवेग' के प्रभाव से समस्त कर्मबन्धनों से विमुक्त होकर स्वेच्छाचारी एवं जीवन्मुक्त हो जाते हैं, वही भगवान् अपनी इच्छा से नर देह धारण करके कृष्णरूप में अवतीर्ण हुआ है सो उसे कोई कर्म कैसे बाँध सकता है ।।३४।। जो कृष्ण गोपियों, उनके पतियों एवं संसार के प्राणीमात्र में आत्मरूप से व्याप्त होकर विचरता है वही सबका अधीश्वर रासलीला के समान बाल-विनोद करने से किसी कर्म से लिप्त नहीं हो सकता ।।३५।।

उपर्युक्त शंका-समाधान का संक्षिप्त सार यह है कि परीक्षित जी को भगवान् द्वारा किये गये परस्त्री-स्पर्श में पापगन्ध आती थी जिसके उत्तर में शुकदेव जीं ने बताया कि—

'समरथ कहं नहिं दोष गुसाईं ।
रवि पावक सुरसरि की नांई ।।'

अर्थात्—सूर्य अग्नि और गङ्गा की तरह सामर्थ्यवान् को कुछ भी दोष नहीं होता ।

कई मूढ़ पुरुष उपर्युक्त उत्तर को निर्बल उत्तर बता कर मजाक उड़ाते हुवे कहा करते हैं कि तब तो राजा महाराजाओं को कुछ भी धर्माधर्म कर डालना चाहिए : क्योंकि श्रीमद्भागवत और तुलसीदास जी के कथनानुसार उनको समरथ होने के कारण कुछ भी दोष नहीं लगेगा। इस प्रकार का कथन वास्तव में वे ही लोग कर सकते हैं जिन्होंने कि 'कोदों' के बट्टे विद्या पढ़ी हो। उक्त दोनों ग्रन्थों में जिस सामर्थ्य का उल्लेख है, वह धन, विद्या, शरीर-बल और समूह-बल से प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु वह तो साक्षात् ईश्वर या उसके अवतारों की स्वाभाविक सामर्थ्य है ! जिस तरह अग्नि में मलमूत्र डाल दीजिये तो वह जलकर भस्मीभूत हो जाएगा—अग्नि मल की तमाम दुर्गन्ध को नष्ट कर

डालेगा, परन्तु साथ ही उस दुर्गन्ध से स्वयं भी सर्वथा दूर रहेगा। इसी तरह सूर्य पाखाने के गीलेपन को उसकी घिनावनी बदबू को अपनी किरणों द्वारा खैंच लेगा—मगर स्वयं इन दुर्गुणों से संलिप्त न होगा, यही बात परीक्षा करने पर गंगोदक में भी पाई गई है। सो 'सामर्थ्य' का तात्पर्य है—शक्ति, जिससे किसी दुष्ट पदार्थ के समस्त दोषों को निकाल डालना, परन्तु दोषों को अपने निकट भी नहीं आने देना—सम्भव हो। श्रीमद्भागवत में ऐसी सामर्थ्य वाले महानुभावों को 'ईश्वर' या 'तेजीयान्' नामों से याद किया है! कृष्ण भगवान् में इस प्रकार की सामर्थ्य विद्यमान थी। उन्होंने भक्त—किन्तु कामासक्त गोपियों की कामवासना को समूल नष्ट कर डाला, परन्तु स्वयं तथैव अनासक्त बने रहे। जैसा कि—'आत्मन्यवरुद्धसौरतः (१० । ३३ । २६)' आदि में अभिव्यक्त किया गया है।

इसीलिए हम तो यही कहेंगे कि जिस व्यक्ति में कालीय जैसे विषधर सर्प पर नाचने की सामर्थ्य हो, उसके लिये रासलीला में नाचना भी पाप नहीं हो सकता! जो नाग के विषैले फण से निर्भयता-पूर्वक लिपट सकने की शक्ति रखता हो, उसके लिए किसी गोपी के शरीर का स्पर्श करना भी दोषावह नहीं हो सकता!! तथा जिस महापुरुष में धधकती दावाग्नि और पूतना के स्तनों पर लगे उग्र विष को सहर्ष पान कर जाने की क्षमता हो उसके लिये अधरामृत का रस पिलाना भी आक्षेपजनक नहीं कहा जा सकता!!!—यह तो हुआ मूल ग्रन्थ का शङ्कासमाधान, अब उक्त लीला के सम्बन्ध में टीकाकारों एवं विवेचकों की सम्मतियें भी सुनिये।

श्रीधर स्वामी की सम्मति

(क) ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डल-मण्डनः ॥

(ज) ननु विपरीतमिदं परदारविनोदेन, कन्दर्पविजेतृत्वप्रतीतिः । मैवं—'योगमारामुपाश्रितः' (१० । ३६ । १) आत्मायामोप्यरीरमत् (१० । २६ । १) साक्षान्मन्मथमन्मथः (१० । ३२ । २) 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' (१० । ३३ । २६) इत्यादिषु स्वातन्त्र्याभिधानात्, तस्माद् रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयाख्यापनायेत्येव तत्त्वम् किञ्च शृङ्गारकथोपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पंचाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः ।

(श्रीमद्भागवत श्रीधरी टीका १० । १ । १)

अर्थात्—(क) ब्रह्मादि देवताओं को जीत लेने के गर्व से दृप्त हुवे कामदेव के घमण्ड को चूर्ण करने वाले गोपियों की रासमण्डली के अलङ्कार लक्ष्मीपति भगवान् की सदैव हो । (ख) 'दूसरों की स्त्रियों के साथ विनोद करके कामदेव का विजय दिखलाना—यह भी विपरीत है'—यदि कोई इस प्रकार की शङ्का करु तो ठीक नहीं, क्योंकि 'योगमायामुपाश्रितः' इत्यादि वचनों द्वारा भगवान् की अनासक्तिरूप=स्वतन्त्रता प्रकट की है [अर्थात्—भगवान् ने अपने से भिन्न किसी से भी विनोद नही किया, बल्कि अपनी योगमाया के आश्रय से अपनी ही आत्मा से कामदेव के अभिमान को चूर्ण करते हुवे अपने आप में ही विनोद किया] इसलिए रासक्रीड़ा का तमाशा भगवान् के कामदेव-विजय को प्रकट करता है, यही इसका तत्त्व है । यह रासपञ्चाध्यायी शृङ्गार रस के बहाने से सर्वथा निवृत्तिपरक है जैसा कि हम अपनी टीका में स्पष्ट करेंगे ।।

श्रीधर स्वामी के शब्दों में रासलीला का तत्त्व अजेय काम का

जीतना है। इधर शरदृऋतु की रात, पूर्णिमा की चाँदनी, एकान्त वन, सुपुष्पित पादप, कालिन्दी का किनारा, सुसज्जित युवतियों का समुदाय और गानवाद्यनृत्य की बहार---एक से एक कामोद्दीपक सामग्री जुटी थी—उधर इन सब की विद्यमानता में भी 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः (१।३३।२६) के अनुसार भगवान् हिमालय की चट्टान के समान = बर्फ के पहाड़ की तरह तथैव सुस्थिर एवं प्रकृतिस्थ हो कर डटे हुए थे। इस लोकोत्तर दृश्य को वही आंखें देख सकतीं हैं कि जिनमें विवेचना की बीनाई सद्भावना की सलाई के सेवन से बदस्तूर बनी रहती है ॥

रास से सृष्टि-रचना का सम्बन्ध

महर्षि वेदव्यास जी ने ब्रह्मवैवर्त पुराण (ब्रह्मखण्ड अध्याय ४) में रासलीला का सम्बन्ध सृष्टि रचना के आरम्भिक रहस्यों से भी सम्बद्ध किया है। श्रीकृष्ण जी को केन्द्रीभूत ब्रह्म और गोपियों को प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की प्रतिमूर्ति मानकर इनके संघर्ष से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव माना है। हम पीछे इसी अध्याय में 'जल में वीर्यस्खलन' शीर्षक के नीचे—उक्त रूपक पर कुछ पंक्तियें लिख आये हैं अतः पिष्टपेषण करना व्यर्थ है। केवल एतावन्मात्र संकेत करना अनावश्यक न होगा जब स्वयं पुराणकर्ता व्यास जी महाराज ही स्थानान्तर में उक्त लीला का रूपक प्रायः अर्थ लगाते हैं तब सर्वसाधारण को भी अपनी रुचि के अनुसार आध्यात्मिक आदि सुसम्बद्ध तात्पर्यों के मनन करने में क्या हर्ज हो सकता है ?

वास्तविक भाव

हमने उक्त लीला का बार बार मनन करने पर जो अभिप्राय समझा है, पाठकों के लाभार्थ हम उसे भी प्रकट कर देते हैं। हम यह बात पीछे सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि ब्रज के समस्त गोप और

गोपियें देवताओं के आंशिक अवतार थे, परन्तु मानव-स्थूल-शरीर की उपाधि से वे अपने देवत्व को भूले हुवे थे। सो भगवान् ने जिस समय रासक्रीड़ा का अभिनय करना चाहा तो वंशी में कामबीज 'क्लीं' मन्त्र का निनाद किया जिससे स्त्रीभावापन्न दिव्य आत्माएं जग उठीं और वे भगवान् के निकट आ पहुंचीं। यह रहस्य श्रीमद्भा० (१०।२९।३) के—

'जगौ 'कलं' वामदृशां मनोहरम्'—

—पद्य में व्यक्त किया है। उक्त पद्य में—'कलं–'क्लीं = कामबीज का निदर्शक है और 'वामदृशां मनोहरम्' का अभिप्राय—स्त्रीभावापन्न दिव्य आत्माओं पर ही उसका प्रभाव पड़ सकता था—यह बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसीलिये वंशी का शब्द सुनकर गोपियें ही भगवान् के निकट आईं थीं!

भगवान् ने यह जानने के लिये कि—'उक्त दिव्यात्माओं को अपने देवत्व का कुछ स्मरण है—या स्थूल शरीर की उपाधि से वह सर्वथा विस्मृत हो गया उनको वापिस लौट जाने का उपदेश दिया। जिसके उत्तर में गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में बतला दिया कि 'हम तो समस्त विषयों को छोड़ कर शरणागत भक्त हैं और मोक्ष की इच्छा से यहां आई हैं' आप भी आदिपुरुष और सबके अन्तरात्मा हो...(यह भाव १०। २९। ३१-३२) में 'संत्यज्य सर्वविषयान्'—'भक्त—आदिपुरुष' और 'मुमुक्षून्' आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। जब गोपियों की उक्तियों से भगवान् ने अच्छी तरह जान लिया कि ये सब आत्माएं मेरी वंशी के निनाद से प्रबुद्ध हो गई हैं और इनको अब देवत्व का पूरा ज्ञान है तब भगवान् ने उनका विशुद्ध प्रेम और रासक्रीड़ा की अभिलाषा जानकर अपनी योगमाया के प्रभाव से उनके दो दो स्वरूप बनाए। उनमें से पहिले जो कि पांचभौतिक स्थूल शरीरावच्छिन्न स्वरूप थे उन्हें वापिस उन उन के घर में पहुंचा दिया, जिससे गोप

ग्वालों में अपनी २ माता, पत्नी आदि को घर में न देखकर किसी प्रकार की बेचैनी न हो ? और दूसरे योगमायानिर्मित दिव्यात्मासम्पन्न स्वरूपों को घर में ही रहने दिया। इसके बाद जो भी लीला हुई है वह योगमायानिर्मित भगवान् के अपने ही स्वरूपों के साथ हुई है। व्यास जी ने उक्त रहस्य का संकेत करने के लिये मूलग्रन्थ में ही निम्नलिखित शब्दों का उल्लेख किया है- यथा—

(क) मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दरान्व्रजौकसः।

(श्री० भा० १०। ३३। ३८)

(ख) यथार्भकः स्वप्रतिविम्वविभ्रमः।

(श्री० भा० १०। ३३। १७)

(ग) कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः।

(श्री० भा० १०। ३३। २०)

(घ) पुरुषः शक्तिभिर्यथा। (श्री० भा०। १०। ३२। १०)

अर्थात्—(क) व्रजनिवासियों ने अपनी कुटुम्बिनियों को अपने २ पास माना [अर्थात्—भगवान् की माया से पांचभौतिक स्थूल शरीरावच्छिन्न गोपियें नित्य की तरह विद्यमान रहीं।[(ख) जैसे बालक अपनी परछाईं से खेल करता है [इसी तरह भगवान् ने अपनी योगमाया से निर्माण की हुई दिव्यात्मासम्पन्न गोपियों से रासक्रीड़ा की।] (ग) भगवान् ने अपने उतने ही रूप बना लिये जितनी कि गोपियें थीं। (ग) ब्रह्म जिस तरह अपनी माया शक्तियों से विनोद किया करता है उसी तरह भगवान् ने गोपियों से रासक्रीड़ा की।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह ध्वनित होता है कि जिस तरह ब्रह्मा जी द्वारा वत्स और गोप चुराए जाने पर भगवान् ने अपनी योगमाया से उतने और वैसे ही ग्वाले तथा बछड़े बनाकर तथैव काम जारी रखा था,

किसी को कानों कान भी यह रहस्य विदित न हो सका था इसी तरह रासलीला के समय भी भगवान् ने देवात्मा-सम्पन्न एवं दिव्यशरीरावच्छिन्न गोपियों को तो मुक्त कर देने के लिये अपनी रासलीला में बुला लिया और इस रहस्य को छुपा रखने के लिये नकली गोपियों को वापिस व्रज में भेज दिया ।

प्रायः देखा गया है कि जब जिस अंशावतार का कार्य समाप्त हो जाया करता है तो भगवान् किसी बहाने से उसकी उस दिव्य शक्ति को छीन लिया करते हैं, जैसे रामावतार में शिवधनुर्भङ्ग हो जाने के पश्चात् श्रीपरशुराम जी की अवतारी शक्ति भगवान् रामचन्द्र जी में समा गई थी, तथा भगवान् कृष्ण जी के लीलासंवरण के पश्चात् वीरशिरोमणि अर्जुन साधारण निहत्थे ग्वालों से पराजित हो गया था अर्थात्—नारायणावतार श्रीकृष्ण के विदा होते ही नरावतार अर्जुन भी अपनी उस अपूर्व शक्ति से हीन हो गया था। सो इसी तरह सब देवता भी श्री ब्रह्मा जी की आज्ञानुसार केवल भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिये ही अपने २ अंशों से ब्रजभूमि में अवतीर्ण हुए थे। जब भगवान् गोकुल वृन्दावन का कार्य प्रायः समाप्त कर चुके और दश दिन के बाद कंस विध्वंसादि का अवसर सामने दिखने लगा तो भगवान् को उन देवांशभूत गोप और गोपियों का ब्रज में ठहरना अनावश्यक जान पड़ा अतः भगवान् ने अपने बालसखा गोपों को तो 'ब्रह्मवत्सहरण' लीला के बहाने वापिस ब्रह्मलोक को भेज दिया था और नकली गोप घर में रख दिये थे अर्थात् सब देवता तो इस तरह अपना कार्य समाप्त हो जाने पर पुनः अपने असली पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे और ब्रज में नकली ग्वाले रह गये थे। शेष रही थीं—गोपीभूत देवाङ्गनायें—सो उन्हें भी भगवान् ने 'रासलीला' के बहाने वंशी के इशारे से सब कुछ समझा कर अपने पास बुला लिया और उनके स्थान में नकली गोपियों

को घर भेज दिया। इस तरह अपनी बाल लीला की समाप्ति के साथ भगवान् ने देवांशभूत गोपियों के अवतार काल का उपसंहार कर डाला था।

परीक्षित के प्रश्न का समन्वय

उपर्युक्त रीति से जब यह निश्चित हो गया कि भगवान् ने रासलीला में किसी परस्त्री का स्पर्श नहीं किया बल्कि अपनी योगमाया द्वारा उद्भावित देवात्मा-सम्पन्न अपने ही रूपों से क्रीड़न किया है, तब स्वभावत: यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ऐसी दशा में परीक्षित के पूर्वोक्त प्रश्न का क्या समन्वय होगा ? अस्तु, इसका भी विवेचन किया जाता है।

परीक्षित पूछते हैं कि—भगवान् का अवतार धर्मस्थापन और अधर्मनाश के लिये हुआ है परन्तु रासक्रीड़ा का धर्मस्थापन और अधर्म-नाशरूप अवतार कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात्—यह तो केवल बालक्रीड़ा = विनोद मात्र है। सो आप्तकाम = 'पूर्णकाम' परमात्मा को अपने अनेक रूप बनाकर खेल करने की क्या आवश्यकता थी ?—विनोद मात्र के लिये भगवान् का 'परदाराभिमर्शन' = (—(परस्य परमात्मनो दारारूपिण्यो या मायाशक्तयस्तासामभिमर्शनं बलादाश्रयणमिति 'बृहद्भक्ततोषिणी' टीकाकार:) आप्तकामता के 'प्रतीप'—प्रतिकूल है—इसका क्या अभिप्राय है ? परीक्षित के प्रश्न का सार यह है कि रासलीला भगवान् का बालविनोद है परन्तु 'आप्तकाम' को विनोदार्थ मायाश्रयण की क्या आवश्यकता थी ? यदि धर्मस्थापना और अधर्म-नाशन के लिये मायाश्रयण किया जाता तो वह अवतार-धर्म के अनुरूप होता परन्तु खेल कूद के लिये अपने अनेक रूप बनाने का क्या अभिप्राय ? इस प्रश्न के उत्तर में शुकदेव जी ने समझाया कि—भगवान् का विनोदमात्र के लिये योगमायाश्रयण करना, धर्मस्थापन और अधर्म-नाशनरूप अवतार-धर्म का व्यतिक्रम अवश्य है परन्तु ईश्वरावतारों का केवल क्रीड़ार्थ भी ऐसा करना देखा गया है, जो दोषास्पद नहीं।

पूर्णकाम परमात्मा को मायाश्रयण से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि करने की क्या आवश्यकता है और सृष्टि-उत्पादन-विनाशन रूप 'पूर्णकामता' विरुद्ध ईश्वरेच्छा का क्या अभिप्राय है ? इस जिज्ञासा का उत्तर वेद में इस प्रकार दिया है कि—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ (श्वेताश्वतर ६।८)

अर्थात्—सृष्टि का उत्पादन और विनाश आदि करने में ईश्वर का कोई खास प्रयोजन नहीं है किन्तु यह उसकी स्वाभाविक चेष्टा है ।

यहां (वेद में) यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर का स्वाभाविक कार्य 'पूर्णकामता' का बाधक नहीं हो सकता । श्रीमद्भागवत में भी परीक्षित का यही प्रश्न था कि भगवान् को आप्तकाम होते हुवे भी योगमायाश्रयण से अनेक रूप बनाकर खेल करने की क्या आवश्यकता थी ? जिसका वेदानुमोदित यही उत्तर दिया गया है कि ईश्वरावतारों का विनोदार्थ भी मायाश्रयण करना स्वाभाविक है अतएव वह पूर्णकामता का बाधक नहीं हो सकता । जिस प्रकार परमात्मा के लिये स्वेच्छा से उत्पादित सृष्टि के स्थितिलयादि बन्धन के कारण नहीं, इसी प्रकार तदवतारों के लिये स्वेच्छा से किये हुये क्रीड़नादि भी बन्धन नहीं हो सकते । यह है परीक्षित के प्रश्न और शुकदेव जी के उत्तर का समन्वय ।

ब्रह्मदृष्टि से

मूल ग्रन्थों में रासलीला की विशुद्धता सिद्ध करने के लिये जो कुछ भी लिखा है वह भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को 'ब्रह्म' मानकर ब्रह्मदृष्टि से ही लिखा है । यद्यपि ब्रह्म गोपों, उनकी धर्मपत्नियों तथा ब्रह्माण्ड के इतर प्राणियों में समान रूप से व्याप्त होकर 'सदसच्चाहमर्जुन'

(गीता) के अनुसार बुरा भला सब कुछ आप ही बना हुआ है तथा वह किसी गुण एवं दोष से लिप्त न होकर 'निर्लेप निरञ्जन निर्विकार' ही बना रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मावतार श्रीकृष्णचन्द्र जी भी अनासक्ति के कारण अपने तमाम चरित्रों के विपाक से उन्मुक्त = 'मुतलिक पाकजात' हैं। यह आशय (श्रीमद्भागवत १० । ३३ । ३६) के 'यत्पादपङ्कज' और 'गोपीनां तत्पतीनां च' आदि पद्यों में स्पष्ट किया गया है। श्रीमद्भगवद्-गीता में स्वयं भगवान् ने भी श्रीमुख से उक्त रहस्य का प्रतिपादन किया है, यथा—

(क) न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय !

(ख) अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रिताः ॥

परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ १० ॥

(भगवद्गीता अध्याय ६)

अर्थात्—(क) हे धनञ्जय ! मुझे वे कर्म बाँध नहीं सकते। (ख) मेरे ब्रह्मभाव को नहीं जानते हुवे अज्ञानी मुझ मनुष्य-सम्बन्धी शरीर धारण किये हुवे को भूतों का ईश्वर नहीं समझते [अर्थात्—अज्ञानी पुरुष मुझे शरीरधारी देखकर साधारण मनुष्यों की भांति कर्म-बद्ध समझा करते हैं] इसलिये वे मेरी अवज्ञा किया करते हैं।

इसलिये ब्रह्मदृष्टि से भगवान् की रासलीला का मनन करने पर कोई भी आक्षेप योग्य बात बाकी नहीं रहती।

योगीराज दृष्टि से

बहुत से महाशय भगवान् को ब्रह्म या अवतार कहते हुवे तो कुछ लजाया से करते हैं परन्तु वे स्वयं कहा करते हैं कि 'कृष्ण जी योगीराज थे' अतः हम योगीराज दृष्टि से भी रसलीला का परीक्षण करना आवश्यक समझते हैं।

आज योगमार्ग लुप्त प्राय: हो चुका है, योगदर्शन के विभूतिपाद में योगियों के जिन चमत्कारों का कार्यकारणपुरस्सर उल्लेख किया गया है उन्हें पढ़ते हुवे भी दाँतों तले अंगुली देनी पड़ती है। आकाश में उड़ जाना, लोकान्तर में चले जाना, दूसरों के शरीर में प्रविष्ट हो जाना, अग्नि, जल आदि पदार्थों की स्वाभाविक शक्ति को कुण्ठित कर देना, अपने शरीर को यथेच्छ छोटा या बड़ा बना लेना, हल्का या भारी बना लेना और सर्वसाधारण को अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी काम में प्रवृत्त कर सकना इत्यादि अनेक चमत्कार योगी के बांए हाथ के काम हैं।

समय समय पर ऐसे चमत्कारों को दिखाने वाले योगियों की चर्चा प्राय: समाचारपत्रों में भी छपती रहती है। और सैंकड़ों विश्वस्त सज्जनों ने अपनी आंखों से भी ऐसे चमत्कारों को देख पाया है। एक बार हमें भी संयोगवश एक योगी के दर्शन हो गये थे। उक्त महानुभाव अपनी जन्मभूमि बिहार प्रान्त के सारन जिले में बताते थे। संस्कृत में श्लोकबद्ध भाषण करना इनकी विशेषता थी। यद्यपि अवस्था छोटी जंचती थी तथापि प्रत्येक विषय में असाधारण अनुभव देखकर आश्चर्य होता था। यह महानुभाव अपनी मूत्रेन्द्रिय के साथ तेल को पिचकारी की तरह ऊपर चढ़ाया करते थे। हमारे बहुत आग्रह करने पर इन्होंने एक दिन बताया कि मैं आजकल 'इन्द्रियजय' का अभ्यास कर रहा हूं, योगदर्शन में लिखा है कि—

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।

(योगदर्शनविभूतिपाद ४७)

अर्थात्—ग्रहणादि में संयम करने से इन्द्रियों का जय हो जाता है, परन्तु सर्वसाधारण को यह विदित नहीं कि वह ग्रहण क्या बला है कि जिसमें संयम करने में विषयेन्द्रिय को जीता जा सकता है। आपने

फर्माया कि यह गुरुगम्य विद्या है। योगदर्शन के सूत्र और उनकी व्याख्यामात्र पढ़ लेने से कुछ भी समझ में नहीं आ सकता। अस्तु, हम आपको कुछ अधिक बता देते हैं सुनिये। कामेन्द्रिय को जीतने के लिये योगनिष्ठ पुरुष को सर्वप्रथम बाँस की तीखी फरचट के साथ अपनी जिह्वा के नीचे वाले तन्तुओं को काट कर जीभ को लम्बी बनाने का अभ्यास करना पड़ता है, फिर उसे उलट कर कण्ठ के बीचोबीच खड़ा रखने का अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर योगनिष्ठ की जिह्वा उस स्थान पर पहुंच जाती है जहाँ पर कि...आंख, नाक, कान और कण्ठ के छिद्रों का केन्द्रीभूत एक ही छिद्र बना हुआ है। इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। अस्तु, उस छिद्र के रुक जाने से प्राण की गति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। तब कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास से पुरुष को अपनी लिंगेन्द्रिय के साथ पानी खेंचने की चेष्टा करनी चाहिये। पानी खिच जाने की शक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद तेल को खैंचना चाहिये। जैसा कि मैं आजकल खैंचता हूं। जब अनायास तेल खिचने लग जावे तब फिर पारे को खींचने का अभ्यास करना चाहिये। बस, जब पारे को खींच सकने की शक्ति उत्पन्न हो जायेगी तो फिर उसे अपना वीर्य खैंचने का अभ्यास करना चाहिये।

हमारे यह पूछने पर कि—'महाराज! अपना वीर्य कैसे खैंचना चाहिए? योगी जी ने कहा कि—आप तो हमें व्यर्थ तंग करते हो जिस रास्ते नहीं जाना उसके पूछने का क्या मतलब? अच्छा! सुनो [आप कुछ पढ़े लिखे आदमी हो इसलिए बता देता हूं अन्यथा सर्वसाधारण के सामने तो इस प्रकार की बातें बताना भी अपनी हँसी करवाना है] पारे को खेंचने की शक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद फिर योगी को किसी स्त्री से मैथुन करके वीर्यस्खलित हो जाने के बाद उसे उलटकर वापिस खैंचने का अभ्यास करना पड़ता है। इस तरह वह

योगनिष्ठ महात्मा अपने पतित हुवे वीर्य के साथ २ स्त्री के रज को भी खेंचने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। तब योगी इस लायक हो जाता है कि यदि सैंकड़ों स्त्रियां भी उस योगी के साथ बार २ से भोग करती रहें, तब भी वह स्खलित नहीं हो सकेगा। कदाचित् मिथ्याहारविहार के दोष से अकस्मात् कभी वीर्यपात हो भी जाएगा तो वह पूर्वोक्त रीति से उसे पुनः धारण कर सकेगा—यही योगशास्त्रोक्त—'ग्रहण' में संयम करने का वास्तविक अर्थ है कि जिसके द्वारा पुरुष अपने कामेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर सकता है।

उक्त योगी जी ने 'खेचरी-मुद्रा' आदि कई एक मुद्राएं प्रत्यक्ष में भी हमें करके दिखाईं। योगसूत्र की इस व्याख्या को सुनकर हम सब अवाक् रह गये।

अब पाठक अनुमान कर सकते हैं कि जिस तरह साधारण रीति से खाता हुआ विष अवश्य ही प्राणों का संहारक है, परन्तु किसी अनुभवी वैद्य द्वारा सिद्ध किया हुआ वही विष औषधि रूप में खाया हुआ अमृत का गुण करता है, इसी प्रकार व्यभिचार रूप में आसक्त होकर की हुई कामचेष्टा निःसंदेह अधर्म हो सकती है, परन्तु जब अनासक्त होकर अपने इन्द्रिय दमन की सिद्धि के लिए योगियों को भी इस मार्ग का अगत्या अनुसरण करना पड़ता है तो इसमें पाप की सम्भावना करना न्यायसङ्गत नहीं हो सकता ! क्योंकि यदि किसी भी व्यक्ति को 'इन्द्रिय-विजय' करना अभीष्ट होगा तो उसके लिये 'विषस्य विषमौषधम्' और—'कण्टकेनैव कण्टकम्' की लोकोक्तिके अनुसार पूर्वोक्त रीति से 'ग्रहण' में ही संयम करना अनिवार्य होगा। सो इस तरह परम्परा से अपने वीर्य को खेंचने के अभ्यास के लिए अनासक्त होकर स्त्री सङ्ग भी करना ही पड़ेगा। अतः इसे कोई भी बुद्धिमान् पाप नहीं कह सकता।

प्रत्यक्ष में देखिये, कि यदि कोई पुरुष आत्महत्या करने के विचार से विषपान करने की चेष्टा करता है तो वह वर्तमान कानून के अनुसार अपराधी समझा जाता है और उसे अदालत की तरफ से यथायोग्य दण्ड दिया जाता है। परन्तु रोगनिवृत्ति के लिए आये दिन रोगी डाक्टरों और हकीमों से खरीद २ कर दशों तरह के विष खाते हैं उन्हें कोई नहीं पूछता। यद्यपि उक्त दोनों दृष्टान्तों में विषपान रूप क्रिया समान है। तथापि विचार के वैषम्य से एक जगह वह अपराध है और दूसरी जगह अनपराध! ठीक इसी तरह व्यभिचारी और योगी की चेष्टा तो समान होती है, परन्तु आसक्ति और अनासक्ति के तारतम्य से शास्त्र—पहिली को 'पाप' और दूसरी को इन्द्रिय-विजय का 'साधन' मानता है।

इस तरह भगवान् को 'योगीराज' मानने पर भी रासलीला का तात्पर्य 'इन्द्रिय-विजय' ही हो सकता है। जैसा कि मूलग्रन्थ में ही स्थान २ पर 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' कहकर भगवान् का अनासक्त एवं निर्विकार रहना प्रकट किया गया है। इसी भावना से प्रेरित होकर टीकाकार श्रीधर स्वामी भी रासलीला का उद्देश्य 'रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयाख्यापनाय' के अनुसार 'कामविजय' ही बतलाते हैं जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं।

पुरुष दृष्टि से

कदाचित् कोई शङ्कावादी महाशय दुराग्रहवश भगवान् कृष्ण को न ब्रह्म, न अवतार और नांही योगराज मानने को तैयार हों किन्तु साधारण मनुष्य मान कर ही रासलीला पर आक्षेप करना चाहते हों तो हम उसे भी निराश नहीं होने देंगे। क्योंकि 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यच्च श्रोता न बुध्यते' के न्यायानुसार यादृश-तादृश शङ्कावादी

महाशय की—ऊट पटाङ्ग शङ्का का भी समाधान कर देना सिद्धान्ती का परम कर्तव्य है। अतः पुरुष दृष्टि से भी उक्त लीला पर विचार करते हैं।

कल्पना कीजिए कि भगवान् शङ्कावादी के कथनानुसार साधारण पुरुष थे और उन्होंने अवश्य ही रासलीला के समय गोपियों से हँसी मसखरी तथा हाथापाई भी की हो! तथापि रासलीला की विशुद्धता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ सकता : क्योंकि—

(१) रासलीला के समय भगवान् की अन्यून आठ वर्ष की आयु थी—जैसा कि श्रीमद्भागवत (१० । १४ । ५६) में ब्रह्म-वत्सहरण के बाद की लीलाओं को 'पौगण्ड' (५ से १० वर्ष तक की) वयः की बताया गया है और गोवर्द्धन लीला के अनन्तर आने वाली शरद्-ऋतु में ही रासलीला हुई थी अतः भगवान् आठ वर्ष के थे यह निर्विवाद है।—सो आठ वर्ष के मनुष्य बालक में कामचेष्टा की सम्भावना नहीं की जा सकती, इसलिये मनुष्य दृष्टि से भी रासलीला की पवित्रता स्पष्ट है।

(२) रासलीला में सम्मिलित होने होने वाली गोपियों की संख्या बहुत अधिक लिखी है इसलिये इतने बड़े समुदाय में सबके समक्ष कामचेष्टा करना सर्वथा असम्भव है।

(३) यदि अवश्य ही गोपियें अपने २ घरों को छोड़कर रात भर रासलीला में रही होतीं तो अपनी २ स्त्रियों को घर में न पाकर और बिलखते हुवे बालकों से व्याकुल होकर गोपलोग कुछ कदम की दूरी पर होने वाले इस रास में न पहुँचते? इससे स्पष्ट है कि भगवान् ने उन गोपियों को घर लौटा दिया था और अपनी योगमाया निर्मित दिव्य गोपियों से ही रासक्रीड़ा की थी! यदि यह स्थापना विश्वास-योग्य नहीं तो—गोपों का भी अपनी २ स्त्रियों को घर में न पाकर

खर्राटे लेना भी युक्तिसंगत नहीं। इसलिए गोपियों के वापिस लौटने की दशा में अथवा गोपों के रास में पहुंच जाने की दशा में—हर दो हालत में—भगवान् की यह लीला विशुद्ध ही ठहरती है।

(४) यदि भगवान् ने उक्त लीला में कुछ भी अधर्माचरण किया होता तो युधिष्ठिर के यज्ञ में कृष्ण जी की अग्रपूजा से बिगड़ कर बेरोक टोक सौ गाली सुनाता हुआ शिशुपाल इसे बिना कहे कब बाज आता ? (महाभारत पढ़िए वहाँ गोप, ग्वाला, माखनचोर तो खूब कहा है परन्तु परस्त्रीगामी किंवा व्यभिचारी होने का ताना नहीं दिया) इससे भी भगवान् का शुद्ध आचरण-सम्पन्न होना स्पष्ट है।

(५) रासलीला के मुख्य श्रोता वक्ता परीक्षित और शुकदेव जी हैं। सो शुकदेव जी जैसे जीवनमुक्त, ब्रह्मज्ञानी वक्ता के मुख से—मृत्यु से भयभीत होकर राजपाठ छोड़कर मुक्ति के लिये प्रायोपवेशनव्रतधारी परीक्षित जैसे श्रोता के प्रति कामचेष्टा का प्रसंग कहना सुनना कहाँ तक संभव हो सकता है ? इससे भी रासलीला का निवृत्तिपरक होना सिद्ध होता है।

(६) यदि कहा जाये कि मूल में ही 'बाहुप्रसार' आदि पद्यों में जब कामचेष्टाओं का किया जाना लिखा है फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ?—इसका उत्तर यह है कि वेदव्यास जी ने उक्त रासपंचाध्यायी में—अधिक से अधिक 'रमण' शब्द का ही प्रयोग किया है। सो क्रीड़ावाचक रमु धातु का अर्थ खेल, कूद और विनोद मात्र ही हो सकता है, मैथुन, याभ या स्त्रीसङ्ग तीन काल में भी नहीं हो सकता, इससे भी रासलीला की विशुद्धता स्पष्ट है।

(७) सात आठ साल की आयु वाले बालकों का नाचना कूदना लिपटना और गले लग जाना न कभी पहिले अपराध समझा जाता था और नांही वर्तमान समय में पाप समझा जाता है। घरों में विनोदी

बालक रात दिन इस तरह की लीलाएं प्रायः रचा करते हैं, परन्तु कभी किसी को उनके इस विनोद में कामचेष्टा की बू नहीं आती फिर भगवान् के ही विशुद्ध बालविनोद को पाप कैसे कहा जा सकता है ?

(८) ध्यानपूर्वक मनन करने से श्री वेदव्यास जी की कविता चातुरी से भी भगवान् कृष्ण जी की स्थिति साफ व्यक्त होती है, क्योंकि वेदव्यास जी ने रासलीला के प्रसङ्ग में गोपियों का जिक्र उपस्थित होने पर प्रायः क्रीड़ावाचक रमु धातु की भी प्रेरणात्मक = णिजन्त क्रियाओं का ही प्रयोग किया है यथा—

(क) उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ।

(श्रीमद्भागवत १० । ३९ । ४६)

(ख) आत्मारामोऽप्यरीरमत् । (श्रीमद्भागवत १०।२९।४२)

—जिस का अर्थ 'रमण करना' नहीं, बल्कि 'रमण कराना' ही हो सकता है । इससे भी यही ध्वनित होता है कि भगवान् ने स्वयं 'रमण क्रीड़न' भी नहीं किया बल्कि गोपियों ने ही भगवान् को साधन बनाकर स्वयं सब क्रीड़ा की है । इससे यदि कुछ आक्षेप हो भी सकता है तो वह किसी हद तक गोपियों पर ही हो सकता है । एक आठ साल के बालक पर हरगिज नहीं ।

इस तरह हम अनेक दृष्टियों से भगवान् की रासक्रीड़ा का विवेचन करने के बाद इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि चाहे किसी भी दृष्टि को आगे रखकर रासलीला का परीक्षण क्यों न किया जाय उसी दृष्टि से यह चरित्र विशुद्ध सिद्ध होगा । इतने पर भी यदि कोई दुराग्रही अपनी बकझक को बन्द न करे तो उसका उपाय तो साक्षात् ब्रह्मा जी के पास भी कुछ नहीं हो सकता क्योंकि—

'सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

—के अनुसार भर्तृहरि सरीखे अनुभवी कवि भी मूर्खों के मुकाबले में नाकामयाब रहे हैं, हमारी तो गणना ही क्या है ?

राधा और कृष्ण

१३

राधा और कृष्ण के सम्बन्ध में महाशय रामसहाय वैतनिक सेवक आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान (जोधपुर) की लिखी एक पुस्तिका "राधा रहस्य" और कासगंज (उत्तर प्रदेश) के अंग्रेजी औषधविक्रेता म० श्रीराम द्वारा लिखित इसी आशय का एक विज्ञापन और उक्त दोनों प्रकाशनों की ही जूठन समेट कर फर्रूखाबाद (उ० प्र०) के भ० प्रेमचन्द्र आर्य द्वारा प्रकाशित "सत्य का निर्णय" नामक ट्रैक्ट हमारे देखने में आए ।

इन ट्रैक्टों में अनेक अंटशंट अशुद्ध संस्कृत पद्यों के टुकड़े देकर अपने दादा गुरु दयानन्द की तरह अनेक मनमाने अर्थ दिखा कर भोली भाली जनता को वेदशास्त्र आदि से अनुमोदित—श्रीराधाकृष्ण से विमुख करने की चेष्टा की गई है ।

इसलिये अब हम यथापूर्व वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों द्वारा राधाकृष्ण की जुगल जोड़ी का निरूपण करते हैं :—

वैदिक-स्वरूप

(क) राधे ! विशाखे ! सुहवानु राधा (अथर्व० १६।७।३)

(ख) इन्द्रं वयमनुराधं हवामहे । (अथर्व १६।१५।२)

अर्थात्—(क) हे राधे ! हे विशाखे ! श्री राधाजी हमारे लिये सुखदायिनी हों । (ख) हम सब भक्तजन राधासहित श्रीकृष्ण भगवान की स्तुति करते हैं ।

पौराणिक-स्वरूप

(क) त्वं ब्रह्म चेयं प्रकृतिस्तटस्था,
कालो यदेमां च विदुः प्रधानम् ।
महान्यदा त्वं जगदङ्कुरोऽसि,
राधा तदेयं सगुणा च माया ॥
(गर्गसंहिता गो० १६ । २५)

(ख) तद्वामांशसमुद्भूतं गौरं तेजः स्फुरत्प्रभम् ।
लीला ह्यतिप्रिया तस्य तां राधां तु विदुः परे ॥
(गर्गसंहिता गो० ६ । २३)

(ग) परिपूर्णतमः साक्षाच्छ्रीकृष्णो भगवान्स्वयम् ।
असंख्यब्रह्माण्डपतिर्गोलोकेशः परात्परः ॥
(गर्गसंहिता गो० १५ । ५२-५३)

(घ) श्रीकृष्णपटराज्ञी या गोलोके राधिकाऽभिधा ।
त्वद्गृहे सापि संजाता त्वं न जानासि तां पराम् ॥
(गर्ग० गो० १५ । ५६)

(ङ) राधाकृष्णेति हे गोपा ये जपन्ति पुनः पुनः ।
चतुष्पदार्थः किं तेषां साक्षात्कृष्णोऽपि लभ्यते ॥
(गर्ग० गो० १५ । ७१)

(च) ये राधिकायां मयि केशवे मनाक्,
भेदं न पश्यन्ति हि दुग्धशौक्लवत् ।

त एव मे ब्रह्मपदं प्रयान्ति त-
दहैतुकस्फूर्जितभक्तिलक्षणाः ॥

(गर्ग० बृ० १२ । ३२)

अर्थ—(क) [देवगण स्तुति करते हुए कहते हैं कि] हे भगवन् ! आप साक्षात् ब्रह्म हैं और श्री राधाजी आपकी तटस्थ प्रकृति हैं। आप काल हैं यह प्रधान माया है। जब आप महदादिक गुण होकर जगत् के अंकुर (बीज) होते हो तब यह सगुण माया है। (ख) भगवान् के वाम भाग से उत्पन्न होने वाला जो प्रभायुक्त गौर तेज है वह भगवान् की अतीव प्रियतमा लीला है जिसे भक्तजन श्रीराधा कहते हैं। (ग) श्रीकृष्ण जी परिपूर्णतम स्वयं भगवान् हैं और अगणित ब्रह्माण्डों के पति एवं गोलोक के सर्वोपरि अधिष्ठाता हैं। (घ) [नारदजी कहते हैं, कि हे वृषभानो !] गोलोक में श्रीकृष्ण भगवान् की 'राधा' नामक जो पटरानी है वही तुम्हारे घर में उत्पन्न हुई है तुम उसका भेद नहीं जानते। (ङ) हे गोपगण ! जो लोग 'राधाकृष्ण' ऐसा जाप करते हैं चार पदार्थों का तो कहना ही क्या है साक्षात् कृष्ण भगवान् भी उनको प्राप्त हो जाते हैं। (च) दूध और उसकी सफेद कान्ति की तरह जो लोग मुझ कृष्ण में और श्री राधिका जी में भेद नहीं देखते हैं अर्थात् एक ही समझते हैं वे ही ज्ञानीजन ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं अथच वे ही हेतुरहित प्रगाढ़ भक्ति के अधिकारी हैं।

इस प्रकार वेदादि ग्रन्थों में श्रीकृष्ण भगवान् को ब्रह्म और श्री राधिका जी को विशुद्ध प्रकृति के नाम से स्मरण किया गया है। उपर्युक्त सिद्धान्त के समर्थक सहस्रों प्रमाण आर्ष ग्रन्थों में भरे पड़े पड़े हैं, जो इस लघु कलेवर लेख में उद्धृत करने न केवल असम्भव हैं, अपितु अनावश्यक भी हैं। इसलिये बुद्धिमानों के लिये 'दिङ्मात्र' प्रदर्शन ही पर्य्याप्त है।

प्राचीन भाष्यों में राधा और कृष्ण

हमारी पूर्वोक्त स्थापना को पढ़कर कदाचित् किसी महाशय को 'कोरी कल्पना' कहने का अवसर न मिले एतदर्थ हम 'गोपालसहस्रनाम' नामक प्रसिद्ध स्तोत्र के पं० दुर्गादत्त कृत प्राचीनतम संस्कृत भाष्य के कुछ उद्धरण यहां उद्धृत करते हैं जिससे पाठक यह अनुमान कर सकेंगे कि राधा और कृष्ण का प्रकृति और पुरुष के रूप में अनादि काल से उल्लेख विद्यमान है, यथा—

"राधयति साधयति—उत्पादनरूपेण सृष्टिकार्याणीति राधा प्रकृतिः"। कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृति-वाचकः तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

अर्थात्—उत्पादन रूप से सृष्टि कार्यों के सम्पादन करने वाली होने से श्रीराधा प्रकृति रूपा हैं। तथा 'कृष्' शब्द सत्ता का वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द वाचक है। इन दोनों की एकता सत् आनन्द-रूप परब्रह्म 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है। इन्हीं ब्रह्म और शक्तिरूपा प्रकृति के रूप में श्रीराधा-कृष्ण के सहस्रनाम 'गोपालसहस्रनाम' में लिखे हैं। गया—

राधारतिसुखोपेतो राधामोहनतत्परः।
राधावशीकरो राधाहृदयाम्भोजषट्पदः ॥

(दौर्गिभाष्य) राधाया—उपादानभूतायाः प्रकृत्याः (प्रकृति-माश्रित्येति ल्यब् लोपे पञ्चमी) या रतिः सृष्टिक्रियारूपाक्रीडा तत्र स्वरूपभूतेनानन्ताख्येनोपेतः। अत्र रतिशब्दः सृष्टिक्रियावचनः "स वै नैव रेमे" इत्यादि बृहदारण्यकश्रुत्या सृष्टि-क्रियाया ब्रह्मणः क्रोडारूपेण प्रतिपादितत्वात्। राधायाः प्रकृत्या यो मोहनो मोहोत्पादको गुणस्तत्र तस्मात् परस्तत्परः। राधायाः प्रकृतेर्वशी-

करस्तदधीश्वर इत्यर्थं । राधायाः प्रकृतेर्यद् हृदयं हृदयाश्रितं महदहङ्कारादिकार्यं तदेवाम्भोजं कारणसलिलोत्पन्नत्वात् षट्पदो भ्रमर इव तद्रहस्य रूपरसज्ञ इत्यर्थः ।

अर्थात्—श्री गोपाल (कृष्ण) जी राधा अर्थात् उत्पादन रूप प्रकृति का आश्रय लेकर जो सृष्टि-क्रिया-रूप (रति) क्रीड़ा उसमें स्वरूपभूत सुख से युक्त हैं। अर्थात् सांसारिक पदार्थों में जो कुछ सुख है वह परमात्मा का ही है। यहां रति शब्द क्रीड़ारूप सृष्टिवाचक है, क्योंकि "स वै नैव रेमे" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति द्वारा सृष्टिक्रिया को ब्रह्म की क्रीड़ारूप से प्रतिपादन किया है। राधा = प्रकृति का जो मोहन = जीवों को मोह में डालने वाला गुण है उससे वे पर हैं अर्थात् प्राकृतिक पदार्थ उनको मोह में नहीं डाल सकते। वे राधा अर्थात् प्रकृति को वश में रखने वाले हैं। अर्थात् उसके अधीश्वर हैं। राधा = प्रकृति को जो हृदय = हृदयाश्रित महत्त्व अहंकारादि जो कार्य है वही अम्भोज है, आदि कारण सलिल से उत्पन्न होने के कारण कमल रूप है। उसके लिये भ्रमर के समान रहस्य रूप रस के ज्ञाता हैं।

राधालिङ्गनसंमोहो राधानर्तनकौतुकः ।
राधासंजातसंप्रीती राधाकामफलप्रदः ॥

(यौगिभाष्य) राधायाः प्रकृतेरालिङ्गनेनाश्लेषेण संयोगेनेति यावत् सम्मोहयतीति सम्मोहः संपूर्वकाण्ण्यन्तान् मुह धातोः पचाद्यच् राधायाः प्रकृतेर्यन्नर्तनं जगद्रूपेण परिणमनं तस्य कौतुकं यस्य स तथोक्तः। राधायाः कार्यरूपप्रकृत्याः कामफलं कामनानुरूपं फलं प्रददातीति तथोक्तः।

अर्थात्—राधा = प्रकृति के (आलिंगन) मिलन या संयोग से सांसारिक प्राणियों को मोहने वाले हैं। राधा = प्रकृति का जो नर्तन—जगत् के रूप से परिवर्तन होना—उसके कौतुकी हैं। अर्थात् समस्त

जगत् की रचना उनका कौतुक हैं। राधा = प्रकृति द्वारा उत्पन्न प्राणियों को आनन्दित करने वाले हैं। राधा = कार्यरूप प्रकृति द्वारा इच्छानुरूप फल के देने वाले हैं।

क्या कृष्ण के राधा से तीन रिश्ते थे ?

दयानन्दियों का कहना है कि 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' (ब्रह्मपर्व ५) में कृष्ण के साथ राधा के तीन अजीब रिश्ते बताये हैं। तदनुसार राधा कृष्ण की पुत्री, पुत्र-वधू, वा मामी हुई।

वाह रे महाशयो ! बीच के श्लोकों को छोड़ कर और श्लोकों के आधे २ अशुद्ध टुकड़े लिख कर एवं प्रकरण-विरुद्ध कहीं की कथा कहीं जुटा कर और मनमाने अर्थ घड़ कर कृष्ण और राधा के अजीब तीन रिश्तों का कैसा बेतुका झूठा राग आलापा है ! तथा जनता को धोखा देने और भ्रम में डालने का कैसा घृणित प्रयास किया है ! !

हम उक्त श्लोकों को पूरा पूरा देकर प्रकरणानुकूल वास्तविक अर्थ दिखाते हैं। उक्त प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य अंगप्रत्यंग से मानसी (अमैथुनी) सृष्टि का वर्णन है। जितने देव पुरुष श्रीकृष्ण के शरीर से उत्पन्न हुए हैं उन उन पुरुषों की स्त्रियां उन २ पुरुषों के बाएं अंग से उत्पन्न हुई हैं। जैसे—

आविर्बभूव तत्पश्चात् कृष्णस्य परमात्मनः।
मानसाच्च पुमानेकस्तप्तकांचनसन्निभः ॥६॥
तन्नाम 'मन्मथं' तेन प्रवदन्ति मनीषिणः।
तस्य पुंसो वामपार्श्वात् कामस्य कामिनी वरा।
बभूवातीव ललिता सर्वेषां मोहकारिणी ॥७।८॥

(ब्रह्म वै० ब्रह्म ख० ब्रह्म कल्प अ० ४)

अर्थात्—उसके पश्चात् परमात्मा श्रीकृष्ण के मन से तपे हुए सुवर्ण की कान्ति वाला एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उसको बुद्धिमान् लोग मन्मथ (कामदेव) कहते हैं। उस पुरुष कामदेव के वाम पार्श्व से (वाम अङ्ग से अति सुन्दर सब को मोहने वाली उसकी श्रेष्ठ स्त्री उत्पन्न हुई। उसी प्रकार—

आविर्बभूव कन्यैका कृष्णस्य वामपार्श्वतः।
धावित्वा पुष्पमानीय ददावर्घं प्रभोः पदे॥
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तम।
प्राणाधिष्ठात्री सा देवी कृष्णस्य परमात्मनः॥

(२५। २६। २७)

अर्थात्—परमात्मा कृष्ण से बाएं अङ्ग से एक कमनीया स्त्री उत्पन्न हुई। उसने भगवान् कृष्ण के चरणों को धोकर फूल लाकर अर्घ्य दिया, विद्वानों ने उसका नाम (आराधनात्) राधा कहा है। वह कृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री देवी थी। अन्यत्र कहा है—

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामाङ्गः प्रकृतिः स्मृतः॥

(ब्रह्म वै० प्रकृ० खं० अ० १२ श्लो० ६)

अर्थात्—परमात्मा श्रीकृष्ण सृष्टि रचना के समय दो रूप वाले हो गये। दाहिना आधा अङ्ग पुरुष और बांया अंग प्रकृति रूपा स्त्री हुई। ब्रह्मवैवर्त पुराण का यह वर्णन वेद एवं उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित है। जैसे—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाँसौ संपरिष्वक्तौ

स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् । (बृहदारण्यक १ । ४ ३)

अर्थात्—उस ब्रह्म ने रमण (सृष्टि उत्पादन रूप खेल) नहीं किया था इस कारण कि वह अकेला रमण नहीं करता । उसने दूसरे की इच्छा की । जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री पुरुष होते हैं, वैसा उसका स्वरूप हो गया । उसने अपने को ही दो भागों में विभक्त कर डाला । वे पति और पत्नी हुवे । भगवान् श्रीकृष्ण के वामाङ्ग से श्रीराधा की उत्पत्ति का भाव है कि वे एक से दो अर्थात् पति-पत्नी रूप में हो गये ।

आगे प्रकरण को देखिये—

वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह ।
अयोनिसम्भवा देवी वायुगर्भा कलावती ।।
सुषुवे मायया वायुं स तत्राविर्बभूव ह ।
अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनाम् ।।
सार्धं रायणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार सः ।
छायां संस्थाप्य तद्गेहे सान्तर्धानमवाप ह ।।
बभूव तस्य वैश्यस्य विवाहश्छायया सह ।
कृष्णमाता यशोदा या रायणस्तत् सहोदरः ।।
गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात्कृष्णमातुलः ।।
कृष्णेन सह राधायाः पुण्ये वृन्दावने वने ।
विवाहं कारयामास विधिना जगतां विधिः ।।

(ब्रह्म वै० खं० २ अ० ४९ श्लो० ३२ से ४२)

अर्थात्—व्रजभूमि में अवतार लेने पर वह राधा वृषभानु वैश्य

की कन्या हुई ।।३६।। वृषभानु की स्त्री कलावती वायुगर्भा (जिसके गर्भ में केवल वायु मात्र थी) थीं उसने वायु प्रसव किया। प्रसव होते ही श्री राधा देवी अयोनिजा (गर्भ से उत्पन्न न होने वाली) प्रकट हो गई। ।।३७।। बारह वर्ष व्यतीत होने पर उसके पिता ने उसे नवयुवती होने वाली देख कर रायण वैश्य के साथ उसका सम्बन्ध—सगाई कर दी ।।३८।। किन्तु राधा जी अपने प्रभाव से अपने ही अनुरूप एक 'छाया' नाम की कन्या को उत्पन्न कर और उसे घर में स्थापित कर स्वयं अन्तर्धान हो गई, रायण वैश्य का विवाह उसी 'छाया' नाम की कन्या के साथ हुआ ।।३९।। श्रीकृष्ण की धायरूप माता जो यशोदा थीं, रायण उसका भाई था। वह गोलोक में गोप कृष्ण का अंश (अर्थात्—उन कृष्ण के अंश से गोलोक के सृष्टि प्रकरण में जिस प्रकार अन्य अनेक व्यक्तियों की उत्पत्ति हुई थी उसी प्रकार उत्पन्न होने वाला) सखा था। ब्रज में उनकी धाय रूप माता यशोदा का भाई होने के नाते श्रीकृष्ण जी का वह मामा हुआ। पवित्र वृन्दावन में श्री ब्रह्मा जी ने कृष्ण जी के साथ श्री राधा जी का विधिपूर्वक दिव्य विवाह कराया ।।४०।।

ऊपर के ब्रह्म० वै० पुराण प्रकरण से स्पष्ट है कि रायण वैश्य के साथ दिव्य 'छाया' का विवाह हुआ था और श्रीकृष्ण जी के साथ श्री राधा जी का दिव्य विवाह हुआ। अतः आक्षेपकर्ताओं का श्रीराधा जी को श्रीकृष्ण जी की पुत्री, पुत्र वधू व मामी कहना सरासर झूठ है।

रुक्मणीकृष्ण क्यों नहीं ?

'भगवान् की पटरानी श्री रुक्मणी थी, यह सब पौराणिक मानते हैं परन्तु, 'रुक्मणीकृष्ण' के मन्दिर न बना कर राधाकृष्ण के मन्दिर बनाना और 'राधाकृष्ण' रटना क्या माने रखता है? यह शङ्का भी

प्राय: बहुत से महाशयों को घेरे रहती है। हम इसका संक्षिप्त निराकरण करना आवश्यक समझते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त जितने भी अवतार किंवा भगवान् के सगुण विग्रह हैं वे सब 'रक्षावतार' 'मर्यादावतार और 'उपास्य-विग्रह' हैं। अत: उन सबमें लौकिक पति-पत्नी भाव का प्राधान्य द्योतक नाम ही युक्तिसंगत हो सकता है और अंशांश एवं कलावतार होने के कारण भी वे सब 'परा' और 'अपरा' माया के दो भेदों में से केवल 'परा' माया के अधिष्ठान द्वारा ही अवतरित हुए थे, इसलिए भी इनकी उपासना में लौकिक पति-पत्नी भाव का प्राधान्य ही ऋषिसम्मत है, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् तो—

'एते चांशकला: प्रोक्ता: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'

—के अनुसार साक्षात् ब्रह्म है = पूर्णावतार है इस लिये वे 'परा' और 'अपरा' उभयविध माया के अधिष्ठान से अवतरित हुये थे जैसा कि उन्होंने गीता में कहा है:—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।

अर्थात्—मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके अपनी माया से प्रकट होता हूं। इस श्लोक में 'स्वां प्रकृतिं' और 'आत्ममाया' ये दोनों वाक्य विशेषत: विचारणीय हैं। सामान्यतया तो 'स्व प्रकृति' और 'आत्ममाया' का एक ही अर्थ हो सकता है, फिर एक ही श्लोकार्घ में क्या ये सामानार्थक दोनों शब्द 'पुनरुक्त' दोष के परिचायक हैं? अन्यथा 'अपनी प्रकृति' और 'अपनी माया' इस पुनरुक्ति का क्या अभिप्राय है? इस समस्या पर अन्तर्मुख होकर विचार करने से यही प्रकट होता है कि वेदादि शास्त्रों में भगवान् की माया के दो भेद बताये गये हैं यथा—

(क) श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ। (यजु० ३१। १६)

(ख) द्वे विद्ये वेदितव्ये परा ह्यपरा च ।

अर्थात्—(क) 'श्री' और 'लक्ष्मी' भगवान् की दो पत्नी हैं। (ख) 'परा' और 'अपरा' दो विद्या हैं जिन्हें जानना चाहिये ।

यही कारण है कि ब्रह्माजी की पत्नी सावित्री और सरस्वती दो हैं। भगवान् शंकर की पत्नी सती और पार्वती दो ही हैं। लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु ने भी तुलसीकृत रामायण के वर्णनानुसार नारद-मोह-नाशन प्रसंग में, शीलनिधि राजा की मायारूपिणी कन्या 'श्री' का पाणि-ग्रहण किया था। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यही आशय प्रकट होता है कि त्रिदेव में प्रत्येक दो दो पत्नियों के स्वामी हैं। वस्तुतः ब्रह्म है ही 'परा' और 'अपरा' उभयविध माया का अधिष्ठाता ! सो कृष्ण के अतिरिक्त अन्यान्य अवतार, अंशावतार = कलावतार होने के कारण केवल 'स्व प्रकृति' के अधिष्ठान से अवतरित हुए थे, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् 'स्वप्रकृति' और 'आत्म माया' अर्थात् 'परा' और 'अपरा' दोनों प्रकार की प्रकृति के अधिष्ठाता होकर भूमण्डल पर आए थे, अतएव वे पूर्णावतार कहे जाते हैं।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण जी को 'गोपालसहस्रनाम' आदि स्तोत्रों में 'रुक्मणीरमण' नाम से भी स्मरण किया गया है और यदि कोई भक्त इसी नाम से उनका चिन्तन करता है तो वह उसी फल को प्राप्त होता है जो कि 'सीताराम' और 'गौरीशंकर' नाम स्मरण करने वाले भक्तों को मिलता है। परन्तु कृष्णावतार की विशेषता और पूर्णता 'अपरा' माया के अधिष्ठान में है, इसीलिए वे सर्व-कलानिधान होते हुए भी भक्तों की दृष्टि में केवल प्रेमाभक्ति के ही अवतार हैं। यह सभी जानते हैं कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार अमुक लोकोत्तर एवं विशिष्ट गुण ही तादृश संज्ञा का कारण होता है। सो दुष्टदमन और भक्तरक्षा आदि २ कार्य तो सभी अवतारों

में पाए जाते हैं, परन्तु जैसे मानव-मर्य्यादा की सीमा निर्धारित करने के कारण भगवान् रामचन्द्र जी ही 'मर्य्यादा पुरुषोत्तम' कहे जाते हैं, इसी प्रकार 'प्रेमाभक्ति' की पराकाष्ठा के एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ही 'लीला पुरुषोत्तम' कहे जाते हैं। सो कृष्ण नाम का स्वारस्य 'रुक्मणीकृष्ण' होने में नहीं है, अपितु राधाकृष्ण होने में ही है—क्योंकि कृष्णावतार की पूर्णता 'परा' माया-रूपिणी श्रीरुक्मणी जी के लौकिक सम्बन्ध से नहीं है, अपितु 'अपरा' मायारूपिणी श्रीराधा जी के लोकोत्तर साहचर्य्य से है, जो कि अन्यान्य अवतारों में नहीं पाया जाता। इसीलिये कृष्णावतार का प्रधान उद्देश्य भावि 'कलिकाल' में सम्भावित द्वेष दावानल से दग्ध मानव-समाज का 'प्रेमाभक्ति' के अमृतमय सिंचन से परित्राण करना ही था और उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र केन्द्र श्री राधा जी का पवित्र चरित्र है, जो प्रेमपंथ के यात्रियों के लिये 'दीपस्तम्भ' की तरह पथ प्रदर्शन करता है। इसीलिये वे सोते-जागते, उठते-बैठते राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहते हुवे, प्रेमासागर की उत्ताल तरंगों में तन्मय हो जाते हैं।

राधा का कृष्ण से क्या नाता है ?

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं तो श्री राधिका जी उनकी अभिन्न छाया माया हैं—यह तो हुआ उनका पारमार्थिक लोकोत्तर सम्बन्ध ! परन्तु व्यावहारिक सम्बन्धों में—राधा का श्रीकृष्ण से क्या नाता है ? इस विषय पर भी प्रकाश डालना परमावश्यक है, क्योंकि शास्त्र के गहरे स्वाध्याय और समन्वय के बिना इस समस्या का हल होना भी असम्भव नहीं तो अतीव कठिन अवश्य है। हम क्या कोई भी, यदि आर्ष ग्रन्थों में मिलने वाले राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रसंगों का सर्वाङ्गीण समन्वय करेगा तो वह इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि राधा का श्रीकृष्ण से व्यावहारिक न तो कोई भी नाता है : क्योंकि लोक में

—दादी, नानी, फूफी, मां, ताई चाची बहिन, पत्नी, साली, मामी, भाणजी आदि जो रक्त से सम्बन्ध रखने वाले नाते रिश्ते हैं, न तो इनमें से कोई नाता श्री राधाजी के साथ कृष्ण का था और नांही—स्वकीया परकीया, गणिका, दासी आदि जो साहित्य-वर्णित स्नेहजन्य सम्बन्ध हैं, उनमें से कोई नाता भगवान् से राधा का प्रकट होता है। हम पाठकों के सौकर्य्य के लिये कतिपय संभावित सम्बन्ध के विषय में कुछ कारणावलिपूर्वक विचार करते हैं जिससे हमारी पूर्व प्रदर्शित स्थापना का तत्त्व जल्दी समझ में आ सके—

(१) श्रीकृष्णचन्द्र जी विशुद्ध क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे और श्री राधा जी वृषभानु गोप की कन्या थीं, इसप्रकार धर्मशास्त्र की दृष्टि से उनका कोई भी वर्ण = जातिजन्य परस्पर सम्बन्ध नहीं था।

(२) कदाचित् भगवान् कृष्ण के बाल्यकालीन पालक पिता श्रीनन्द जी को गोप जातीय होने के कारण भगवान् को भी गोप मान लिया जाय और एतावत राधा के साथ कृष्ण के वैवाहिक सम्बन्ध की कल्पना की जाए तो यह कोरी कल्पना ही रह जाती है, क्योंकि 'गर्ग-संहिता' आदि राधा-चरित्र के मुख्य ग्रन्थों में कही भी राधा कृष्ण के लौकिक विवाह का उल्लेख नहीं। केवल वर-वरण अर्थात् 'सगाई' मात्र का उल्लेख है, और वह भी नन्द के कुछ प्रतिद्वन्द्वी असहिष्णु गोपों द्वारा वृषभानु को बहकाकर उनके वैभव की परीक्षा के लिये ही हुआ है, जैसा कि, 'गर्गसंहिता' (गिरि० अध्याय ५-६) में लिखा है। यथा—

यदि नन्दसुतः साक्षात् परिपूर्णतमो हरिः।
सर्वेषां पश्यतां नस्तत्परीक्षां कारय प्रभो ॥ (एर्ग० ६८)

अर्थ—[गोपों ने राधा के पिता वृषाभानु जी से कहा कि—]

यदि नन्द का बेटा साक्षात् परमात्मा है तो हम सब के सामने उसकी महिमा की परीक्षा कीजिये ।

(३) जहां राधा कृष्ण का सर्वजनविदित लौकिक विवाह नहीं हुआ है वहाँ भगवान् की 'स्तनन्धय' = दुधमुंही अवस्था में विश्वकर्ता ब्रह्माजी ने भाँडीरक वन में असीम आकाश के निर्मल एवं प्राकृतिक वितान-मण्डप के नीचे, मेघों की गम्भीर गर्जना और बिजली की कोलाहलपूर्ण कड़-कड़ाहट के गाजे बाजों के तुमुल निनाद में, उनके कोकोत्तर विवाह का अभिनय अवश्य किया है, जिसका पता न राधा के माता-पिता कलावती और वृषभानु को हुआ और नाहीं कृष्ण के माता-पिता यशोदा और नन्दबाबा को चला, न किसी को भाईचारे की भाजी मिली और नाहीं किसी गोप ग्वाले को बाराती की हैसियत से कण का भर मिठाई मिली। राधा = कृष्ण और ब्रह्मा इस त्रयी को छोड़कर संसार के किसी भी अन्य प्राणी को इसका कानों कान पता तक भी नहीं चला। शायद इसी अभूतपूर्व विवाह के कारण 'पूड़ा न पापड़ी- पटाक बहू आपड़ी' की लोकोक्ति प्रसिद्ध हुई हो। आइये हम आपको राधाकृष्ण के सदैव जुड़े रहने वाले बेजोड़ एवं बेमिसाल विवाह का गर्ग जी के शब्दों में फोटो दिखाएं :—

राधा का कृष्ण के साथ दिव्य विवाह

अघटित-घटना-पटीयसी, महीयसी, अभिन्न छाया माया का ब्रह्मा के साथ जैसा अमिट और अटूट सम्बन्ध है वही सम्बन्ध राधा का कृष्ण से है, परन्तु इस लोकोत्तर एव विज्ञान-पूर्ण दार्शनिक सम्बन्ध को 'लौकिकी भाषा' में प्रकट करने के लिये क्रान्तदर्शी ऋषियों ने जिस शैली का आश्रय लिया है और जिन शब्दों में उसका चित्रण किया है वह कथानक (Plot) दर्शनीय है। यथा :—

गाश्चारयन्नन्दनमङ्कदेशे,
संलालयन् दूरतमं सकाशात् ।
कालिन्दजा-तीर-समीर-कम्पितं,
नन्दोऽपि भांडीरवनं जगाम ॥१॥
कृष्णेच्छया वेगतरोऽथ वातो,
घनैरभून्मेदुरमम्बरं च ।
तदान्धकारे महति प्रजाते,
बाले रुदत्यङ्कगतेऽतिभीते ॥२॥
नन्दो भयं प्राप शिशुं स बिभ्रद्,
हरिं परेशं शरणं जगाम ।
तदैव कोटचर्कसमूहदीप्ति-
रागच्छतीवा चलती दिशासु ॥३॥
बभूव तस्यां वृषभानुपुत्रीं,
ददर्श राधां नवनन्दराजः ।
तत्तेजसा धर्षित ह्यासु नन्दो,
नत्वाथ तामाह कृताञ्जलिः सन् ॥४॥
अयं हि साक्षात्पुरुषोत्तमस्त्वं,
प्रियास्य मुख्यासि सदैव राधे !
गुप्तं त्विदं गर्गमुखेन वेद्मि,
गृहाण राधे निजनाथमङ्कात् ॥७॥

एनं गृहं प्रापय मेघभीतं,
वदामि चेत्थं प्रकृतेर्गुणाढ्यम् ।
नमामि तुभ्यं भुवि रक्ष मां त्वं,
भक्तिर् दृढा स्याद् युवयोः पदाब्जे ॥१०॥
तथास्तु चोक्त्वाथ हरिं कराभ्यां,
जग्राह राधा निजनाथमङ्कात् ।
गतेऽथ नन्दे प्रणते व्रजेशे,
बभूव कैशोरवपुर्घनप्रभः ॥११॥
तदांबराद्देववरो विधिः प्रभुः,
कृताञ्जलिश्चारु चतुर्मुखो जगौ ॥१७॥
(गर्गसंहिता गोलोक० अ० १६)

अर्थ—[एक दिन] नन्दबाबा भगवान् कृष्ण को गोद में लिए लाड़ लड़ाते खिलाते हुए, गाय चराते चराते यमुना के किनारे की हवा के झोंकों से कम्पित सुदूर भांडीरवन में जा निकले । ॥१॥ कृष्ण की इच्छा से उस समय अतीव प्रचण्ड वायु चलने लगा, तथा मेघों से आकाश आच्छादित होकर घटाटोप अन्धड़ और तूफान आगया ॥२॥ जब घोर अन्धकार छा गया तो अत्यन्त भयभीत हुआ बालक (कृष्ण) नन्दजी की गोद में जोर से रोने लगा । ऐसे समय में नन्दजी बड़े भयभीत हुये अन्त में बालक को गोद में उठाए भगवान् की शरण में गये ॥३॥ उस समय करोड़ों सूर्य्य समूहों की कांति-सी दिशाओं में फैलती हुई दीख पड़ी, जिसके मध्य में नव नन्दों के राजा नन्द बाबा ने वृषभानु की कन्या श्री राधिका को देखा ॥४॥ उसके तेज से चकित हुए नन्द तत्काल उसको प्रणाम करके हाथ जोड़ कहने

लगे—हे राधे ! यह बालक तो साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् है तुम इसकी सनातनी मुख्य प्रिया हो ।।७।। हे राधे ! यह गुप्त रहस्य मैं गर्ग के मुख से (सुना हुआ) जानता हूं । सो तुम अपने इस पति को मेरी गोद में से ग्रहण करो और प्रकृति के समस्त गुणों के अधिष्ठानभूत इस बालक को—जो कि अब इस मेघाडम्बर से भयभीत है—घर पहुंचा दो ।।८।। मैं तुझे नमस्कार करता हूं तू मेरी रक्षा कर, आप दोनों के चरणों में मेरी दृढ़ भक्ति हो ऐसा वरदान दीजिये ।।९-१०।। राधा ने 'तथाऽस्तु' कहकर अपने स्वामी भगवान् कृष्ण को नन्द बाबा की गोद से दोनों हाथों द्वारा उठा लिया । जब व्रजपति नन्द बाबा प्रणाम करके चले गए, तब बालक रूप भगवान् मेघ के समान सुन्दर किशोर अवस्था में हो गये ।।११-१७।। उसी समय आकाश से देवाधिदेव चतुर्मुख ब्रह्माजी आये और हाथ बांध कर कहने लगे ।।११-२०।।

यदा युवां प्रीतियुतौ च दम्पती,
परात्परौ तावनुरूपरूपितौ ।
तथापि लोकव्यवहारसंग्रहाद्,
विधिं विवाहस्य तु कारयाम्यहम् ।।
तदा हरिः प्राह विधिः प्रभो मे,
देहि त्वदंघ्र्योर्निजभक्तिदक्षिणाम् ।
तदैव कृष्णस्तु बभूव बालो,
दत्त्वा च बालं किल नन्दपत्न्या ।।
इत्थं हरेर्गुप्तकथा च वर्णिता,
राधाविवाहस्य सुमंगलावृता ।।

श्रुता च यैर्वा पठिता च पाठिता,
तान्पापवृन्दा न कदा स्पृशन्ति ॥

अर्थ—[ब्रह्माजी ने कहा कि—] हे भगवान् यूं तो आप दोनों एक दूसरे के अनुरूप परस्पर प्रीतियुक्त परात्पर = प्रकृति पुरुष रूप दम्पती हैं ही, तथापि लोकव्यवहार के संग्रहार्थ में आप दोनों की लोकोत्तर विवाहविधि का सम्पादन करता हूं ॥२६॥ (विवाह विधि सम्पन्न हो जाने पर) श्री ब्रह्माजी ने भगवान् से कहा कि हे प्रभो ! अपने चरणारविन्द की भक्ति-रूप दक्षिणा मुझे प्रदान कीजिए ॥३७॥ (इसप्रकार वैवाहिक लीलाकाण्ड के समाप्त हो जाने पर) भगवान् वैसे ही स्तनन्धय बालक बन गये श्री राधाजी ने बन से लौटकर भगवान् बालकृष्ण को श्री यशोदा जी को दे दिया ॥५०-५३॥ (नारद जी कहते हैं कि—) इसप्रकार हमने श्री राधाकृष्ण के मांगलिक विवाह की गुप्त कथा का वर्णन किया है जो इसे सुनेंगे, पढ़ेंगे, किंवा पढ़ायेंगे, उनको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करेगा ॥५६॥

जिस रूप में यह कथा वर्णित है उसी रूप में इसको अक्षरशः सत्य मानने वाले आस्तिक भक्तों को तो कभी शंका हो ही नहीं सकती, परन्तु 'परोक्षवाद' के विरोधी और 'प्रत्यक्षवाद' के लाडले 'देवानां प्रिय' कहे जानेवाले नास्तिकों को इस में अब भी असम्भवता आदि दोषों की गन्ध आ सकती है। उनको हम यही कह देना चाहते हैं कि यदि वे कवित्व समझने की कुछ भी योग्यता रखते हैं तो इस कथानक का काव्यांश छोड़कर वे इतना ऐतिहासिक तथ्य ग्रहण कर सकते हैं, कि राधाजी ने जिस समय बालक कृष्ण को गोद में लिया तो वह हृदय से उनको अपना स्वामी निश्चित कर चुकी। कदाचित् राधाजी का प्रेम काम भाव से दूषित होता तब तो वह एक दुधमुंहे बालक में उत्पन्न ही नहीं हो सकता था, किन्तु यह प्रेमभाव था 'अहैतुक' एवं अतीव

'विशुद्ध' ! अतः इस दिन से लेकर लीला संवरण के अन्तिम दिन तक बढ़ता ही चला गया। कृष्ण और राधा का पितृगृह एक दूसरे से कोसों दूर था, वे एक दूसरे के नित्य दर्शन भी नहीं कर पाते थे। यद्यपि वृषभानु जी ने ऋषियों के कहने से 'वाग्दान' की रीति का तो सम्पादन कर दिया था, परन्तु भगवान् ग्यारह वर्ष की छोटी-सी आयु में ही मथुरा चले गये थे और वहाँ जाकर कंस विध्वंस के बाद उनके जीवन का नया अध्याय आरम्भ हो गया था। कल से पहिले सर्वसाधारण की कौन कहे—नन्द यशोदा आदि भी कृष्ण को अपना औरस पुत्र जानते थे अथच वे सीधे-सादे ग्वाले समझे जाते थे। कंस के मरते ही वासुदेव देवकी ने कन्या परिवर्तन के समूचे काण्ड का खुलासा कर दिया, जिससे भगवान् के क्षत्रियोचित यज्ञोपवीत आदि संस्कार सम्पन्न हुवे और अब वे वर्णमर्य्यादा से अनुकूल एक विशुद्ध क्षत्रियकुमार हो गये। इसलिये धर्मशास्त्र के अनुसार एक गोपकन्या के साथ उनके असवर्ण विवाह का प्रश्न ही उपस्थित न हो सका। यद्यपि सगाई मात्र हो जाने के बाद 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' (पाराशर ४। ३२) के अनुसार वर के गुम हो जाने पर, संन्यास ले लेने पर, नपुंसक विदित हो जाने पर—आदि पाँच आपत्तियों में कन्या का अन्य वर के साथ पुनः सम्बन्ध हो जाने की शास्त्र में आज्ञा है परन्तु राधा कृष्ण के लौकिक सम्बन्ध में तो इन पाँचों में से कोई आपत्ति विद्यमान न थी, अतः धर्मभीरु वृषभानु बड़े असमंजस में पड़ गए। पुत्री राधा का जीवन नष्ट होते देखकर उन्होंने किसी दूसरे वर से उनका विवाह कर देना ठाना भी, परन्तु—

सप्त पौनर्भवा कन्या वर्जनीया प्रयत्नतः।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥ (उद्वाहतत्त्व)

अर्थात्—सात प्रकार की 'पुनर्भू' कन्याएं होती हैं जिनसे विवाह

करना वर्जित है, जिनमें 'वाग्दत्ता' यानी सगाई द्वारा दी हुई पहिली है, 'मनोदत्ता' आदि छः और हैं। सो श्री राधा जी स्वयं इस विषय में उदासीन रहीं, पारमार्थिक दृष्टि में भी बालक कृष्ण को गोद में लेते समय वे आत्मसमर्पण कर चुकी थीं, ऐसी दशा में परम तपस्विनी राधा जी ने अपना समस्त जीवन भगवान् के लिये न्योछावर कर दिया।

क्या संसार में और भी कोई ऐसा दूसरा उदाहरण मिल सकता है जिसमें किसी ने बिना किसी प्रयोजन के अपना हृदय प्रेमी को समर्पण कर दिया हो और उसके वियोग में ही घुल २ कर मर जाने के लिए जीवन का उत्सर्ग किया हो।

माता सीता चौदह वर्ष पर्यन्त भगवान् के साथ वन में रहीं, और 'असिधारा-व्रत' धारण करते हुए ये चौदह वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक ही बिताए।। लम्पट दम्पती समझते हैं कि राम स्त्रैण थे और सीता राम पर आसक्त थीं, तभी दोनों मिल कर वन में रहे, परन्तु वे यह बात भूल जाते हैं, कि यदि राम सीता वन में दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते तो चौदह वर्ष में आजकल की औसत के अनुसार एक दर्जन बच्चे साथ लेकर अयोध्या लौटते ! माता सीता की यह तपश्चर्या प्रशंसनीय है। पश्चात् एक रजक के कहने से निर्वासित कर देने के बाद भी जितना समय व्यतीत हुआ वह भी पतिव्रता सीता की शान के अनुरूप है। बहुत सी विधवा देवियें भी विशुद्ध वैधव्य जीवन व्यतीत करने के लिए इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अथच पति वियोग की असह्य दावाग्नि से भयभीत होकर पति के शव के साथ ही एक वारगी धधकती चिता का आलिङ्गन करने वाली अगणित सतियें भी इतिहास में प्रख्यात हैं, परन्तु वाग्दान मात्र के कारण एक बार हृदय से वरे हुए पति के लिये—जिसे कि खुल-कर 'पति' कहा भी नहीं जा सकता—समस्त जीवन न्योछावर कर देना यह लोकोत्तर उदात्त त्याग एकमात्र श्री राधाजी के जीवन में ही पाया जाता है।

जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिये कि संसार में 'कन्या', 'सधवा' और 'विधवा' तो देखने में आती हैं, परन्तु कोई 'अविवाहिता धर्मपत्नी' भी हो सकती है यह तो कल्पना कोटि से बाहिर की बात है, परन्तु हमारी चरित-नायिका श्रीराधा जी भगवान् श्रीकृष्ण जी की वैसी ही पत्नी थीं—कि जिसका न तो कभी अपने पतिदेव से लौकिक विवाह हुआ सौर नांही दाम्पत्य-जीवन बिताने का अवसर आया। यद्यपि उसके पतिदेव लौकिक परिस्थिति में राष्ट्रनायक थे, और थे वीराग्रणी योद्धा! परन्तु वह थी केवल उनके कमनीय बालस्वरूप की अनन्य उपासिका! उनका चक्रधारी कृष्ण से तो कभी कोई सम्बन्ध हुआ ही नहीं—वह तो वंशीधर भगवान् के हाथों बिकी थी।

भगवान् कृष्ण चाहे मथुरा के राजा हों और चाहे द्वारका के सम्राट्! परन्तु राधिका तो बरसाने की ही गोपी थी और अन्त तक वही बनी रही। न उसे कुब्जा के प्रेम से डाह थी और नांही रुक्मिणी जी के पटरानी पद की चाह! जाम्बवती जी की लोक प्रसिद्ध स्यमन्तक मणि का प्रकाश और सत्यभामा जी के कल्पवृक्ष की सुवास श्रीराधा जी के हृदय को 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' की भांति कभी छू तक नहीं सके। हम परम तपस्विनी श्रीराधा जी के लोकोत्तर जीवन की एक झलक ऋषियों भक्तों और कवियों के ही शब्दों में अङ्कित करते हैं, भक्तगण मनन करें।

तपस्विनी राधा

(क) तया नाकारि शृङ्गारः पांथे कृष्णे गते सति।
न चन्दनं च ताम्बूलं भोजनं च सुधासमम्॥
न कृतं दिव्यशयनं हास्यं वा न कृतं क्वचित्।
(गर्गसंहित मथुरा २० । १०-११

अर्थात्—(क) भगवान् कृष्ण के वियोग में श्री राधा जी ने कभी शृङ्गार नहीं किया, चन्दन का लेप नहीं किया, पान नहीं खाया और स्वादिष्ट भोजन नहीं किया, विस्तर आदि बिछा कर पलंग पर शयन नहीं किया और किसी से हास्य विनोद नहीं किया।

जिस समय भगवान् ने उद्धव जी को ज्ञानोपदेशार्थ ब्रजमण्डल में भेजा और उन्होंने श्रीराधा जी आदि गोपियों के प्रति 'योग' की चर्चा की तो उस समय श्रीराधा जी ने कहा कि—

(ख) योगी तजें जगत हम जगत योग दोउ तजे,
योगी लावें छार हम छार हू के मटि हैं।
योगी बेधें कान हम हिये अरु प्राण बेधे,
योगी कहें नाथ हम नाथ नाथ रटि हैं॥
योगी कान मुंद्रा हम भूषण बनाय राखे,
हमारे सिर केश बहु योगी सिर जटि हैं।
जान कै अजान आज कहा भयो ऊधो जू,
योगी की जुगत से वियोगी कहा घटि हैं॥१॥

(ग) श्याम तन श्याम मन श्याम ही हमारो धन,
आठों याम ऊधो हमें श्याम श्यामहुँ सो काम है।
श्याम हिये श्याम जिये श्याम बिना नांही तिये,
आंधे कीसी लाकरी अधार श्याम नाम है॥
श्याम गति श्याम मति श्याम ही है प्राणपति,
श्याम सुखदाइ सो भलाई शोभा धाम है।
ऊधो! तुम भये बौरे पाती लेके आए दौरे,
योग कहां राखे यहाँ रोम रोम श्याम है॥२॥

उद्धव जी राधा जी की उपर्युक्त बातें सुनकर दंग रह गए। जो

ज्ञानयोग की गठरी गोपियों के लिये उठाकर लाये थे वह अब बोझल सी मालूम होने लगी। जिस योग समाधि चर्चा पर उन्हें अभिमान था वह सब नीरस जंचने लगी, अन्त में रहा सहा साहस बटोर कर नम्रतापूर्वक बोले कि आप लोग योग समाधि को क्यों पसन्द नहीं करतीं ? इस पर राधाजी की सहेली विशाखा ने कहा कि—

(घ) ऊधो ! जोग जोग हम नांही।
अबला ज्ञान सार का जानें कैसे जोग कराहीं।
सो तुम नैन कहत मूंदन को श्याम बसे जिन मांही।

यह सुनकर उद्धव जी ने अपनी समस्त ज्ञान सम्पत्ति गोपियों के चरणों पर न्योछावर कर दी। आये थे गुरु बनने परन्तु स्वयं ग्वालकन्याओं के शिष्य बन गये। जब वापिस लौटने लगे तो राधा जी से पूछा कि कहिए आप भगवान् के प्रति कुछ सन्देश देना चाहती हैं क्या ? उद्धव जी का ख्याल था कि श्री राधा जी भगवान् को मिलने के लिये मेरे साथ चलने का आग्रह करेंगी अथवा भगवान् को यहाँ बुलवायेंगी, परन्तु भगवान् के अहैतुक भक्तों में ऐसी स्वार्थमयी भावना का क्या काम ? वे तो—

(च) राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा है।
यहां यूं भी वाह वाह है और ऊं भी वाह वाह है ॥

—के पक्के पुजारी होते हैं। सभी कवियों ने 'सम्भोग' शृङ्गार से अधिक 'विप्रलम्भ' शृङ्गार को माना है, तभी तो यह कहावत प्रसिद्ध है कि—

जो मजा इन्तजार में देखा,
न वह मजा वस्ले यार में देखा।

श्रीराधा जी ने कहा कि हे उद्धव जी ! मेरा इससे अधिक कुछ सन्देश नहीं कि :—

(छ) जो हरि मथुरा जाय बसे,
हमरे जिय प्रीति बनी रह सोऊ।
ऊधो ! बड़ सुख येहू हमें,
अरु नीके रहें वे मूरति दोऊ॥
हमरोहि नाम की छाप परी,
अरु अन्तर बीच अहे नहीं कोऊ।
'राधाकृष्ण' सभी तो कहें पर,
'कूबरीकृष्ण' कहे नहिं कोऊ॥

यह तो हुई राधिका के एकान्तवास की एक झांकी। अब हम वह दृश्य भी पाठकों की भेंट करते हैं जब कि आजीवन तपश्चर्या करने के बाद अपने अन्तिम दिनों में श्री राधा जी की तीर्थयात्रा प्रसंग में भगवान् कृष्ण और रुक्मणी आदि देवियों से भेंट होती है।

एक बार सूर्यग्रहण पर्व के उपलक्ष में सखियों सहित राधा जी सिद्धाश्रम तीर्थ स्नान के लिए गईं। उधर द्वारका से रुक्मणी आदि सहित भगवान् भी उस तीर्थ पर पधारे। इस यात्रा के समय राधा जी की पूरी सौ वर्ष की आयु थी। स्नान करते समय अचानक दोनों दलों में परस्पर भेंट हो गई। रुक्मणी आदि देवियों ने जब राधा को देखा तो—

दूरात्तां राधिकां प्रेक्ष्य कृष्णपत्न्यः सहस्रशः।
जग्मुर्मूर्च्छां महाराज तद्रूपेणातिमोहिताः ॥४१॥
अहो एतादृशं रूपं त्रैलोक्यां नहि चाद्भुतम् ॥४३॥
(गर्ग संहिता १६)

सहसा श्रीहरिं राधा परिक्रम्य कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
अद्य मे सफलं जन्म चाद्य मे सफलं तपः ॥ ५ ॥

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः ।
सूर्य्यो यथैको बहवो दृशः स्युः ।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको-
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च ॥१८॥
धन्यासि राधे ! वृषभानुपुत्रि !
त्वद्भक्तिभावेन वशीकृतोऽयम् ।
श्रुतं यथा ते हरिभावलक्षणं,
तथा हि दृष्टं नहि चित्रमेव हि ॥१९॥

अर्थ—कृष्ण जी की रुक्मणी आदि स्त्रियों ने जब दूर से श्री राधा जी को आते देखा तो वे उनके रूप लावण्य से मोहित होकर मूर्छित हो गई ॥४१॥ और कहने लगीं—आश्चर्य है कि तीन लोक में ऐसी अद्भुत सुन्दरता नहीं है ॥७३॥ तब राधा ने तत्काल हाथ जोड़कर भगवान् कृष्ण की परिक्रमा की कहा कि, आज मेरा जन्म सफल है और आज ही मेरा तप सफल हुआ है ॥४५॥ [रुक्मणी आदि के प्रति श्री राधा ने कहा कि—] हे बहिनो ! जैसे चन्द्रमा एक है, परन्तु उसके प्रेमी चकोर बहुत होते हैं, और जैसे सूर्य एक है, परन्तु उसे देखने वाले नेत्र अगणित होते हैं, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी एक हैं, परन्तु इनके हम तुम जैसे भक्त बहुत हैं। श्री राधा जी की उत्कट भक्ति को देखकर रुक्मणी आदि देवियों ने कहा कि—हे वृषभानु की पुत्री श्रीराधे ! आप धन्य हैं। आपने अपने भक्तियोग द्वारा भगवान् कृष्ण को वशमें कर रक्खा है। हमने तुम्हारी जैसी भगवद्भक्ति सुनी थी वैसी देखी है, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥१८-१९॥

इसके अनन्तर सब अपने २ विश्राम स्थानों में सो गये, परन्तु भगवान् को रात भर नींद नहीं पड़ी। जब रुक्मणी जी ने नींद न पड़ने

का कारण पूछा तो भगवान् ने कहा कि आज राधाजी को पीने को दूध नहीं मिला इससे रात्रि में उन्हें नींद नहीं पड़ी, सो उनके अभिन्न-हृदय होने के कारण मुझे भी नींद नहीं आई। तब तो अगली रात को गर्म दूध का कटोरा राधाजी को पिलाया गया, परन्तु प्रातः जब रुक्मणी भगवान् के पांव पलोटने लगी तो देखा कि जहां-तहाँ फफोले पड़े हुए हैं, कारण पूछने पर भगवान् ने बताया कि---

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे,
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अद्योष्णादुग्धप्रतिपानतोंघ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति ॥

(गर्ग द्वा० ३५-३५)

अर्थ—श्री राधाजी के हृदय में निरन्तर मेरे चरणों का निवास है। रात जो तुमने उनको ज्यादह गर्म दूध पिला दिया सो उसके हृदय ताप से मेरे चरणों में फफोले उठ आए ॥३५-३६॥

यह है राधा का तपोमय जीवन जो पद-पद पर 'प्रेमाभक्ति' के पुजारियों को सामने आने वाली कठिन से कठिन विपत्तियों को सहन कर सकने योग्य बनने का आदेश करता है एवं प्रियतम के लिए जीवन उत्सर्ग करने को उत्साहित करता है।

श्रीमद्भागवत और राधा

यह भी शंका प्रायः पेश की जाया करती है, कि श्रीमद्भागवत जैसे कृष्ण लीला प्रधान ग्रन्थ में राधा का नाम तक नहीं है और इससे शंकावादी यह परिणाम निकालने का असफल प्रयास किया करते हैं कि राधा नाम की वस्तुतः भगवान् की कोई प्रेयसी हुई ही

नहीं, राधा सम्बन्धी सब का सब किस्सा किसी शृङ्गार-रस प्रिय कवि की कल्पना का परिणाम है । आइये लगे हाथों इस प्रश्न का भी समाधान करते चलें ।

श्रीमद्भागवत में 'राधा' का नाम न होने के कुछ कारणों का हम यहाँ उल्लेख करते हैं, आशा है वे पाठकों के लिये मननीय होंगे :—

(१) श्रीमद्भागवत ग्रन्थ सिंहावलोकन शैली का ग्रन्थ है, उसमें प्रत्येक कथा उसी अंश तक वर्णित है जिस अंश तक कि वह कृष्ण की महिमा को बढ़ाने से सम्बन्ध रखती है । इसीलिए दशम स्कन्ध को छोड़ शेष स्कन्धों का कथानक 'अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः' की दूरबीन से अटपटा जंचता है । परन्तु राधा का चरित्र, त्याग, तपश्चर्या आदि गुणों में कृष्ण-चरित्र से भी कहीं अधिक उदात्त है । सो यदि भागवत में उसका समावेश हो जाता तो वह तुलना में कृष्ण से अधिक राधा की महिमा का परिचायक होता, इस तरह ग्रन्थ के उद्देश्य की हानि होती, इसलिए श्रीमद्भागवत में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है ।

(२) श्रीमद्भागवत की पाठसंख्या १८ हजार है, जो महाभारत के अठारह पर्व, गीता के अठारह अध्याय, अठारह पुराण और अठारह मुख्य स्मृतियों की भांति वैज्ञानिक विवेचन के अनुसार अठारह सहस्र होनी ही आवश्यक थी (देखो 'पुराण-दिग्दर्शन' प्रथम अध्याय) । उधर राधा का चरित्र इतना बड़ा है कि भागवत में उसके समावेश से वह पाठ संख्या अन्यून दो गुना हो जाती । इस कारण से भी भागवत के परिशिष्ट रूप 'गर्गसंहिता' ग्रन्थ में दश हजार श्लोकों में उसका उल्लेख हुआ है । भागवत में नहीं हुआ ।

(३) वास्तविक बात यह है कि भागवत (दशम स्कन्ध अध्याय ३० श्लोक २७ से ४१ तक) में राधिका का चरित्र अतीव गुप्त रीति से वर्णित है । संप्रदायपूर्वक श्रीमद्भागवत का स्वाध्याय करने वाले

विद्वानों को ही यह रहस्य विदित हो सकता है, सर्व साधारण न इसके अधिकारी हैं और नां ही उन्हें यह समझाने की आवश्कयता है। पिछले प्रसंग से यह स्पष्ट है कि—रासक्रीड़ा के समय जब गोपियों को ऐसा अभिमान हो जाता है कि मानो भगवान् हमारे वशीभूत हैं तब कृष्ण जी 'एक' गोपी सहित अन्तर्धान हो जाते हैं, शेष गोपियें विह्वल होकर उनको जहाँ-तहाँ खोजती हैं। जंगल में भगवान् के पदचिह्न और उनके साथ अन्य गोपिका के पदचिह्न देखकर कहती हैं कि—

अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।

(श्रीमद्भागवत १०। ३०। २८)

अर्थ—[भगवान् के साथ विचरने वाली] इस गोपी ने जगदीश्वर भगवान् कृष्ण की अवश्य राधना की है।

उपर्युक्त प्रसंग में बड़ी ही चतुराई के साथ 'राध संसिद्धौ' धातु के 'राधितः' पद का प्रयोग करते हुए राधना करनेवाली = राधा का निर्वचन सहित नामोल्लेख कर दिया है। यदि कोई सज्जन हमारी इस स्थापना की यथार्थता जानना चाहे तो उसे 'गर्गसंहिता' का नीचे लिखा प्रसंग पढ़ना चाहिये। यहाँ स्पष्ट नामोल्लेख करते हुवे यह बताया गया है कि समस्त गोपियों का अभिमान दूर करने के लिये भगवान् जिस गोपी सहित अन्तर्धान हुवे थे, वह शुकदेवजी द्वारा परोक्ष भाषा में वर्णित 'एक गोपी' श्री राधाजी ही थीं, यथा :—

तत्र गोप्योऽतिमानिन्यो बभूवुर्मैथिलेश्वर !
तास्त्यक्त्वा राधया सार्धं तत्रैवान्तर्दधे हरिः।

(गर्गसंहिता वृन्दा० १८। १०)

अर्थ—[नारद जी कहते हैं कि—] हे राजन् ! जब गोपियें बहुत ही अभिमान-युक्त हो गईं तब भगवान् उन सबको छोड़कर राधा सहित अन्तर्धान हो गए।

स्पष्ट नाम क्यों नहीं लिखा ?

श्रीमद्भागवत में राधा का स्पष्टतया नाम न लिखने का कारण यह है कि भागवत के वक्ता श्री शुकदेव जी श्री राधाजी में गुरु भावना रखते थे—धर्म्मशास्त्र में गुरु का नाम लेना पाप कहा गया है, यथा:—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च ।
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ।।

अर्थ—कल्याण चाहने वाले पुरुष को अपना, गुरु का, अति कृपण का, ज्येष्ठ सन्तान का और धर्म्मपत्नी का नामोच्चारण नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'राधा' शब्द कहते ही शुकदेवजी की अखण्ड समाधि लग जाती थी : सो यदि यहाँ यह प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता तो केवल सात दिन का जिनका जीवन शेष था वे परीक्षित श्रीमद्भागवत सप्ताह ही न सुन पाते।

कुब्जा समागम

१४

कई महाशय भगवान् कृष्ण के कुब्जा-समागम पर भी आक्षेप किया करते हैं, इसलिए इस चरित्र का विवेचन करना भी अनावश्यक न होगा। अतः क्रमागत शैलीके अनुसार सर्वप्रथम उक्त चरित्र का वैदिक-स्वरूप प्रकट किया जाता है।

वैदिक-स्वरूप

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्त्तः सचसे पुरन्ध्या ।।

(ऋग्वेद २ । १ । ३)

अर्थात्—(अग्ने) हे तेजस्वी परमात्मन् ! (त्वं) आप (इन्द्रः) सबके अधीश्वर हो [आप ही] (सतां) सज्जनों में (वृषभः) धर्म से उज्ज्वल (असि) हो [तथा] (त्वं) आप (उरुगायः) अधिक कीर्ति वाले [तथा] (नमस्यः) नमस्कार योग्य (विष्णुः) विष्णु भगवान् हो (हे ब्रह्मणस्पते !) देव ! (त्वं) आप (रयिविद्) सृष्टितत्त्व के ज्ञाता (ब्रह्मा) ब्रह्मा जी हो। (विधर्तः) हे विशेष प्रकार के कृष्णादि अवतार धारण करने वाले प्रभो ! (त्वं) आप ही [कृष्ण रूप में] (पुरन्ध्रया =) सैरिन्ध्री = कुब्जा दासी के साथ (सचते) सेवित [—युक्त] होते हो।

पौराणिक-स्वरूप

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरिन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥१॥
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्,
सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा ॥
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं,
सभाजयामास सदासनादिभिः ॥२॥
तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो,
न्यसीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम्
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितन्यनुव्रतः ॥३॥
सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ॥

प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥५॥
आहूय कान्तां नवसङ्गम-ह्रिया,
विशंकितां कंकणभूषणे करे ॥
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया,
रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥३॥
सानंगतप्त-कुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्त-
मानन्द-मूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥७॥
सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अंगरागार्पणेनाहो ! दुर्भगेदमयाचत ॥८॥
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ ! दिनानि कतिचिन्मया ।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं संगं तेऽम्बुरुहेक्षण ! ॥९॥
तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमर्दाचितम् ॥१०॥
दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ॥
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४८ । १ । ११)

अर्थात्—[शुकदेव जी ने कहा कि हे राजन् !] तदनन्तर सर्वात्मा और सर्वदर्शी भगवान् कृष्ण जी कामसंतप्त कुब्जा का काम संताप जानकर उसका प्रिय करने के निमित्त उसके घर पहुँचे । घर में आते

हुवे श्रीकृष्ण जी को देखते ही घबड़ाई हुई कुब्जा आसन पर से उठकर सखियों के साथ यथायोग्य रीति से सम्मुख पहुंची और आसन, पाद्य, अर्घ आदि द्वारा 'अच्युत' भगवान् का यथोचित सत्कार किया ।। साथ ही उद्धव जी का भी उसने भली प्रकार सत्कार किया। उद्धव जी आसन का स्पर्श कर भूमि पर ही बैठ गये। तदनन्तर लोकरीति का बर्ताव करने वाले श्रीकृष्ण जी ने बहुमूल्य शयनागार में प्रवेश किया ।। वह कुब्जा स्नान, अङ्गलेपन, वस्त्र भूषण, फूलमाल इतर फुलेल पान और अमृत समान आसव आदि से अपने आपको सजा बजाकर लज्जापूर्वक मन्द मुस्कान एवं हाव भाव से देखती हुई भगवान् के निकट पहुंची ।। [श्रीकृष्ण जी के] नवीन समागम के कारण लज्जावश स्वयं पास आने से विशङ्कित हुई कुब्जा को भगवान् ने अपने पास बुलाकर उसके कंकणों से भूषित हाथ को पकड़ कर शय्या पर बिठलाया और उसके साथ क्रीड़ा की। चन्दन लेपन करना मात्र जिसका थोड़ा सा पुण्य था [वह कुब्जा इतने बड़े मान को प्राप्त हुई] ।। अनन्तशक्ति भगवान् कृष्ण के चरणों को सूंघती हुई वह कुब्जा अपने कामतप्त स्तन हृदय और आंखों की पीड़ा को उन चरणों से दूर करने लगी। तथा दोनों स्तनों के मध्य में प्राप्त हुए आनन्दमूर्ति प्यारे कृष्ण को भुजाओं से आलिङ्गन करके उसने अपना बहुत दिनों का ताप बुझाया ।। इस तरह कैवल्य मुक्ति के दाता, सर्वदुर्लभ, श्रीकृष्ण जी को—चन्दन लेप के दान प्रभाव से—पाकर भी उस दुर्भागिन ने यही माँग की कि हे प्यारे, कमलनयन ! तुम्हारा सङ्ग छोड़ने को मन नहीं मानता इसलिए कुछ दिन यहीं ठहरिये और रमण कीजिए। भक्तों को मान देने वाले सर्वेश्वर भगवान् उसे यथेच्छ वरदान एवं मान देकर उद्धव जी सहित अपने पूज्य स्थान को वापिस लौट आए। सर्वसाधारण जिसकी आराधना नहीं कर सकते ऐसे चराचर के स्वामी विष्णु भगवान् को प्राप्त होकर भी जो

'मनोग्राह्य' = (मानसिक सीमा पर्यन्त ही जिसका सम्बन्ध हो एवंभूत अकिञ्चित्कर तुच्छ) 'वर' की याचना करती है उसे 'कुमनीषी' = दुर्बुद्धि = बेवकूफ ही समझना चाहिए ।

उपर्युक्त कथा के दोनों स्वरूप लिखे जा चुके हैं । पाठक 'त्वं विधर्त ! सचसे पुरन्ध्र्या'—इस मन्त्रांश का मनन करने पर उक्त लीला की वैदिकता का अनुमान भली प्रकार कर सकते हैं । पौराणिक स्वरूप के मूल शब्द ही ऐसे हैं जिनके कि साद्यन्त पर्यालोचन करने से कोई वास्तविक जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं होती । इसीलिये उक्त कथा के मुख्य श्रोता श्री परीक्षित जी ने इस विषय में शुकदेव जी से कुछ भी पूछने की आवश्यकता नहीं समझी ।

जो महाशय आजकल इसे पढ़कर शङ्कित हो जाते हैं उन्हें वस्तुतः किसी धर्मतत्त्व के समझने की योग्यता ही नहीं है । तभी तो वे अपनी कुलीनता दिखाने के लिए कुछ न कुछ कह डालने की धृष्टता किया करते हैं । हमारे सामने भी कई शास्त्रार्थों के समय प्रतिवादी महाशयों की ओर से इस चरित्र पर उट्टङ्कना की गई जिसका सार यह था कि 'कृष्ण जी ने कुब्जा से व्यभिचार किया था' । परन्तु हमारे यह पूछने पर कि इस समय भगवान् की कितनी आयु थी ! तथा इस कथा में वह कौन से शब्द हैं कि जिनका अर्थ—व्यभिचार मैथुन याभ या स्त्रीसङ्ग हो सकता है ?—तो महाशयों को बगलें झांकनी पड़ीं । एक दिन एक आर्योपदेशक ने शास्त्रार्थ के समय जनता को भ्रम में डालने के लिये गला फाड़ कर कहा कि भागवत में साफ लिखा है कि—'रेमे' 'रमस्व' अर्थात्—(कृष्ण जी ने) रमण किया । सो संस्कृत में स्त्रीसङ्ग या व्यभिचार को ही रमण कहते हैं । जैसे गेहूं और गन्दुम एक ही वस्तु के दो नाम हैं इसी तरह 'रमण' कहो चाहे 'व्यभिचार' कहो एक ही अभिप्राय है । महाशय जी की इस चालाकी का पड़दा फाश करने के लिए हमने भी तत्काल आर्यसमाज की मान्य पुस्तक 'आर्याभिविनय' उठाई

और उसका ५७वां पृष्ठ निकाल कर महाशय जी को ललकारा कि कहिए ! रमण शब्द का अर्थ-व्यभिचार आपको मान्य है न ?—हाँ करने पर उक्त पुस्तक में से—

सोमरारन्धिनो हृदि··· (ऋग्वेद १ । ६ । २१ । १३)

—आदि मन्त्र और उसका स्वा० दयानन्द कृत भावार्थ पढ़कर जनता को सुनाने के लिये कहा गया । महाशय जी ने पुस्तक हाथ में पकड़ ली परन्तु जब मन्त्रार्थ को देखा तो भई गति सांप छछून्दर केरी' । लगे आंखें फाड़कर जमीं आसमान को ताकने । कई मिनट तक जनता में सन्नाटा रहा और श्रोता लोग महाशय जी की आवाज की प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु यहां तो—'जिमी जुम्मद न जुम्मद गुल मुहम्मद' अर्थात्—चाहे जमीन बोले पर 'गुल मुहम्मद' न बोलेगा—वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी । अन्त में जब बार २ कहने पर भी आपने उक्त मन्त्रार्थ को पढ़कर सुनाने का साहस नहीं किया तो प्रधान जी की आज्ञा से वह मैंने ही पढ़कर सुनाया जो इस प्रकार था—

'हे सौख्यप्रदेश्वर ! आप कृपा करके (रारन्धि नः हृदि) हमारे हृदय में यथावत् रमण कीजिये' ।

—जनता रमण शब्द सुनते ही खिलखिला उठी । यदि समाजियों का निराकर बाबा भी यदि उनकी प्रार्थना पर नित्य अढ़ाई लाख हृदयों की एकान्त कन्दरा में घुसकर 'रमण' अर्थात्—आनन्द-प्रमोद नहीं बल्कि बकौल महाशय नियोगानन्द 'खुला व्यभिचार' ही करता है तो—निराकार से साकार रूप में अवतीर्ण होने वाले 'मायामानुषविग्रह' श्रीकृष्ण जी का रमण करना उनको क्यों खटकता है—यह हमारी समझ में नहीं आता ?

यहां यह बतला देना भी अनुचित न होगा कि 'आर्याभिविनय' समाज का वह स्तोत्र है कि जिसका पुण्यपाठ (द० ऐ० वै०) स्कूलों कालिजों

गुरुकुलों और आर्यकन्या-पाठशालाओं में पढ़ने वाले लड़के और लड़कियाँ प्राय: प्रतिदिन करते हैं। अब विज्ञ पाठक ही स्वयं परिणाम निकाल लें कि—वास्तव में रमण शब्द का क्या अर्थ होना चाहिए ?

वस्तुत: 'रेमे' 'रमस्व' रति, रमण आदि शब्दों के अर्थ विशुद्ध बालकेलि, आत्मानन्द, प्रीति और विशुद्ध क्रीड़ामात्र हैं। इसमें भी विषयानन्द की गंध सूंघने वाले महाशय ग्राम्य-शूकर ही हैं।

आर्य वाङ्मय में रतिरमण आदि शब्द

संस्कृत साहित्य में उक्त अर्थों में ही रति, रमण, आदि शब्दों के सहस्रों प्रयोग द्रष्टव्य हैं— यथा—

(क) सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिम् .... (भारवि)

(ख) यश्चात्मरतिः (श्रीमद्भगवद्गीता)

(ग) रमते न मरालस्य मानसं मानसं बिना।
(सुभाषित रत्न भाण्डागार)

(घ) आत्मारामाश्च मुनयः (श्रीमद्भागवत)

(ङ) क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः
(शिशुपाल वध)

(च) ये रमणीयाचरणाः...रमणीयां योनिमापद्येरन्
(छान्दोग्य)

(छ) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। (मनु)

(ज) जन्म जन्म रति राम पद यह वरदान न आन।
(रामचरित मानस)

यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि रति, रमण, रम्य, रमणीय, रमा, रामा, रात्रि और राम आदि सभी शब्द 'रमु' क्रीडायाम् धातु से बने हैं। उक्त सब शब्दों का मूल एक ही है, केवल तत्तत् प्रत्ययों

से भेद से विभिन्न रूप बन जाते हैं। 'रमु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर जैसे 'रति' शब्द सिद्ध होता है, वैसे ही 'युु' प्रत्यय लगने से 'रमण' शब्द बनता है, तथा 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'राम' शब्द बनता है। ऐसी स्थिति में यदि 'रति' और 'रमण' शब्द का अर्थ विषयानन्द किंवा व्यभिचार है तो राम का अर्थ व्यभिचार करना होगा परन्तु वस्तुतः राम शब्द का निर्वचन है—'रमन्ते योगियो यस्मिन्' अर्थात्—योगीजन जिसमें 'रमण' करते हों, अथवा—आत्मानन्द का अनुभव करते हों वह ईश्वर।

ब्रह्मदृष्टि से

भगवान् कृष्ण साक्षात् ब्रह्म थे, शरणागत भक्तों के मनोरथों को पूरा करना ही उनके अवतार धारण का मुख्य प्रयोजन था। कुब्जा एक*

* टिप्पणी—'गर्ग संहिता' आदि पुराण संहिताओं में भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के पूर्वजन्मों की कथाएं अङ्कित हैं तदनुसार यह कुब्जा भी त्रेतायुग में रावण की भगिनी 'सूर्पणखा' थी, जो उस समय से ही राम भगवान् पर मोहित थी परन्तु उसकी वह साध उस समय पूरी न हो पाई थी। क्योंकि मर्य्यादापुरुषोत्तम राम स्वयं क्षत्रिय होते हुवे एक ब्राह्मण घराने की स्त्री से तादृश सम्बन्ध कैसे कर सकते थे? यह कृत्य जहां वर्णाश्रम मर्य्यादा के विरुद्ध था वहाँ द्विज विधवा के वैधव्य व्रत पालन के भी सर्वथा विपरीत था। अतः उस समय तो भगवान् ने उसकी ऐसी दुर्भावना का लक्ष्मण द्वारा दण्ड दिला कर उसे निराकृत कर डाला परन्तु वह भी अपनी साधना की वज्रमय मूर्ति थी। अतः कर्मानुसार अगणित जन्म लेती हुई भी त्रेता से द्वापर युग के अवसान तक यही साध बान्धे रही कि—'कबहु तो दीनदयाल के भनक परेगी कान'। आखीर वही मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् जब कृष्णावतार में 'लीला-पुरुषोत्तम' बनकर अवतरित हुवे तो युगयुगान्तरों से सञ्चित अनेक भक्तों की भावनाओं को अपनी लीलाओं द्वारा सफल किया।

मुद्दत से आपको हृदय से लगाकर भेंट करने की आशा बांधे बैठी थी। यद्यपि इसका प्रेम विशुद्ध नहीं था तथापि अनन्यता के कारण वह इतना परिपक्व हो चुका था कि उससे कुब्जा के हृदय में 'तन्मयता' उत्पन्न हो गई थी। भगवान् तन्मयता-सम्पन्न व्यक्ति को अवश्य ही कृत-कृत्य करते हैं सो यही जानकर भगवान् परम वेदान्ती उद्धव जी को साथ लेकर कुब्जा के घर पहुँचे थे। यहाँ जाने पर कुब्जा ने जिस रीति से जो आवभगत की वह मूल शब्दों में ही साफ लिखी है अतः दुहराने की आवश्यकता नहीं। कुब्जा ने भगवान् को हृदय से लगाकर चिरसञ्चित विरह को दूर किया और भगवान् ने भी उसका मन बहलाने के लिये रमण = विनोद की सीमा पर्यन्त जो भी विशुद्ध चेष्टाएं हो सकती थीं उनके अनुष्ठान में कोई कोर कसर बाकी न रक्खी।

कुब्जा की अभिलाषा पूर्ण हुई, परन्तु वह दुर्भागिन 'घर आई गङ्गा' से पूरा लाभ न उठा सकी और चक्रवर्ती से चबेना ही मांग बैठी। अर्थात्—मुक्ति जैसी अलभ्य वस्तु छोड़कर घर रहना ही माँगा। भगवान् को क्या उजर था जो माँगा सोई पाया। इस तरह भगवान् उद्धव सहित लौट आए और कुब्जा को मनोग्राह्य माँगने के कारण शुकदेव जी की ओर से कुमनीषिता का प्रमाण-पत्र मिल गया। भगवान् का सिद्धान्त है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(भगवद्गीता ४। ११)

अर्थात्—जो व्यक्ति जिस भावना से मेरी शरण में आते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार से पेश आता हूँ!

इसलिये ब्रह्मदृष्टि से उक्त चरित्र का परीक्षण करने पर यही परिणाम निकलेगा कि भगवान् का यह लीलाविनोद शरणागत भक्त की

भावना को पूरा करने का आदर्शमात्र है। यही समझ कर मूल कथा में परीक्षित जी को कुछ पूछने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई।

पुरुष दृष्टि से

कदाचित् प्रमादी शङ्कावादी भगवान् को ब्रह्म मानने से मुनकर हों तो हम उनके संतोषार्थ भी कुछ ऐसे कारण अङ्कित करते हैं कि जिनको समझ लेने से उक्त चरित्र की विशुद्धता भली भांति स्पष्ट हो जाती है। तद्यथा—

(१) कुब्जा समागम के समय कृष्ण जी की अन्यून ११ वर्ष की आयु थी इसके दो प्रमाण हैं पहिला —(क) भगवान् जिस क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुवे थे उसमें "गर्भादिकादशे राज्ञाम्" इस धर्मशास्त्र के वचनानुसार ग्यारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार कराने का विधान है सो आपका यह संस्कार उक्त लीला से लगभग तीन चार मास पूर्व सम्पन्न हुआ था जैसा कि श्रीमद्भागवत (१० । ४५ । २६) के 'यथावद्द्विज-संस्कृतिम्' पद्यांश से प्रकट होता है। क्योंकि ग्यारहवें वर्ष से अधिक आयु वाले क्षत्रिय बालक के उपनयन संस्कार को—'यथावत्' नहीं कहा जा सकता बल्कि उसे तो कालात्यय के कारण गौण ही कहा जा सकता था। दूसरा प्रमाण यह है—(ख) श्रीमद्भागवत में दूसरे स्थान में स्पष्ट लिखा है कि—

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्धि विभ्यता ।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिसबलोऽवसत् ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २ । २६)

अर्थात्—कंस से भयभीत हुवे पिता वसुदेव ने कृष्ण को ब्रज में नन्द जी के यहाँ पहुंचा दिया। यहाँ पर भगवान् कृष्ण बलदेव जी के साथ ग्यारह वर्ष तक राख में छिपी हुई अग्नि की तरह निवास करते रहे।

सो मथुरापुरी में प्रवेश करते समय कुब्जा दासी ने भगवान् को चन्दन से चर्चित किया था और कंस को मार कर फुरसत पाते ही भगवान् उसके घर गए थे। इस समय निःसन्देह भगवान् की आयु ११ वर्ष की थी। चूंकि इतनी छोटी आयु के बालक में कामचेष्टा का उत्पन्न होना असम्भव है इसलिए पुरुष दृष्टि से भी उक्त चरित्र पर कोई आक्षेप नहीं आ सकता।

(१) भगवान् अकेले नहीं गये थे बल्कि उनके साथ परमज्ञानी, षट्शास्त्रवेत्ता उद्धव जी भी थे जो साथ ही वापिस लौटे थे जैसा कि मूल में ही लिखा है। क्या कामवासना को पूर्ण करने के निमित्त प्रिय के घर जाने वाले जार पुरुष अपने साथ वेदान्ती पण्डितों को ले जाना भी आवश्यक समझते हैं? यदि 'नहीं' तो उद्धव जी जैसे धर्मात्मा के साथ रहते हुवे किसी प्रकार की कुचेष्टा संभव है क्या?

(३) कुब्जा के टकणे, घुटने, कमर, कुल्हे कुहनी तथा गरदन आदि जोड़ों में कूब पड़ता था, इसीलिये उसका अन्वर्थ नाम ही 'कुब्जा' था। 'व्याधस्याचरणं' आदि प्रसिद्ध श्लोक में भी 'कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकम्' कहते हुये व्यंयोक्ति से उसे बड़ी भारी कुरूपा बतलाया है। आयु में भी वह अधेड़ थी। रनिवास में प्रायः इसी प्रकार की कुरूपा दासियें ही रहा करती हैं। रामायण की कुबड़ी मन्थरा से सर्वसाधारण खूब परिचित हैं जो कि स्वयं—

करि कुरूप विधि परवश कीन्हा।'

—के अनुसार अपने कुरूप की ड्योंडी पीटती थी। यह कुब्जा भी इसी श्रेणी की दासी थी—सो 'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्' कहे जाने वाले बांकेबिहारी को दुनिया में यही एक अलभ्य कुबड़ी मिल पाई थी क्या? इस तरह की कुरूपा एवं अधेड़ दासी को तो लंगोटे में चून बांधे घूमने वाला सात पीढ़ी का रंडुवा भी शायद पसन्द न करे! इस तरह भी यह चरित्र कामप्रधान नहीं बल्कि भक्तिप्रधान ही सिद्ध होता है।

(४) कुब्जा इस समय घर में अकेली नहीं थी बल्कि 'यथोपसंगम्यं सखीभिरच्युतम्' (भा० १० । ४८ । ३) के अनुसार बहुत सी सखियें भी उसके निकट थीं। इससे भी समुदाय में कामचेष्टा की बात युक्तिसंगत नहीं हो सकती। साथ ही श्री वेदव्यास जी ने इस प्रसङ्ग में भगवान् को 'अच्युत' नाम से स्मरण किया है जिसका तात्पर्य है कि 'धर्मपथ से भ्रष्ट न होने वाला।' सो इस साकूत विशेषण से भी भगवान् का सुचरित्र होना सिद्ध है।

(५) मूल कथा में स्त्रीसङ्ग या मैथुनसूचक एक भी शब्द नहीं है। रमण का अर्थ हास्य विनोद और खेलकूद ही हो सकता है। कदाचित् शङ्कावादी महाशय सेज पर बैठने, हाथ छूने और गले लगाने से व्यभिचार की ध्वनि निकाले तब तो महाअनर्थ हो जायेगा! क्योंकि माताएं और बहिनें भी अक्सर १०—११ वर्ष की आयु वाले बच्चों के साथ एक पलङ्ग पर बैठने में कोई संकोच नहीं करतीं। देहातों में तो बारह चौदह वर्ष तक के बच्चे भी समय समय पर माताओं की गोद में सो जाते हैं। हमारी युवती कन्याएं अपनी ससुराल को बिदा होते समय पिता भ्राता आदि पुरुषों के गले में हाथ डालकर प्रायः मिला करती हैं, क्या यहाँ भी ऐसी ही नीच कल्पना कीजियेगा? अब भी योरोप में बड़े से बड़े शाही खानदानों की साध्वी स्त्रियें भी मित्रों से हाथ मिलाती हैं तथा भ्राताओं तक के कन्धे से कन्धा मिलाकर डांस (Dance) करती हैं एवं वहां के पाहुने बिदा होते समय अपनी सब प्रकार की सम्बन्धिनियों के मुख चूमते हैं परन्तु इसे व्यभिचार नहीं समझा जाता। इस दृष्टि से भी यह चरित्र विशुद्ध ही ठहरता है। इस प्रकार हम ब्रह्म या पुरुष दोनों दृष्टियों से ही उक्त चरित्र की परीक्षा करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इसमें अश्लीलता तो क्या अश्लीलताभास को भी अवकाश नहीं।

अनेक मुनि गोपी बने ?

१५ पद्मपुराण (पाताल खण्ड अध्याय २१) के आधार पर स्वर्गीय प्रो० रामदेव ने 'पुराण-मत-पर्य्यालोचन' पुस्तक में श्रीकृष्ण चरित्र के ऊपर एक यह भी आक्षेप किया है, कि 'उक्त पुराणों में उग्रतपाः, सत्यतपः, हरिधाम, जावालि और नारद आदि मुनियों को गोपी बनाकर उनके साथ कृष्ण का भोग करना लिखा है।'

उक्त आक्षेप के घड़ने में आपने जिस बुद्धिमत्ता से काम लिया है उससे आपकी शास्त्र समझ पाने की क्षमता अपने आप प्रकट हो रही है। प्रोफेसर साहेब ! इस प्रसंग में तो साफ लिखा है कि—'उक्त मुनियों ने एक मुद्दत तक घोर तप किया, फिर वे शरीर त्याग कर दशों-कल्पों का समय बीत जाने पर द्वापर में गोपकन्या रूप में उत्पन्न हुवे, और कृष्ण जी की बाल लीलाओं का आनन्द लूट सके।' इस सारे कथानक में न कहीं भोग का उल्लेख है न रोग का। जबकि भगवान् ने व्रजभूमि में केवल १२ वर्ष की आयुपर्य्यन्त ही निवास किया है और उक्त बाल-लीला के साथ ही गोप गोपियों का सम्बन्ध है तो फिर इस चरित्र में 'भोग' के स्वप्न देखना महाशय जी की अपनी अज्ञता नहीं तो और क्या है ?

हम नहीं समझते कि किसी ऐसे जीवात्मा का, जो कि कभी पूर्वकाल में मानव देहधारी होने के कारण मुनिपदवी को प्राप्त हो चुका हो कल्पान्तर में भाग्यशालिनी गोपी बन जाना—किस कसौटी से अश्लील जंचता है ? यहाँ तो भला कल्पान्तर का उल्लेख है, जीवात्मा तो अगले जन्म में ही कर्म्मविपाक से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, आदि नीच योनियों अथवा दिव्य योनियों में जा सकता है ! यह कौन कह

सकता है कि महाशय जी स्वयं, पिछले जन्म में किसी आर्य्य घराने की सभ्य महिला न थे और अगले जन्म में पाश्चात्यशिक्षा दीक्षा के अनन्यप्रेम से पैरिस की अपटूडेट फैसनेबल लेडी नहीं बन सकते ! श्रीमान् जी ! यह तो सब कर्म्म-विपाक का तारतम्य है, इसका नियंत्रण एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। क्या आप और क्या हम, सभी जीव अनेक योनियों में जा सकते हैं ! यदि यह आक्षेप कोई ईसाई या मुसलमान करता तो अनुचित न होता, परन्तु पुनर्जन्म के सिद्धांत पर विश्वास रखने वाले दयानन्दी मत के नेता की कलम से इसप्रकार का अनावश्यक एवं निरर्गल आक्षेप शोभा नहीं देता !

महाशय जी! परतन्त्र जीवात्मा का तो जिक्र ही क्या है? वेदों में तो आपके निराकार बाबा का भी स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री-रूप में प्रकट होना लिखा है, पढ़िये—

वैदिक-स्वरूप

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

(अथर्व १० । ८ । २७)

अर्थात्—[समाजी-सातवलेकरकृत भाषार्थ-वेदामृत से] तू स्त्री तू पुरुष तू कुमार और तू ही कुमारिका (असि) है। (त्वं) तू (जीर्णः) वृद्ध होकर (दण्डेन वञ्चसि) डंडा लेकर चलता है और तू ही (विश्वतः मुखः जातः भवसि) सर्वत्र मुख वाला होता है।

पौराणिक-स्वरूप

(क) आसीदुग्रतपा नाम मुनिरेको दृढव्रतः ।
एवं ध्यानपरः कल्प-शतान्ते देहमुत्सृजत् ॥
सुनन्दा नाम गोपस्य कन्याभूत् स महामुनिः ।

(ख) मुनिरन्यः सत्यतपा···दशकल्पान्तरे चायं····· ।
·· कन्या भद्रेति विश्रुता ॥

(ग) हरिधामाभिधानस्तु कल्पत्रयान्तरे ।

(घ) जाबालरितिविश्रुतः···· नवकल्पान्तरे····

(पद्मपुराण पाताल खण्ड अध्याय २१)

अर्थात्—(क) दृढ़व्रत वाले उग्रतपा नामक मुनि निरन्तर ध्यान लगाते हुवे देहत्याग कर सौ कल्प के बाद सुनन्दा नामक गोप की कन्या हुए। (ख) सत्यतपा मुनि दशकल्प बीत जाने पर भद्रा नाम की गोपी हुवे। (ग) हरिधाम मुनि तीन कल्प के बाद और (घ) जाबालि मुनि नौ कल्प के बाद गोपकन्या हुवे।

एक कल्प ८,६४,००,००,००० मानव वर्षों के बराबर होता है। पौराणिक स्वरूप में ३-, ९-, १० और १०० कल्पों के अनन्तर अमुक २ अविनाशी जीवात्मा का अमुक २ गोपी के रूप में उत्पन्न होना लिखा है, जिससे हिन्दू धर्म्म के 'कर्म्मविपाक' सिद्धान्त पर 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरपि' की अटल मुहर लग जाती है।

शिवलिंग की उत्पत्ति

१६ आर्य्यसमाज के प्रवर्तक स्वा० दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' (समुल्लास ११ पृष्ठ ३४९) में शिवलिङ्ग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बिलकुल झूठी कथा घड़कर व्यर्थ ही शिवपुराण पर आक्षेप करने की धृष्टता की है, जिसे पढ़कर सर्वसाधारण को भ्रम हो सकता है। अतः हम उक्त कथा का भी क्रमागत शैली के अनुसार यहां निरूपण करना आवश्यक समझते हैं।

वैदिक–स्वरूप

(क) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा
परो यत् । (ऋग्वेद ८ । ७ । ७ । १)

(ख) सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।।
(यजुर्वेद ३२ । २)

अर्थात्—(क) एक समय वह था जब कि सत् असत् स्थूल और सूक्ष्म द्यावाभूमि कुछ भी नहीं था । (ख) फिर विद्युत् पुरुष = ज्योतिर्लिङ्ग उत्पन्न हुआ जिससे कला काष्ठा आदि सब चराचर बना । जिस ज्योतिर्लिङ्ग का पार ऊपर नीचे आसपास और बीच से कोई भी नहीं पा सका ।

पौराणिक-स्वरूप

शिवलिङ्ग वास्तव में क्या वस्तु है ? इस बात का रहस्य 'शिव-पुराण' वर्णित शिवलिङ्ग उत्पत्ति को मनन करने से भली भांति विदित हो सकता है । हम उदार पाठकों की सन्तुष्टि के लिये कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं यथा—

इदं दृश्यं यदा नासीत्सदसदात्मकं च यत् ।
तदा ब्रह्ममयं तेजो व्याप्तिरूपं च सन्ततम् ।।१५।।
न स्थूलं न च सूक्ष्मञ्च शीतं नोष्णं तु पुत्रक ।
आद्यन्तरहितं दिव्यं सत्यज्ञानमनन्तकम् ।।१६।।

योगिनोऽन्तरदृष्टया हि यद्ध्यायन्ति निरन्तरम् ।
तद्रूपं सकल ह्यासीज् ज्ञानविज्ञानदं महत् ॥१७॥
कियता चैव कालेन तस्येच्छा समपद्यत ।
प्रकृतिर्नाम सा प्रोक्ता मूलकारणमित्युत ॥१८॥
ज्योतिर्लिङ्ग तदोत्पन्नमावयोर्मध्य अद्भुतम् ।
ज्वालामाला-सहस्राढयं कालानलचयोपमम् ॥६३॥
क्षयवृद्धिविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
अनौपम्यमनिर्दिष्टमव्यक्तं विश्वसम्भवम् ॥६४॥

(शिवपुराण धर्मसंहिता अध्याय २ श्लोक १५--६४)

अर्थात्—यह स्थूल दृश्य जगत् जब उत्पन्न नहीं हुआ था, उस महाप्रलय के अन्त समय में जब सत् असत् कुछ भी नहीं था। (अर्थात् कुछ है वा नहीं ऐसा नहीं कहा वा माना जा सकता था) उस समय निरन्तर व्याप्तिरूप ब्रह्ममय तेज प्रकट हुआ ॥१५॥ (ब्रह्मा जी अपने पुत्र नारद के प्रति कहते हैं कि) हे पुत्र ! वह ब्रह्मतेज: स्थूल, सूक्ष्म, शीत और उष्ण कुछ भी नहीं था, उस अलौकिक दिव्य तेज का आदि वा अन्त कहीं नहीं था। वह सत्य था ज्ञानस्वरूप था और अनन्त था ॥१६॥ योगी लोग समाधि में दिव्य दृष्टि से उसी तेज का निरन्तर ध्यान करते हैं। वही ज्ञान विज्ञान का देने वाला ब्रह्मतेज प्रकट हुआ ॥१७॥ कुछ काल के पश्चात् इस ब्रह्म तेज में इच्छा (क्रिया Motion) प्रकट हुई उसी को 'प्रकृति' कहते हैं जो चराचर का मूल कारण है ॥१८॥ उस समय हम दोनों (ब्रह्मा और विष्णु) के मध्य में आश्चर्य-जनक 'ज्योतिर्लिङ्ग' उत्पन्न हुवा। वह जाज्वल्यमान तेजोमय परिधियों से युक्त और प्रलयाग्नि के तुल्य तेजस्वी था ॥६३॥ न घटता था और

न बढ़ता था। न उसका आदि था न मध्य था और नां ही कहीं पर अन्त था। संसार में उसकी कोई उपमा नहीं और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है, वह सर्वथा अव्यक्त था, तथा विश्व का उत्पत्ति स्थान था ।।६४।।

यही बात मनुस्मृति में भी लिखी है:—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । (मनु १ । ६)

अर्थात्—(सृष्टि के आरम्भ में) एक अण्ड उत्पन्न हुआ जो हजारों सूर्यों के समान तेजस्वी प्रकाशमान था।

वास्तविक भाव

उपर्युक्त वेद स्मृति और पुराण शास्त्रों के मतैक्य से यह बात सिद्ध होती है कि सृष्टि के आरम्भ में निराकार ब्रह्म साकार रूप में परिणत होता हुआ ज्योतिर्लिङ्ग के स्वरूप में प्रकट हुआ। यही ज्योतिर्लिङ्ग ब्रह्माण्ड कहा जाता है। इसी ब्रह्माण्ड की अण्डाकार मूर्ति के समान ब्रह्म की प्रतिमा 'शिवलिंग' के नाम से पूजी जाती है, जिसका यह तात्पर्य है कि निराकार ब्रह्म का जो पहिला स्वरूप सृष्टि उत्पत्ति के समय प्रकट हुआ आस्तिक लोग उसी स्वरूप द्वारा ब्रह्म की उपासना करते हैं। जैसा कि शिवपुराण में लिखा है:—

शिवशक्त्योश्च चिह्नस्य मेलनं लिङ्गमुच्यते ।

(शिव पु० विद्येश्वरी संहिता १०७)

अर्थात्—शिव = ब्रह्म और शक्ति = माया के चिन्हों का जो मेलन है उसे 'शिवलिंग' कहते हैं।

ज्योतिर्लिङ्ग की उत्पत्ति का वर्णन केवल हिन्दुशास्त्रों में ही हो यह बात भी नहीं। इसी प्रकार का वर्णन अन्यान्य अहिन्दू धर्मग्रन्थों में

भी किसी न किसी रूप में पाया जाता है। उदाहरणार्थ—इस्लामधर्म-ग्रन्थ उक्त ज्योतिर्लिङ्ग को 'खुदा का नूर' नाम से याद करते हैं। वे इसी नूर से समस्त चराचर की उत्पत्ति मानते हैं। इसी प्रकार क्रिश्चियन लोगों के मान्य धर्मग्रन्थ बाईबल तौरेत (Old Testament) पर्व १। आयत १-४ में लिखा है कि 'ईश्वरने कहा उजाला हो और हो गया' ईश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था' इत्यादि।

इसी प्रकार वर्तमान साइन्स में भी यही बात सिद्ध की गई है। विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि 'सृष्टि के आरम्भ में चारों ओर हवाई गैस फैली हुई थी। कुछ काल के बाद उसमें प्रगतिहरकत (Motion) पैदा हुई और वह क्रमशः अन्दर से ठोस होने लगी' इत्यादि।—इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि वेद का 'विद्युत्-पुरुष', पुराणों का 'ज्योतिर्लिंग', मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों का 'सुवर्णमय-अण्ड, मुसलमानों का 'खुदाई नूर', क्रिश्चियनों का 'उजाला' और सांइस की 'चमकीली गैस' सब एक ही पदार्थ के भिन्न २ नामान्तर हैं। यदि इसमें कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि जहाँ अहिन्दू खोज में उसे अनिश्चित एवं संदिग्ध शब्दों में कथन किया गया है वहाँ वेद और पुराणों में उसे सुनिश्चित रूप से प्रत्यक्ष की भाँति सामने खड़ा कर दिया गया है जोकि हिन्दू शास्त्रों का सर्वतोमुख देदीप्यमान प्रकाश है।

'शिव' शब्द का अर्थ

वास्तव में 'शिव' क्या पदार्थ है। जब तक निष्पक्ष भाव से इस विषय का विवेचन न किया जायगा तब तक सत्य वस्तु का परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता। जिस पुरुष को किसी वस्तु का वास्तविक बोध न हो उसका कर्तव्य है कि वह गुरु की सेवा में समित्पाणि होकर तद्विषयक शास्त्र के पारायण से सत्यता का ज्ञान प्राप्त करे। उदाहरण के लिये—नाक पर भिनभिनाती मक्खियों से तंग आकर जड़ से नाक

काट डालना निरी मूर्खता ही कही जायगी। इसी प्रकार किसी भी हिंदू सिद्धान्त के रहस्य को पूरी रीति से न समझ सकने की अपनी अयोग्यता पर पश्चात्ताप करने के बजाय उल्टा उसे झूठा कह डालना महामूर्खता ही है। मिस मियो जैसी पापिष्ठ-हृदय एवं बोधरहित अज्ञ बालिका के मूर्खतापूर्ण उपहास के कारण 'शिवलिङ्ग' जैसे अध्यात्म-तत्त्वपूरित वैदिक सिद्धान्त को मटियामेट करने के लिए जबान खोलना समझदार हिन्दू का काम नहीं हो सकता।

शिव शब्द का निर्वचन इसप्रकार है—'शेते असौ शिवः' अर्थात् जो शयन करे उसे शिव कहते हैं। तात्पर्य यह हुवा कि महाप्रलय के अनन्तर जब प्रकृति के समस्त कार्य बन्द हो जाते हैं उस समय निश्चेष्ट, शान्त, निष्क्रिय एवं चेतन क्रियाविशिष्ट ब्रह्म को शिव कहते हैं।

वेद भगवान् कहते हैं—

नमः शम्भवाय च मयो भवाय च नमः शङ्कराय च।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥
(यजुर्वेद १६। ४१)

अर्थात् —शम्भु कल्याणकारी सुखदाता, शिवभगवान् को नमस्कार। इस मन्त्र में स्पष्ट रीति से शम्भु शङ्कर शिव आदि नामों द्वारा शिव की स्तुति की गई है। इस प्रकार माण्डूक्य उपनिषद् में भी लिखा है:—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा विज्ञेयः॥ ७॥

अर्थात्— जो किसी इन्द्रिय का गोचर नहीं, व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो ग्रहण कर सकने के योग्य नहीं, जिसका कोई लक्षण नहीं अतएव अचिन्त्य, वाणी से अकथनीय, सर्वत्र एक आत्मा का भान

जिसकी पहिचान का तत्त्व है। जिसमें कोई भी मायाकृत प्रपञ्च नहीं, जो सजातीय विजातीय भेद शून्य, एक अद्वैत वस्तु है वही तुरीयावस्था रूप शिव है, वही आत्मा है, उसी को जानना चाहिये।

वेदप्रतिपादित उक्त शिव भगवान् का माहात्म्य शिवपुराण में २४००० श्लोकों में विस्तारपूर्वक लिखा है। इसीप्रकार स्कन्द, लिंग, आदि पुराणों में भी लाखों श्लोकों द्वारा इसे समझाया गया है।

लिंग शब्द का अर्थ

व्याकरण के पुल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुँसकलिंग आदि शब्दों का भरपूर व्यवहार होता है परन्तु वहां लिंग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय नहीं किया जाता, किन्तु शब्दों की विशिष्ट तीन श्रेणी ही समझा जाता है जो लिंगानुशासन की व्यवस्था के अनुसार अमुक २ प्रत्यय के तारतम्य से विभक्त की जाती हैं। यदि मिस मियो और उसके पृष्ठ-पोषक आर्यसमाजियों के कथनानुसार यहां भी लिंग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय कर दिया जाय तो हमारे बालक बालिकाएं अश्लीलता के डर से सदा के लिये व्याकरण-ज्ञान-शून्य रह जाएंगे। इसलिये किसी भी अनेकार्थ वाचक शब्द के प्रयोग-बाहुल्यप्रमाणित, विशुद्ध अर्थ को त्याग कर मनमाने ढंग से अश्लील अर्थ की भावना पर ही जम बैठना ज्ञानशून्य पुरुष का ही काम है। आर्ष ग्रन्थ में लिंग शब्द किन २ अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यह नीचे कतिपय प्रमाणों से सिद्ध हो जाएगा:—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।

(वैशेषिक दर्शन २। १। १०)

अर्थात्—जिसमें निकलना, प्रविष्ट होना आदि क्रियायें होती हों (वह आकाश है) यह आकाश का लिंग = लक्षण है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ।

(वैशेषिक दर्जन २ । २ । ६)

अर्थात्—पीछे, पहिले, एक साथ, देर से, और झटपट इत्यादि व्यवहार जिसमें होते हों (वह काल) यह काल के लिंग—चिह्न—लक्षण हैं ।

इति इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम् ।

(न्यायदर्शन १ । १०)

अर्थात्—यहां से यह—(अमुक प्रदेश से अमुक स्थान) इत्यादि व्यवहार जिसमें होते हैं (वह दिशा है) यह दिशा का लिंग—लक्षण है ।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगम् ।

(वैशेषिक दर्शन २ । २ । १०)

अर्थात्—चाह, वैर प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान यह आत्मा का लिंग—लक्षण है :

युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिंगम् ।

(न्यायदर्शन १ । १६)

अर्थात्—एक समय में एक साथ अनेक वस्तु का ज्ञान न होना मन का लिंग—लक्षण है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मा आदि निराकार पदार्थ हैं । उनमें मूत्रेन्द्रिय की कल्पना करना सो निरी मूर्खता है । अत: 'लिंग' शब्द के अर्थ संज्ञा, लक्षण, चिन्ह परि-भाषा, निशान, तारीफ, या डैफिनेशन आदि २ होते हैं ।

अब विचार करना चाहिये कि जब 'शिव' शब्द का अर्थ ब्रह्म और लिंग शब्द का अर्थ चिन्ह है, तब ऐसी स्थिति में परब्रह्म की चिन्हभूत प्रतिमा की उपासना करना प्रत्येक आस्तिक का परम कर्तव्य है । बिना

किसी प्रकार का शास्त्रचिन्तन किये अपनी मूर्खतावश ऐसे रहस्यमय सिद्धान्त से दूर भागना सर्वथा बेवकूफी है।

शिवपुराण का निर्वचन

शिवलिंग की भांति जलाधारी की बनावट को देखकर भी नास्तिकों ने पार्वती की योनि अर्थात्—मूत्रेन्द्रिय की कल्पना कर रखी है। तथा पुराण ग्रन्थों के जलाधारी वाचक भग योनि आदि शब्दों का अर्थ स्त्रीवर्ग की प्रजननेन्द्रिय समझा है--जो महा अज्ञान है। वास्तव में वेदादि सच्छास्त्रों में उक्त शब्द प्रसंगानुसार माया—प्रकृति ऐश्वर्य एवं कारण के वाचक आते हैं। यथा:--

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे। (अथर्व ३। १६। २)

अर्थात्--हम प्रातःकाल भगः = ऐश्वर्य के अधिष्ठाता देव की स्तुति करते हैं। यहां 'भग'—ऐश्वर्य का वाचक है! अतएव भगवान् शब्द भी (भग+वान्) ऐश्वर्यविशिष्ट ईश्वर का वाचक होता है। इसीप्रकार—

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः। (यजु० ३१। १९)

अर्थात्—(वह अजन्मा भी किस प्रकार विविध अवतार धारण करता है) उस परमात्मा की योनि = मूलकारण अथवा प्रकृति माया को धीर पुरुष ही यथार्थरूपेण समझ सकते हैं। यहां भी 'योनि' शब्द का अर्थ स्त्रीवर्ग की जननेन्द्रिय नहीं होता।

भग (जलाधारी) शब्द का अर्थ

पुराणों में 'लिंग भग' आदि शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं, इस बात का निर्णय स्वयं वेदव्यास जी ने कर डाला है। प्रत्येक शास्त्र में

कुछ पारिभाषिक शब्द होते हैं जो व्यापक अर्थों को छोड़ कर किसी विशिष्ट नियमित अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं, यह बात शास्त्रवेत्ता लोग भली भांति जानते हैं। व्याकरण में प्रत्याहार, घि, टि, आगम और आदेश आदि शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं वे अर्थान्तर में नहीं बदल सकते। इसीप्रकार पुराणों में भी 'लिग' और 'भग' शब्द का खास अर्थ किया है यथा—

लीनार्थगमकं चिन्हं लिगमित्यभिधीयते ।
भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद्भगः प्रकृतिरुच्यते ॥
मुख्यो भगस्तु प्रकृतिर्भगवान्शिव उच्यते ।

(शिवपुराण विद्येश्वरी संहिता १६ । १०६)

अर्थात्—लीन-अव्यक्तावस्थापन्न वस्तु के गमक = जतलाने वाले चिह्न को (लीन + ग =)लिंग कहते हैं। और भ = वृद्धि को ग = प्राप्त होने वाली वस्तु को (भ + ग =)भग कहते हैं। जोकि प्रकृति नाम से पुकारी जाती है इसलिए प्रकृति का नाम भग है और भग के अधिष्ठाता शिव का नाम भगवान् है।

आकार निरूपण

भगवान् शिवलिंग का  अण्डाकारस्वरूप देखकर और जलाधारी का  उकार के समान लम्बायमान पान जैसा आकार देखकर नास्तिक लोग अपनी भ्रष्ट बुद्धि के अनुसार स्त्री पुरुष के मूत्रेन्द्रिय की अश्लील कल्पना करते हैं। मिस मेयो और उसके पथप्रदर्शक आर्यसमाजियों को छोड़ कर अन्य किसी भी शिवलिंग पूजक आस्तिक हिन्दू के हृदय में ऐसा खोटा भाव कभी भी नहीं आ सकता। किसी

छोटे से छोटे देहाती गाँव में जाकर किसी भी अपठित शिवपूजक से पूछिये कि 'शिवालय में क्या मूर्ति है ?' तो उत्तर में यही कहा जायगा कि—त्रिलोकीपति शिव शम्भु भगवान् की प्रतिमा है, मैं उसी की पूजा करता हूँ।

यदि कोई मनुष्य बाह्य आकार के आधार पर मनमाने ढंग से किसी वस्तु में अघटित कल्पना को घटाने का प्रयास करे तो संसारका वह कोई पदार्थ शेष नहीं रहता जो कि अश्लीलता के लाँच्छन से अछूता रह सके। और तो और शिवलिंग का उपहास करने वाले मिस मेयो के चेले दयानन्दियों की संस्कारविधि के यज्ञपात्रों में प्रोक्षणी, पुरोडाश पात्री और घृतावदान आदि के बाह्य आकारों में भी स्त्री पुरुषों की मूत्रेन्द्रिय की कल्पना की जा सकती है। हम ऐसी कल्पना को हास्य-जनक समझते हैं।

शिवलिङ्ग पूजन की विश्वव्यापकता

मिस मेयो एवं उसके अन्धानुयायियों द्वारा हिन्दू जाति को बदनाम करने के लिये कहा जाता है कि शिवलिङ्ग पूजन की प्रथा एक मात्र भारतवर्ष में, और वह भी विशेष कर हिन्दुओं में ही प्रचलित है। किन्तु नीचे दिये गये विवरण से पाठक भली प्रकार जान सकेंगे कि शिवलिंग पूजन का प्रचार न केवल भारतवर्ष या उसके समीपस्थ देशों में ही है किन्तु सात समुद्र पार बसे हुए विदेशों में भी वह किसी न किसी रूप में पाया जाता है और संसार भर की सभी जातियाँ अपनी २ रीति से इस का पूजन करती हैं।

किस देश में किस २ रूप में कौन जाति पूजन करती है, इसका पता नीचे के विवरण से भली भाँति हो जायगा।

(१) अफ्रीका के इजिप्ट (Egypt) मिस्र देश में 'असिरिस' और आईसिस नामक लिंग का पूजन होता है। असिरिस के

मस्तक पर तथा गले में शिव के समान सर्प, हाथ में त्रिशूल, अंग पर व्याघ्रचर्म है और ऐपिस नामक नन्दी बैल पर सवार है। बिल्व पत्र के सदृश एक वृक्ष के पत्ते पूजन में इसके ऊपर अर्पण किए जाते हैं। हमारी काशीपुरी की भाँति वहां भी 'मेम्पिस' नामक प्रसिद्ध यात्रा का धाम है।

(२) इसीप्रकार उत्तरी अफ्रीका की अरब जातियां भी लिंग द्वारा ही ईश्वरोपासना करती हैं।

(३) ग्रीस यूनान (Greece) में 'बेसक' और 'प्रियेसम' लिंग की पूजा होती है।

(४) इटली (Italy) की राजधानी प्रसिद्ध रोमनगर में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई शिवलिंग पूजन करते हैं।

(५) स्काटलैण्ड (Scotland) के ग्लासगो शहर में एक सुवर्ण जड़ित बृहत् शिवलिंग विद्यमान है।

(६) नार्वे (Norway) और स्वीडन (Sweedon) में भी लिंग पूजन होता है।

(७) आस्ट्रिया-हंगरी (Austria, Hangry) ने 'तस्त्रिस्वक' नामक लिंग की पूजा होती है।

(८) रूम-असिरिया (Aseeria) देश के विलन नगर में तीन सौ घन हस्त प्रमाण का बड़ा भारी शिवलिंग है, जिसको पूजा जाता है।

(९) स्याम देश में 'ऐकोनिस' और 'ऐस्टरगैटीस' नाम के पाषाणमय शिवलिंग पूजे जाते हैं।

(१०) अर्बस्तान के मक्का शरीफ में 'संगे असबद' (मक्केश्वर) नामक शिवलिंग को हज करने वाले तमाम मुसलमान श्रद्धापूर्वक चूमते हैं।

(११) सुमात्रा (Sumatra) और जावा (Jawa) द्वीप में भी शिवलिंग पूजन होता है।

(१२) यहूदिया देश में इसराईली तथा यहूदी सम्प्रदाय का एक प्रतिष्ठित शिवलिंग है जिसे स्पर्श करके आज तक भी शपथ (नेम) ली जाती है।

(१३) जापान (japan) के आईस नगर में भी लिंग पूजन होता है।

(१४) लंका सिलोन में भी शिवलिंग पूजा होती है।

(१५) साईबेरिया (Saiberia) के तासकन्द नामक शहर में सिविलियन लोग लिंग पूजा करते हैं।

(१६) अफ्रीदीस्तान के चित्राल, स्वाद, बलख, बुखारा, कोहेकाफ आदि स्थानों में 'चंचशेर' नामक लिंग की पूजा होती हैं।

(१७) हवाई टापू के आदिम निवासी ईतिभीति = अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि उपद्रव के अवसर पर शान्ति के लिए शिवलिंग पूजा करते हैं।

(१८) ईरान में ज्वालामय लिंग की पूजा होती है।

(१९) दक्षिणी अमेरिका (South America) के ब्रजिल स्थान में शिव गणेश आदि देवताओं की प्रतिमाएं पुराने खण्डहर खोदते हुवे मिलती हैं जो ईसा के जन्म से सहस्रों वर्ष पूर्व की बनी हुई खयाल की जाती हैं। इससे सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान में सभ्य कही जाने वाली जातियों के उद्गम से बहुत समय पूर्व वहां प्रतिमापूजन का प्रसार था।

(२०) पेरू स्थान में माटी का लिंग (पार्थिवेश्वर) पूजा जाता है।

(२१) अमेरिका के पेम्ब्रुको शहर में गोल-सरल द्विमुखी शिव लिंग है।

(२२) युनाइटिड स्टेट्स आफ अमेरिका (U.A.S.) के टेन्सी नगर में एक बृहत् शिवलिंग पूजा जाता है।

(२३) स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द के प्रचार से अमेरिका में कई मन्दिर बन गये हैं। अभी हाल में लण्डन में एक बृहत् शिवालय बनाने की आयोजना की गई है।

(२४) केनिया की राजधानी नैरोबी के गगनचुम्बी शिवालय की हमने ही प्रतिष्ठा कराई है। इसीप्रकार मुम्बासा दारइसलाम तथा जांजीबार में भी शिवालय प्रतिष्ठापित हो चुके हैं।

(२५) दक्षिणी अफ्रीका, माडागास्कर, फीजी, मारिशस, गायना और वैस्ट इण्डीज आदि द्वीपों में भी अनेक शिवालय और मन्दिर बनते जा रहे हैं।

वैदिक ज्ञान से अपरिचित तथा शिवलिंग पूजन की वैज्ञानिकता को न समझ सकने वाले विदेशी लोग तो आज तक अपनी कुलपरम्परा से चली आने वाली मर्यादा के अनुसार शिवलिंग द्वारा ईश्वर पूजन करते आ रहे हैं, परन्तु वैदिक होने का दम भरने वाला आर्यसमाज शिवलिंग को मूत्रेन्द्रिय बताकर सर्वसाधारण को ईश्वर पूजन से पराङ्मुख करना चाहता है यह कितनी शोचनीय दशा है!

ब्रह्मा और विष्णु में विवाद

१७

एक कथा इस प्रकार है कि—'ब्रह्मा और विष्णु के मध्य में सर्व-श्रेष्ठ देवता कौन? ऐसा विवाद चला, उस समय दोनों के मध्य में एक महान् ज्योतिर्लिंग अकस्मात् उत्पन्न हुआ और कहा गया कि तुम दोनों में से जो इस लिंग का आदि

अन्त जान सके वही बड़ा माना जायगा । तब तो ब्रह्मा और विष्णु उस लिंग का आदि अन्त जानने के लिये एक नीचे की ओर और दूसरे ऊपर की ओर गये, परन्तु हजार प्रयत्न करने पर भी पारावार न पा सके । अन्त में लज्जित होकर दोनों ने अपने विवाद को त्याग कर ज्योतिर्लिङ्ग को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया—इत्यादि···। (सत्यार्थप्रकाश के लेख का सारांश) इस पर नास्तिक लोग मुख्यतया दो आक्षेप कर सकते हैं । पहिला—ब्रह्मा और विष्णु भी साधारण मनुष्यों की भांति लड़ते झगड़ते हैं, फिर वे ईश्वर कैसे ? तथा दूसरा आक्षेप—लिंग शब्द का अर्थ अपनी मन्द बुद्धि के अनुसार मूत्रेन्द्रिय समझ कर ब्रह्मादि द्वारा भी उसका आदि अन्त न पाना असम्भव और अश्लीलता विषयक है ।

इन आक्षेपों का निवारण करने से पूर्व हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वेदादि शास्त्रों में एक अद्वितीय परमात्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन आता है । उन शक्तियों के भिन्न २ नाम और काम हैं, जो देवता नाम से स्मरण की जाती हैं । जैसे जल की नियामक शक्ति का नाम वरुणदेव, भौतिक वायु के अधिष्ठाता का नाम वायुदेवता, पृथ्वी की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम पृथ्वीदेवी इत्यादि । इसी प्रकार उत्पादक शक्ति का नाम ब्रह्मा और पालक शक्ति का नाम विष्णु और संहारकारक शक्ति का नाम रुद्र है । उक्त तमाम शक्तियें जिस एक परमात्मा में रहती हैं उसी सर्वशक्तिमान् भगवान् को शिव अथवा ब्रह्म कहते हैं । जैसा कि वेद में लिखा है:—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णोगरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद १ । १६४ । ४६)

अर्थात्—इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सुपर्ण, यम और वायु आदि जिसके नाम हैं वह एक अद्वितीय परमात्मा है ।

यहाँ यह समझना चाहिये कि कोई भी एक शक्ति एकत्वरूपेण सर्वशक्तिमान् परमात्मा से महान् नहीं हो सकती । इसलिये सृष्टि उत्पत्ति के समय उत्पादक शक्ति रूप ब्रह्मा और पालकशक्तिरूप विष्णु के परस्पर विवाद द्वारा यह निर्णय किया गया है कि यह समस्त शक्तियें जिस एक परमात्मा में स्थित हैं वही शक्ति-भण्डार प्रभु सर्व-नियन्त्रक एवं चराचर का अधिष्ठाता है। यही उक्त विवाद का रहस्य है । माया के संयोग से जो ब्रह्म ब्रह्माण्ड रूपमें प्रकट हुआ है उसका आनन्त्य दिखाने के लिये ही वेद और पुराण दोनों में समान रूप से कहा गया है कि 'उस ज्योतिर्लिङ्ग का नीचे ऊपर आस पास किसी भी ओर से अन्त नहीं पाया ।' वास्तव में किसी भी गोल अण्डाकार वस्तु का आदि या अन्त स्थिर भी नहीं किया जा सकता ! क्योंकि उसके हर एक पहलू को केन्द्र (Centre) और परिधि (Circumferenee) दोनों ही कह सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त लिंग शब्द का अर्थ मूत्रेन्द्रिय मान कर जो अश्लील कल्पना की जाती है इसका विवेचन हम पूर्व कर चुके हैं, अब उसे दोहराने की जरूरत नहीं । हाँ ! इतना और कह देना चाहते हैं कि जिस समय लिंग का प्रकट होना लिखा है उस समय देहधारी प्राणियों का तो कहना ही क्या है, स्थूल पञ्च-महाभूतों का भी पूर्णतया विकाश न हो पाया था । वर्तमान ग्रह नक्षत्र तारे सितारे और सैयारे भी भविष्य के गर्भ में विलीन थे । अतः ऐसे समय में किसी शरीरधारी पुरुष के गुह्याङ्ग की कल्पना करना सर्वथा मूर्खपन ही समझना चाहिए।

दारुक वन में दिगम्बर शिव जी

१८

शिवलिंग के सम्बन्ध में एक अतीव रहस्यभरी कथा (शिवपुराण धर्मसंहिता अ० १०-७९-२३३) में विस्तार पूर्वक तथा स्कन्द लिंग और देवी भागवत आदि पुराणों में

संक्षेप से इस आशय की आती है कि—एक बार देवदारु वन में जब ऋषि लोग समिधा लेने के लिये घरों से बाहर गए हुवे थे तो शिव भगवान् दिगम्बर नग्न रूप में ऋषि पत्नियों के समुदाय में पहुँचे।

द्रष्टुं स्त्रीणाञ्च दौःशील्यं साध्वीनाञ्च तथा धृतिम्।
कौतूहलाद्ययौ गौरी देवदारुवनं शनैः।

(शि० पु० धर्म सं० १० । १०६)

अर्थात्—दुष्ट स्त्रियों का दुश्चरित्र और पतिव्रताओं का धैर्य जाँचने के लिए (शिव भगवान् देवदारु वन में गए) तथा श्री पार्वती जी भी अन्यान्य मातृशक्तियों के सहित भीलनी का रूप धारण करके इस आश्चर्यमयी परीक्षा को देखने के लिए पीछे २ चलीं।

ज्यों ही भगवान् ने जाकर भिक्षा याचना की तो उनके दिगम्बर एवं तेजस्वी स्वरूप को देखकर चञ्चल प्रकृति वाली ऋषि पत्नियां अपने २ पतियों की परवाह न करके शिवजी के पास पहुँचीं और ऐसे हाव भाव प्रकट करने लगीं जिनसे योगी शिव मुग्ध होकर स्वयं भी कामचेष्टा में प्रवृत्त हो जाएं। परन्तु महायोगीश्वर शिव भगवान् पर जब ऋषिपत्नियों की दुश्चेष्टाओं का कुछ भी प्रभाव न पड़ा तब तो वे निर्लज्ज भाव से स्पष्ट शब्दों में कहने लगीं कि—आप हमारे घर पधारें, हम सब प्रकार से आपकी सेवा करेंगी, आप सुन्दर रूप वाले युवा हो। तुम्हारे जैसे पुरुष को स्त्रियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बिना माँगे मिलते हुवे भोगों का त्याग करना निरी मूर्खता होती है। तुम आँखें बन्द किये भिक्षा क्यों माँगते हो? एक बार आँख खोल कर हमारे रूप लावण्य को तो निहारिये इत्यादि—अनेक प्रकार के भाव भरे वचनों को अनसुने करके सुमेरु पर्वत के समान अचल धैर्यधारी अखण्ड ब्रह्मचारी शिव भगवान् बोले :—

यदेतद्दक्षिणं नेत्रं विष्णोराभाति वीर्यवान् ।
एष वै गुरुरस्माकं गुरुराह रतेः स्त्रियः ॥१३८॥
चतुर्दशविधस्यास्य भूतसर्गस्य दैशिकः ॥१३९॥
दिवाचराणां भूतानामयं पालयिता दिवा ।
निशाचराणां भूतानामयमेव निशागमे ॥१४०॥
पिता पालयिता नित्यं प्रविश्य शशिमण्डलम् ।
जलमात्रं स्वकिरणैः पातालतलमाश्रितः ॥१४१॥
अनेन मे व्रतं दत्तमिदं त्रिदशपूजितम् ।
आवयोरन्तरं नास्ति योऽयं सोऽहमिति श्रुतिः ॥१४२॥
यावदेष स्थितो व्योम्नि तावन्मे भोजनक्रिया ।
विहिता प्राङ्मुखस्यापि मांसक्षारमधूज्झिता ॥१४३॥
अभक्ष्यापेयपानैश्च सर्वदोषविवर्जिता ।
उषितस्य च मे नित्यं ग्रासो वै दीयतां पृथक् ॥१४४॥
आचान्तस्य जलेनाथ द्वितीयो देय इत्यपि ।
घृतक्षीरान्नशाकैश्च फलमूलैश्च निस्सृतम् ॥१४४॥
एका ददाति कवलं केशकीटविवर्जितम् ।
द्वितीया वस्त्रच्छदनं पानीयमुपसेचनम् ॥१४६॥
अनेन विधिना तृप्तिं करोमि सततं स्त्रियः ।
अयं मे दक्षिणः पाणिर्भोजने पात्रमेव हि ॥१४७॥

सम्भाषणं मे भगवन्नमोऽस्त्विति कृताञ्जलिः ।
भूमौ जानुद्वयं कृत्वा करोति मम वन्दनम् ।१४८॥
अनादरैरसन्मानैस्तुष्टिर्मे जायते सदा ।
शयनं जाङ्गले देशे वृक्षकोटरसानुसु ॥१४९॥
अस्मिन् विभावसौ वीर्यं जुहोमि सृष्टिसिद्धये ॥१५०॥
मया तु सर्वभूतेभ्यो दानं देयं प्रकल्पितम् ।
एतस्माद्यस्य यस्य स्यादभिप्रीतिर्यथात्मनः ॥१५१॥
तं वै नयतु स क्षिप्रं येन स्यात्पूर्णमानसः ।
निवृत्तः परितुष्टश्च सुखी पूर्णमनोरथः ॥१५२॥
तच्छ्रुत्वा परितुष्टास्ता, सावहासाः स्त्रियस्तु वै ।
तमवष्टभ्य चिक्रीडुर्जजल्पुरिति तापसम् ॥१५३॥
उन्मत्तक! वृथा शास्त्रं स्त्रीणामग्रे ब्रवीषि किम् ।
स्त्रियः कामुकमिच्छन्ति कामितं स्त्रीजनैः परैः ॥१५५॥
यदि न त्वं वृथाशास्त्रः कथं ते शबरी स्थिता ।
छायाफलेव सततं स्त्रीरत्नं भुवि दुर्लभम् ॥१५५॥
एको महेश्वरो धन्यो यस्य तुष्टा च पार्वती ।
न लोकोऽयं वृथावादस्त्वं धन्यः सत्यमेव हि ॥१५६॥
यस्येयं शबरी बाला भार्या त्रैलोक्यसुन्दरी ।
संस्पर्शस्य तदर्थिन्यो वयं तु वदतांवर ! ॥१५७॥

(शि० पु० धर्मसंहिताध्याय १०)

अर्थात्—(शिव जी ने कहा) यह जो विष्णु भगवान् का सूर्यमण्डल रूप दाहिना नेत्र आकाश में तप रहा है यह हमारा गुरु है। इस गुरु ने मुझे आज्ञा दी है कि 'स्त्री रति की है' अर्थात्—तुम्हारी नहीं ॥१३८॥ यह मेरा गुरु चौदह भुवन के चौदह प्रकार के प्राणियों का स्वामी है ॥१३९॥ यह दिन में विचरने वाले प्राणियों का रक्षक पिता है, तथा रात में विचरने वालों का भी यही त्राता है ॥१४०॥ यह रात के समय स्वयं पाताल लोक में स्थित होकर अपनी किरणों द्वारा जल में प्रवेश करके चन्द्रमण्डल को प्रकाशित करता है और समस्त चराचर का पालन करता है ॥१४१॥ इस सूर्य भगवान् रूप गुरु ने मुझे देवताओं द्वारा सम्मान योग्य दीक्षा दी है, 'कि तुम मेरी तरह नियमबद्ध पूर्ण ब्रह्मचारी रहो। अतः सूर्य रूप गुरु में और मुझ में कुछ भी भेद नहीं है। 'जो मैं हूं सो यह है' ऐसा वेद कहता है ॥१४२॥ जबतक हमारे गुरु जी आकाश में दीखते हैं तब तक ही मैं, मांस क्षार और मधु को छोड़कर शुद्ध भोजन पूर्वाभिमुख होकर खा सकता हूं ॥१४३॥ भोजन में अभक्ष्य (न खाने योग्य) अपेय (न पीने योग्य) मद्य आदि अपवित्र वस्तु कदापि ग्रहण नहीं करता। यदि मैं कहीं बैठ जाऊँ तो मुझे दूर से एक ग्रास देना चाहिए ॥१४४॥ और आचमन कर चुकने पर फिर दूसरा ग्रास देना चाहिए। घी दूध शाक फल और मूल आदि से बना हुआ ग्रास—॥१४५॥ जिस में बाल मक्खी या कीट आदि न पड़ा हो—दूर से ही एक स्त्री खिलाती है। और दूसरी स्त्री हाथ धोने को जल तथा वस्त्र आदि देती है ॥१४६॥ हे स्त्रियो! इस विधि से मैं अपनी तृप्ति करता हूं। यह मेरा दाहिना हाथ ही मेरा भोजन पात्र है ॥१४७॥ मेरे साथ सम्भाषण करने की रीति यह है कि भूमि पर दोनों घुटने टेककर तथा हाथ जोड़ कर 'भगवन्नमोऽस्तु' ऐसा कहे ॥१४८॥ अपना अनादर और अपमान होने पर भी मैं प्रसन्न रहता हूँ, वृक्षों के खोखले में या सघन जङ्गलों में मैं निवास करता हूं ॥१४९॥ मेरे साथ जो शवरीरूप धारिणी

तपस्विनी है यह साक्षात् जाज्वल्यमान अग्नि है। जब मुझे सृष्टि रचना करनी होती है तब उक्त अग्नि में ही प्रकृति का बीज होम करता हूँ ॥१५०॥ मैं संसार के समस्त प्राणियों के मनोरथ पूर्ण करता हूँ परन्तु पूर्वोक्त अपने व्रत के अनुसार ही। जिसकी जो रुचि हो ॥१५१॥ सो मुझसे प्राप्त करे जिससे संसारी दुःखों से निवृत्त सन्तुष्ट सुखी और पूर्णमनोरथ हो जावे ॥१५२॥ योगी रूप प्रच्छन्न शिव जी के पूर्वोक्त बचनों को सुनकर वे स्त्रियां प्रसन्न नहीं हुईं और तरह २ की हँसी करती हुईं शिव भगवान् को चारों ओर से घेर कर क्रीड़ा (खेल) करने लगीं तथा बोलीं ॥१५३॥ अरे पागल योगी ! तू स्त्रियों के आगे व्यर्थ ही शास्त्र का ढकोसला क्यों लगा रहा है ? स्त्रियों का स्वभाव है कि वे दूसरी स्त्रियों द्वारा पसन्द किये हुवे हृष्ट-पुष्ट कामी को चाहा करती हैं ॥१५४॥ यदि तेरा यह व्रत नियमादि का लगाया हुआ पचड़ा व्यर्थ नहीं है तो बता कि इस सुन्दरी शबरी को क्यों लिए फिरता है ? जिस प्रकार सघन छाया और उत्तम फल ये दोनों बातें एक वृक्ष में होनी दुर्लभ हैं वैसे ही शीलस्वभाव तथा रूपवती युवती का मिलना भी दुर्लभ है ॥१५५॥ यों तो एक शिव भगवान् ही धन्य हैं—जिन पर श्री पार्वती जी सदैव प्रसन्न रहती हैं, तुम भी अवश्य धन्य हो—यह लोगों की चर्चा व्यर्थ थोड़े ही है ॥१५६॥ जो कि तीन लोक में सुन्दरी इस शबरी को भार्या बनाये फिरते हो। हम चाहती हैं कि तुम हमारे शरीर को स्पर्श करो। जिससे हमारे मनोरथ पूर्ण हो जाएं ॥१५७॥

इस तरह अनेक प्रकार के हाव-भाव कटाक्ष भरे व्यंग्य वचनों से वे स्त्रियाँ शिव भगवान् को अपने अनुकूल बनाने की बार २ चेष्टा करने लगीं। परन्तु शिव भगवान् ने उनकी एक न सुनी और सुमेरू पर्वत के समान अपने ब्रह्मचर्य व्रत में अविचल रहे। भगवान् शिव ज्यों ज्यों लापरवाही से उनकी बातें पर कुछ भी ध्यान न देकर पूर्ववत् द्वार द्वार पर भीख माँगते थे त्यों त्यों वे स्त्रियें कामातर होकर आपे से बाहर

होने लगीं। और अपने २ घरों को छोड़कर अनेक तरह की निर्लज्जता-पूर्ण बातें बकती हुईं योगी रूप शिव जी के पीछे २ चलीं। दारुक वन में खासा हुल्लड़ मच गया। समिधा लेने गये हुवे ऋषि भी इस गलबले को सुनकर वहां आ पहुँचे और अपनी स्त्रियों को नग्न योगी के पीछे २ दौड़ती देखकर अनेक यत्नों से उन्हें बाँध २ कर रोकने लगे, तथापि स्त्रियाँ जबर्दस्ती छुड़ा २ कर अपने पतियों को धत्ता बताकर तथैव भागने लगीं। अब तो ऋषि लोग किंकर्तव्यविमूढ़ होकर योगी रूप शिव पर बिगड़ उठे।

ततोऽमर्षवशं प्राप्ता न जानीयुर्महेश्वरम्।
तापसास्तापसं जघ्नुर्गर्हयन्तश्च मोहिताः ॥१६२॥
दण्डैर्द्रुमैश्च पाषाणैः कमण्डलुभिरेव च।
तलेन वह्निना सर्पैः कण्टकैरायुधैस्तथा ॥१६३॥
क्षुत्क्षामकण्ठाः पेतुश्च न शेकुश्च विचेष्टितुम्।
श्रान्ता निपेतुर्धरणीं ततस्तेषु यतत्स्वपि ॥१६४॥
चर्मवल्कलवासांसि लाघवादवमुच्य ताः।
नग्नाः प्रवव्रजुर्नार्यो वरनारीश्वर प्रति ॥१६५॥

(शि० पु० धर्मसंहिता अध्याय १०)

अर्थात्—ऋषियों ने क्रोधान्ध होकर अपना विवेक सर्वथा खो दिया। उन्हें यह विदित नहीं हुआ कि यह नग्न योगी शिव भगवान् हैं। तब तो माया से मोहित हुए ऋषि परस्पर नग्न तापस की निन्दा करने लगे और बेतहासा पीटने लगे ॥१६२॥ लकड़ी, वृक्षों की टहनी, पत्थर कमण्डलू, तमाचे, आग, साँप, काँटे तथा अन्यान्य हथियारों से जो जिसके हाथ लगा उसी से योगी शिव को साधारण पुरुष समझकर पीटना आरम्भ किया ॥१६३॥ [पिटते समय योगी तनिक भी घबड़ाता नहीं

था और न कुछ बोलता ही था, साथ की शबरी आदि स्त्रियाँ भी शान्त भाव से तमाशा देखती थी] पीटने वाले ऋषियों के कण्ठ सूख गए, पृथ्वीपर बेहोश होकर गिर पड़े और इतने थक गये कि कि हाथ पाँव हिलाना भी दुर्भर हो गया (परन्तु शिव भगवान तथैव निश्चल होकर डटे रहे) ॥१६४॥ तब तो विवश होकर ऋषियों ने अपने २ मृगचर्म बल्कलों में स्त्रियों को बांधा तथापि झटपट सब बन्धन छिन्न भिन्न करके वे स्वयं भी नग्न होकर नंगे साधु के पीछे २ भागने लगीं ॥१६५॥

यहां तक कुलटा स्त्रियों का स्वभाव और क्रोधान्ध मनुष्यों की किंकर्तव्य-विमूढ़ता का खाका खींचा गया है, जिससे जिज्ञासु मनुष्य पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सकता है। अब साध्वी स्त्रियों और विवेकी पुरुषों के चरित्र का भी दिग्दर्शन कीजिए । इसी अध्याय में आगे चलकर लिखा है कि—

ततो वसिष्ठस्य मुनेर्गृहद्वारमुपागतः ।
जगाद शनकैर्वाक्यं रुधिरौघपरिप्लुतः ॥१६६॥
हे हे भवति ! भिक्षां मे देहि देहीति शङ्करः ।
अतिथिस्तव वामोरु! संप्राप्तोऽहं तु शोभने!॥१६७॥
अनर्गलं वने चैव ताडितो मुनिपुंगवैः ।
पश्य गात्राणि मे देवि! मृदूनि ललितं मम ॥१६८॥
रूपं पश्य वरारोहे ! मुनिभिर्जर्जरीकृतम् ।
इति वक्रोक्तिभिर्दण्डी दक्षकन्यामरुन्धतीम् ॥१६९॥
लोभयन्दर्शयामास गात्राणि च शनैः शनैः ॥१७०॥

(शि० पु० धर्मसंहिता १०)

अर्थात्—इस अवसर में जिनके शरीर से रक्त बह रहा है ऐसे योगी शिव वशिष्ठ मुनि के आश्रम में पहुंचे। और धीरे से कहने लगे कि ।।११६।। 'हे भवति ! भिक्षां देहि' अर्थात्—हे श्रीमती जी ! आप भिक्षा दीजिये। हे शोभने ! मैं आपका अतिथि हूं ।।१६७।। बड़े २ मुनियों ने पीछे वन में मुझे बेरोक टोक खूब पीटा है। हे देवि ! मेरे कोमल अंगों को देखिये ।।१६८।। मेरे मनोहर रूप को किस भाँति पीट पीट कर नष्ट कर दिया है। दण्डी योगी ने इस प्रकार वक्रोक्तियों द्वारा दक्षकन्या अरुन्धती को प्रलोभित करते हुए धीरे २ अपने अंगों को दिखाना आरम्भ किया ।।१६९।।१७०।।

उपर्युक्त प्रसंग को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर यह विदित होता है कि शिव भगवान् इधर तो यज्ञोपवीत के समय अपनी माता को जो वचन कहकर भिक्षा माँगनी लिखी है उस प्रकार बार बार 'भवति ! भिक्षां देहि' कहते हुए मातृभाव दिखा रहे हैं तथा अबोध बालक जिस तरह माता के निकट अपने गुह्य अङ्ग तक को नहीं छुपाते इसी तरह समस्त अङ्गों की चोट दिखाते हैं—उधर वक्रोक्ति से अंगों की कोमलता तथा रूप लावण्य का वर्णन करते हुवे अरुन्धती को प्रलोभित भी करते हैं। अरुन्धती परम पतिव्रता थीं वे जरा भी विकारयुक्त नहीं हुईं और माता की भाँति पेश आयीं। यथा:—

सा च रुद्रस्य गात्राणि शक्तेरिव सुतस्य तु।
प्रक्षाल्य शीतलैस्तोयैः कामधेनूद्भवैर्घृतैः ।।१७१।।

अर्थात्—वह अरुन्धती शिव भगवान् के अंगों को अपने पुत्र शक्ति ऋषि की भाँति शीतल जल से धोने लगीं और घावों पर कामधेनु गाय का मक्खन लगाने लगीं ।।१७१।। इसके बाद अनेक प्रकार के उबटन आदि से स्नान कराया तथा चन्दनादि का लेप करके फूलों का हार गले में डाल दिया। फिर सुवर्ण के थाल में उत्तमोत्तम भोजन खिलाये तथा

कन्द मूल आदि से स्वागत करके बार २ प्रणाम करके कहा कि 'हे पुत्र ! अब तुम जिधर चाहो जा सकते हो ।

शिव भगवान् इस अथिति सत्कार और आदर्श प्रतिव्रत धर्म को देखकर प्रसन्न हुए और बोले कि:—

देवि! धर्मस्त्वया प्रोक्तो वयमर्हाश्च तापसाः ।
नग्नक्षपणकास्तुष्टास्त्वं च सौभाग्यमाप्नुहि ॥१८०॥

अर्थात्—हे देवि ! तूने अपने गृहस्थ धर्म का खूब पालन किया है । हम तपस्वी अतिथि सभी के पूज्य हैं, हम नागे साधु प्रसन्न होकर तुम्हें वर देते हैं कि तेरा सौभाग्य बढ़ा रहे ॥१८०॥

जब इस प्रकार वर देकर चलने लगे, तब वशिष्ठ जी ने भी उचित स्वागत् किया, परन्तु उन पूर्व वाली कुलटा स्त्रियों ने बाहर निकलते ही उन्मत्त हुवे भ्रमरों की भाँति फिर चारों ओर से शिव भगवान् को घेर लिया और उनके पति फिर खिसिया कर मारने पीटने लगे । इस भाँति बारह वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु शिव भगवान् उन मायामूढ़ ऋषियों के प्रहारों से किंचित् भी व्यथित नहीं हुये और न कुछ बोले तथा नाहीं बदला लेने का उपाय किया । तब तो उक्त ऋषियों ने खासकर भृगु जी ने शाप दिया कि—

मिथ्यातापस ! लिङ्गं ते पततामत्र भूतले ॥१८८॥

अर्थात्— ढोंगी पूपने ! तेरा लिंग भूमि पर गिर जाय ! इसके अतिरिक्त और भी तरह २ की बकवास की । शाप के बाद तत्काल ही भगवान् शिव का तेजोमय लिंग कई योजनों में गिर पड़ा और उस वन रूपी सती की देह में वह दिव्य तेज वाला जाज्वल्यमान लिंग समा गया । तब तो:—

तमोभूतं जगच्चासीन्मुनीनां हृदयानि च ॥१९५॥

अर्थात्—समस्त संसार में घोर अन्धकार छा गया तथा समस्त ज्ञानी मुनियों के हृदयों में भी अज्ञानमय अन्धकार फैल गया।

इस विचित्र दशा को देखकर सतीत्व के प्रभाव से देवी अरुन्धती ने यह अनुंभव कर लिया और वशिष्ठ जी से कहा कि:—

स्वामिन्! शङ्के महादेवो नग्नक्षपणकस्तु सः।
यः प्रहारशतैस्तैस्तैस्ताडितोऽपि न विव्यथे ॥१९६॥

अर्थात्—हे स्वामिन्! वह जो नांगा साधु घूमता था—जान पड़ता है, वह साक्षात् श्री महादेव जी थे, तभी तो वह सैंकड़ों प्रकार की मारसे तनिक भी व्यथित न हुवे ॥१९६॥ साथ में शवरी रूप वाली मेरी बहिन सती थी तथा अन्य स्त्रियें ब्राह्मी आदि माताएं थीं इस प्रकार सब भेद जान लिया और ईश्वर से प्रार्थना की कि:—

गृहस्थाश्रममाश्रित्य यदावाभ्यां समर्जितम्।
पुण्यं तेनास्तु भगवानक्षताङ्गस्तु तादृशः ॥१९९॥
अन्धकारमिदं सर्वं त्वत्प्रसादाद् विनश्यतु ॥२००॥

(शि० पु० धर्मसंहिताध्याय १०)

हे भगवन्! गृहस्थाश्रम में रहते हुवे हम दोनों (दम्पति) ने जो कुछ पुण्य संचित किया है, उसके प्रताप से शङ्कर भगवान् घाव रहित हो जाएं। तथा यह जो चारों ओर घोर अन्धकार छा गया है वह भी आपके तप: प्रभाव से दूर हो जाय ॥२००॥

वशिष्ठ जी ने योगदृष्टि से अरुन्धती के अनुमान को ठीक पाया और उनकी भावना का समर्थन किया। तब तो श्री महादेव जी पूर्ववत् नीरोग हो गये शरीर के सब घाव ठीक हो गये। तथा वनभूमि में

समाया हुआ ज्योतिर्लिङ्ग फिर से वन में विचरने लगा । अन्धकार भी नष्ट हो गया। इस अद्भुत घटना के प्रभाव से ऋषियों का क्रोध और ऋषि पत्नियों की उद्दण्डता भी काफूर हो गई । तब सब अपनी २ करनी पर पश्चात्ताप करते हुए भगवान् शङ्कर की विविध स्तोत्रों से प्रार्थना करने लगे । उस समय आकाश वाणी हुई कि:—

भो! भो! मुनीन्द्रा रुद्रस्य युष्माभिः पातितं च यत् ।।२०४।।
लिङ्गं तदर्चतामस्य सर्वसिद्धिप्रदं प्रभो ।।२०५।।

अर्थात्—हे मुनीश्वरो, तुम लोगों ने शाप द्वारा भगवान् रुद्र के जिस लिंग को भूमि पर गिरा दिया था सब सिद्धि देने वाले उस ज्योतिर्लिंग की पवित्र वेद मन्त्रों द्वारा विधिपूर्वक पूजा करो ।।२०५।।

उक्त लीला का परिणाम

सकामानां मुनीनां तु चापल्यं स्त्रीजनस्य च ।।२२३।।
पतिव्रतानां धैर्यं तु गृहस्थाश्रमिणां तथा ।
हास्यं नक्तव्रतानां तु दर्शयित्वा महीतले ।।२२४।।
सदारः सगणः पश्चात्तत्रैवान्तर्दधे हरः ।।२२५।।

(शि० पु० ध० अध्याय १०)

अर्थात्—इस प्रकार शिव भगवान् अपनी पूर्वोक्त लीला द्वारा सकाम मुनिजनों तथा उनकी पत्नियों की चपलता ।।२१३।। तथा सद्गृहस्थों और पतिव्रता देवियों की धीरता, एवं पापवृत्ति पुरुषों की हास्यमय करणी दिखाकर ।।२१४।। मातृगण और सतीसहित वहीं अन्तर्धान हो गए ।।२१५।।

पाठक वृन्द ! आप शिवपुराण के शब्दों में उक्त कथा का समस्त प्रसंग अनुपूर्व्य सुन चुके हो। अब इस का रहस्यमय तत्त्व समझिये। इस समस्त कथा को बाँच डालने पर ऐसा कौन मन्दमति होगा जो कि शिव भगवान् को हम मनुष्यों के सदृश कर्मफल-जन्य-स्थूलशरीरधारी मनुष्य जानकर दारुकवन वाली ऋषिपत्नियों में नग्न होने के दोष पर उनके मूत्रेन्द्रिय को काट डालने का स्वप्न देखेगा। इस कथा के उपक्रम में स्पष्ट लिख दिया गया है कि (१) कि जिस समय की यह लीला लिखी जा रही है उस समय शरीरधारी जीवों का तो कहना ही क्या है किन्तु पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र आदि स्थूल जगत् भी उत्पन्न नहीं हुआ था। (२) तथा ऐसा कौन मनुष्य हो सकता है जो कि बार २ अनेक पुरुषों से मार खाता जाए परन्तु टस से मस न हो और नाँही बदले में कटु-शब्द तक कहे (निर्बल भी अपनी जान बचाने के लिए भरसक चीं चपट किये बिना नहीं रह सकता) सैंकड़ों पुरुष एक साथ एकले निहत्थे मनुष्य पर अग्नि सर्प पत्थर आदि बरसाएं तो भी उसका बाल बांका न हो, बल्कि इसके विरुद्ध मारने वाले मनुष्य ही थककर अचेत होजाएं, इत्यादि घटना किसी स्थूल शरीरधारी पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली सम्भव नहीं हो सकती (३) इसके अतिरिक्त यदि कोई कामी कामवासना से प्रेरित होकर स्त्रियों में नग्न जाए तो क्या वह अपने साथ दूसरी स्त्रियों की फौज भी ले जाया करता है ? संसार में प्रत्यक्ष तो यही देखा जाता है कि कामी पुरुष वस्त्राभूषणों से सज धज कर तथा अकेले ही जाया करते हैं, परन्तु यहां तो इसके सर्वथा विपरीत शिव भगवान् नग्न होकर पार्वती जी तथा ब्राह्मी आदि माताओं और प्रमथ आदि पार्षदों को साथ लिये हैं। (४) इसके उपरान्त जब ऋषियों के शाप से लिङ्ग गिर पड़ा, तो उससे ब्रह्माण्ड भर में अन्धकार क्यों छा गया ? क्या किसी शरीरधारी पुरुष की मूत्रेन्द्रिय काट डालने पर संसार भर में सूर्य चन्द्र अग्नि आदि पदार्थ लुप्त हो जाया करते हैं और ज्ञानी ध्यानी ऋषियों

के हृदय भी अज्ञानान्धकार से आच्छादित हो जाया करते हैं ? यहाँ स्पष्ट लिखा है कि यह ज्योतिर्लिङ्ग तीनों लोकों को भस्म करने लगा तथा कालानल के समान घूमने लगा। क्या यह बातें भी एक निर्जीव मांस के खण्ड में घटित हो सकती हैं ? लिङ्ग के गिर जाने पर भी शिव भगवान् पूर्ववत् प्रसन्नचित बने रहे। यदि वास्तव में यहाँ मूत्रेन्द्रिय अभिप्रेत है तो क्या शंकावादी महाशय की मूत्रेन्द्रिय काट डालने पर वह पूर्वोक्त चमत्कार दिखा सकेंगे ? इत्यादि बातों पर विचार कर लेने के बाद कोई भी समझदार यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि शिव भगवान् अस्मादृश शरीरधारी पुरुष थे और उनकी मूत्रेन्द्रिय काट डाली गई थी। 'दुर्जन-तोष' न्याय से यदि फिर भी एक क्षण के लिये कुतर्की नास्तिकों का कथन ठीक मान लिया जाय तो यह भी तो विचार करना चाहिए कि ऐसी वीभत्स एवं अश्लील बात का माहात्म्य वर्णन करने के लिये श्री वेदव्यास जी जैसे प्रौढ़ पण्डित लाखों श्लोक व्यर्थ ही क्यों घड़ डालते ? ऐसा निरर्थक कार्य तो कोई निरा निठल्ला भी नहीं कर सकता ? कदाचित् कुतर्कियों के कथनानुसार शिव, स्कन्द, और लिङ्ग आदि महापुराण—जो कि उक्त कथाओं के प्रतिपादक हैं—स्वार्थी पुरुषों की घड़न्त भी मान लिये जायें तो भी इसप्रकार के श्रुति कटु एवं अश्लील-से जंचने वाले प्रसंग से किसी का क्या स्वार्थ सिद्ध हो सकता था ?

पुराण ग्रन्थ प्रौढ़ संस्कृत-कविता में निबद्ध हैं। उनका निर्माता संस्कृत साहित्य का अद्वितीय विद्वान् अवश्य था—इस नग्न सत्य को कोई भी नास्तिक अन्यथा नहीं कर सकता ! तब क्या ऐसे विद्वान् को संसार में दूसरा काम शेष नहीं रहा था जो निरर्थक माथापच्ची करता ?

इसलिए उपर्युक्त समस्त कथानक पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कुछ न कुछ रहस्य अवश्य भरा है जिसे ढूंढ़ निकालना प्रत्येक जिज्ञासु का काम है।

आध्यात्मिक अर्थ

आध्यात्मिक पक्ष में इस कथा का यह अर्थ होता है कि जिस समय ऋषि अर्थात्—प्राण 'दारुक वन' में = ब्रह्मरन्ध्र में जाते हैं उस समय नग्न रूप' में—मल विक्षेप और आवरणरूपी आच्छादनरहित = आत्मज्ञान रूपी शिव भगवान् हृदय में प्रकट होते हैं। जो बाह्य वृत्तियें हैं वे ही प्राणरूपी ऋषियों की पत्नियें समझनी चाहियें। समाधिस्थ पुरुष की बाह्य-वृत्तियें—जो कि समाधि से पूर्व बाहर फैली रहा करती थीं—वे एकत्र होकर 'नग्न शिव' अर्थात्—निर्विकल्प आत्मज्ञान को चारों ओर से घेर लेती हैं परन्तु बाह्यवृत्तियें सकाम होती हैं यही भाव प्रकट करने के लिये सकाम ऋषिपत्नियों का कामातुर होना यहाँ लिखा गया है। बुद्धि रूप—सती भी ऋद्धि सिद्धि रूप ब्राह्मी आदि सात माताओं को साथ लिये तथा मोद, प्रमोद, वैराग्य आदि आत्मज्ञान के साधनों और सहायकों को प्रमथ आदि गणों के रूप में साथ लगाए शिव के पीछे २ जाती हैं। तात्पर्य यह हुवा कि—सकाम बाह्यवृत्तियें आत्मज्ञान को अनेक छल कपटों से विचलित करना चाहती हैं परन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं होता। 'नग्न' कहने का तात्पर्य यह है कि मल विक्षेप और आवरण रूपी तीन प्रकार का पड़दा—जो कि साधारण ज्ञान को ढांपे रहता है वह समाधि दशा में सर्वथा दूर हो जाता है। उसी समय प्राणरूपी ऋषि कुम्भक तथा रेचक गति से ब्रह्मरन्ध्र से हृदय तक के चक्रों में घूमते हुए थक कर वापिस आ जाते हैं, परन्तु वे अपनी प्यारी बाह्यवृत्तियों को आत्मज्ञान के पीछे भागती देखकर घबड़ा उठते हैं। प्राणायाम करने वाले पुरुषों को अनुभव द्वारा यह भली भांति विदित है कि प्राणायाम के समय श्वास गति रुक जाने से किस प्रकार बेचैनी उत्पन्न हो जाया करती है। यही बेचैनी प्रकट करने के लिये उक्त कथा में ऋषियों की घबराहट, अपनी पत्नियों को बार २ रोकने की चेष्टा

करना, तथा शिव भगवान् पर अनेक प्रकार के प्रहार करना आदि लिखा गया है। उक्त समस्त कथानक का रहस्यमय भाव एवं इस दशा का तुलनात्मक विवेचन वही पुरुष कर सकता है, जिसने कि कभी समाधिजन्य सुख का अनुभव किया हो, अन्यथा शब्दों द्वारा इसका कहना और सुनना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि यह इन्द्रियों का तो विषय ही नहीं। समाधिस्थ ज्ञानी भी इसका स्वयं अनुभव मात्र ही कर सकता है दूसरे को बताना तो गूंगे के गुड़ की भान्ति उसके लिए भी सर्वथा असम्भव है, परन्तु श्री वेदव्यास जी महाराज की बलिहारी ! जो अनिर्वचनीय एवं अनुभवैकवेद्य दशा का भी किस खूबी के साथ शाब्दिक चित्र खींच सके हैं ! अस्तु।

'वशिष्ठ' शब्द का अक्षरार्थ है कि जो अपने आप को वश में रख सके। यह भाव समाधि दशा में परिपक्व धारणासिद्ध प्राण में घटित होता है अर्थात्---निरन्तर अभ्यास से प्राणायाम के समय न घबड़ाने वाला सधा हुआ प्राण ही वशिष्ठ है और अन्तर्मुखी वृत्ति ही अरुन्धती है। जहाँ बाह्यवृत्तियें शिवरूप आत्मज्ञान को परेशान किये देती थीं वहाँ अन्तर्मुखवृत्ति ने उनको प्रश्रय दिया तथा सब प्रकार से अपनाया। तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय पुरुष के हृदय में अन्तर्मुखीवृत्ति प्रकट होती है उस समय स्त्री पुरुष के शरीर का मायाकल्पित भेद सर्वथा दूर हो जाता है। तथा 'नंगा या ढका हुआ आदि' जो लोक-मर्यादायें हैं, वे बन्धन भी टूट जाते हैं। अर्थात् अन्तर्मुखीवृत्ति वाले ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में पांव से मस्तक पर्यन्त समस्त शरीर मलमूत्रघटित पञ्च भूत का बना हुआ एक अविशेष पिण्डमात्र दीख पड़ता है। उसे किसी अंग विशेष के देखने से काम आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। अन्तर्मुखीवृत्ति ही निर्विकल्प आत्मज्ञान की अधिकारिणी है।

जब बाह्यवृत्तियों के पति = अनभ्यस्त प्राण विचलित हो उठते हैं और मनःरूप भृगु क्रोधान्ध होकर शाप दे बैठता है तब आत्मज्ञानरूप शिव

का लिंग (अर्थात् जड़ और चेतन का अज्ञानजन्य बन्धन) टूट जाता है। ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही भेद है कि जो जड़ और चेतन तथा सत् और असत् का विभेद नहीं पहिचानता, शरीर मनः और इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि रखता है वह अज्ञानी है। इसके विपरीत जो इन्द्रिय मन बुद्धि आदि के साक्षी नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध एवं कूटस्थ में आत्मबुद्धि रखता है वह ज्ञानी है। जिस समय समाधिजन्य ज्ञान के प्रभाव से जड़ चेतन की संकीर्णता दूर होकर तुरीयावस्था उत्पन्न हो जाती है उसी को इस कथा में शिवलिङ्ग के टूट पड़ने पर अन्धकार छा जाना बताया गया है। क्योंकि जागृत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भासने वाले पदार्थों का वर्णन पुरुष कर सकता है, परन्तु तुरीयायस्था-समाधि दशा का वर्णन जिह्वा से नहीं किया जा सकता। तथा इस अवस्था में बाह्य पदार्थों का भान भी नहीं रहता। इसलिये उक्त कथा में इस गम्भीर भाव से तुरीयावस्था को अन्धकार रूप में निरूपित किया गया है।

जड़ चेतन का विभेद रूप-ज्ञान,—बुद्धिरूप—सती के आश्रय पर स्थित होता है यही भाव टूटे हुवे शिवलिंग को पार्वती द्वारा धारण किए जाने का है। उस समय 'आकाशवाणी'—समाधिस्थ योगी की अन्तरात्मा यह पुकार उठती है कि ऐ अनभ्यस्त प्राणायामियो ! इस जड़ चेतन के विभेदक लिंग रूप आत्मज्ञान की उपासना करो ! इसी से मुक्ति प्राप्त होगी। यही इस कथा का आध्यात्मिक भाव है।

उक्त कथा पर कई परप्रत्ययनेय-बुद्धि पंडितम्मन्य यह आक्षेप करने पर उतारू हो सकते हैं कि आपके इस कपोलकल्पित रूपक का आधार क्या है ? तथा ऋषि आदि शब्दों के अर्थ—प्राण आदि किस प्रकार हैं ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए यहां कुछ प्रमाण बता देना आवश्यक समझते हैं, जो हमारे रूपक को पुष्ट करते हैं। यथाः—

(क) प्राणा ऋषयः । (शतपथ ७ । २ । ३ । ५)

(ख) स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत् ।

(बृहदारण्यक १ । ४ । ३)

अर्थात्—(क) प्राणों को ऋषि कहते हैं । (ख) वह (ब्रह्म) अपने आप को दो भागों में गिराता हुआ ।

इसी प्रकार अन्य शब्दों के पूर्वोक्त अर्थों में भी वेद प्रमाण विद्यमान हैं, जिनका 'स्थाली पुलाक' न्याय से अनुमान किया जा सकता है ।

आधिभौतिक अर्थ

पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि शिवलिंग की कथा का सम्बन्ध आधिभौतिक पक्ष में आदि-सृष्टि की उत्पत्ति से है । उस समय भी शरीरधारी जीवों का निर्माण नहीं हो पाया था, केवल गोल अण्डाकार अग्निमय वाष्प का बना हुआ एक बेडौल एवं विलक्षण पिण्डमात्र उत्पन्न हुआ था--जिसे 'शिव' = ब्रह्म का 'लिंग' = व्यक्त करने वाला चिह्न कहा गया है । इस पक्ष में 'ऋषि' शब्द का अर्थ वायु, कारण जल और चन्द्रमा होगा । इन्हीं के समुदाय को 'भृगु' नाम से स्मरण किया गया है । यथा:—

वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः । (गोपथ पूर्व २ । ८)

अर्थात्—वायु, कारण-जल और चन्द्रमा--(सृष्टि का वह आदि तत्त्व जो त्रीतरूपेण प्रकट हुआ) उक्त त्रिपुटी को भृगु कहते हैं ।

'ऋषिपत्नी' शब्द का अर्थ—आकर्षण और विकर्षण शक्ति होता है ।

कुछ नियमित काल के अनन्तर वह ब्रह्माण्डरूप शिवलिंग आकर्षण विकर्षण के तारतम्य से दो भागों (द्यावाभूमि) में विभक्त होगया । जैसा कि शास्त्रों में लिखा है:—

(क) तदण्डमभवद् द्विधा ।　　　　　　　(मनु १ । १२)

(ख) तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः । (शतपथ १३।१।६।१)

अर्थात्—(क) वह अण्ड दो हिस्सों में टूट गया । (ख) ब्रह्माण्ड के जो दो भाग हुए उनमें एक भाग 'पृथ्वी' है, जो स्त्रीशक्ति रूपेण चराचर की माता है और दूसरा भाग 'द्यौ' हुआ जो पुरुषशक्ति रूपेण चराचर का पिता है ।

वह आग्नेय-वाष्प-पिण्डरूप लिंग टूटने पर तीन लोक को भस्म करने लगा, और सर्वत्र फैल गया—इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान समय में सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्रादिक जो दीख पड़ते हैं वे सभी सृष्टि के पूर्व काल में सम्मिलित हुये एकले गोल अण्ड में समाए हुये थे । परन्तु उसके फूट जाने पर जिस प्रकार आतिशबाजी का गोला फूटने पर बीच में से अनेक रंग बिरंगी ज्वालाएं निकलती हैं इसी प्रकार ब्रह्माण्ड रूप शिवलिंग के द्यावा भूमि दो भागों में विभक्त होते हुए ये सब ग्रह नक्षत्रादिक चिनगारियों की भाँति चारों ओर फैल गए । यही इसका आधिभौतिक अर्थ है ।

आधिदैविक अर्थ

आधिदैविक पक्ष में कैलाश का स्वामी दिव्य शरीरधारी परमात्मा ही 'शिव' है, जिसका हमारी भाँति कर्मफलजन्य स्थूल शरीर नहीं है यथाः-

यस्य पृथिवी शरीरम् । यस्यापः शरीरम् । यस्याग्निः शरीरम् । यस्य वायुः शरीरम् । यस्याकाशः शरीरम् ।

(शतपथ १४ । ६ । ७ । ६)

अर्थात्—जिस परमात्मा का पृथ्वी शरीर है, जल शरीर है, अग्नि शरीर है, वायु शरीर है और आकाश शरीर है ।

यही बात वेदान्तदर्शन में कार्यकारण पूर्वक समझाई गई है, यथा:—

अभिमानिनि व्यपदेशस्तु,

अर्थात्—तत् तत् स्थूल एवं जड़ पदार्थों की अधिष्ठात्री सूक्ष्म एवं चेतन शक्ति का नाम देवता है। जैसे जल के अधिष्ठाता का नाम 'वरुण' मेघों की अधिष्ठात्री शक्ति का नाम 'इन्द्र', इसी प्रकार ब्रह्माण्डाभिमानी महा अधिष्ठाता का नाम शिव 'भगवान्' है। संसार में जो कुछ देखा सुना जाता है वह सब उक्त देवाधिदेव के अङ्गप्रत्यङ्गों के रूप में वर्णित किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में कहा गया है कि भूमि चरण है, द्यौ: मस्तक है, सूर्य चन्द्र और अग्नि तीनों नेत्र हैं—इसीलिये शिव जी को 'त्र्यम्बक' कहा गया है। वही ब्रह्माण्डाभिमानी शिव अनेक प्रकार के स्वरूप धारण करके समय २ पर भक्तों को ज्ञान देने वाली लीलाएं रचता है। उसी की सहचरी माया सती या पार्वती कही जाती है।

पुरुष दृष्टि से

अब हम 'दुर्जन-तोष' न्याय से नास्तिकों के कथनानुसार शिव भगवान् को पुरुष दृष्टि से सामने रखते हुये उक्त कथा पर विचार करना चाहते हैं। शिवपुराण के शब्दों में श्री शिव भगवान्, ऋषि जनों और उनकी पत्नियों की चपलता दिखाने के लिये तथा निष्काम ज्ञानी ऋषियों की और पतिव्रता स्त्रियों की धैर्यवृत्ति की परीक्षा करने के लिए दारुक वन में नग्न होकर गए थे—ऐसा लिखा है। अब भी सैंकड़ों ऊंची वृत्ति वाले परमहंस सन्यासी सदैव नग्न रहते हैं। परमज्ञानी की परीक्षा ही यह है कि किसी भी सांसारिक पदार्थ को देखने पर उसे राग द्वेष न हो। तब तमाम लोक-मर्यादायें उसके लिये अनावश्यक हो जाती हैं। कल्पना कीजिए कि कोई नग्न परमहंस भिक्षा के लिये गृहस्थियों के घरों में आ पहुँचे। गृहस्थ लोग योरुप के वातावरण में आज तक जीवन

बिताते रहे हों। वे इस बात से सर्वथा अपरिचित हों कि यह वेष परमहंस रखते हैं और उक्त साधु कोई पहुंचे हुवे महात्मा हैं। तब तो वे उसे नग्न देखकर अवश्य बिगड़ उठेंगे। परन्तु जो उक्त रहस्य से परिचित होंगे वे विवेकी पुरुष उक्त महात्मा का अत्यधिक सम्मान करेंगे। शिव पुराण की उक्त कथा का एक एक अक्षर पढ़ जाइये, परन्तु खूब छानबीन करने पर भी ऐसा एक अक्षर नहीं मिलेगा जिससे कि शिव भगवान् का विकारयुक्त होना पाया जाय ! अथवा अपनी जिह्वा से उन्होंने कोई अश्लील शब्द कहा हो ! ! हम तो इसके विरुद्ध यह देखते हैं कि उक्त लीला में पद पद पर शिव भगवान् का परम वैराग्य, अनुपम शान्ति, आदर्श धैर्य एवं सहनशीलता की पराकाष्ठा व्यक्त हो रही है।

भृगु आदि ऋषियों ने जो शिव भगवान् को भरपेट पीटा है वे भी भ्रमवश इन्हें शिव नहीं समझते थे। किन्तु कोई पाखण्डी पूपना ही जानते थे। अन्त में जब आकाशवाणी द्वारा और वशिष्ठ जी के बतलाने पर यह मालूम हुआ कि यह तो देवाधिदेव शंकर भगवान् हैं तब तो बड़े लज्जित हुवे और अनेक प्रकार की स्तुति करके क्षमा माँगने लगे। कदाचित् पहले ही उन्हें यह विदित हो जाता कि 'दिगम्बरमूर्ति तो शिव महाराज हैं' तब तो ऋषियों से स्वप्न में भी ऐसी भूल न होती ! इसी प्रकार ऋषिपत्नियों को भी यही भ्रम था, वे केवल बाह्य सौन्दर्य पर लट्टू थीं। उन्हें यह कहाँ विदित था कि ये तो कामदेव को भस्मीभूत कर देने वाले शङ्कर भगवान् हैं। इसलिये वे सदुपदेश को सुनकर उत्तर में बोल उठीं कि बस ! व्यर्थ बकवास न कीजिये ! तुम जो अपने ब्रह्मचर्य की डींग हांकते हो सो सब झूठ है। यह बातें तो एकले शिव भगवान् में ही पाई जाती हैं। वे ही निर्विकार शान्त और कामदेव के जीतने वाले हैं—अन्य नहीं :

उक्त कथा से शिक्षायें

(१) शान्तात्मा, निर्विकार और मानापमान में तुल्य-पुरुष ही

'ज्ञानी' पद का अधिकारी है। ऋषिपत्नियों के हजारों प्रयत्न करने पर भी शिव भगवान् विचलित नहीं हुए तथा सैंकड़ों ऋषियों से अपमानित होकर भी बदला लेने की चेष्टा न की। ऐसी वृत्ति वाला व्यक्ति ही ज्ञानी कहा जा सकता है।

(२) जो स्त्री परपुरुष के रूप लावण्य पर मुग्ध हो जाती है फिर चाहे वह किसी बड़े से बड़े ऋषि की पत्नी भी क्यों न हो वह पतिव्रता नहीं कही जा सकती।

(३) किसी प्रसंग को साद्यन्त समझे बिना सहसा कुछ का कुछ कर बैठना उमर भर पछताने का द्वार है। निरपराध को दण्ड देना और अपराधी को छ्रमाना निकट सम्बन्धी होने के कारण छोड़ देना महा अन्याय है--यह बातें दारुक वन निवासी ऋषियों के व्यवहार से स्पष्ट हो जाती हैं।

(४) पूर्ण प्रतिव्रता वही है जोकि अपने कुरूप किंवा वृद्ध पति को भी सर्वस्व समझती हो और उसके अतिरिक्त संसार के समस्त रूप लावण्य-युक्त, युवक उसे पुत्र ही दीख पड़ते हों। यह भाव अरुन्धती के व्यवहार से झलकते हैं।

(४) अतिथि सेवा का यह आदर्श है कि अपने द्वार पर आए हुये पुरुष का—फिर चाहे वह किसी भी वेश में क्यों न हो—'न जाने किस रूप में नारायण मिल जायँ' के अनुसार ईश्वर समझकर यथायोग्य सत्कार करना चाहिए। यह शिक्षा अरुन्धती और वशिष्ठ जी के व्यवहार से प्राप्त होती है।

अन्यान्य भी सैंकड़ों शिक्षाएं उक्त कथा से प्राप्त होती हैं।*

टिप्पणी*—शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में हमने 'ओंकार और शिवलिंग' नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशित की है जिसके पढ़ने पर उक्त विषय में कोई शङ्का शेष नहीं रहती। प्रत्येक पाठक को उसके एक बार पढ़ने का हम अवश्य परामर्श देंगे। मूल्य ।।) मात्र।

महानन्दा वेश्या से संभोग

१६

कई छिद्रान्वेषी महाशय वैश्यनाथ अवतार से संबंध रखने वाली कथा पर आक्षेप करते हुये कहा करते हैं कि 'शिवजी ने महानन्दा वेश्या को रत्नजड़ित सुवर्ण कंकण देकर तीन रात तक उसके साथ व्यभिचार किया था'। यद्यपि मूल कथा का उपक्रम और उपसंहार पढ़ने मात्र से ही उपर्युक्त आक्षेप का सर्वथा निराकरण हो जाता है तथापि हम क्रमागत शैली के अनुसार इस आख्यान पर भी विचार करना आवश्यक समझते हैं। मूल कथा इस प्रकार है—

पौराणिक स्वरूप

शृणु तात ! प्रवक्ष्यामि शिवस्य परमात्मनः ।
अवतारं परमानन्दं वैश्यनाथाह्वयं मुने ! ॥१॥
नन्दिग्रामे पुरा काचिन्महानन्देति विश्रुता ।
बभूव वारवनिता शिवभक्ता सुसुन्दरी ॥२॥
शिवनामजपासक्ता भस्मरुद्राक्षभूषणा ॥५॥
शिवं सम्पूज्य सा नित्यं सेवन्ती जगदीश्वरम् ।
शिवभक्तिं प्रकुर्वन्त्या वेश्याया मुनिसत्तम ! ।
बहुकालो व्यतीयाय तस्याः परमसौख्यतः ॥१२॥
एकदा च गृहे तस्या वैश्यो भूत्वा शिवस्स्वयम् ।
परीक्षितं च तद् भावमाजगाम शुभो व्रती ॥१३॥

तमागतं सुसम्पूज्य सा वेश्या परया मुदा ।
स्वस्थाने सादरं वैश्यं सुन्दरी हि न्यवेषयत् ॥१६॥
तत्प्रकोष्ठे वरं वीक्ष्य कंकणं सुमनोहरम् ।
तस्मिञ्जातस्पृहा सा च तं प्रोवाच सुविस्मता ॥१७॥
महारत्नमयश्चायं कंकणस्त्वत्करे स्थितः ।
मनो हरति मे सद्यो दिव्यस्त्रीभूषणोचितः ॥१८॥

वैश्यनाथ उवाच

अस्मिन् रत्नवरे दिव्ये सस्पृहं यदि ते मनः ।
त्वमेवाधत्स्व सुप्रीत्या मौल्यमस्य ददासि किम् ॥२०॥

वेश्योवाच

यद्येतदखिलं चितं गृह्णाति करभूषणम् ।
दिनत्रयमहोरात्रं पत्नी तव भवाम्यहम् ॥२२॥

वैश्य उवाच

तथाऽस्तु यदि ते सत्यं, वचनं वीरवल्लभे ! ॥२३॥
एतस्मिन्व्यवहारे तु प्रमाणं शशिभास्करौ ॥२४॥
अथ तस्यै स वैश्यस्तु, प्रदत्त्वा रत्नकंकणम् ।
लिङ्गं रत्नमयं तस्या हस्ते दत्त्वेदमब्रवीत् ॥२७॥
इदं रत्नमयं लिङ्गं, शवं मत्प्राणवल्लभम् ।
रक्षणीयं त्वया कान्ते, गोपनीयं प्रयत्नतः ॥२८॥

एवमस्त्विति सा प्रोच्य लिङ्गमादाय रत्नजम् ।
नाटचमण्डपिकामध्ये, निधाय प्राविशद् गृहम् ॥२९॥
सा तेन संगता रात्रौ, वैश्येन विड्धर्मिणा ।

सुखं सुष्वाप पर्यङ्के मृदुतल्पोपशोभिते ॥३०॥
ततो निशीथसमये मुने ! वैश्यपतीच्छया ॥३१॥
महाप्रज्वलितो वह्निः सुसमीरसहायवान् ॥३२॥
स्तम्भेन सह निर्दग्धं तल्लिङ्गं शकलीकृतम् ॥३५॥
दृष्ट्वा ह्यात्मसमं लिंगं दग्धं वैश्यपतिस्तदा ।
ज्ञातुं तद्भावमन्तःस्थं मरणाय मतिन्दधे ॥३६॥
चितां कारय में भद्रे ! स्वभृत्यैस्त्ववरं लघु ॥३९॥
तमेव दृढनिर्बन्धं सा विज्ञाय सुदुःखिता ।
स्वभृत्यैः कारयामास चितां स्वभवनाद्बहिः ॥४१॥
अथ सा दुःखिता वैश्या स्मृत्वा धर्मं सुनिर्मलम् ॥४४॥
सर्वस्वं द्विजमुख्येभ्यो दत्वा ध्यात्वा सदाशिवम् ।
तमग्निं त्रिःपरिक्रम्य प्रवेशाभिमुखी ह्यभूत् ॥५०॥
वारयामास विश्वात्मा प्रादुर्भूतः सदाशिवः ॥५१॥

सा तं विलोक्याखिलदेवदेवं ।
त्रिलोचनं चन्द्रकलावतंसम् ॥
शशाङ्कसूर्यानलकोटिभासं,
स्तब्धेव भीतेव तथैव तस्थुः ॥५२॥

शिव उवाच

सत्यं धर्मञ्च धैर्यञ्च भक्तिञ्च मयि निश्चलाम् ।
परीक्षितुं त्वत्सकाशं वैश्यो भूत्वाहमागतः ॥

(शिवपुराण-शतरुद्र संहिता २६)

अर्थात्—[नन्दीश्वर बोले कि] हे पुत्र ! अब मैं परम आनन्द देने वाले परमात्मा शिव के 'वैश्यनाथ' नामक अवतार का वर्णन करता हूँ ॥१॥ पूर्व काल में नन्दी ग्राम में—शिव की भक्ति करने वाली अतीव सुन्दरी महानन्दा नाम से प्रसिद्ध वैश्या रहती थी ॥२॥ वह निरन्तर शिव नाम का जाप करती और भस्म रुद्राक्ष आदि को धारण करती थी ॥५॥ नित्य प्रति शिव जी का पूजन करती हुई जगन्नियन्ता की सेवा किया करती थी ॥६॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! इस प्रकार शिव जी की भक्ति करते हुवे उस वेश्या की बहुत सी आयुः सुखपूर्वक व्यतीत हो गई ॥१२॥ एक समय शुभ व्रत के धारण करने वाले शिव भगवान् उक्त वेश्या के भक्ति-भाव को परखने के लिए स्वयं वैश्य रूप बनाकर उसके घर पहुंचे ॥१३॥ सुन्दरी महानन्दा ने वैश्य रूप धारी भगवान् को—उचित स्वागत करके आदरपूर्वक अपने स्थान में ठहराया ॥१६॥ शिव के हाथ में पहने हुवे अति मनोहर सुन्दर कंकण को देखकर—उसमें लोभित हुई—वह वेश्या वैश्यनाथ से बोली ॥१७॥ (कि—) आपके हाथ में पहिना हुआ वह रत्नजड़ित कंगन मेरे मन को बहुत लुभा रहा है, यह तो सुन्दरी स्त्रियों के हाथ की शोभा बढ़ाने के लायक है ॥१८॥ वैश्यनाथ बोले—यदि इस दिव्य एवं उत्तम कंगन को आप पसन्द करती हैं तो खुशी से आप ही पहिनिए, परन्तु इसका मूल्य क्या दोगी ? ॥२०॥ वेश्या ने कहा—क्योंकि यह भूषण मुझे बहुत पसन्द आ गया है अतः इसके मिलने पर तीन रात आपकी स्त्री बनकर रहूंगी ॥२२॥ वैश्य बोले—तथाऽस्तु यदि तेरा यह वचन सत्य है तो ॥२३॥ मेरे तेरे इस व्यवहार में चाँद

और सूर्य साक्षी हैं ॥२४॥ यह कहकर वैश्य ने अपना रत्नजड़ित कंगन उसे दे दिया। इसके अनन्तर रत्नों से जड़ा हुआ अपना शिवलिङ्ग भी वेश्या के सुपुर्द करते हुए सचेत किया ॥२७॥ (कि) यह रत्नजड़ित शिवलिङ्ग मुझे प्राणों से भी प्यारा है, इसलिये तुम्हें इसे सम्भालकर और यत्नपूर्वक छुपाकर रखना चाहिये ॥२७॥ वेश्या ने 'बहुत अच्छा' कह कर—इस रत्नमय लिंग को नाट्यशाला में रख दिया और स्वयं शयनागार में आ गई ॥२६॥ तब वह वेश्या उस विटधर्मी वैश्य के साथ रात्रि में मिलकर कोमल तकिये गद्दों से शोभायमान फेन से पलंग पर सुखपूर्वक सोई ॥३०॥ हे मुने ! तब आधी रात के समय वैश्यपति शिव भगवान् की इच्छा से ॥३१॥ [उस नाच घर में एक दम] बड़ी भारी आग जल उठी और शीघ्र वायु के झोंकों से चारों ओर फैल गई ॥३२॥ खंभों के सहित वह (सुरक्षित शिव—) लिंग जलकर टुकड़े टुकड़े हो गया ॥३५॥ उस वैश्यपति ने अपने प्राणों के समान शिवलिंग को जला हुआ देखकर उस वेश्या के चित्त के भाव को जानने के निमित्त मरण की इच्छा की ॥३६॥ [और वेश्या से बोले कि—] हे भद्रे ! अपने नौकरों से बहुत शीघ्र उत्तम चित्ता तैयार करवाइये ॥३९॥ वैश्यपति के प्राण त्यागने की दृढ़ प्रतिज्ञा जानकर वह अत्यन्त दुःखित हुई और मकान से बाहिर नौकरों से चित्ता बनवा दी ॥४१॥ [जब वह वैश्य चित्ता में बैठकर जलने लगा] तब महानन्दा वेश्या ने अत्यन्त दुःखी होकर [तीन दिन रात्रि इस वैश्य की पत्नी बनकर रहने की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार] अपने विशुद्ध धर्म को सोचा ॥४१॥ अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान कर डाली और भगवान् सदाशिव का ध्यान करके धधकती हुई चित्ता की तीन प्रदक्षिणा कर चुकने के बाद स्वयं भी चित्ता पर चढ़ने के लिये ज्यों ही उद्यत हुई ॥५०॥ त्यों ही तत्काल विश्वात्मा शिव भगवान् प्रकट हुये और उस वैश्य को जलने से रोका ॥५१॥ वह वेश्या सब देवताओं के अधिपति तीन नेत्रों वाले उस शिव भगवान् को देखकर

निश्चेष्ट एवं भयभीत सी खड़ी रह गई ।।५३।। शिव बोले—तेरे सत्य, धर्म धैर्य तथा मुझ में अटल भक्ति की परीक्षा करने के लिये ही मैं वैश्य बनकर तुम्हारे पास आया था ।।५४।।

ब्रह्मदृष्टि से

यदि उक्त आख्यान को ब्रह्मदृष्टि से परखा जाय तो इसके किसी भी अंश पर आक्षेप कर सकने का अवसर नहीं रहता, क्योंकि मूलकथा के उपक्रम और उपसंहार में भी स्पष्ट लिख दिया गया है कि केवल महानन्दा की ईश्वर भक्ति जाँचने के लिये ही शिव भगवान् ने यह लीला रची थी। अतः इस एक ही बात पर विचार करने से शङ्कावादी महाशय के व्यभिचारविषयक आक्षेप का सर्वथा निराकरण हो जाता है। जब कि शिव भगवान् शिवपुराण में—'परीक्षितं च तद्भावम्—परीक्षितुं त्वत्सकाशम्' के अनुसार महानन्दा के सत्य, धर्म, धैर्य और ईश्वर-प्रेम की परीक्षा के लिए ही वैश्यरूप धारण कर उसके घर गये थे—तब ऐसे पवित्र चरित्र में मूलग्रन्थ के आशय के सर्वथा विपरीत व्यभिचार के स्वप्न देखना कलि-कल्मष-कलुषित-हृदयधारी पुरुषों का ही काम है! श्री वेदव्यास जी ऐसे ही पर-प्रत्यय-नेयबुद्धि पुरुषों के सन्देह को दूर करने के लिए उक्त आख्यान (शि० पु० शतरुद्रसं० २६।१३) में शिव भगवान् के विशुद्ध भाव को सहसा प्रकट करने के निमित्त 'शिवस्य परमात्मनः' और 'शुभो व्रती' ऐसा विशेषण दिया है। जिससे यह व्यंजित हो जाता है कि यद्यपि शिव भगवान् ने परीक्षा के लिये वैश्य रूप स्वीकार किया है तथापि वे स्वयं परमात्मा थे तथा शुभ, कल्याणकारी, एवं व्रती (कामदेव को एक नजर से भस्मीभूत कर डालना रूप)—संयम वाले तथैव बने रहे अर्थात्—इस समग्र लीला में अशुभ पापाचार और व्रतभंग की यत्किञ्चित् भी गन्ध नहीं है—इत्यादि अनेक ध्वनियें 'शुभो व्रती' विशेषण द्वारा निकलती हैं।

कदाचित् कोई शङ्कावादी महाशय—'सा तेन संगता रात्रौ'—(शि० पु० शतरुद्र २६ । ३०) इत्यादि श्लोक का मनमान अर्थ घड़ कर 'पर्यङ्के विट्धर्मिणा संगता'—आदि शब्दों का अभिप्राय निकालें कि—'वह वैश्या शिव के साथ एक पलंग पर संगत=पशुधर्म में प्रवृत्त हुई'—तब तो हम उसे पञ्चम अन्यथासिद्ध ही समझेंगे । क्योंकि व्याकरण कोश एवं अलङ्कार आदि किसी भी अर्थ विधायक शास्त्र की पद्धति से उपर्युक्त शब्दोंका ऐसा अभिप्राय नहीं बन सकता । स्व० श्री पं० कालूराम जी शास्त्री ने अपने 'पुराण वर्म' में 'पर्यङ्के' इस पद को जातिवाचक सिद्ध किया है, तदनुसार 'जातित्वादेकवचनम्' इस नियम से 'पर्यङ्के' यह एक वचन होता हुआ भी एकाधिक पलंगों का व्यावर्तक नहीं हो सकता, अर्थात्—महानन्दा और वैश्यनाथ एक ही पलंग पर लेटे थे यह बात उक्त वचन से सिद्ध नहीं की जा सकती ।

इस श्लोक में वेदव्यास जी ने अपनी शब्दविन्यास चातुरी से श्री वैश्यनाथ जी को सब प्रकार के आक्षेपों से अछूता रखने के लिये उन्हें 'विट्धर्मी' नाम से स्मरण किया है । अर्थात्—व्यास जी को यदि श्री वैश्यनाथ भगवान् को साक्षात् विट्-धूर्त-किंवा वेश्यागामी कहना अभीष्ट होता तो वे सीधे शब्दों में उन्हें केवल 'विट्' नाम से याद करते, परन्तु मूल पाठ में विट् न कहकर 'विट्धर्मी' कहने का यही अभिप्राय हो सकता है कि वे शिव भगवान् को विट् नहीं बल्कि विट् का स्वांगमात्र भर कर इस प्रकार की लीला का अभिनेता मात्र मानते हैं ।

इसी प्रकार 'संगता' शब्दों का अर्थ भी मैथुन, ग्राम या पशुधर्म में प्रवृत्त होना नहीं हो सकता : क्योंकि किसी कोशकार या किसी भी ग्रन्थकार ने सम् उपसर्ग पूर्वक 'गम्लृ' धातु का अर्थ मैथुन करना नहीं लिखा, बल्कि भली प्रकार मिलना, तमीज से पेश आना ही इसका अभिप्राय हो सकता है । इसलिए मूल शब्दों पर निष्पक्षता पूर्वक विचार

मात्र करने से अनायास ही व्यभिचार विषयक आक्षेप का समूल नाश हो जाता है।

यदि दुर्जनतोष न्याय से शङ्कावादी महाशयों के आग्रहानुसार शिव भगवान् का वेश्या के साथ एक चारपाई पर लेट जाना भी क्षणमात्र के लिये स्वीकार कर लिया जाय तब भी उक्त लीला से शिव भगवान् के पवित्र चरित्र पर कुछ भी दोषारोपण नहीं हो सकता। क्योंकि जो शिव भगवान् विषधर सर्पों को अपने अंगों में निरन्तर लिपटा सकता है तथा प्रलयान्तकारी हलाहल को भी अपने कण्ठ का भूषण बना सकता है, ऐसे निर्विकार एवं सजातीय-विजातीय-भेदशून्य द्वन्द्वातीत पुरुष से किसी अबला विशेष का आनुषंगिक अंग छू जाना भी दोषावह नहीं हो सकता। इस तरह शिवपुराणानुसार शिव भगवान् को ब्रह्म मान लेने पर उक्त आख्यान के किसी भी अंश पर आक्षेप शेष नहीं रहता।

पुरुष दृष्टि से

कदाचित् कोई मूसलचन्द शिव भगवान् के ब्रह्मत्व को भुलाकर वैश्यनाथ अवतारधारी शिव महाराज को भी अपनी तरह भौतिक शरीर धारण करने वाला साधारण पुरुष मान बैठे और पुरुष दृष्टि को सामने रखता हुआ उक्त चरित्र पर आक्षेप करने का साहस करे तो उसे केवल एक बात पर गम्भीरता पूर्वक अवश्य विचार करना चाहिए। कल्पना कीजिये कि शङ्कावादी के कथनानुसार वैश्यनाथ जी महानन्दा के साथ एक पलंग पर न केवल लेटे ही, बल्कि इससे आगे बढ़कर भी जो कुछ शङ्कावादी कह सकता है वह सब कुछ भी हुआ! और यह भी मान ही लीजिए कि इस प्रकार के आचरण से वैश्यनाथ भगवान् अवश्य ही वेश्यागमन के पाप से भी विलिप्त हो गये!—परन्तु सोचना तो यह है कि धर्मशास्त्र में उक्त पाप का कुछ प्रायश्चित्त भी लिखा है

या नहीं ? प्रसिद्ध हिन्दू धर्मशास्त्र 'याज्ञवल्क्यस्मृति' (व्यवहाराध्याय स्त्री संग्रह प्रकरण में—'अविरुद्धासु' आदि श्लोक (की मिताक्षरा टीका) में लिखा है कि—

पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते ।

अर्थात्—पशु और वेश्या से मैथुन करने वाला पुरुष 'प्राजापत्य' नामक प्रायश्चित्त करने से शुद्ध हो जाता है ।

सो धर्मशास्त्र की रीति से तो साधारण उपवास एवं हवन, जाप आदि करने मात्र से ही वेश्यागमन पाप का प्रायश्चित्त हो जाना लिखा है, परन्तु वैश्यनाथ चरित्र में तो श्री वैश्यनाथ भगवान् शिवलिंग जल जाने के बहाने से स्वयं भी धधकती चित्ता में जल जाते हैं—अर्थात्—अपने जिस मायामय, वैश्य कलेवर द्वारा यह लीला सम्पादन की थी उस शरीर को अग्नि की भेंट कर डालते हैं, फिर भी उक्त आख्यान में पापाचार का अनहोना कलङ्क लगाना महा पामरता है ।

यदि प्रतिवादी महाशय शिवपुराण के मूल शब्दों के अनुसार शिव भगवान् को निर्लेप एवं निरंजन ब्रह्म स्वीकार कर लें तब तो उक्त चरित्र के किसी भी अंश पर कुछ आक्षेप आ ही नहीं सकता । वास्तव में वैश्यनाथ जी ने न महानन्दा के साथ पलंग पर शयन किया है और नाहीं उसका स्पर्श किया है केवल भक्ति परीक्षा के लिये उसके मकान में चन्द घण्टे विश्राम अवश्य किया है । इतने पर भी यदि दुराग्रहवश—'वेश्यागमन' की दुहाई दी जाय तो हम स्पष्ट कहेंगे कि वैश्यनाथ जी ने अपने उस मायामय कलेवर को भी तो आग में जला डाला है । सो जो महाशय उनके वेश्यागमन का अनुकरण करना चाहें उन्हें आग में कूद कर जल मरने के लिये भी तो तैयार हो जाना चाहिए, अन्यथा 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू' करने का यहां अवसर नहीं । इसलिए किसी भी दृष्टि से परखिये उक्त चरित्र पर कुछ आक्षेप नहीं आ सकता ।

मोहनी को देखकर वीर्यपात

२० श्रीमद्भागवत (८ । १२ । १-४७) में लिखा है कि — 'विष्णु भगवान् के मोहिनी रूप को देखकर शिव जी मुग्ध हो गए और उसे पकड़ने के लिये बेतहाशा भागते फिरे । इस दौड़ धूप में जब कुछ भी हाथ न लगा तो बंभोले जी का वीर्य स्खलित हो गया । जहाँ जहाँ वह वीर्य गिरा उसी उसी स्थान में सोने चाँदी आदि धातुओं की खानें बन गई'—इत्यादि कथा पर भी दयानन्दी लोग खूब कहकहे लगाया करते हैं और अश्लीलता तथा असंभवता की दुहाई देकर आसमान को सर पर उठाया करते हैं । इसलिये हम इस आख्यान पर भी क्रमागत शैली के अनुसार कुछ विशेष विचार करना चाहते हैं । तद्यथा--

वैदिक स्वरूप

(क) (प्रजापतिः) अप्सरो रूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत् ।

(ख) तदस्य (विष्णोः) एतस्याᳬ रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धि रम्यᳬ हिरण्यᳬ ह वै तद् हिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम् । (शतपथ ७।४।१।१६)

(ग) अग्निर्हवाऽअपोऽभिदध्यौ मिथुनान्याभिः स्यामिति ताः सम्बभुवुः तासु रेतः प्रासिञ्चत् तद्धिरण्यमभवत् ।
(शतपथ २ । १ । १ ५)

(घ) तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यमभवत् ।
(तैत्तिरीय १ । १ । ३ । ८)

(ङ) त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्य-
मग्निरेकं प्रियतमं बभूव ।
सोमस्येकं हिंसितस्य परापतत्,
अपामेकं वेधसां रेत आहुः ॥
(अथर्व ५ । २८ । १)

(च) अग्ने रेतो हिरण्यम् । (शतपथ २ । २ । ३ । १८)

(छ) सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रियातनूरुदक्रामत्
तत्सुवर्णं ँ हिरण्यमभवत् । (तैत्तिरीय १।४।७।४-५)

अर्थात्—(क) प्रजा के पालक विष्णु भगवान् अप्सरा का रूप बनाकर [शिव जी के] आगे प्रकट हुवे । (ख) इस विष्णु के रमणीय शरीर में देवताओं ने रमण किया इसलिए 'हि-रम्य' शब्द से 'हिरण्य' शब्द की प्रवृत्ति हुई, अर्थात् 'हि-रम्य' को ही परोक्ष रीति से 'हिरण्य' ऐसा कहते हैं । (ग) अग्नि ने जलों का ध्यान किया कि 'मैं इनसे मिथुनी भाव को प्राप्त हूं' वे प्रकट हुवे, अग्नि ने उनमें वीर्य सेचन किया वह हिरण्य— सोना बन गया । (घ) उस [शिव जी] का रेतः=वीर्य गिर पड़ा वह सोना बन गया । (ङ) इस हिरण्य-सुवर्ण का तीन प्रकार से जन्म हुआ है पहिला=अग्नि का प्यारा हुआ दूसरा-सोम के मारने से गिरा, तीसरा सृष्टि विधायक जलों का रेतः—वीर्य कहा जाता है । (च) अग्नि का रेतः—वीर्य ही हिरण्य सुवर्ण है । (छ) सम्पादन करते हुवे सोम का प्यारा शरीर (वीर्य) निकल पड़ा वह सुवर्ण-हिरण्य बन गया ।

पौराणिक-स्वरूप

कौतूहलाय दैत्यानां, योषिद्वेशो मया कृतः ॥१५॥

तत्तेहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम ! ॥१६॥
इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१७॥
एवं तां रुचिरापांगीं, दर्शनीयां मनोरमाम् ॥
दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जन्त्यां भवः किल ॥२४॥
तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः ॥३२॥
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च, क्षेत्राण्यासन्महीपते! ॥३३॥
(श्रीमद्भागवत ८। १२। १५-३३)

अर्थात्— शिव जी की प्रार्थना सुनकर विष्णु भगवान् ने कहा—कि हे देवाधिदेव महादेव ! दैत्यों को चकित करने के लिये मैंने स्त्री रूप धारण किया था मैं वही आपको दिखलाऊंगा ॥ १५-१६ ॥ इस तरह कहते हुए विष्णु भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गए ॥ १७ ॥ [अनन्तर मोहिनी रूप में प्रकट होने के बाद] शिवजी दर्शनीय रूप लावण्य से युक्त एवं सुन्दर कटाक्ष वाली उस स्त्री को देख कर मुग्ध हो गए ॥२४॥ उस समय मोहिनी के पीछे भागते हुये, अमोघवीर्य भगवान् शंकर का वीर्य गिर पड़ा ॥ ३२ ॥ [जहां जहां वीर्य गिरा] वे सब क्षेत्र सोने और चांदी की खानें बन गईं ॥३३॥

विज्ञ पाठक उपर्युक्त वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों की तुलना करने के बाद अवश्य इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि वेदों में तो पुराणों से भी अधिक खुले शब्दों में वीर्य का गिरना, और उससे सुवर्णादि धातुओं का बनना लिखा है। इसमें यदि कुछ भेद है तो यह है कि पुराणों में जहाँ मोहिनी रूप के पीछे भागने मात्र से वीर्य का गिर जाना लिखा है और सभ्यता की रक्षा के लिये दूर दूर की दौड़ धूप तक की चेष्टा का ही उल्लेख किया है, वहाँ वेदों में तो स्पष्टतया—'रम्यायां

तन्वां देवा अरमन्त, मिथुनान्याभिः स्याम्' आदि शब्दों द्वारा समस्त देवताओं का मोहिनी से रमण करना--तथा मिथुनीभाव को प्राप्त होना तक भी खुले शब्दों में लिख डाला है। इस तरह शङ्कावादी जो आक्षेप पुराणों पर करना चाहता था उससे भी अधिक वह दोष वेदों पर आ पड़ता है। सो जो समाधान प्रतिवादी के मत में वैदिकस्वरूप का होगा वही हमारे पौराणिक-स्वरूप का भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि— 'ययोरेव समो दोषः परिहारस्तयोः समः' यही न्याय है।

वास्तविक भाव

उपर्युक्त आख्यान अत्यन्त गूढ़ एवं लोकोत्तर विज्ञान से परिपूर्ण है। आजकल भौतिकविज्ञान (साइन्स) का युग माना जाता है, पाश्चात्य शिक्षा दीक्षासम्पन्न, समालोचक वर्तमान साइन्स का बड़ा भारी घमण्ड रखते हैं। इनके विचार में पदार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ खोज इस युग में हुई है वह मानो अभूतपूर्व है। आज से पहिले—इसप्रकार की बातें हिन्दुओं के पूर्वज जानते तक न थे!! इसप्रकार की निर्मूल धारणा न केवल अहिन्दू समाज में ही बल्कि उनकी देखादेखी संस्कृत साहित्य से अपरिचित अदूरदर्शी हिन्दुओं में भी एक हद तक परिपक्व सी हो गई है परन्तु भला हो वेदव्यास जी का ! जो कि वेदोंके गूढ़तत्त्वों का खुलासा पुराणों के रूप में हमारे लिये छोड़ गये हैं। हम श्रीमद्भागवत पुराणकी उपर्युक्त एक ही कथा के बल पर संसार भर के विज्ञानवेत्ताओं को (Scientists) खुला चैलेञ्ज देते हैं कि कोई माई का लाल बतलाए कि—सोना चाँदी आदि धातुवें किस मूलतत्त्व-मादे से और किस प्रकार बनी हैं? उक्त धातुओं के परमाणु पुंज किन २ तत्त्वों (Elements) के घनीभाव का परिणाम हैं? एवं ये सब धातुवें पृथ्वी के अमुक २ भाग में ही आधिक्य से क्यों निकलती हैं? सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध क्यों

नहीं होतीं ? इत्यादि। शंकाशूर समाजी, नमाजी और पुराण-निन्दक पाजी इन प्रश्नों को सुनकर शीतलावाहन के सींगों की तरह तत्काल रफू-चक्कर हो जायेंगे।

वास्तव में श्रीमद्भागवत के इस आख्यान में आलङ्कारिक पद्धति से सोने चाँदी की उत्पत्ति का ही वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। वैदिक स्वरूप में बतलाया गया है 'अग्नि' सोम' और 'आप' इन तीन मूल तत्त्वों के संघात से सोना उत्पन्न हुआ है। पुराणों में इन्हीं तीनों पदार्थों का तारतम्य प्रकट करके कौन पदार्थ किस रूप में परिवर्तित हुआ—इस गूढ़ विज्ञान को सर्वसाधारणोपयोगी एवं अतीव सरल बनाने के लिये विष्णु मोहिनी और शिव नाम से स्मरण किया है। सो यहाँ वेद में जिस सोम को सुवर्ण का अन्यतम उत्पादक प्रकट किया है वही इस आख्यान में पुराण का अभिमत शिव किंवा महादेव है। संस्कृत के सभी कोशोंमें 'उमया सहितः' इस अर्थ में 'सोम' शिव का ही अन्यतम नाम स्वीकार किया गया है। चन्द्रमा रात्रिचर भूतों का अधिपति है, कर्पूर के समान गौरवर्ण है, हिमांशु होनेके नाते हिमालय का अधिष्ठाता है, यही सब विशेषण हमारे शिव जी के साथ भी तथैव सबद्ध हैं। उसे कोई--'भूतेशो भूतभावनः कोई--'कर्पूरगौरं करुणावतारं' और कोई--हरः शेते हिमगिरौ' कहकर याद करते हैं ! वेद में जिस शक्ति को अग्नि नाम से प्रकट किया है वही इस आख्यायिका में श्रीमद्भागवत पुराण का अभिमत 'विष्णु' है। अग्नि देदीप्यमान भास्वर-शुक्ल-स्वरूप-सम्पन्न एवं 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः' के अनुसार व्यापनशील तत्त्व है, विष्णु भी व्यापकत्वधर्मावच्छिन्न शक्ति को ही कहते हैं, तथा उसे भी 'शुक्लाम्बर-धरं विष्णु शशिवर्णम्' आदि प्रार्थनाओं में भास्वर-शुक्ल-स्वरूप वाला कहा जाता है।

यदि हम उक्त आख्यायिका को वैज्ञानिक शब्दों में प्रकट करना चाहें, तो इस प्रकार कह सकते हैं—

आदि सृष्टि रचना के समय जब कि ब्रह्माण्ड में प्राणियों का उद्भव न हो पाया था और हमारी इस पृथ्वी की भी कोई सत्ता विद्यमान न थी, उस समय केवल आग्नेय वाष्प ही सर्वत्र फैला हुआ था, समय पाकर वह आग्नेय वाष्प क्रमश: घनीभूत होने लगा और एक मुद्दत के बाद वह हमारी इस पृथ्वी का आदिमपिण्ड बन गया। कहना न होगा कि आग्नेय वाष्प के घनीभूत होने में चन्द्रपिण्ड का पूरा सहयोग था अर्थात् चन्द्रमा की स्वाभाविक शीतलता के संयोग से ही निकटवर्ती आग्नेय वाष्प घनत्व को प्राप्त हुई थी। श्रीवेदव्यास जी महाराज ने इसी गम्भीर तत्त्व को सरल बनाने के लिये रूपक शैली का आश्रय लिया है। सो पौराणिक शब्दों में चन्द्रमा रूप शिव भगवान् के आग्रह करने पर विष्णु रूप आग्नेय वाष्प ने, घनीभाव को प्राप्त होकर पृथ्वी पिण्डरूप मोहिनी स्वरूप धारण किया। अस्तु, पृथ्वीपिण्ड के सुस्थिर हो जाने पर और अन्यान्य ग्रहों के आकर्षण विकर्षण के तारतम्य से पृथ्वी की भी स्वतन्त्र कक्षा नियत हो जाने पर चन्द्रपिण्ड पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगा, मानो शिव भगवान् मोहिनी रूप पृथ्वी के रूप लावण्य को देख कर उस पर लट्टू हो गये। यही महादेव का मोहिनी के पीछे भागनेका अभिप्राय है; चांद ने भरपेट दौड़धूप की, अपने कर = किरण किंवा हाथ फैलाये, परन्तु कुछ भी पल्ले न पड़ सका, अर्थात् वह चन्द्रपिण्ड पृथ्वी पिण्ड को आत्मसात् न कर सका यही मोहिनी के हाथ न आने का तात्पर्य है।

वर्तमान विज्ञानवेत्ता भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि आरम्भ में यह पृथ्वी तपे हुवे सोने के बराबर जाज्वल्यमान एवं दमकते हुवे पिण्ड के समान थी सो ज्यों ही चांद पृथ्वीपिण्ड की अपरिमित ऊष्मा से संश्लिष्ट हुवा तो उसका बहुत सा भास्वर हिम पिघल २ कर बहने लगा। गर्मी के संयोग से बर्फ का बह जाना विज्ञान सिद्ध बात है। सो यही शिव के वीर्यपात का आशय है।

चन्द्रमा से गिरा हुआ वह करोड़ों मन 'भास्वर हिम' आकाशस्थ आग्नेय वाष्प के संमिश्रण से देदीप्यमान कलल की सूरत में पृथिवी के अमुक २ भागों में समा गया। जिस अंश में —आग्नेय वाष्प का अधिक भाग मिल गया वह सोना बन गया और जिसमें हिम का अधिक भाग रहा वह चांदी बन गई। इसी तरह अन्यान्य तत्त्वों के न्यूनाधिक विमिश्रण के तारतम्य से ततद् धातुओं की उत्पत्ति हुई। यही इस आख्यायिका का वास्तविक भाव है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से सोने के संघीभूत परमाणुओं का विश्लेषण किया जाय तो उपर्युक्त विज्ञान के अनुसार सोने में वस्तुतः अग्नि चाँद और जल के गुणों का ही विमिश्रण पाया जाता है। न्याय-शास्त्र में सोने को तैजस पदार्थ माना है। यह अग्नि ताप से पिघल कर द्रवीभूत हो जाता है, इसका स्वाभाविक स्पर्श अनुष्णाशीत है और तैजस पदार्थ होने के कारण इसमें भास्वरशुक्लता का समावेश स्वीकार किया जाता है। सो सोने—में 'द्रवत्व' जलतत्त्व का विकार है, 'घनीभाव' चन्द्रमा के दिव्य हिम का प्रतिफल है और देदीप्यमान भास्वरता अग्नितत्त्व का गुण है यद्यपि इसमें न्यूनाधिक उपर्युक्त तीनों गुणों का समावेश पाया जाता है। तथापि हमारे पूर्वकथनानुसार इसमें अधिक भाग आग्नेय वाष्प का ही मिला है, अतएव 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इसे तैजस पदार्थों में ही परिगणित किया है। श्रीवेदव्यास जी ने 'महाभारत' में स्पष्टतया इसे अग्नि का ही विकार स्वीकार किया है, यथा—

अग्नेरपत्यमेतद्वै सुवर्णमिति धारणा।

(महाभारत—अनुशासन ८५। १४७)

अर्थात्—सुवर्ण अग्नि से उत्पन्न हुआ पदार्थ है, ऐसी धारणा है। कदाचित् कोई सज्जन हमारे इस वैज्ञानिक भाव को कोरी कल्पना

ही न समझ बैठें ! एवं किसी के हृदय में उक्त आख्यायिका के प्रधान पात्र शिव, विष्णु और मोहिनी आदि का अभिप्राय क्रमशः (सोम—) चन्द्रमा, (अग्नि—) आग्नेय वाष्प और पृथ्वी का आदिम पिण्ड किन प्रमाणों के आधार पर अवलंबित है—ऐसी आशङ्का न बनी रहे !—एतदर्थ हम वैदिक साहित्य से ऐसे प्रमाण उद्धृत करते हैं कि जो हमारी रूपक कल्पना का समर्थन करते हुए इस आख्यान के मध्यवर्ती शिव विष्णु शब्दों के हमारे प्रकट किये अर्थों का भी सोहलों आने अनुमोदन करते हो, तद्यथा—

(क) यद् रुद्रश्चन्द्रमास्तेन । (कौषीतकी ६ । ७)

(ख) (प्रजापतिः) तं (रुद्रं) अब्रवीन्महादेवोऽसीति ।
तद्यदस्य तन्नामाकरोच्चन्द्रमास्तद्रूपमभवत् ॥
(शतपथ ६ । १ । ३ । १६)

(ग) आग्नेयी पृथिवी । (ताण्ड्य १५ । ४ । ८)

(घ) इयं (पृथिवी) वै देव्यदितिर्विश्वरूपी ।
(तैत्तिरीय १ । ७ । ६ । ७)

(ङ) सा (पृथिवी) अग्निं गर्भं विभर्तु ।
(शतपथ ६५ । १ । ११)

अर्थात्—(क) जिस कारण से वह रुद्र चन्द्रमा [कहा जाता] है । (ख) प्रजापति ने इस रुद्र को कहा कि तू महादेव है क्योंकि उसका महादेव = महान्दीप्तिवाला नाम रखा, सो वही (रूपसम्पन्न) चन्द्रमा बन गया । यह पृथिवी आग्नेयी—अग्निवाष्पमयी थी । (घ) यह पृथिवी ही विश्वरूपी (= विश्व विमोहक रूप सम्पन्न) अखण्डनीय देवी है । (ङ) उस पृथिवी ने अग्नि को गर्भ में धारण किया ।

इत्यादि अनेक प्रमाणों द्वारा शिव = रुद्र भगवान् का चन्द्रमा होना, और पृथिवी का आरम्भ में आग्नेय वाष्पमय होना सुस्पष्ट है तथा इन्हीं पदार्थों के विशेष योगायोग से सुवर्ण आदि धातुओं का बनना भी विज्ञानसिद्ध है जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं। यही इसका वास्तविक भाव है।

स्थानान्तर में यही कथा आध्यात्मिक किंवा आधिदैविक अर्थों के प्राधान्य से भी व्याख्यात की जा सकती है। सो यहाँ मायारहित विशुद्ध ब्रह्म को 'विष्णु' और उसकी अनन्य छाया मायाको 'मोहिनी' तथा माया संवलित ब्रह्म (ईश्वर) को 'शिव' समझना चाहिए एवं ईश्वर के वीर्य (सत्ताभाव) से धातुओं (चराचर के धारण शील पञ्चमहाभूतों) की उत्पत्ति माननी चाहिए।

त्रिदेव और अनसूय

२१

कुछ महाशय 'भविष्य पुराण' (प्रतिसर्ग खण्ड ४ अध्याय १७) के आधार पर ब्रह्मा विष्णु और महेश इन तीनों देवताओं के ऊपर यह भी मिथ्या कलङ्क लगाया करते हैं कि 'उक्त देवत्रय ने अत्रि ऋषि की धर्मपत्नी अनसूया के साथ व्यभिचार किया। हम इस आक्षेप की असलियत प्रकट करने के लिए पाठकों के सामने सर्वप्रथम पौराणिक स्वरूप रखते हैं, जिससे मूल शब्दों के पढ़ने मात्र से बहुत कुछ सन्देह काफूर हो जायगा।

पौराणिक स्वरूप

कदाचिद् भगवानत्रिर्गङ्गाकूलेऽनसूयया।
सार्धं तपो महत्कुर्वन्ब्रह्मध्यानपरोऽभवत् ॥६७॥

तदा ब्रह्मा हरिश्शम्भुः स्वस्ववाहनमास्थिताः ।
वरं ब्रूहीति वचनं तमाहुस्ते सनातनाः ॥६८॥
इति श्रुत्वा वचस्तेषां स्वयम्भूतनयो मुनिः ।
नैव किञ्चिद् वचः प्राह संस्थितः परमात्मनि ॥६९॥
तस्य भावं समालोक्य त्रयो देवाः सनातनाः ।
अनसूयां तस्य पत्नीं समागम्य वचोऽब्रुवन् ॥७०॥
लिङ्गहस्तः, स्वयं रुद्रो विष्णुस्तद्रसवर्द्धनः ।
ब्रह्मा कामब्रह्मलोपः स्थितस्तस्या वशंगतः ॥
रतिं देहि मदाघूर्णे ! नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम् ॥७१॥
पतिव्रताऽनसूया च श्रुत्वा तेषां वचोऽशुभम् ।
नैव किञ्चिद् वचः प्राह कोपभीता सुरान्प्रति ॥७२॥
मोहितास्तेऽत्र ते देवा गृहीत्वा तां बलात्तदा ।
मैथुनाय समुद्योगं चक्रुर्मायाविमोहिताः ॥७३॥
तदा क्रुद्धा सती सा वै तांच्छशाप मुनिप्रिया ।
मम पुत्रा भविष्यन्ति यूयं कामविमोहिताः ॥७४॥
महादेवस्य वै लिङ्गं ब्रह्मणोऽस्य महाशिरः ।
चरणौ वासुदेवस्य पूजनीया नरैः सदा ।
भविष्यन्ति सुरश्रेष्ठा ! उपहासोऽयमुत्तमः ॥७५॥
इति श्रुत्वा वचो घोरं नमस्कृत्य मुनिप्रियाम् ।
तुष्टुवुर्भक्तिनम्राश्च वेदपाठैश्च ऋङ्मयैः ॥७६॥

अनसूया तदा प्राह भवन्तो मम पुत्रकाः !
भूत्वा शापं मदीयञ्च त्यक्त्वा तृप्तिमवाप्स्यथ ॥७७॥
इत्युक्ते वचने ब्रह्मा चन्द्रमाश्च तदाह्यभूत् ।
दत्तात्रेयो हरिः साक्षाद्, दुर्वासा भगवान्हरः ॥७८॥
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग खण्ड ४ अ० १७)

अर्थात्—किसी समय महर्षि अत्रि अनसूयासहित गङ्गा के तट पर तप करते हुवे ईश्वर के ध्यान में तत्पर हुवे ।। ६७ ।। उस समय ब्रह्मा विष्णु और महादेव ये तीनों ही अपने २ वाहनों पर सवार होकर अत्रि के पास आये और बोले 'वरं बूहि' अर्थात्—वर माँगो ॥६८॥ स्वयम्भू पुत्र अत्रि मुनि उनके इसप्रकार के वचन को सुन कर कुछ भी न बोले और तथैव परमात्मा में स्थित रहे ॥६९॥ तीनों सनातन देव अत्रि के पवित्र भाव को जानकर अत्रि की धर्मपत्नी अनसूया के पास पहुँचे और बोले ।। ७० ।। 'लिङ्गहस्त' रुद्र 'रसवर्द्धन' विष्णु और 'ब्रह्म-काम-लोप' ब्रह्मा तीनों ही उसके वशीभूत से बन कर खड़े हो गए । ब्रह्मा ने कहा—हे मदाघूर्णितलोचने ! मुझे रति दान दे, नहीं तो मैं प्राणों को त्याग दूंगा ॥७१॥ उनकी इस अशुभ वाणी को सुनकर पतिव्रता अनसूया उनके क्रोध से भयभीत हुई कुछ भी न बोली ।। ७२ ।। तब माया से विमोहित हुवे इन तीनों देवताओं ने चाहा कि हम मानो इसको जबर्दस्ती से—पकड़ लें—इसप्रकार मैथुन करने का उद्योग प्रकट करने लगे ।। ७३ ।। उस समय सती अनसूया ने क्रुद्ध होकर तीनों देवताओं को शाप दिया कि 'जाओ तुम सब मेरे पुत्र बनोगे'—॥७४॥ महादेव का लिङ्ग, ब्रह्मा का बड़ा भारी शिर और विष्णु के चरण हो मनुष्य पूजा करेंगे, हे देवश्रेठो ! यही तुम्हारा उत्तम उपहास है ॥७५॥ त्रिदेव इस घोर वचन को सुनकर मुनिप्रिया अनसूया को नमस्कार करने

लगे और भक्ति से विनम्र होकर वेद ऋचाओं द्वारा उसकी स्तुति करते हुवे प्रसन्न करने लगे ॥७६॥ उस समय अनसूया ने कहा कि तुम मेरे पुत्र बनो और फिर शाप को त्याग कर खुश होंगे ॥७७॥ यह कहने पर ब्रह्मा उसी समय चन्द्रमा हो गया, विष्णु दत्तात्रेय और रुद्रदेव दुर्वासा रूप में अवतरित हुवे ॥७८॥

वास्तविक भाव

उपर्युक्त कथा के साद्यन्त पढ़ने से यह भलीभांति विदित हो जाता है कि ब्रह्मा विष्णु और रुद्र ये तीनों देवता अत्रि और अनसूया की परीक्षा के लिये ही इकट्ठे होकर आये थे। अत्रि का 'निष्कामभाव' और अनसूया का 'पातिव्रत्य' खूब ठोक बजा कर जांचना ही उक्त लीला का उद्देश्य था। शङ्कावादी महाशयों के कथनानुसार यदि उक्त तीनों देवताओं में से किसी के भी हृदय में अपवित्र विचार होता तो वह घोर अन्धकार में अत्रि की आंख बचाकर दबे पांव अकेला ही कभी अनसूया के पास पहुंचता जैसा कि प्राय: व्यभिचारी मनुष्य जाया करते हैं। परन्तु उक्त कथा में तो यह साफ लिखा है कि ये तीनों इकट्ठे होकर और अपने २ वाहनों पर सवार होकर पहिले अत्रि के पास पहुंचे और फिर अनसूया के निकट गये। क्या व्यभिचारी लोग व्यभिचार करने के लिये पंचायत बान्धकर कहीं इकट्ठे भी जाया करते हैं ? और वे जिस स्त्री से व्यभिचार करने का इरादा रखते हों उसी के घरवाले को भी अपने आप इसतरह सूचना दे दिया करते हैं क्या ? जो लोग इस कथा के मूल शब्दों पर विचार न करके व्यर्थ ही व्यभिचार और पापाचार के स्वप्न देखते हैं—जानो उन्होंने अपनी बुद्धि को बेच खाया है। अस्तु, त्रिदेव अत्रि के पास पहुँचे और उसे यथेच्छ वर मांगने के लिये कहा, परन्तु अत्रि ऋषि तो निष्काम कर्मयोगी महात्मा थे, उन्हें अपने तप के

प्रतिफल में किसी भी कर्मफल की स्पृहा न थी, अतः वे टस से मस न हुए—तथैव दृढ़ चट्टान की भांति 'संस्थितः परमात्मनि' बने रहे—निष्काम कर्मयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण हुवे। द्वार पर खड़े हुये ब्रह्मा-विष्णु-महेश 'वरं ब्रूहि' कहकर सब कुछ दे डालना चाहते है, परन्तु निष्काम कर्मयोग का पुजारी न आँख खोलता है न कुछ मुंह से बोलता है—मानो वह अपनी वृत्ति को—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन—

—की तराजू पर 'बावन तोले पाव रत्ती' तोलता है। इससे अधिक कर्मफल त्याग का आदर्श और क्या हो सकता है ?

इस तरह अत्रि की परीक्षा ले चुकने के बाद त्रिदेव ने अनसूया का 'पातिव्रत धर्म' जाँचना चाहा। यही सभी जानते हैं कि पातिव्रत धर्म की परीक्षा के लिये अनुचित छेड़छाड़ एवं व्यभिचारियों जैसे वाक्य कहना अनिवार्य है। सब कहने सुनने पर भी यदि कोई स्त्री अपने धर्म से भ्रष्ट न हो तो वही साध्वी वास्तव में पतिव्रता कही जा सकती है। व्यभिचारियों जैसा स्वाँग भरे बिना पतिव्रत धर्म की परीक्षा ली ही नहीं जा सकती। यदि अब भी किसी भले मानस को किसी देवी का पातिव्रत धर्म जाँचने के लिये नियुक्त किया जाय तो वह भी अगत्या उसके निकट ऐसी चेष्टाएं करेगा कि जिससे कामोद्दीपन की सम्भावना हो। सो उक्त तीनों देवताओं के भी हृदय में तो विशुद्ध भाव था, परन्तु ऊपर से ऐसे भाव व्यक्त करते थे कि जिनसे अनसूया का हृदय क्षुब्ध हो जाये। अनसूया पर इन चेष्टाओं का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह कुछ देर तक तो इन देवताओं के कोप से भयभीत हुई चुप सी रही। परन्तु जब त्रिदेव ने मैथुनक्रिया उद्योग प्रकट किया तो पतिव्रता को क्रोध आ गया और वह धैर्यरहित होकर त्रिदेव को शाप दे बैठी। कदाचित् अनसूया जिस प्रकार कामचेष्टाओं से व्यग्र न होकर पातिव्रत

की परीक्षा में सफल रही थी, इसी प्रकार क्रोध के आवेश को भी पी जाती तो वह न केवल पतिव्रताओं की शिरोमणि कही जाती, बल्कि योगियों की भी वन्दनीया बन जाती जैसा कि गीता में लिखा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५ । २३)

अर्थात्—जो मनुष्य शरीर त्याग से पूर्व इस लोक में काम और क्रोध के वेग कर सहन को सकता है वह योगी है और वही सुखी है ।

अस्तु, अनसूया ने अनेक कामोद्दीपक चेष्टाओं से दूषित हुये वायु मण्डल में भी अपने पातिव्रत को सर्वथा अक्षुण्ण बनाये रखा, अतः ऐसी आदर्श पतिव्रता का उग्र शाप त्रिदेव को भी सहर्ष स्वीकार करना पड़ा । शाप क्या था ! मानो अत्रि और अनसूया की घोर तपश्चर्या का प्रतिफल—मूर्तिमान् वरदान था । रामायण और श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है कि मनु और शतरूपा एवं सुतपा और पृश्नि ने बड़ा भारी तप करने के बाद विष्णु भगवान् को सन्तुष्ट करके 'याञ्चाभङ्गभयात' डरते काँपते तुतलाई जबान से यह वरदान माँगा था कि 'मेरे घर में आपके समान पुत्र हो'—जिसके उत्तर में श्रीविष्णु भगवान् ने बड़े ही नाजा नखरे के साथ—

आप सरिस खोजों कहं जाई । नृप तव तनय होव मैं आई ॥

—कहते हुए जैसे तैसे इसकी स्वीकृति दी थी, जिसकी सत्यता के लिये वे त्रेता में राम और द्वापर में कृष्ण रूप में अवतरित हुवे थे । परन्तु अत्रि सरीखे कर्मयोगी और अनसूया सदृश पतिव्रता गिड़गड़ा कर और मिन्नत खुशामद से कुछ माँगने वाले भिखमंगों में से न थे । उन्हें तो अपने तपोबल पर पूरा भरोसा था । अतः त्रिदेव के 'वरं ब्रूहि' कहने पर तो अपने

मौन-भाव से कर्म-फल-त्याग की चरमा सीमा दिखा डाली, परन्तु पीछे मौका पड़ने पर दूरदर्शिनी अनसूया शाप के बहाने तीनों को अपना पुत्र बनने के लिये विवश कर डाला, मानो अपनी तपश्चर्या और अनन्य भक्ति की कीमत में तीनों देवताओं को खरीद लिया।

कल्पना कीजिए कि त्रिदेव के 'वरं ब्रूहि' कहने पर उक्त दम्पति यही वर माँग बैठते कि 'भवन्तो मम पुत्रा भवत' अर्थात्—आप तीनों मेरे पुत्र हो जाओ, तब भी तो त्रिदेव को 'तथास्तु' ही कहना पड़ता। अतः इस विवेक दृष्टि से उक्त लीला के परखने पर तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम अपने दृष्टिकोण (View) से तो भले ही इसे 'शाप' नाम से स्मरण करें परन्तु त्रिदेव और अनसूया के निकट तो यह सब लीला भगवान् और भक्त की अनोखी भावना की ही परिचायक है। जब कि तीनों देवता अनसूया के पातिव्रत की जांच के लिये उसकी कठिन से कठिन परीक्षा ले सकते हैं और वह देवी इस अग्नि परीक्षा में पड़कर चमकते हुये सोने की भाँति तथैव उज्ज्वल बनी रहती है, तब अपने धर्मव्रत के बूते पर साध्वी अनसूया को तो त्रिदेव से परीक्षोत्तीर्णता का उचित पुरस्कार प्राप्त करने का पूरा पूरा अधिकार प्राप्त था। सो त्रिदेव ने खूब ठोकबजा कर उसके पातिव्रत धर्म की कठिन परीक्षा ली और अनसूया ने उत्तीर्ण होकर उन्हें अपना पुत्र बना लिया।

आध्यात्मिक भाव

'अत्रि'—(न त्रयो गुणा वर्तन्ते यस्मिन् स अत्रिः) गुणातीत ज्ञानी का नाम है और 'अनसूया'—(न अनसूया निन्दा यस्याँ सा अनसूया) ज्ञानी की अनिन्दित वृत्ति का नाम है। उक्त वृत्ति पतिव्रता स्त्री की तरह ज्ञानी की अनन्य दासी बनकर सर्वदा उसके निकट रहती है। अतएव इसे 'पत्नी' कहा गया है। ब्रह्मादि तीनों देवता अर्थात्—रजः, सत्व,

तमः तीनों गुणों की अधिष्ठात्री शक्तियां योगी की इस अनिन्दित वृत्ति के वशीभूत हैं।

जिस समय वह परिपक्व दशा को पहुँच जाती है तब 'लिङ्ग-हस्त' = ब्रह्माण्ड भर का अवलम्बन जिसके हाथ में है, वे रुद्र भगवान् और 'रसवर्द्धन' = भक्ति रूप रस को बढ़ाने वाले विष्णु भगवान् तथा 'काम-ब्रह्म-लोप' = कामनामय मनः को शान्त करने वाले ब्रह्मा जी उस सर्वतोभावेन आलिङ्गन करना चाहते हैं। तथा मुग्ध होकर बलपूर्वक 'मैथुन' = एकीभाव के लिये उद्योग करते हैं। अन्त में यह वृत्ति उक्त तीनों गुणों की अधिष्ठात्री शक्तियों को अपना पुत्रवत् आज्ञाकारी बना कर छोड़ती है, यही इस कथा का आध्यात्मिक तत्त्व है।

इस प्रकार हम उपर्युक्त कथा का आधिदैविक तात्पर्यप्रधान, वास्तविक भाव और आध्यात्मिक भाव प्रकट करने के बाद विज्ञ पाठकों से ही पूछना चाहते हैं कि इस आख्यान में वह कौन ऐसा शब्द है कि जिससे त्रिदेव का अनसूया के साथ व्यभिचार करना सिद्ध होता हो। मूल कथा में तो 'मैथुनाय समुद्योगं चक्रुः' केवल इतना मात्र लिखा है। यह तो इस सारे प्रसंग में कहीं भी नहीं लिखा कि 'मैथुनं चक्रुः' इसके अतिरिक्त उक्त सब कुचेष्टाओं के नकली प्रदर्शन का अभिप्राय भी अनसूया के पातिव्रत की परीक्षामात्र करना ही साफ लिखा है। अतएव उपसंहार में त्रिदेव ने भक्तिभाव से नम्र होकर वेदमन्त्रों द्वारा इस देवी की स्तुति की ऐसा प्रकट किया। इन सब कारणों से स्पष्ट होता है कि न इस लीला में व्यभिचार है और न व्यभिचारभाव है किन्तु भक्त की भक्ति और भगवान् की भावना का उज्ज्वल प्रकाश है। अब तो इस कथानक के आधार पर 'सती अनसूया' नाम की फिल्म भी बन चुकी है जिसे देखकर दर्शक अनसूया के पातिव्रत्य पर मुग्ध हो जाते हैं।

त्रिदेव को शाप

२२

पद्मपुराण (उत्तर खण्ड अध्याय १११) के आधार पर कई महाशय यह भी आक्षेप किया करते हैं कि ब्रह्मा की धर्मपत्नी स्वरा ने समस्त देवताओं को 'जड़' हो जाने का शाप दिया था, जिसके फलस्वरूप त्रिदेव को 'नदी' बनना पड़ा। यह आख्यान ब्रह्मादि देवताओं की असमर्थता प्रकट करता है जोकि उनके ईश्वरत्व धर्म के सर्वथा प्रतिकूल है। हम इस प्रसंग को यहाँ उद्धृत करते हैं, तत्पश्चात् उसपर उचित विचार किया जायगा।

पौराणिक स्वरूप

एक बार सह्य पर्वत की चोटी पर समस्त देवताओं ने मिलकर बड़ा भारी यज्ञ रचा। जब मुहूर्त का समय आया तो ब्रह्मा जी की ज्येष्ठ पत्नी स्वरा तब तक यज्ञशाला में न आ सकी। विष्णु के प्रस्ताव और शिव आदि देवताओं के अनुमोदन करने पर मुहूर्त टल जाने के भय से ब्रह्मा के दक्षिण भाग में गायत्री नामक दूसरी धर्मपत्नी को बिठला कर यज्ञ दीक्षा आरम्भ की गई। इतने में स्वरा भी आ गई और गायत्री को पत्नी के आसन पर बैठी देखकर कुपित हो कहने लगी कि—

ममासने कनिष्ठेयं भवद्भिः सन्निवेशिता।
तस्मात्सर्वे जडीभूता नानारूपा भविष्यथ ॥१५॥
ततस्तच्छापमाकर्ण्य गायत्री कम्पिता तदा।
समुत्थायाशपद्देवैर्वार्यमाणापि तां स्वराम् ॥१६॥

तव भर्ता यथा ब्रह्मा ममाप्येवं तथा खलु ।
वृथाशपस्त्वं यस्मान्मां भव त्वमपि निम्नगा ॥१८॥
ततो हाहाकृतं सर्वैः शिवविष्णुमुखैः सुरैः ।
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ स्वरां तत्र व्यजीज्ञपन् ॥१९॥
तदा लोकत्रयं ह्येतद् विनाशं यास्यति ध्रुवम् ।
अविवेकः कृतस्तस्माच्छापोऽयं विनिवर्त्यताम् ॥२१ ।
इति तद्वचनं श्रुत्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
जडीभूताभवन्नद्यः स्वांशैरेव तदा नृप ! ॥२५॥
तत्र विष्णुरभूत् कृष्णा वेणी देवो महेश्वरः ।
ब्रह्मा ककुद्मनी गंगा पृथगेवाभवत्तदा ॥२६॥
देवाः स्वानपि तानंशान् जडीकृत्वा विचक्षणाः ।
सह्याद्रिशिखरेभ्यस्ताः पृथगासन् सुनिम्नगाः ॥२७॥
गायत्री च स्वरा चैव पश्चिमाभिमुखे तदा ॥२८॥

(पद्मपुराण षष्ठ उत्तर खण्ड अध्याय १११)

अर्थात्—(स्वरा ने कहा) हे देवताओ ! क्योंकि तुम लोगों ने मेरे आसन पर इस छोटी सौतिन गायत्री को बिठलाया है इसलिए तुम सब जड़ और नाना रूप वाले हो जाओ ॥१५॥ इस तरह स्वरा के शाप को सुन कर क्रोध से कम्पित हुई गायत्री उठी और देवताओं के रोकने पर भी स्वरा को शाप देने लगी ॥१७॥ बोली—ब्रह्मा जी जैसे तुम्हारे पति हैं वैसे ही हमारे भी स्वामी हैं, तुमने वृथा शाप दिया इससे तुम नदी हो जाओ ॥१८॥ तब शिव विष्णु आदि देवताओं ने हाहाकार

करते हुये पृथ्वी पर दण्डवत् पड़कर स्वरा को प्रणाम किया और कहा कि (सब देवताओं के जड़ हो जाने पर) यह सब चराचर तीनों लोक निश्चय ही विनष्ट हो जाएंगे। तुमने शाप देते हुए कुछ भी विचार नहीं किया इसलिये अपने शाप को वापिस करो ॥२१॥ (स्वरा ने कहा कि यज्ञ के आरम्भ में तुमने श्री गणेशपूजन नहीं किया था, अतः यह विघ्न पड़ा। सो मेरे वचन तो झूठ न होंगे किन्तु सब देवताओं के अपने २ अंशों से नदी रूप होकर बहने से यह शाप चरितार्थ हो जायेगा) स्वरा के ऐसे वचन को सुनकर ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों देव अपने २ अंशों से जड़ी-भूत बनकर बहने लगे ॥२५॥ विष्णु कृष्ण नाम की नदी बने, महेश्वर वेणी और ब्रह्मा जी ककुद्मिनी गङ्गा के रूप में पृथक् २ बहने लगे ॥२३॥ इसी प्रकार अन्यान्य देवता भी अपने अंशों से जड़ीभूत होकर सह्य पर्वत के शिखिरों से नदी रूप में बहने लगे ॥२७॥ गायत्री और स्वरा दोनों पश्चिमवाहिनी बनकर अवतीर्ण हुई ॥२८॥

वैदिक-स्वरूप

(क) देवा यज्ञमतन्वत। (यजुः ३१)

(ख) ब्रह्मा वा ऋत्विजामनिरुक्तः। (ताण्ड्य १८।१।२३)

(ग) अयज्ञो वा एषः यो अपत्नीकः। (तैत्ति० २।२।२।६)

(घ) अभिद्वितीया जायामश्नुते। (तैत्तिरीय १।३।१०।३)

(ङ) तस्मात्पुमान् दक्षिणतो योषामुपशेते।

(जैमिनीय उपनिषद् १। ५३। ३)

(च) स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विजं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत तथा वाचा स्वरसम्पन्नयार्त्विज्यं कुर्यात् तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव।

(शतपथ १४। ४। १। २७)

(छ) गायत्र्या वै देवा: पाप्मानं शमलमपाघ्नत ।

(ऐतरेय २ । १७)

(ज) आपो वै प्रजापतिः । (शतपथ ८ । २ । ३ । १३)

(झ) आपस्सावित्री । (जैमीनीय उपनिषद् ४ । २७ । ३)

(ञ) स (विष्णुः) अनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् ।

(शतपथ ६ । १ । १ । १०)

(ट) स (महादेवः) आपोऽभवत् । (शतपथ ११।१।६।१६)

(ठ) आपो वै भर्ता देवताः । (कौषीतकी ११ । ४)

अर्थात्—देवताओं ने यज्ञ रचा (ख) ऋत्विजों में ब्रह्मा सम्मिलित नहीं हो सके । (ग) यह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं जो स्त्री रहित है । (घ) वह दूसरी स्त्री को प्राप्त हो गया । (ङ) जिससे पुरुष [यज्ञादि कार्य में] स्त्री को दायीं ओर बिठलाता है । (च) 'स्वर' ही सर्वत्र है इसीलिये यज्ञ में दीक्षित हाते समय वाणी में 'स्वर' को चाहे । उसी [स्वरा] स्वर सम्पन्न वाणी से यज्ञानुष्ठान करे । अतएव यज्ञ में वेद के सस्वर पाठ करने वाले विद्वान् को देखते हैं । (छ) गायत्री से देवताओं ने शाप को दूर किया । (ज) ब्रह्मा जल हो गये । (झ) सावित्री जल हुई । (ञ) वह विष्णु भी वेदविद्या सहित जलों में प्रविष्ट हुये । (ट) वह महादेव भी जल बन गया । (ठ) सभी देवता आप (जल) हुये ।

ऊपर इस आख्यान का वैदिक और पौराणिक स्वरूप प्रकट कर दिया गया । साधारण संस्कृतवेत्ता भी उक्त दोनों स्वरूपें की तुलना करने पर इसकी वैदिकता का परिचय पा सकता है, परन्तु इसका

वास्तविक तात्पर्य क्या है—यह प्रकट करना भी यहां अनावश्यक न होगा। एतदर्थ चन्द पंक्तियें लिखी जाती हैं।

सृष्टि की रचना ही समस्त देवताओं का सम्मिलित यज्ञ है (जिसका विस्तृत वर्णन यजुर्वेद के ३१वें अध्याय में अङ्कित है), जिसमें ब्रह्मा विष्णु महेश अर्थात्—रजोगुण सत्वगुण और तमोगुण ये तीनों गुण ही स्वसमवेत-शक्तियों सहित उक्त सृष्टि यज्ञ के मुख्य सम्पादक हैं। यद्यपि सृष्टि का सम्बन्ध पूर्वोक्त तीनों गुणों से है तथापि रचना कार्य की निर्भरता रजोगुण के अधिष्ठाता श्री ब्रह्मा जी मात्र पर ही अवलम्बित है, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मा को रचयिता विष्णु को पालक और रुद्र को संहारकर्ता माना जाता है। इस आख्यान में सृष्टि की रचना का ही निर्देश करना श्री वेदव्यास जी को अभीष्ट था, अतः सत्व और तम गुणों के अधिष्ठाता श्री विष्णु और महेश का विशेष वर्णन छोड़कर ब्रह्मा जी उनकी दोनों पत्नियों को ही इस अनोखे नाटक के नायक और नायिकायें निश्चित किया। तदनुसार जब रजोगुण कार्योन्मुख हुआ तो उसकी प्रधान शक्तियें भी यथायोग्य सहयोग में प्रवृत्त हुईं। वेदादि शास्त्रों में इन दोनों शक्तियों को 'परा' और 'अपरा' नाम से स्मरण किया है, यही यहाँ ब्रह्मा जी की दो पत्नियें हैं। पंच महाभूत मनः बुद्धि और अहंकार इस अष्टक को—अपरा प्रकृति के नाम से याद किया जाता है और जीवभूत प्रकृति को—परा कहते हैं। सो पुराण के उक्त रूपक में जड़त्व-प्राधान्ययुक्त अपरा को स्वरा नाम से और चैतन्य प्राधान्य युक्त परा को गायत्री या सावित्री के नाम से पेश किया है। परा और अपरा के पारस्परिक संघर्ष से ही इस जड़-चेतनात्मक विश्वप्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है। यही भाव व्यक्त करने के लिये श्री वेदव्यास जी ने दोनों को सपत्नी (—सौतिन—) के रूप में पेश करते हुये इनके झगड़े का उल्लेख किया है। 'ब्रह्म ब्रह्माऽभवत्स्वयम्' श्रुतिके अनुसार रजोगुण माया-संवलित ब्रह्मभूत श्रीब्रह्मा जी महाराज और उनकी अर्धाङ्गिनीभूत—परा एवं

अपरा नामक अभिन्न छाया द्विविध माया का इस रूपक में जो पति पत्नी सम्बन्ध तथा परा और अपरा का सौतिन सम्बन्ध प्रकट किया है वह इतना रहस्यपूर्ण है कि जिसका गम्भीर्य वे ही विद्वान् जान सकते हैं कि जिन्हें सांख्य वेदान्त और न्यायदर्शन के अवगाहन का पर्याप्त समय मिल चुका हो। सृष्टि-विधान में उक्त तत्वों का कौन स्थान है यह रहस्य जानने के लिये उक्त रूपक से बढ़कर दूसरा कोई मुंहबोलता चित्र खिच ही नहीं सकता ! अस्तु, ब्रह्मरूप ब्रह्मा ने ज्यों ही 'परा' रूप गायत्री के सहयोग से सृष्टि यज्ञ का सम्पादन आरम्भ किया, त्यों ही 'अपरा' रूप स्वरा बिगड़ उठी, अर्थात्—पञ्चमहाभूत मन: बुद्धि और अहंकार—इस अष्टकमें भी क्षोभ प्रगति-हर्कत किंवा मोशन (Motion) पैदा हो गया। अष्टधा-प्रकृतिभूत अपरा का क्षोभ इतना बढ़ा कि जिससे रजोगुण के अधिष्ठाता ब्रह्मदेव सत्वगुण के अधिष्ठाता विष्णुदेव, तमोगुण के अधिष्ठाता रुद्रदेव, तथा तत्तत् शक्तियों के अधिष्ठाता अन्यान्य देव अपने २ अंशों से 'अप:' रूप में परिणत हो गये। अन्त में 'जीवभूत' परा-प्रकृति में भी तादृश क्षोभ की लहर पैदा हुई और उससे अष्टधा प्रकृति रूप स्वरा या परा भी 'आप:' रूप को प्राप्त हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि परा और अपरा के पारस्परिक संघर्ष से— रज:, सत्व, तम: तीनों गुणों के अधिष्ठाता स्वसमवेत तत्तच्छक्तियों सहित 'आप:' रूप में परिणत हो गये। यही स्वरा के शाप से त्रिदेव के नदी रूप में परिणत हो जाने का अभिप्राय है। नदी 'आप:' का उपलक्षण है। वेदादि सभी शास्त्रों में—विधर्मियों के मान्य ग्रन्थों तक में भी सृष्टि के आदि में सर्व प्रथम 'आप:' या कारण-जल का बनना ही लिखा है यथा—

अप एव ससर्जादौ।   (मनु १ । ८)

अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में सर्व प्रथम 'आप:' उत्पन्न हुआ।

यही उपर्युक्त आख्यान का वास्तविक भाव है जो वेदव्यास जी ने अपनी कविता चातुरी से अनेक शिक्षाओं से सम्मिलित करके बड़े सरल शब्दों में निबद्ध किया है। पुराणों की यही एक सर्वोपरि विशेषता है कि उनमें किसी एक रहस्य का प्रतिपादन करते २ आनुषङ्गिक अनेक शिक्षाएँ पाठकों को दी जाती हैं। उक्त आख्यान से सृष्टि रचना से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से पदार्थों का तात्त्विक परिज्ञान अभिव्यक्त होता है वहाँ उपयोगी धर्म नियमों का भी बोध होता है। विज्ञ पाठकों के लाभार्थ हम यहां ऐसे धर्मनियमों का उल्लेख करना चाहते हैं जो कि इस आख्यान के पढ़ने मात्र से हमें उपलब्ध होते हैं तद्यथा—

(१) पत्नी पुरुष का अर्धाङ्ग है, यज्ञादि कर्मों में उसका सहयोग परमावश्यक है।

(२) एक से अधिक स्त्री रखने वाला पुरुष, चाहे फिर वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो—आखिर गृहकलह से क्लेश ही पायेगा।

(३) स्वरा = स्वर-सम्पन्न वेदवाणी ही ब्रह्मा = ऋत्विक्-की सर्वश्रेष्ठा सहधर्मिणी है उसी के सान्निध्य से विधिवत् यज्ञ सम्पन्न हो सकता है।

(४) स्वरा = स्वर-सम्पन्न वेदवाणी की उपेक्षा करने से—ब्रह्मा आदि देवताओं को भी शाप लगता है तब सर्वसाधारण को तो बड़ी ही सावधानी के साथ स्वर ज्ञानपूर्वक वेदों का स्वाध्याय करना चाहिए। अन्यथा 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति'—के अनुसार प्रत्यय व्यत्यय किया हुआ वेदपाठ अवश्य ही प्रत्यवाय का कारण बनता है।—इत्यादि अनेक धर्म शिक्षाएँ उपर्युक्त सन्दर्भ से प्रतिध्वनित होती हैं जो कि विस्तार भय से नहीं लिखी जा सकतीं। जो महाशय ऐसे विज्ञानपूर्ण एवं शिक्षाओं के भण्डारभूत आख्यान में त्रिदेव की असमर्थता, तथा ईश्वरत्व और धर्म की प्रतिकूलता का आभास देख पाते हैं निःसन्देह वे अपनी आदत से ही मजबूर समझे जाने चाहिएँ।

मां बेटी और बहिन से विवाह

२३

शास्त्रार्थों के समय दयानन्दी समाज की ओर से एक यह भी आक्षेप किया जाया करता है कि 'भविष्य-पुराण' में—ब्रह्मा का अपनी पुत्री से, विष्णु का अपनी माता से और महादेव का अपनी बहिन से विवाह करवाना लिखा है, जैसे—

स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा, विष्णुदेवः स्वमातरम् ।
भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात् ॥

अर्थात्—ब्रह्मा अपनी लड़की को, विष्णुदेव अपनी माता को और शम्भु अपनी बहिन को ग्रहण करके श्रेष्ठता को प्राप्त हुये ।

त्रिदेव का यह चरित्र अत्यन्त धर्मविरुद्ध एवं निन्दनीय है—हम उक्त आक्षेप की निःसारता दिखाने के लिये क्रमागत शैली के अनुसार सर्व प्रथम उक्त आख्यान का वैदिक-स्वरूप प्रकट करते हैं ।

वैदिक स्वरूप

(क) पिता दुहितुर्गर्भमाधात् । (अथर्व ९ । १० । १२)

(ख) मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः ।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम । (ऋग्वेद ६ । ५५ । ५)

(ग) प्रजापतिः स्वां दुहितरमभिदध्यौ ।
(शतपथ १ । ७ । ४ । १)

अर्थात्—(क) पिता ने बेटी में गर्भ धारण किया (ख) मैं माता

के उपपति [मां के खसम] को कहता हूं, वह बहन का जार हमारी प्रार्थना को सुने जो कि इन्द्र का भ्राता (—अर्थात्—उपेन्द्र विष्णु) है और मेरा मित्र है। (ग) ब्रह्मा ने अपनी बेटी को चाहा।

पौराणिक-स्वरूप

चतुर्धा प्रकृतिर्देवी गुणभिन्ना गुणैकिका।
एका सा प्रकृतिर्माता गुणसाम्यात्सनातनी ॥२३॥
सत्वभूता च भगिनी रजोभूता च गेहिनी।
तमोभूता च सा कन्या तस्यै देव्यै नमो नमः ॥२४॥
बहवः पुरुषा ये वै निर्गुणाश्चैकरूपिणः।
चैतन्याऽज्ञानवन्तश्च लोके प्रकृतिसम्भवाः ॥२५॥
अलोके पापजाः सर्वे देवब्रह्मसमुद्भवाः।
या तु ज्ञानमयी नारी वृणोद्यं पुरुषं शुभम्।
कोऽपि पुत्रः पिता भ्राता स च तस्याः पतिर्भवेत् ॥२६॥
स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा विष्णुदेवः स्वमातरम्।
भगिनीं भगवाञ्छम्भुर्गृहीत्वा श्रेष्ठतामगात् ॥२७॥

(भविष्यपुराण प्रतिसर्ग खं० ४ अ० १८)

अर्थात्—प्रकृति देवी चार प्रकार की हैं, पहिले उसमें दो भेद हैं प्रथम वह प्रकृति है कि जिसमें रजः सत्व तमः इन तीनों गुणों के पृथक् २ भेद दीख पड़ते हों, इसे 'गुणभिन्ना प्रकृति' कहते हैं॥ प्रकृति का दूसरा भेद वह है कि जिसमें उक्त तीन गुण समान रूप से रहते

हों—उसे 'गुणैकिका प्रकृति' कहते हैं। सो रजः सत्व तमः इन तीनों गुणों की साम्यावस्था से सम्पन्न सनातनी प्रकृति का नाम ही 'माता' है ॥२३॥ सत्व प्रधान प्रकृति को 'बहिन' कहते हैं। रजोगुण प्रधान प्रकृति का नाम 'भार्या' है। और तमोगुण प्रधान प्रकृति को 'कन्या' माना जाता है—ऐसी चतुर्विधरूपसंयुक्त प्रकृति देवी को नमस्कार हो ॥२४॥ पूर्वोक्त चतुर्विध प्रकृति से चार प्रकार के ही जीव उत्पन्न हुवे, जैसे बहुत से जीव तो निर्गुण एवं एकरूपी (= निर्विकार) हैं (यह दशा उद्भिज्जों में लक्षित होती है) जो साम्यावस्थापन्न 'गुणैकिका' प्रकृति से प्रादुर्भूत हुवे हैं ॥ दूसरे जीव चैतन्य हैं [यथा देवता आदि] ये सत्वप्रधानान गुणभिन्ना प्रकृति से उत्पन्न हुवे हैं ॥ तीसरे जीव अज्ञान वाले हैं (यथा मनुष्य) जो रजःप्रधाना गुणाभिन्ना प्रकृति से बने हैं। २५॥ चौथे जीव पापज कहे जाते हैं (जैसे पशु पक्षी कीट आदि) जो तमःप्रधाना गुणाभिन्ना प्रकृति से रचे गये हैं। इस तरह ये सब चार प्रकार के जीव ब्रह्मदेव ने--'अलोक' भुवनत्रय की रचना व्यवस्था से पूर्वकाल में बनाये। जो ज्ञानमयी नारी प्रकृति देवी है वह (ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों में से) जिस पुरुष को वरना चाहे वह कोई भी--बाप बेटा और भाई क्यों न हो--वही उसका पति हो जाता है ॥२६॥ (तदनुसार) ब्रह्मा जी ने अपनी सुता (तमःप्रधाना गुणभिन्ना प्रकृति) को, विष्णुदेव ने अपनी माता (साम्यावस्थापन्न गुणैकिका प्रकृति) को, भगवान् शम्भू ने अपनी भगिनी (सत्वगुण-प्रधाना गुणभिन्ना प्रकृति) को भार्या (रजोगुणप्राधानान्येन कार्यकारण-पुरस्सर-प्रपञ्चरचनाक्षमतायुक्त) बनाकर श्रेष्ठ पद को प्राप्त किया।

वास्तविक भाव

उपर्युक्त आख्यान के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों की शाब्दिक तुलना करने पर प्रत्येक साक्षर इसी परिणाम पर पहुंचेगा कि

वेद में-जहां उपक्रम और उपसंहार के बिना सम्राट् की तरह निधड़क होकर ब्रह्मा का अपनी पुत्री को न केवल ग्रहण करना ही बल्कि उसमें बेरोक टोक गर्भाधान कर डालना, तथा परमात्मा की-'मातुर्दिधिषु' के अनुसार न केवल अपना माता को प्राप्त होना मात्र ही बल्कि उसका 'दिधिषु' = उपपति = बगड़ा = खसम बन जाना, एवं 'स्वसुर्जार के अनुसार अपनी बहिन का जार = यार = आशिक बन जाना लिखा है वहां पुराण में उक्त सब शब्दों की व्याख्या न करके वेदों पर होने वाले आक्षेपों का परिमार्जन करते हुये वह निष्कलङ्क रूपक दर्शाया है जिसका मनन करने से भी श्री वेदव्यास जी के नाम की अन्वर्थता अपने आप मुंह बोल उठती हैं। यदि दयानन्दी समाज आयु भर भी मगजपच्ची करता तब भी उसकी कच्ची एवं बच्ची बुद्धि इस सच्ची वैज्ञानिकता की छाया तक न पहुँच पाती। अस्तु, इस पर हमें विशेष टीका टिप्पणी करने की अधिक आवश्यकता नहीं, क्योंकि पौराणिकस्वरूप के मूल शब्दों में ही उक्त रूपक का बहुत कुछ रहस्य स्पष्ट कर दिया गया है। उसका सार यह है कि पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व ही चराचर के उत्पादक हैं। मायारहित पुरुष को ब्रह्म कहते हैं और रजः सत्व तमः तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। जब वह प्रकृति अपने इस स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित होती है तब वेदादि शास्त्रों में उसका पारिभाषिक नाम 'माता' कहा जाता है और इस साम्यावस्थापन्न प्रकृति से संवलित पुरुष को 'विष्णु' कहा जाता है। इसी तरह सत्वप्रधाना की भगिनी' संज्ञा है और तत्संवलित पुरुष को 'महादेव' कहते हैं। तथा तमःप्रधान को 'कन्या' कहा जाता है और तत्संवलित पुरुष का नाम 'ब्रह्मा' है! तात्पर्य यह हुआ कि जैसे लोक में एक ही पुरुष तत्तत्-सम्बन्ध भेद से अपेक्षाकृत पिता भ्राता पुरुष आदि नामों को धारण करता हैं इसी प्रकार एक ही परमात्मा विशुद्धावस्था में 'ब्रह्म' और सत्वादि गुणों के

योगायोग से विष्णु, ब्रह्मा, शिव आदि नामों द्वारा पुकारा जाता है । इसी प्रकार 'अजामेकां' श्रुति के अनुसार एकत्वधर्मावच्छिन्न माया भी गुणत्रय के तारम्य से चतुर्विध वर्णन की जाती है, सो गुणैकिका, सत्वप्रधाना, रजःप्रधाना और तमःप्रधाना ये उसके चार नाम हैं ।

समाजी चालाकी से इस आख्यान के उपक्रम और उपसंहारात्मक श्लोकों को छोड़ कर केवल 'स्वकीयां च सुतां ब्रह्मा' आदि श्लोकों को आगे रखकर जानबूझ कर जनता की आंखों में धूल झोंकना चाहा करते हैं । परन्तु जब उनके सामने 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' आदि पूर्वोक्त वेद प्रमाण रखकर इनका भाषार्थ जनता को सुना देने की बात कह दी जाया करती है, तो वे सब 'आँय बाँय' भूलकर इस आक्षेप को ही त्याग दिया करते हैं : क्योंकि वेदों के ऐसे अटपटे किन्तु रहस्यपूर्ण मन्त्रों को समझने की उनमें रत्ती भर भी क्षमता नहीं होती । इसके अतिरिक्त यदि आक्षेपकर्ताओं से यह पूछ लिया जाय कि महाशय जी ! बतलाइये ब्रह्मा जी ने अपनी जिस पुत्री से विवाह किया था वह पुत्री ब्रह्मा की किस स्त्री के गर्भ से पैदा हुई थी ? जरा उसका कुछ नाम धाम पता भी तो बताइये ? तथा विष्णु के बाप दादा का क्या नाम था ? जिसकी धर्मपत्नी उसके बेटे विष्णु ने छीन ली बताते हो ? एवं महादेव की उस बहिन की भी तनिक वल्दियत और सकूनत फरमा दीजिए ताकि बवक्त जरूरत ईं साहिबान से मुलाकात करके दो दो बातें की जा सकें—बस फिर तो बेचारों को लेने के देने पड़ जाया करते हैं । इसलिए इस आख्यान का न किसी कर्मफलजन्य स्थूल शरीरधारी व्यक्ति से सम्बन्ध है और नां ही इसमें किसी देवता का—वस्तुतः अपनी अपना बेटी माँ या बहिन के साथ शादी—खानाए आबादी करने का जिक्र है । किन्तु यह प्रसङ्ग तो पुरुष और प्रकृति के गूढ़तर रहस्य का निर्देशक है ।

प्रकृति का वेदादि शास्त्रों में कहीं माता रूप से, कहीं बहिन रूप से

और कहीं बेटी रूप से प्रतिपादन किया है, जैसा कि आर्यसमाज के वेदज्ञ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी अपने ग्रन्थ 'वेदामृत' (पृष्ठ ४०७) (टिप्पणी) में लिखा है।

'प्रकृति बहिन है और जीवात्मा उसका भाई है'...'अन्य स्थानों पर पति पत्नी का सम्बन्ध भी वर्णन किया है'।......अन्य स्थान में माता पुत्र का सम्बन्ध भो वर्णन किया है, इत्यादि। अतः इस वैज्ञानिक रूपक में धर्मविरुद्धता का स्वप्न देखना व्यर्थ है।

रहस्यवादी प्रसिद्ध कवि कबीर ने भी अपने 'बीजक' में इस प्रकार के सैंकड़ों ही पद्य लिखे हैं, जो देखने में बड़े अटपटे मालूम पड़ते हैं परन्तु हैं अतीव रहस्यमय तत्त्वों से भरपूर। उदाहरणार्थ यहाँ दो पंक्तियें उद्धृत की जाती हैं तथा—

"सन्तो घर में झगरा भारी।
पहिले जन्म पुत्र का भयऊ, बाप जामिया पाछे।
बाप पुत्र की एको नारी, ई अचरज कोई काछे।"

त्रिदेव का वृक्षों में आवास

२४

कई महाशय 'पद्म-पुराण (पृष्ठ उत्तर खण्ड १५८ २। ३) के आधार पर यह भी आक्षेप किया करते हैं कि उक्त पुराण में ब्रह्मादि देवों का दानवों से डर कर वृक्षों में प्रवेश कर जाना लिखा है। यह कार्य-निःसन्देह त्रिदेव की असमर्थता का द्योतक होने से ईश्वर के सर्वशक्तिमत्त्वरूप धर्म के सर्वथा विरुद्ध है—हम क्रमागत शैलो के अनुसार पहिले उक्त आख्यान का वैदिक और पौराणिक-स्वरूप प्रकट करेंगे तत्पश्चात् इसका वास्तविक भाव बतलाएंगे।

वैदिक स्वरूप

(क) अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
(यजु० १२ । ७९)

(ख) अश्वत्थो देवसदनः । (अथर्व ६ । ९५ । १)

(ग) प्रजापतिर्देवेभ्यो निलायत ... सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत् । (तैत्तिरीय ३ । ८ । १२ । २)

(घ) मांसेभ्य एवास्य (प्रजापतेः) पलाशः समभवत् ।
(शतपथ १३ । ४ । ४ । ४ । १०)

(ङ) ब्रह्म वै पलाशः । (शतपथ ५ । २ । ४ । १८)

अर्थात्—(क) हे देवताओ ! पीपल वृक्ष में आप का निवास है, आप सब ने उसके पत्तों में स्थान बना रक्खा है । (ख) अश्वत्थ = पीपल में सब देवताओं का आवास है । (ग) प्रजापति सब देवताओं से छुप गया, वह संवत्सर पर्य्यन्त पीपल में ठहरा । (घ) प्रजापति के मांस से ही पलाश = ढाक की उत्पत्ति हुई है (ङ) ढाक साक्षात् ब्रह्म है ।

पौराणिक स्वरूप

(क) पुरा कोलाहले युद्धे दानवैर्निर्जिताः सुराः ।
वृक्षेषु विविशुस्तत्र सूक्ष्माः प्राणपरीप्सया ।।२।।
तत्र बिल्वे स्थितः शम्भुरश्वत्थे हरिरव्ययः ।
शिरीषेऽभूत्सहस्राक्षो निम्बे देवः प्रभाकरः ।।३।।
(पद्म षष्ठ उत्तर० १५८)

(ख) अश्वत्थरूपी भगवान् विष्णुरेव न संशयः।
रुद्ररूपी वटस्तद्वत् पलाशो ब्रह्मरूपधृक् ॥२२॥
(पद्म षष्ट उ० ११५)

अर्थात्—(क) पूर्व समय में कोलाहल युद्ध के वक्त दानवों ने समस्त देवताओं को जीत लिया, तब वे देवता प्राण बचाने की इच्छा से सूक्ष्म रूप से वृक्षों में छुप गये ॥२॥ वहाँ महादेव बेल में, अविनाशी विष्णु भगवान् पीपल में, सहस्राक्ष इन्द्र सिरस में और सूर्यनारायण नींब के पेड़ में स्थित हुये ॥३॥ (ख) पीपल का पेड़ साक्षात् विष्णु है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, बट वृक्ष रुद्र है और पलाश = ढाक ब्रह्मा का रूप है ॥२२॥

वास्तविक भाव

साधारणतया सब वनस्पति और खासकर बड़, पीपल, नींव, बेल ढाक और सिरस आदि दिव्य वृक्ष—तथा इन सब में भी सर्वथा असाधारण पीपल का पेड़ प्राणिमात्र के स्वास्थ्य को बढ़ाने के लिये कितना उपयोगी सिद्ध हुआ है—यह बात इसी ग्रन्थ के विगत अध्याय में हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, अतः यहाँ पुनः पिष्टपेषण करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह बता देना अनुचित न होगा कि उपरिलिखित वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूपों में जो समान रूप से ही समस्त देवताओं का वृक्षों में—खासकर पीपल के पेड़ में निवास बताया है वह कम रहस्य से परिपूर्ण नहीं है !

साक्षर समुदाय भलीभाँति जानता है कि हम सब प्राणियों के शरीर विराट् भगवान् के अङ्गभूत ग्रह नक्षत्रादि तत्तत् पदार्थों के अंशों द्वारा ही निर्मित हुये हैं। यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय के अनुसार जो पदार्थ विराट् के जिस अंग से बना है हमारे उस अङ्ग की निर्भरता

उसी पदार्थ पर अवलम्बित है यथा—सूर्य (ज्योतिः) विराट् का नेत्र है तो सब प्राणियों के नेत्र भी इसी ज्योतिः से ही देखने योग्य बनते हैं अन्यथा अन्धकार में चर्म्ममात्र रह जाते हैं। इसी तरह चन्द्रमा, वायु, अग्नि, भूमि, आदि पदार्थ विराट् के मनः श्रोत्र मुख और पांव से उत्पन्न हुवे हैं अतएव प्राणियों के ये २ अङ्ग भी उक्त पदार्थों के आश्रित हैं। पीपल में सब देवताओं का निवास है अर्थात् वह जीवों की सर्वाङ्गीण स्वस्थता का हेतु है—यह गूढ़ भाव प्रकट करने के लिये यहाँ यह रूपक बाँधा है। सो बीमारी के कीटाणु रूप असुरों से जान बचाकर देवता रूप स्वास्थ्यवर्द्धक—समस्त दिव्यगुण उपर्युक्त वृक्षों में समाये हुये हैं, यही इस आख्यान का आशय है। इसलिये उक्त लेख से त्रिदेव पर कुछ भी आक्षेप करना सर्वथा मूर्खता है।

इन्द्र और अहल्या

२५ शंकावादी कहते हैं कि 'देवराज इन्द्र ने गौतम की धर्म्मपत्नी अहल्या के साथ छुपकर सम्भोग किया। इस दुराचार के देखने पर गौतम ने इन्द्र को 'सहस्त्रभग' हो जाने का और अहल्या को पाषाणभूत हो जाने का शाप दिया, यह कथा अत्यन्त अश्लील एवं देवराज के दुराचार से परिपूर्ण है—' इत्यादि। हम सर्वप्रथम इसका वैदिक-स्वरूप प्रकट करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋग्वेद ६।४७।१८)

(ख) अहल्याया ह, मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस।

(षड्विंश १ । १)

(ग) अहल्यायै जारेति । (शतपथ ३ । ३ । ४ । १८)

(घ) सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात् । (अथर्व ११ । २ । १७)

(ङ) अहल्यायै जारेति । (षड्विंश १ । १)

(च) अहल्यायै जारेति । (लाट्यायन श्रौतसूत्र १ । ३ । १)

(छ) (इन्द्र !) अहल्यायै जारेति । (तैं० १ । १२ । ४)

अर्थात्--(क) इन्द्र माया से अनेक रूप बनाकर चलता है। (ख) इन्द्र मैत्रेयी अहल्या का जार था। (ग) अहल्या का जार। (घ) [गौतम के शापानुग्रह करने पर] पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र सहस्राक्ष हो जाने के कारण अतिपश्य=क्रान्तदर्शी हुआ (ङ, च, छ) इन्द्र अहल्या का जार।

पौराणिक स्वरूप

(क) सहस्रभगसम्प्राप्तिर्दुःखं चैव शचीपते :।
स्वर्गाद् भ्रंशस्तथावासः कमले मानसे सरे ॥
(देवीभागवत १ । ५ । ४६)

(ख) एकदा गोत्तमः शीघ्रं जगाम शंकरालयम् ।
शक्रो गोत्तमरूपेण तां तु भोगं चकार सः ॥
नग्नामहल्यां रहसि पीनश्रेष्ठपयोधराम् ।
मुनिः शशाप शक्रं वै भगाङ्गस्त्वं भवेति च ॥
कोपाच्छशाप पत्नीं च सुदतीं भयविह्वलाम् ।

त्वं वै पाषाणरूपा च महारण्ये भवेति च ॥

(ब्रह्मवैवर्त कृ० ज० खण्ड ६१ । ४४--४६)

अर्थात्—(क) शचीपति इन्द्र को सहस्र भग प्राप्ति का दुःख-प्रद शाप लगा। और [ब्रह्महत्या के कारण] स्वर्ग पतन हुवा तथा मानसरोवर में कमल के नाल में छुपने का कष्ठ उठाना पड़ा। (ख) एक बार महर्षि गौतम शीघ्र ही कैलाश को गए, तब गौतभ का रूप बनाकर इन्द्र ने अहल्या से सम्भोग किया [ऋषि ने लौटने पर] एकान्त में सुन्दर एवं पुष्ट स्तनों वाली अहल्या को नंगी देखकर इन्द्र को शाप दिया कि 'तेरे अंग में सहस्र भग हों' पश्चात् क्रुद्ध होकर—भयभीत हुई अपनी सुन्दरी पत्नी को शाप दिया कि 'तू इस महारण्य में पत्थर बनकर पड़ी रह'।

वास्तविक भाव

श्री कुमारिल भट्ट ने अपने 'तन्त्रवार्तिक नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में उक्त ऐतिहासिक वेद-गाथा का सूर्य्य-रात्रि-परक, रूपकप्रायः अर्थ किया है। तदनुसार चन्द्रमा ही (उत्तमा गावो रश्मयो यस्य सः) गोत्तम है, रात्रि ही उसकी पत्नी (अहर्लीयते यस्यां सा) अहल्या है। सूर्य ही [य एष (सूर्य) स्तपति, एष उ एव इन्द्रः] शतपथ ४।५।६।४ के अनुसार परमैश्वर्य्य-सम्पन्न होने के कारण इन्द्र है। वह सूर्य्य रात को जीर्ण करने वाला है अतएव वही 'जार' कहा जाता है। उक्त रूपक के समर्थन में नीचे लिखे प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) सुषुम्णः सूर्य्यरश्मिचन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते।......सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते। (निरुक्त २।२।२)

(ख) आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता।

(निरुक्त ३। ३। ४)

अर्थात्—(क) सूर्य्य की सुषुम्णा नामक रश्मि चन्द्रमा को रूप-सम्पन्न बनाती है—यह वैदिक सिद्धान्त है, सो उस रश्मि को 'गौ' कहते हैं, अथवा सभी रश्मियों का नाम 'गौ' है। (ख) वेद में आदित्य (सूर्य) को ही जार कहते हैं क्योंकि वह रात को जीर्ण=परिसमाप्त=खत्म करने वाला है।

आर्य्यसमाज-प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उक्त रूपक का समर्थन किया है यथा—

इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति। अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात्। स अहल्याया जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गोत्तमेति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोत्तमश्चन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति।···अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोत्तमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः अयं रात्रेर्जरयिता। जृष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति। रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेति मन्तव्यम्॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३००)

अर्थात्—[दयानन्दीय भाषार्थ] सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोत्तम है। यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान—रूपकालङ्कार है।··इस रात्रि का जार आदित्य है,

अर्थात्—जिसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और 'जार' अर्थात् यह सूर्य्य ही रात्रि के वर्तमान रूप शृङ्गार को बिगाड़ने वाला है।...... जैसे स्त्री पुरुष मिल कर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं। चन्द्रमा का नाम गोतम इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इसलिए कहते हैं कि उसमें दिन लय हो जाता है तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिए यह उसका जार कहाता है इत्यादि (ऋग्वेदादि० भू० पृष्ट ३०१)

उपर्युक्त प्रमाणों और सम्मतियों के अनुसार इस वैदिक आख्यायिका का सूर्य्य-रात्रि परक आधिभौतिक अर्थ लगाने पर कुछ भी आक्षेप अवशिष्ट नहीं रहता: क्योंकि वेद के मूल शब्दों में भी रूपक का कथानक (Plot) प्राय: वैसा ही है जैसा कि पुराणों में निर्दिष्ट हुवा है। दोनों स्थानों में इन्द्र का माया से रूप बदलना, और अहल्या के साथ जार कर्म्म करना स्पष्ट है।

ऐतिहासिक-समन्वय

हम शैली वर्णनाध्याय में पुराण शैली की विशेषता का प्रतिपादन करते हुवे पीछे यह लिख आए हैं कि "पुराणों में बहुत से ऐसे प्रसङ्ग विद्यमान हैं जो कि रूपक प्राय: होते हुवे भी मानव इतिहास के साथ आँशिक सम्बन्ध रखते हैं। जबतक ऐसे विमिश्रित आख्यानों का तात्त्विक विश्लेषण न कर लिया जाय तब तक विशुद्ध मानव इतिहास की तथ्य सीमा का पता नहीं लग सकता"। तदनुसार यह आख्यान जहां आधिभौतिकबाद में सूर्य्य और रात्रि का पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करता है वहाँ इसका ऐतिहासिक व्यक्तियों से भी पूरा २ सम्बन्ध है, यथा—प्रसिद्ध महर्षि गोतम और उनकी धर्मपत्नी अहल्या, मानव-दम्पति थे,

जिनसे राजा जनक के पुरोहित मुनि शतानन्द जी उत्पन्न हुये थे। भगवान् रामचन्द्र जी ने शिलाभूत अहल्या का उद्धार किया था इत्यादि सब प्रसङ्ग वाल्मीकीय रामायण (बालकाण्ड सर्ग ४८) में विस्तारपूर्वक आता है। उक्त आख्यान को रूपकमात्र मान लेने से उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों पर पानी फिर जाता है, अतएव ऐतिहासिक पक्ष वाले सदा से इसको मानव इतिहास से सम्बद्ध मानते आये हैं। कहना न होगा कि जिस प्रकार वर्तमान पाश्चात्य गवेषक एवं उनका अनुसरण करने वाले भारतीय इतिहासकार वेदों को आर्य्य-जाति का पुरातन इतिवृत्त मानते हैं, इसी प्रकार अनादि काल से ऐतिहासिक पक्ष वाले महर्षिजन भी वेदों की तत्तत् आख्यायिकाओं को वैयक्तिक इतिहास की निदर्शक समझते रहे हैं। इसलिये वेदों के विशेषमर्मज्ञ यास्काचार्य्य ने अपने परम प्रसिद्ध, निरुक्त ग्रन्थ में स्थान २ पर—'इति ऐतिहासिकाः, अथेतिहासमाचक्षते' इत्यादि स्पष्ट लिखकर ऐतिहासिक पक्ष को भी उचित सम्मान दिया है। अस्तु, उपर्युक्त आख्यायिका का वैयक्तिक इतिहास से सम्बन्ध है यह एक निर्विवाद बात है।

कदाचित् कोई ऐसी आशङ्का करे कि रूपक-प्रायः इस आख्यायिका को मानव-इतिहास के साथ सम्बन्ध करने वाले ऐतिहासिकों के पास वे कौन प्रमाण तथा क्या युक्तियें हैं कि जिनके आधार पर इस प्रसङ्ग का तत्तद् व्यक्तियों से सम्बन्ध माना जा सके?—तो इसके उत्तर में यही कहना पर्य्याप्त होगा कि इस आख्यान के मूल शब्द ही इसके ऐतिहासिक होने की स्पष्ट सूचना देते हैं, जैसे कि पूर्वोक्त वैदिक-स्वरूप में दिये गये 'च' भाग निर्दिष्ट—'अहल्यायै ह मैत्रेय्याः' (इन्द्र) (षड्विंश १। १) आदि प्रमाण में अहल्या का विशेषण 'मैत्रेयी' दिया है। व्याकरण के 'स्त्रीभ्यो ढक् (४। १। १२०) सूत्र के अनुसार 'मित्रा' नामक स्त्री की अपत्यभूत कन्या को ही 'मैत्रेयी' कहा जा सकता है—कदाचित् वेद में उपर्युक्त आख्यान को रूपकमात्र बतलाना अभीष्ट

होता तो 'मैत्रेयी' विशेषण द्वारा अहल्या को 'अमुक की अपत्य' कहने की कुछ भी आवश्यकता न थी। इसलिये 'मैत्रेयी' विशेषण ही इस तथ्य का पर्य्याप्त निदर्शक है कि 'उक्त कथानक का वैयक्तिक इतिहास से भी सम्बन्ध है। सम्भवत: अहल्या महर्षि याज्ञवल्क्य की अन्यतम धर्म्मपत्नी मैत्रेयी की ही बहिन लगती होगी, समान नाम और समकालीनता इस अनुमान के पोषक हैं।

इसके अतिरिक्त 'घ' भाग निर्दिष्ट—'सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात्' (अथर्व ११ । २ । १७) आदि प्रमाण से इन्द्र का 'सहस्राक्ष' होना सुस्पष्ट है। अन्यान्य सभी आर्य्यग्रन्थों में भी सहस्राक्ष शब्द, इन्द्र का अन्यतम पर्य्याय माना जाता है, परन्तु वह देवराज 'सहस्राक्ष' (=हजार नेत्रों वाला) कब? कैसे? और क्यों? हुआ—इस स्वाभाविक जिज्ञासा की पूर्ति के लिये रूपकवादियों के पास क्या उत्तर विद्यमान है—यह भी तो एक कठिन समस्या है। इसलिये मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने ज्योंही यौगिक 'सहस्राक्ष' शब्द का कार्यकारण-पुरस्सर मनन आरम्भ किया त्योंही उन्हें उसमें इतिहास की झलक दीख पड़ी—जिसका निरूपण वेदव्यास जी ने पुराण ग्रन्थन के समय उपर्युक्त रीति से किया। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि अहल्या के प्रसङ्ग में इन्द्र को गोतम जी ने 'सहस्र-भग' हो जाने का शाप दिया, परन्तु पीछे प्रार्थना करने के बाद शापानुग्रह करते हुये सहस्र भगों के बजाय 'सहस्रनेत्र' होने का आशीर्वाद दिया। पुराणों में इन्द्र के 'सहस्राक्ष' होने के सम्बन्ध में जो यह विवेचना की है वह यौगिक 'सहस्राक्ष' की समाधिगम्य कार्य कारण कल्पना ही समझनी चाहिये। इसलिये वेदोक्त 'सहस्राक्ष' शब्द भी इस आख्यान की ऐतिहासिकता का प्रबल निदर्शक है।

इस तरह 'वैदिक-स्वरूप' के मूल शब्दों से ही जब इस आख्यान की ऐतिहासिकता भी सिद्ध है, फिर किसी भी वेदाभिमानी को 'गजनि-

मीलिका' न्याय से 'पौराणिक-स्वरूप' पर आक्षेप करने का क्या अधिकार है ?

यदि वैदिक और पौराणिक, दोनों स्वरूपों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो एक सीमा तक मानव समाज में वैदिक-स्वरूप के कारण ही दुराचार की अभिवृद्धि की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि वहां इन्द्र को स्पष्ट शब्दों में अहल्या का जार कहते हुये भी उसके लिये 'हविः' प्रदान करने का उल्लेख किया है। कोई भी बालिश इसका यह अर्थ लगा सकता है कि "जब वेद में एक व्यक्ति को 'जार' मानते और कहते हुये भी विधिवत् पूजा जाता है तब इस प्रकार का दुराचार करने पर मैं ही अपूज्य क्यों हूँगा"। परन्तु पौराणिक-स्वरूप को साद्यन्त पढ़कर या सुनकर एक मूर्ख से मूर्ख भी ऐसे दुराचार में प्रवृत्त होने का साहस न कर सकेगा, क्योंकि इसके पढ़ने से तो पाठकवर्ग के हृदय पर यही प्रभाव पड़ेगा कि जब देवराज इन्द्र को भी इस तरह की चेष्टा करने पर दण्डभागी होना पड़ा तब मैं तो किस खेत की मूली हूं ? अतः इस अकार्य से भरसक बचना चाहिये।

कहने का तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ वेद, इन्द्र को 'जार' बताते हुये भी दोषी को गोद में छिपाये रखने की सी नीति को बर्तता हुआ, दीख पड़ता है, वहां पुराण मानव-मर्य्यादा की रक्षा के लिये दोषी व्यवित को पदाधिकार की लिहाज छोड़कर उचित दण्ड दिलाने का पक्षपाती जान पड़ता है। इसलिये इस आख्यान से पुराणों पर जितना दोषारोपण किया जा सकता है उससे कहीं अधिक वेदों पर भी आ पड़ेगा ! वैदिकता का स्वांग भरने वाले समाजी भाइयों को खूब सोच समझकर ऐसे आक्षेप करने चाहियें।

कदाचित् जिज्ञासा भाव से कोई सज्जन यह पूछना चाहें कि—निस्सन्देह दयानन्दी समाज को केवल पुराणों पर आक्षेप करने का

कुछ भी अधिकार नहीं है क्योंकि वेदों और पुराणों दोनों में ही यह कथा समान रूप से वर्णित है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से देवराज इन्द्र का यह अकार्य निन्दनीय अवश्य है.—इसका क्या उत्तर है? हम अपने जिज्ञासु महोदय को बतलाएंगे कि सुनिये—

प्रथम तो इन्द्र, देवयोनि का महापुरुष है। वेदादि शास्त्रों में देवयोनि को 'भोगयोनि' माना है, जैसा कि हम 'वेद-पुराण-समन्वयाध्याय' के देवतावाद प्रघट्ट में सप्रमाण एवं सयौक्तिक सिद्ध कर आए हैं। तदनुसार धर्म-शास्त्र सम्बन्धी 'परस्त्रीगमन' रूप निषेध स्थूलशरीरधारी मनुष्य जाति तक ही सीमित रहेगा। भोगयोनि होने की हैसियत से सूक्ष्मशरीर-धारी इन्द्रादि देव इन नियमों में आबद्ध नहीं हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त इन्द्र ने केवल कामवासना की पूर्ति के लिये यह अकार्य नहीं किया है बल्कि गोत्तम की उग्र तपश्चर्या से समस्त देव भयभीत थे, यह खड़तल महर्षि अपने उग्र स्वभाव के कारण प्रख्यात हो चुका था। उस दिन जनस्थान के रहने वाले अतिथिभूत कुछ एक मुनियों से बिगड़ कर आपने हरे भरे 'दण्डकारण्य' नामक वन को अनावृष्टि का शाप देकर उजाड़ बना दिया था,—यह परम प्रसिद्ध कथा प्रत्येक रामायणपाठी को प्रायः विदित है, अतः यहाँ विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। सो जब समस्त देवताओं ने गोत्तम जी को घोर तपश्चर्या करते देखा तो सहसा उन्हें खयाल हुआ कि—

'विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय'

—के अनुसार कदाचित् अब भी गोत्तम जी इस तपोबल के दुरुपयोग से संसार में कोई न कोई नया अप्रिय काण्ड खड़ा करेंगे! अतः समस्त ससार के कल्याण के लिए समय से पूर्व ही किसी भाँति इनके तपोबल का अपव्यय करा देना चाहिए, जिससे 'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी'—वाली कहावत के अनुसार तपोबल के न रहने से यह किसी का कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे?

देवसमाज का यह विचार गोत्तम जी के लिये अच्छा न हो परन्तु दण्डक जैसे लहलहीलतिकाभिलक्षित, शस्य-श्यामल प्रदेश को आन की आन में वियाबान बना देने वाले अक्खड़ व्यक्ति के हाथ में तपोबलरूप दुधारा खड्ग आता देखकर किस सर्व-हित-चिन्तक महानुभाव के हृदय में भावी अनर्थ की सम्भावना से व्यथा न होगी—यह भी तो एक विचारणीय समस्या है। आस्तां तावत् ! देववृन्द ने गोत्तम जी के तप को भंग करने की ठान ली, परन्तु यह काम सहल न था। 'बिल्ली के म्याऊं का ठौर' पकड़ने के बराबर कठिन समस्या थी। अप्सरायें जबाब दे बैठीं, कहा कि गोत्तम जी के घर पर हम से भी सुन्दर पतिव्रता धर्मपत्नी विद्यमान है तब वे हमारे हाव भावों के फन्दे में क्यों फँसने लगे ! कामदेव ने भी कान छू कर 'शान्तं पापम्' कहते हुये कोरा जबाब दिया कि वहां तो "ई जनाब" की भी दाल गलती मुश्किल जान पड़ती है। देवसभा में सन्नाटा छा गया, गोत्तम के उग्र स्वभाव का ध्यान करते हुये कोई भी देवता उनके तपोभङ्ग कर सकने की हिम्मत न दिखा सका। विवश होकर स्वयं देवराज को यह काम अपने हाथ में लेना पड़ा। सोचा कि—तपोभङ्ग के हेतुभूत-काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्व्यसनों में से—क्रोध को छोड़ कर और कोई दूसरा शस्त्र गोत्तम जी पर अचूक निशाना न लगा सकेगा, अत, येन केन प्रकारेण गोत्तम जी को क्रुद्ध कर देना चाहिये ! बस फिर काम विजय है।

'मनोविज्ञानवेत्ता खूब जानते हैं कि मनुष्य के हृदय में अन्य कई प्रकार के कारणों से भी क्रोध का आवेश हो सकता है, परन्तु जितना जल्दी और जितना भयंकर क्रोध अपनी स्त्री के धर्षण को प्रत्यक्ष देख कर तत्काल एवं दूध के उफान की भांति आपे से बाहिर कर देने वाला—देखने में आता है उतना अन्य किसी कारण से सम्भव नहीं। यही जान कर इन्द्र ने क्रोधोत्पादन के अचूक उपाय, स्त्री-धर्षण को ही अपना अमोघ अस्त्र बनाया।

अवसर पाकर वह गोत्तम के घर पहुँचे। ऋषि की अनुपस्थिति में— किन्तु जब कि उनका घर पहुंचने का समय निकट था,—अहल्या के घर्षण का अभिनय रचा। ऋषि तत्काल आ पहुंचे 'आकारैरिङ्गितैर्गत्या'— इस दुराचारपूर्ण काण्ड को देखते ही आग बगूला हो गए इन्द्र को 'सहस्रभग' हो जाने का, और अहल्या को पत्थर की शिला बन जाने का शाप दे डाला। इन्द्र अपने कर्तव्य-पालन में कृतकार्य हुवे. अर्थात् गोत्तम ऋषि का चिरसंचित तपोबल—जिससे कि देवसमाज भयभीत हो रहा था, इस शाप के बहाने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। दूसरे शब्दों में एक खतरनाक व्यक्ति के हाथ से थामे हुये सर्वांतकारी खड्ग को सर्वहित-चिन्तक, परोपकारी ने धैर्यपूर्वक अपने सिर पर गिरवाकर उसे सदा के लिए कुण्ठित बना डाला। इस तरह गोत्ताम के तपोबल से त्रस्त हुये अनेक देवताओं का त्राण हुआ, यही इन्द्रकृत अहल्याघर्षण का अभिप्राय है।

'इन्द्र ने विषय-भोग की लालसा से नहीं, बल्कि गोत्ताम जी की तपश्चर्या से भयभीत हुवे देववृन्द की संरक्षा के लिए ही अहल्या-घर्षण का अभिनय किया था'—हमारे उपर्युक्त अभिप्राय को डङ्के की चोट घोषित करने वाले नीचे लिखे प्रमाण दर्शनीय हैं, यथा—

(क) अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोगमान्।
अब्रवीत्त्रस्तनयनः सिद्धगन्धर्वचारणान् ॥१॥
कुर्वता तपसो विघ्नं गोतमस्य महात्मनः।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्य्यमिदं कृतम् ॥२॥
अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात्सा च निराकृता।
शापमोक्षेण महता तपोस्यापहृतं मया ॥३॥

तन्मां सुरवरास्सर्वे ऋषिसंघाः सचारणाः ।
सुरकार्य्य-करं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ ॥४॥
शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥५॥
अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः ।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥६॥
अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ।
उत्पाट्य मेष-वृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ॥८॥
इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव ! ।
गौत्तमस्य प्रभावेण तपसा च महात्मनः ॥१०॥

(वाल्मीकीय रामायण बालसर्ग ४९)

(ख) तदा गौत्तमशापेन भगाङ्गश्च बभूव सः ॥८॥
रवेर्वरेण शक्रः स सहस्राक्षो बभूव ह ॥१०॥

(ब्रह्मवैवर्त कृ० ज० खं० अध्याय ६१)

अर्थात्—(क) [गौत्तम के शाप से] वृषणरहित* हुये इन्द्र ने अग्नि आदि सब देवताओं को और सिद्ध गन्धर्व चारणों को भयविह्वल होकर कहा ॥१॥ [कि—] महात्मा गौत्तम के तप को भङ्ग करते हुये मैंने उनके हृदय में क्रोध को जगा कर समस्त देवताओं का काम बना

---

* टिप्पणी—पुराणों में सहस्रभग हो जाने का उल्लेख और 'वाल्मीकिरामायण' में वृषणरहित हो जाना लिखा है। 'अध्यात्म रामायण' (बालसर्ग ४ टिप्पणी) में इस विरोध का कल्पान्तर व्यवस्था से परिहार किया है।

दिया है ।।२।। क्रुद्ध होकर गोत्तम जी ने मुझे वृषणरहित बना दिया, और अपनी स्त्री को भी [पाषाण-शिला बना कर] निराकृत किया । पश्चात् बड़ा भारी शापानुग्रह करवा कर भी मैंने [दोनों प्रकार से] उनके तपोबल का अपहरण किया है।।३।। इसलिए अब आप सब देव ऋषि चारण आदि महानुभाव देव-कार्य करने वाले मुझ को किसी प्रकार पुनः वृष सहित बनावें ।।४।। तब शतक्रतु इन्द्र के ऐसे वचन सुन अग्नि आदि देवता मरुद्गण सहित पितृ-देवताओं के पास जा कर कहने लगे [कि] ।।५।। देवराज वृषणरहित हो गये, परतु यह मेष (मेंढा) वृषण वाला है इसलिए आप इस मेंढे के वृषण लेकर शीघ्र ही इन्द्र के अङ्ग में जोड़ दीजिये ।।६।। अग्निदेव की आज्ञा को सुनकर पितृदेवताओं ने इकट्ठे होकर मैंढे के अण्डकोश निकाल कर इन्द्र के देह में जोड़ दिये ।।८।। (विश्वामित्र जी कहते हैं कि) हे राम ! उस दिन से महात्मा गोत्तम जी के प्रभाव एवं तपोबल से इन्द्रदेव मेंढे के वृषणों वाले हो गये ।।१०।। (ख) गोत्तमजी के शाप से इन्द्र के शरीर में सहस्रों भग हो गई थीं । परन्तु पश्चात् सूर्य भगवान् के वरदान से वे भगचिह्न नेत्रों के रूप में परिवर्तित हो गये—अतः इन्द्र को 'सहस्राक्ष' कहते हैं ।।१०।।

उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा स्पष्ट है कि इन्द्र ने देव-कार्य-सम्पादनार्थ ही अहल्या का धर्षण किया था, इसी लिये पीछे सब देवताओं ने इन्द्र को सवृषण बनाने में, किंवा कल्पान्तर में सहस्र भगधारी के बजाय 'सहस्राक्ष' करने में जी तोड़ कर प्रयत्न किया था । अन्यथा देवताओं की भरी पञ्चायत में बार २—'सुरकार्यं मया कृतम्' 'सुरकार्यकरं' इत्यादि इन्द्रदेव के निहोरे क्या माने रखते थे ?—सो सुरम्य-दण्डक वन को उजाड़ बना देने वाले गोत्तम जी के राष्ट्र-विघातक तपोबल को अपहरण करने के लिए—समस्त देवताओं की सलाह से किया हुआ

अहल्या-धर्षणरूप अकार्य राष्ट्रभक्तों की दृष्टि में किसी प्रकार भी अपराध नहीं हो सकता : क्योंकि इससे जहाँ एक स्त्री के धर्षण का पाप (जो कि अहल्या को ब्रह्मा की मानसी पुत्री और इन्द्र को दिव्य-देहधारी मानने की दशा में 'अमैथुनी-सृष्टि विषयक' होने के कारण शास्त्रदृष्टि से पाप ठहरता भी नहीं)—होता होगा, वहां अनन्त प्राणियों की आशङ्कित आपत्ति का परिहार हो जाने के कारण महान् पुण्य भी तो होता ही होगा ! अतः 'अनेकान्त-वाद' सिद्धांत के अनुसार इन्द्र का यह कर्तव्य किसी प्रकार भी दोषास्पद नहीं माना जा सकता, जैसा कि भगवद्गीता में भगवान् ने आदेश दिया है—

स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

(भगवद्गीता २ । ४०)

अर्थात्—निष्काम दृष्टि से किया हुवा थोड़ा सा भी कर्म्म बड़े भारी भय से बचा देता है। सो इन्द्रदेव ने भी यह सब कार्य समस्त देवताओं की आज्ञा से अपना कर्तव्य समझ कर किया था। इसमें उनका निजी कुछ भी स्वार्थ न था बल्कि सब की आपत्ति अपने ऊपर उठाकर उपकार करना उनका ध्येय था। यही कारण है कि इस परोपकार का अन्तिम परिणाम भी इन्द्रदेव के लिये महा-वरदान सिद्ध हुवा जो 'सहस्राक्ष' रूप में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है।

विश्वरूप वध से ब्रह्महत्या

२६

इन्द्रदेव के ऊपर दूसरा आक्षेप यह किया जाया करता है कि उन्होंने विश्वरूप नामक एक ब्राह्मण को जब कि वह यज्ञ में पुरोहित का काम कर रहा था--मार डाला, अतः वे ब्रह्म-हत्यारे हुवे। इन्द्रदेव का यह कर्म अत्यन्त धर्म्म-

विरुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पुराणों में जिस विश्वरूप का इस तरह मारा जाना अङ्कित है, उसका रूप भी बड़ा ही विचित्र लिखा है, यथा—उसके तीन मुख थे, एक से वह सुरा (शराब) पीता था दूसरे से सोम (याज्ञिक रस) पीया करता था, एवं तीसरे से अन्न खाया करता था। इस तरह यह आख्यान धर्म्म-विरुद्धता एवं असंभवतासे परिपूर्ण है। हम क्रमागत शैली के अनुसार सर्वप्रथम इसका वैदिक-स्वरूप प्रकट करते हैं।

वैदिक स्वरूप

(क) त्वष्टुर्ह वै पुत्रः। त्रिशीर्षा षडक्ष आस। तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेव ँ रूपरास, तस्माद् विश्वरूपो नाम। तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास सुरापाणमेकमन्नस्याऽशनायैकं, तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद। यत्सोमपानमास ततः कपिञ्जलः समभवत्, अथ यत्सुरापाणमास, ततः कलविङ्कः समभवत्, अथ यदन्नस्याऽशनायास ततस्तित्तरिः समभवद्। (शतपथ १।६।३।२-५)

(ख) स (इन्द्र) यत्र त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं विश्वरूपं जघान

(शतपथ १।२।३।२)

(ग) इन्द्रो वै त्रिशिरसं त्वाष्ट्रमहन्।

(ताण्ड्य १७। ५। १)

अर्थात्—(क) त्वष्टा का पुत्र तीन सिर और छः आँखों वाला था, उसके मुख भी तीन थे। क्योंकि वह इस प्रकार अद्भुत रूप वाला था इसी लिए उसका (अन्वर्थ) 'विश्वरूप' ऐसा नाम पड़ गया था

उसका एक मुख सोम (=याज्ञिक रस) पीने के लिये, दूसरा सुरा (=शराब) पीने के लिये और तीसरा अन्न खाने के लिये काम आता था। उस विश्वरूप से इन्द्र द्वेष रखता था, अतः इन्द्र ने उसके वह तीनों शिर काट डाले। जो सोम पीने वाला मुख था, वह 'कपिञ्जल' नामक पक्षी हुवा। जो सुरा पीने का वाला था वह 'कलविङ्क' नामक पक्षी हुवा और जो अन्न खाने वाला था वह 'तित्तिर' हो गया। (ख) उस इन्द्र ने त्वष्टा के बेटे, तीन सिर वाले विश्वरूप को मार डाला। (ग) इन्द्र ने तीन सिर वाले त्वष्टापुत्र को मार डाला।

पौराणिक-स्वरूप

(क) त्वष्टुर्दैत्यानुजा भार्य्या रचना नाम कन्यका।
सन्निवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्य्यवान् ॥४४॥
तं वव्रिरे सुरगणा दौहित्रं द्विषतामपि ॥४५॥
(श्रीमद्भागवत ६। ६)

(ख) तस्यासन्विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत!
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुमः ॥१॥
स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः।
अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप! ॥२॥
स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति।
यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥३॥
तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्रुषा ॥४॥

सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत्कपिञ्जलः ।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत्स तित्तिरिः ॥५॥
ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ॥६॥
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥७॥

अर्थात्—(क) दैत्यों की बहिन रचना नामक कन्या त्वष्टा की स्त्री हुई । उन दोनों से सन्निवेश और विश्वरूप नामक वीर्यवान् पुत्र पैदा हुवे ॥४॥ यद्यपि विश्वरूप शत्रुभूत असुरों का दौहित्र था तथापि देवताओं ने उसको अपने यज्ञ में आचार्य रूप से वरण किया ॥ ४५ ॥ (ख) हे राजन् ! उस विश्वरूप के तीन शिर थे, एक सोम पीने वाला, दूसरा सुरा पीने वाला और तीसरा अन्न खाने वाला— ऐसा हमने सुना है ॥ १ ॥ यज्ञ के समय इस विश्वरूप ने उन बर्हिषद् देवताओं को खूब ऊंचे स्वर से बोलकर प्रत्यक्ष रूप से भाग दिया—जिनके कि आश्रय में पितृदेव रहते हैं ॥ २ ॥ परन्तु यज्ञ करते समय विश्वरूप छुपकर असुरों को भाग देने लगा क्योंकि माता के स्नेह से अपने मातृकुल का भी इसे पक्ष रहा ॥ ३ ॥ इन्द्र इसकी इस देवघातिनी धर्म्मविरुद्ध चेष्टा को देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और [भावी अनर्थ की संभावना से] भयभीत होकर तत्काल इसके तीनों मस्तक काट डालें ॥ ४ ॥ उसका जो सोम पीने वाला मुख था कपिंजल बना, सुरा पीने वाला कलविङ्क, और अन्न खाने वाला तित्तिर हुवा ॥ ५ ॥ यद्यपि इन्द्र में ब्रह्महत्या को न मानने का] सामर्थ्य था तथापि उन्होंने अञ्जलि बाँधकर स्वेच्छा से ब्रह्महत्या को स्वीकार किया । एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर वह पाप भूतशुद्धि के लिये ॥ ३ ॥ पृथ्वी, जल, वृक्षों और स्त्रियों में चार विभाग करके बाँट दिया ।

विवेचन

ऊपर उक्त आख्यान के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूप प्रकट कर दिये गये हैं, संस्कृत की साधारण-सी योग्यता रखने वाला पुरुष भी इन दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर सहज में ही इस परिणाम पर पहुँचेगा कि यह आख्यान वेदों और पुराणों दोनों में ही अक्षरश: समानरूपेण वर्णित है। हर दो जगह विश्वरूप और उसके पिता का नाम, तीन सिरों का होना, अमुक २ से सोम-सुरा-अन्न को ग्रहण करना एवं सिर कट जाने के बाद अमुक २ सिर से तत्तत् पक्षियों का उत्पन्न होना—समान शब्दों में ही वर्णित है। इसीलिये उक्त कथा की वैदिकता प्रकट करने के लिये इसके आरम्भ में ही 'इति शुश्रुमः' ऐसा उल्लेख कर दिया गया है, क्योंकि 'श्रवणात्' ही वेद का अपर नाम 'श्रुति' प्रसिद्ध है।

उक्त दोनों स्वरूपों में यदि कुछ अन्तर है तो केवल यह कि जहां वेद में किसी कारण विशेष को प्रकट किये बिना ही—'तमिन्द्रो दिद्वेष' अर्थात्—इन्द्र विश्वरूप से द्वेष करता था—ऐसा लिखकर अन्त में—विश्वरूपं जघान' कहते हुवे विश्वरूप का मार डालना लिख दिया है' वहां पुराण में कार्य्यकारण-पुरस्सर 'विश्वरूप का चोरी चोरी से दैत्यों को यज्ञ भाग दे डालना' रूप-अक्षम्य अपराध भी बताया है। कहना न होगा कि वैदिक-स्वरूप को पढ़कर हर एक समझदार के हृदय में जहाँ विश्वरूप के अपराध को जानने की उत्कण्ठा बनी रहती है और उसकी इस अकारण मृत्यु पर प्रत्येक सहृदय के हृदय में समवेदना का भाव उदित होता है वहां पुराणोक्त कारणावलि को पढ़ कर पाठक वर्ग का हृदय सब तरह से सन्तुष्ट हो जाता है, एवं विश्वरूप के विश्वासघात का हाल पढ़ कर तत्काल आबाल वृद्ध इन्द्र द्वारा दिये गये मृत्युदण्ड का समर्थन करने लगता है।

जब कि देवसमाज ने विश्वरूप को शत्रु पक्ष का सम्बन्धी जानते हुए भी विश्वासपूर्वक पौरोहित्य जैसे दायित्वपूर्ण पद पर अभिषिक्त कर दिया था, और वे सब उसे देवगुरु मानकर हर तरह से उस पर सर्वस्व न्योछावर करने को प्रस्तुत थे, तब यज्ञ समय में देवताओं का स्वत्व छीनकर चोरी २ से दैत्यों को दे डालना--महाविश्वासघात नहीं तो और क्या है ? ऐसी दशा में विश्वासघातपूर्वक देवसत्ता की जड़ खोखली करने वाले पापिष्ठ पुरुष को मार डालना किस आधार पर अधर्म्म कहा जा सकता है ? वेद में स्पष्ट लिखा है कि—

शत्रोर्मूर्धानं विश्वग्भिन्धि । (अथर्व ३ । ६ । ६)

अर्थात्—शत्रु के शिर को सब तरह से तोड़ डाल ।

इसी प्रकार स्मृतियों में भी 'आततायी' को तत्काल मार डालना लिखा है । सो विश्वरूप, विश्वास-घातपूर्वक देवताओं के जीवन-सर्वस्व हव्य का अपहरण करने वाला होने के कारण आततायी ही कहा जा सकता है । अतः इन्द्र का यह आचरण सर्वथा न्याययुक्त है । यही प्रथम आक्षेप का उत्तर है । इतने पर भी जो इन्द्र ने स्वेच्छा से 'ब्रह्महत्या' को स्वीकार किया है वह उसकी शिष्टता एवं मानव-मर्य्यादा-दक्षता का आदर्श है जो उसके देवराजपद के सर्वथा अनुकूल है ।

इसके अतिरिक्त शङ्कावादी महाशय ने जो इस आख्यान पर तीन सिर आदि के उल्लेख से असम्भवता का दोष लगाया है वह भी व्यर्थ है। क्योंकि केवल पुराणों में ही तीन सिरों का उल्लेख नहीं है किन्तु वेद में भी साफ शब्दों में इसे 'त्रिशीर्षा', 'षडक्षः' और 'त्रीणि एव मुखानि आसन्' कहते हुये तादृश बतलाया है, अतः जो समाधान वैदिक-स्वरूप का होगा वही पौराणिक का भी समझ लेना चाहिये ।

वास्तव में प्रकृति के नियन्त्रण से समय समय पर न्यूनाधिक अङ्गों वाले बालक सदा पैदा होते ही चले आये हैं । प्रतिवर्ष अब भी कहीं न

कहीं से ऐसे विलक्षण बच्चों की पैदायश के समाचार आते ही रहते हैं, परन्तु अब ऐसे बच्चे प्राय: अधिक समय तक जीवित नहीं रहते। वेदों और पुराणों में जिस जमाने में विश्वरूप का होना प्रकट किया है उसे गुजरे दो अर्ब वर्ष बीत चुके हैं, अत: क्या आश्चर्य है कि तब त्रिशिरा बालक विश्वरूप जीवित रह गया हो।"

वृत्र-वध से ब्रह्महत्या

२७

पुराणों में एक कथा इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के मारे जाने से सम्बन्ध रखने वाली है। हमारे मित्र इस को भी ब्रह्महत्या-पूर्ण होने के कारण धर्म्मविरुद्ध बताया करते हैं, साथ ही वृत्रासुर का भूमि से (द्यौ:) आकाशपर्यन्त समस्त अन्तरिक्ष में अभिव्याप्त होकर लम्बा चौड़ा पहाड़ जैसा रूप बनाना एवं मूर्तिमती ब्रह्महत्या का इन्द्र से चिपटना भी असम्भव कहा करते हैं। एतदर्थ हम यहां दोनों स्वरूपों को प्रकट करके पश्चात् इसका विवेचन करेंगे।

वैदिक-स्वरूप

(क) अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहि: शयत उपपृक् पृथिव्या: ॥५॥ (ऋग्वेद १। ३२। ५)

(ख) वृत्रो ह वा इद ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिद ँ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम। (शतपथ १। १। ३। ५)

(ग) तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः ।
(शतपथ ३ । ४ । ३ । १३)

(घ) इन्द्र ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । (शतपथ १।२।४।१)

(ङ) अथ (त्वष्टा) यदब्रवीदिन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्वेति तस्मा-
दुहैनमिन्द्र एव जघानाथ यद्ध शश्वदवक्ष्यदिन्द्रस्य
शत्रुर्वर्द्धस्वेति शश्वदुह स एवेन्द्रमहनिष्यत् ।
(शतपथ १ । ६ । ३ । १०)

(च) एष ह वै साक्षान्मृत्युर्यद् ब्रह्महत्या ।
(शतपथ १३ । ३ । ५ । ३)

(छ) अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः । द्व्यास्या
द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमवधूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥
(अथर्व ५ । १९ । ७)

(ज) तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन
यजते । (शतपथ १३ । ३ । १ । १)

(झ) इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत जघान
नवतीर्नव । (अथर्व २०।४१।१)

अर्थात्—(क) इन्द्र ने मृत्यु के महान् साधनभूत वज्र से अत्यन्त प्रवृद्ध वृत्रासुर को मार कर कन्धों से रहित कर दिया। वज्र से कटे हुये वृत्रासुर के अङ्ग वृक्षों के टहनों के भाँति (गिरे) (इसतरह) अहि = पाँवों के कट जाने पर वह असुर पृथ्वी पर (सदा के लिये) सो गया। (ख) वृत्रासुर इस समस्त भूमण्डल को घेर कर सो गया,

क्योंकि उसने द्यौ से पृथ्वी तक का सब प्रदेश ढक दिया था इसलिये उसे 'वृत्र' कहते हैं । (ग) यह जो पर्वत और पत्थर हैं, यह सब वृत्र का शरीर हैं (घ) इन्द्र ने वृत्र पर वज्र का प्रहार किया (ङ) [वृत्र के पिता] त्वष्टा ने जो बार २ 'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व' ऐसा (आद्युदात्त) बोला तो (स्वर-व्यत्यय के पाप से) इन्द्र ने ही वृत्र को मार डाला । यदि 'इन्द्रस्य शत्रुर्वर्द्धस्व'—ऐसा (अन्तोदात्त) निरन्तर कहा जाता तो वह वृत्र ही इन्द्र को मार डालता । (च) ब्रह्महत्या साक्षात् मृत्यु है । (छ) (वह ब्रह्महत्या) आठ पाँव, चार आंख, चार कान, चार ठोड़ी, दो मुख और दो जीभ वाला रूप बना कर ब्रह्मज्य = ब्रह्महत्यारे के राष्ट्र को विनष्ट कर डालती है । (ज) वह सब पापों से छूट जाता है, और ब्रह्महत्या से भी उन्मुक्त हो जाता है जो कि अश्वमेध द्वारा यजन करता है । (झ) इन्द्र ने दधीचि ऋषि की हड्डियों से (वज्र बना कर) नन्यानवें वृत्रासुरों को मार डाला ।

पौराणिक स्वरूप

(क) येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥
[(श्रीमद्भागवत ६ । ९ । १२)

(ख) चिच्छेद युगपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ।
दोर्भ्यामुत्कृत्य मूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ॥२६॥]
कृत्वाऽधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।
नभोगभीरवक्त्रेण लेलिहोल्वणजिह्वया ॥२७॥

भित्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद् विभुः ।
उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥३२॥
(श्रीमद्भागवत ६ । १२)

(ग) ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम् ॥१०॥
तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् ।
जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥१२॥
अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥१९॥
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप ! ।
नीतस्तेनैव शून्याया नीहार इव भानुना ॥२०॥
(श्रीमद्भागवत ६ । १३)

अर्थात्—(क) जिस अन्धकारमूर्ति त्वष्टा के पुत्र ने इन सब लोकों को ढांप लिया था वही परम दारुण पापी वृत्र नाम वाला असुर था। (ख) इन्द्र ने शतपर्व वज्र से वृत्र की दोनों भुजाएं काट डालीं। उस समय भुजाओं के कट जाने पर रुधिर से लथ पथ हुवा वृत्र अद्भुत दीख पड़ता था। ॥२६॥ तब उसने नीचे के जबड़े को भूमि पर रखकर ऊपर के जबड़े को आकाश तक फैला लिया, और अपनी भीषण जीभ के साथ आकाश के समान गहरे मुख में सब कुछ निगलने लगा ॥२७॥ इन्द्र वज्र के साथ उसकी कोख फाड़ कर बाहिर निकल आया, तथा बलपूर्वक शत्रु के मस्तक को काट कर पर्वत के शिखर की तरह भूमि पर गिरा दिया ॥३२॥ (ग) वृत्र के मरने पर ब्रह्महत्या इन्द्र के निकट पहुँची ॥१०॥ इन्द्र ने देखा कि वह जराजीर्ण कलेवर वाली, तपेदिक के मरीज की तरह अस्थिपञ्जरावशिष्ट एवं रुधिर भरे वस्त्र ओढ़े चाण्डाली की भांति पीछे २ दौड़ती आ रही है ॥१२॥ अनन्तर ब्रह्मवादियों द्वारा इन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया ॥१९॥

जिसके पुण्य से त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर के वध का महान् पाप विनष्ट हो गया जैसा कि सूर्य से धुन्ध के बादल छाई माई हो जाया करते हैं ।२०॥

वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवेचन

ऊपर 'इन्द्र वृत्रासुर' आख्यायिका के वैदिक और पौराणिक दोनों स्वरूप प्रकट कर दिये गये हैं। साक्षरवर्ग सहज में ही उक्त दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर अनुमान कर सकेगा कि श्री वेदव्यास जी ने कितनी उत्तमता के साथ वेदमन्त्रों का लौकिक अनुवाद करके वैदिक ज्ञान के भण्डार को सर्वसाधारणोपयोगी बना डाला है। उक्त कथा के 'वैदिक स्वरूप' में वृत्रासुर का विस्तृत शरीर, इन्द्र के साथ लोमहर्षकयुद्ध, त्वष्टा का शत्रुजय यज्ञ करना, दधीचि की अस्थि से निर्माण किये वज्र द्वारा वृत्र का मरना, मूर्तिमती ब्रह्महत्या का इन्द्र को आ घेरना एवं अन्त में अश्वमेध यज्ञ के प्रभाव से विशुद्ध होना आदि समस्त भाव किस खूबी के साथ अङ्कित किये गये हैं कि वे देखते ही बनते हैं।

यास्क की सम्मति

'यह वृत्रासुर कौन है ?'—इस प्रश्न को लेकर वेदों के मर्मज्ञ श्री यास्काचार्य ने अपने प्रसिद्ध 'निरुक्त' ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है—

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभाव-कर्म्मणो वर्षकर्म्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णना।

(निरुक्त २। २)

अर्थात्—(प्रश्न—) [वेद में जिसका वर्णन आता है] वह वृत्र

कौन है ? (उत्तर) निरुक्त पक्ष वाले 'मेघ' को वृत्र मानते हैं, और ऐतिहासिक लोग त्वष्टा के बेटे 'एक असुर' को वृत्र कहते हैं। जलों और [वैद्युत] ज्योति: के विमिश्रण से वृष्टि होती है, इसी को रूपकालङ्कार द्वारा इन्द्र और वृत्रासुर का युद्ध वर्णन किया जाता है।

स्वा० दयानन्द का वाक् छल

आर्यसमाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी बनाई ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में वेदादि शास्त्रों का अपलाप करते हुये उक्त आख्यायिका को केवल रूपक मानकर ऐतिहासिक पक्ष को सर्वथा उड़ाने की चेष्टा की है, परन्तु जब स्वयं वेद में ही वृत्र का वृत्तान्त देते हुए उसको स्पष्ट शब्दों में ऐतिहासिक व्यक्ति प्रकट किया है और यास्काचार्य जैसे विज्ञानवादी ने भी वैज्ञानिक अर्थ से साथ २ ऐतिहासिक पक्षाभिमत अर्थ को भी बराबर माना है, तब स्वामी दयानन्द को ऐतिहासिक पक्ष के खण्डन करने का क्या अधिकार है ? यह हो सकता है कि वह वृत्र को मेघ मानते रहें—परन्तु 'वृत्र' नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति कभी हुआ ही न हो'—ऐसा कहने का उन्हें कुछ भी अधिकार नहीं है। इसलिये स्वामी साहिब का नीचे लिखा लेख सच्छास्त्रों का अपलाप, एवं दुराग्रह-जन्य प्रलाप ही समझना चाहिए, आप लिखते हैं कि—

"इन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद् भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः।······ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपितः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्वि-

द्भिर्मन्तव्यम् । कुतः । एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात् ।

अर्थात्—(दयानन्दकृत भाषानुवाद) त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने राजा इन्द्र को निगल लिया, तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये ।—यह पागलों की सी बनाई हुई पुराण कथा सब मिथ्या है, श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें ।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३०२)

ऊपर हम ने जो विवेचन किया है उसका सार यह है कि इस वेदोक्त कथा का जहाँ 'वर्षा विज्ञान' से सम्बन्ध है वहां वैयक्तिक इतिहास के साथ भी इसका पूरा २ सम्बन्ध है । अनादिकाल से मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग इस कथानक की उपर्युक्त दोनों प्रकार से व्याख्या करते आये हैं, जो दोनों ही यथार्थ हैं । जिज्ञासु जन अपनी रुचि के अनुसार इनमें से किसी भी एक को पसन्द कर सकता है । परन्तु अन्यतम को झुठलाने का किसी भी समालोचक को कुछ अधिकार नहीं है ।

हत्या और प्रायश्चित्त

वृत्रासुर अत्यन्त पापिष्ठ दैत्य था, वह दैवी सम्पत्ति का अपहरण करके उसको असुरों के उपभोग में लगा रहा था । जब वह त्रिशूल उठाकर लोकत्रय को हड़प करने के लिये उद्यत हो गया तो समस्त देवताओं की रक्षा के लिये विष्णु भगवान् की सम्मति से देवराज इन्द्र ने उसको मार डाला । सो इन्द्रदेव का यह कार्य किसी दृष्टि से अधर्म नहीं कहा जा सकता । यद्यपि 'भोगयोनि' एवं दिव्य शरीरी होने के कारण इन्द्र को किसी प्रकार की भी हत्या का पाप नहीं लग सकता जैसा कि हम विश्वरूप आख्यान के प्रसङ्ग में पीछे लिख आये हैं, तथापि इन्द्रदेव मनुष्यों द्वारा किये जाने वाले समस्त यज्ञों के मुख्य देवता हैं, अतः उन्हें मानव मर्यादा की भी भली प्रकार रक्षा करनी अभीष्ट थी इसलिये "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"—सिद्धान्त के अनुसार

उन्होंने स्वयं भी अश्वमेध यज्ञ द्वारा उक्त हत्या का प्रायश्चित्त किया। धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि किसी भी पाप का यथावत् प्रायश्चित्त कर देने के बाद प्रायश्चित्ती प्राणी सर्वथा विशुद्ध हो जाता है। तदनुसार इन्द्रदेव पर भी किसी प्रकार का आक्षेप शेष नहीं रहता। अतः देवराज इन्द्र का यह कार्य सर्वथा धर्मसंगत है।

इसके अतिरिक्त मूर्तिमत्ती ब्रह्म-हत्या का उल्लेख भी केवल पुराणों में ही नहीं है, वह तो वेदों में भी तथैव अङ्कित है। पुराण ने जहां उसे बूढ़ी चाण्डालिनी से उपमित किया है, वहाँ वेदों में तो सर्वथा लोकोत्तर (= आठ पांव, चार आँख आदि २ बताकर) शैतान का चर्खा ही बना छोड़ा है। अतः आप जो समाधान वैदिक-स्वरूप का कीजियेगा वही पौराणिक का भी समझ लीजियेगा।

भ्रूण-हत्या का उद्योग

२८

इन्द्र के चरित्र पर एक यह भी आक्षेप किया जाया करता है कि—"उसने दिति के पेट में घुस कर वज्र द्वारा उसके गर्भ को विदीर्ण कर डाला, परन्तु उनश्चास टुकड़े कर डालने पर भी वह जीवित ही रहा। अन्त में दिति से एक के बजाय ४९ जीवित बच्चे पैदा हुये, जो 'मरुत्' नामक देवता कहे जाते हैं। यह चरित्र गर्भपातन रूप अधर्म से परिपूर्ण, एवं सृष्टिनियम के प्रतिकूल किसी के पेट में घुस जाना आदि असम्भव बातों का भण्डार है।" हम क्रमागत शैली के अनुसार इसका विवेचन करते हैं।

वैदिक स्वरूप

(क) इन्द्र उ वै वातापिः स हि वातमाप्त्वा शरीराण्यहृन्प्रतिप्रैति। (कौषीतकी २७।४)

(ख) [इन्द्रः] विश्वरूपं त्वाष्ट्रमभ्यमंस्त, वृत्रमस्तृत यतीन् सालावृकेभ्यः प्रादाद् मरुन्मुखानवधीत् ।

(ऐतरेय ७ । २८)

(ग) इन्द्र उवाच दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान्, पृथिव्यां कालकाञ्जांस्तस्य मे तत्र. न लोम च नामीयत, स यो मां [इन्द्रं] वेद न ह वै तस्य केनचन कर्म्मणा लोमो मीयते न स्तेयेन, न भ्रूणहत्यया, न मातृवधेन, न पितृवधेन, नास्य पापं च कृवोमुखान्नीलं वेत्तीति ।

(कौषीतकी शं० नं भाष्य ३ । १)

(घ) सप्त सप्त हि मरुतां गणाः । (शतपथ ६ । ३ । १२५)

(ङ) मरुतोऽद्भिरग्निमतनयन् । तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन् साऽशनिरभवत् । (तैत्ति० १।१।३।३।१२)

(च) अथैष मरुत्स्तोम एतेन वै मरुतोऽपरिमिता पुष्टिमपुष्यन् । (ताण्ड्य १६ । १४ । १)

(छ) अथैनं [इन्द्रं] ऊर्ध्वायां दिशि मरुतश्चांगिरसश्च देवा···अभ्यषिचन् । (ऐतरेय ८ । १४)

अर्थात्—(क) [तब से] इन्द्र का नाम वातापि पड़ गया, क्योंकि वह वायु में व्याप्त हो कर शरीर [दिति के पेट] में प्रविष्ट हुआ

(ख) इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला, वृत्रासुर का हनन किया, यतियों को सालावृकों के लिये दे डाला, और मरुत् आदि की [गर्भ में काट कर] हिंसा की। (ग) इन्द्र बोला—मैंने द्युलोक में प्रह्लाद वंशज दैत्यों को अन्तरिक्ष, में पुलोमा के वंशधरों को और पृथ्वी पर कालकाञ्ज नामक असुरों को मार डाला। इस [हिंसा] कार्य में (देवसत्तारक्षणरूप पुण्य कर्म के कारण) मेरा रोम भी नहीं उखड़ा, सो जो पुरुष मेरे (इस धर्मरक्षार्थ किये गये कर्तव्य-पालन) को जानेगा सो उसका भी किसी प्रकार के कर्म से (इसप्रकार के आचरण से) लोक नष्ट न होगा (लोक और परलोक न बिगड़ेगा) अमुक २ परिस्थितियों में देवसत्ता की रक्षा के लिए की गई चोरी, भ्रूण-हत्या, मातृ-हत्या और पितृ-हत्या आदि के पाप से उसका मुख काला न होगा। (घ) सात से गुणित सात ७ × ७ = ४९ मरुद्गण हैं। (ङ) मरुतों ने जलों से अग्नि को विस्तृत किया और उस विस्तृत हुई अग्नि के हृदय को छेदन कर डाला, वह अशनि = वज्र = बिजली हुई। (च) यह सूक्त 'मरुत्स्तोम' कहलाता है इसी के प्रताप से (गर्भस्थ) मरुतों ने (बार २ काट डालने पर तथैव जीवित बने रहना रूप) अपरिमित पुष्टि को परिपुष्ट किया। (छ) तब ऊंची दिशा में मरुत् और आंगिरस देवताओं ने इन्द्र को अभिषिक्त किया।

पौराणिक स्वरूप

एकदा सा तु संध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता।
अस्पृष्टवार्य्यधौतांघ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥
लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः।
दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥

चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनक-प्रभम् ।
वदन्तं सप्तधैकैकं मारोदीरिति तान्पुनः ॥६२॥

ते समूचुः पाट्यमानाः सर्वे प्राञ्जलयो नृप !
नो जिघांससि किमिन्द्र ! भ्रातरो मरुतस्तव ॥६३॥

मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः ।
अनन्यभावात्पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ॥६४॥

सजूरिन्द्रेण पंचाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन् ।
व्यपोह्यो मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥६७॥

दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान् ।
इन्द्रेण सहितान्देवी पर्य्यतुष्यदनिन्दिता ॥६८॥

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम् ।
अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत्सुदुष्करम् ॥६९॥

एकः संकल्पितः पुत्रः सप्तसप्ताभवन्कथम् ?
यदि ते विदितं पुत्र ! सत्यं कथय मा मृषा ॥७०॥

इन्द्र उवाच

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्य्यागतोऽन्तिकम् ।
लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्म्मवित् ॥७१॥

कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन्सप्त कुमारकाः ।
तेऽपि चैकैकशो वृक्णा सप्तधा नापि मम्रिरे ॥७२॥

तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि !
क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्ट्या गर्भोऽमृतोत्थितः ॥७६॥
इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया ।
मरुद्भिस्सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥७७॥

(श्रीमद्भागवत ६ । १८ ।—)

अर्थात—एक दिन वह (दिति) पुँसवन व्रत से दुबली होते हुए भी भावी की प्रबलता से सांझ के समय झूठे मुख पाँवों को न धोकर सोगई ॥६०॥ योगेश इन्द्र इस तरह व्रतभङ्ग से अवसर पाकर सोती हुई दिति के पेट में योगमाया द्वारा प्रविष्ट होगये ॥६१॥ सोने की तरह दमकते हुए गर्भ को वज्र से काट कर इन्द्र ने सात टुकड़े कर डाले । रोते हुवे उन सातों खंडों को 'मा रोदीः' ऐसे कहते हुवे फिर एक २ के सात खण्ड कर दिये ।।६२।। तब वे कटे हुवे खण्ड अंजलि बाँधकर इन्द्र से कहने लगे कि आप हमें क्यों मारते हैं हम तो आपके भाई हैं ॥६३॥ तब इन्द्र ने अपने अनन्य सेवक मरुद्गण से कहा कि अच्छा भ्राताओ ! अब आप मुझसे भयभीत मत हूजिये ॥६४॥ वे सब इन्द्र सहित उनंचास मरुद् देवता हुवे, जो भगवान् ने असुरभूत दिति माता के दोष को दूर करके अमृत पीने वाले देवताओं में मिला लिये ॥६५॥ जब दिति जगी तो वह अग्नि के समान तेजस्वी ४९ कुमारों को और इन्द्र को देखकर प्रसन्न हुई ॥६८॥ और इन्द्र से बोली कि हे पुत्र ! मैंने अदिति पुत्रों को भयभीत कर सकने वाला बेटा उत्पन्न करने के लिये यह कठिन पुंसवन व्रत किया था ॥६९॥ परन्तु मेरा तो एक पुत्र को उत्पन्न करने का संकल्प था ये ४९ कैसे हो गये ? हे तात ! यदि आपको यह बात विदित हो तो सत्य बतला दीजिये, झूठ की आवश्यकता नहीं ।७०॥ इन्द्र ने कहा—हे माता ! मैं तेरी (देवशत्रु पुत्र उत्पन्न करने की) अभिलाषा जानकर तुम्हारे निकट आया था । (व्रतभंग का) अवसर पाकर मैंने

धर्म्मभाव से नहीं बल्कि—स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर तुम्हारा वह गर्भ छेद डाला ॥७१॥ मैंने गर्भ के सात टुकड़े किये तो वे सातों बालको हो गए फिर मैंने उनमें से प्रत्येक के सात २ टुकड़ेकर डाले तथापि वे न मरे ॥७२॥ सो हे माता ! आप जैसी पूज्या को मुझ मूर्ख का किया हुआ यह अपराध क्षमा कर देना चाहिए क्योंकि प्रारब्ध से वह मारा हुआ गर्भ तथैव जीवित रहा है ॥७६॥ इस तरह इन्द्र के शुद्ध भाव से दिति संतुष्ट हुई और वह इन्द्र भी मरुद् देवताओं सहित आज्ञा पाकर दिति को प्रणाम करके स्वर्ग को चला गया ॥७७॥

वास्तविक भाव

वेद और पुराण दोनों में उक्त आख्यान समान रूप से वर्णित है, हर दो जगह इन्द्र का गर्भ छेदना सुस्पष्ट है, इसमें यदि कुछ अन्तर है तो केवल यह है कि पुराणकार ने जहाँ अन्त में इन्द्र द्वारा अपराध क्षमा याचना पूर्वक इस कार्य्य को दोषता से उन्मुक्त करने का आदर्श प्रकट किया है, वहाँ वेद (ग) में इन्द्र के मुख से अनेक व्यक्तियों के मार डालने की आत्मप्रशंसा प्रकट करवा कर अन्त में अन्यान्य वेदानु-यायियों को भी इन्द्र की तरह वैसा आचरण करने के लिये उकसाया गया है एवं स्पष्ट शब्दों में—चोरी, भ्रूण-हत्या और मातृ-पितृ-वध जैसे घोरतम पाप के कर डालने पर भी-'लोम च नामीयत' कहाते हुये अपने रोम [संभवत: लोक प्रसिद्ध अश्लील मुहावरे के अनुसार गुह्य स्थानस्थ केश] के न उखड़ सकने की शेखी भगारी गई है। ऐसी दशा में विज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि उक्त आख्यान के केवल 'पौराणिक-स्वरूप' पर आक्षेप करने वाले महाशय कितने अन्धेरे में हैं। यद्यपि इस आख्यान के समाधान का उत्तरदायित्व हम से अधिक वैदिकता का मिथ्या दम भरने वाले शङ्कावादी महाशयों पर ही है तथापि अन्यान्य

विधर्म्मियों की जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये इस पर भी दो शब्द लिखना अनावश्यक न होगा।

वास्तव में इस आख्यान में वर्षाकारक (Monsoon) वायु की वैज्ञानिक उत्पत्ति का उल्लेख किया है, तद्यथा—जिसके खण्ड (टुकड़े टुकड़े) न किये जा सकें-एवंभूत अन्तरिक्ष कक्षा ही 'अदिति' है, उससे उत्पन्न होने वाले अन्तरिक्षस्थानीय वायु को ही 'इन्द्र' कहते हैं। स्थूल परमाणुपुञ्जमय होने के कारण, खण्डन की जा सकने लायक पृथ्वी को ही 'दिति' कहते हैं। सृष्टि के उत्पत्तिकाल में यह पृथ्वी जाज्वल्यमान अग्निपिण्ड के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं थी, उस समय इस पर अत्युग्र उष्णता के कारण किसी भी प्राणी का जीवित रह सकना सर्वथा असम्भव था, परन्तु पृथ्वी की वह उष्णता जब धीरे २ शांत होने लगी, तब कभी एक मुद्दत के बाद पृथ्वी प्राणियों के रहने लायक बन सकी। श्री वेदव्यास जी ने पृथ्वी के इस परिवर्तन को 'पुंसवन-व्रत' के नाम से याद किया है। अर्थात्—'पुं = ' पुरुषों [उपलक्षण से प्राणिमात्र] के 'सवन' = प्रसव किम्वा उत्पत्ति को ही 'पुंसवन' कहते हैं। नियमपूर्वक प्राण्युत्पादन की क्षमता को प्राप्त करना ही 'व्रत' है तदनुसार जब यह पृथ्वीरूप = दिति, प्राणसम्पन्न सृष्टि के निवास योग्य बन जाना रूप = 'पुंसवन-व्रत' को कर रही थी उस समय इसके गर्भ में अपरिमित अग्निपुञ्ज विद्यमान था, जिसे पुराण में 'कनकप्रभम्' (६२) और 'अनलप्रभम्' (६८) आदि विशेषणों द्वारा अभिव्यक्त किया है। अस्तु, वह दिति 'विधि-मोहिता' = विधिविधान के तारतम्य से,—संध्या = युगारम्भ के अवसर में सो गई अत्यन्त नीरव दशा में अचेत सी हो गई। उस समय पृथ्वी पर जल का नामोनिशान तक न था, अतएव पुराण में उसे 'अस्पृष्टवार्य्य-धौतांघ्रिः' कहा है (६०)। दिति के गर्भ में जो अपरिमित अग्नि-पुञ्ज छुपा हुआ था—कदाचित् वह ज्वालामुखी के रूप में युगपदेव प्रस्फुटित हो जाता तो उससे एक बारगी तो आकाशस्थ सभी ग्रह नक्षत्रादि

देदीप्यमान देवगण विचलित हो जाते, यही 'आदित्यानां भयावहम्' (६६) विशेषण का तात्पर्य है । अन्तररिक्षस्थानीय वायु रूप = इन्द्र ने असंश्लिष्ट-आग्नेय परमाणु-पुञ्ज-भूत, पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश करके तदन्तर्गत ऊष्मा को छिन्न भिन्न कर डाला, परन्तु वह ऊष्मा वायव्य परमाणुओं से ऐसी तन्मय हुई कि उसका विश्लेषण करना सर्वथा असम्भव होगया । यही खण्डशः किये गये मरुतों का इन्द्र के गुट में मिल जाने का तात्पर्य्य है । वेद और पुराण में जिस पार्थिव ऊष्मा का वायु से संश्लिष्ट होना प्रकट किया है वही मरुद् विज्ञान-वादियों के निश्चयानुसार वर्षाकारक मानसून (Monsoon) वायु को ही वृष्टि-कारण मानते हैं, तथापि 'वह वायु कितने प्रकार का है' इस बारीकी तक मौजूदा सान्इस अभी तक नहीं पहुंच पाई । यह रहस्य तो कार्य्य-कारण-पुरस्सर वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध हो सकता है, आस्तां तावत् ।

पहिले यह समझ लेना चाहिए कि पृथ्वी में सात प्रकार के तैजस पदार्थ पाये जाते हैं, जैसे—सोना, रूपा, ताँबा, राँगा, सीसा जस्त और लोहा । लौकिक परिभाषा में इन्हें 'धातु' कहते हैं । 'यदण्डे तदेव पिण्डे' के अनुसार मानव शरीरों में भी रक्त, मेदः, मज्जा, माँस त्वक्, अस्थि और शुक्र यह सात धातुवें पाई जाती हैं इस तरह पृथिव्याश्रित तैजस पदार्थों की संख्या सात है, सृष्टि के आरम्भ में उक्त सातों पदार्थ पार्थक्यसीमा तक न पहुंच कर अविशेष तेजोमात्र कलल के रूप में लक्षित होते थे यही दिति रूप पृथ्वी के गर्भ में एकत्वसंख्यावच्छिन्न बालक के होने का तात्पर्य्य है । पश्चात् अन्तरिक्षस्थ वायु के तारतम्य से वह तैजस तत्तद् धातुवों के रूप में परिणत होगया । चूंकि मूल धातुवें सात हैं, यही अभिप्राय एक गर्भ के सात टुकड़े कर डालने का है ।

वर्तमान वैज्ञानिक भी भली भाँति जानते हैं कि सूर्य की सप्तविध रश्मियें हैं । अतएव धूप में कांच की गोली के संयोग से किम्वा जल

प्रपातों की उच्छाल से साथ तरह के विभिन्न रंग दीख पड़ा करते हैं। वेदादि शास्त्रों में भी सूर्य्य को 'सप्तरश्मि' नाम से याद किया है। सो सूर्य्य की वे सप्तविध रश्मियें भी पार्थिव ऊष्मा के आदान प्रत्यादान में अन्तरिक्षस्थ वायु का पूरा २ साथ देती हैं, अर्थात्—पूर्वोक्त सप्तविध धातुओं में से प्रत्येक के साथ इन सातों सूर्य्यरश्मियों का संघर्ष होता है। इस तरह वह पार्थिव ऊष्मा संश्लिष्ट वायु प्रत्येक धातु और तत्संबद्ध प्रत्येक रश्मि के भेद से (७×७=४९) उनंचास भेद वाला ठहरता है। यही गर्भ के सात खण्डों में प्रत्येक के सात सात टुकड़े बना देने का रहस्य है। इसप्रकार यह सपरिकर उनंचास प्रकार के मरुत् (Monsoon) अन्तरिक्षस्थ वायु रूप इन्द्र के साथ मिलकर वृष्टि करते हैं। यही इस आख्यान का भाव है। न यहाँ इन्द्र का कुछ विश्वासघात है न गर्भपात की कोई बात है, किन्तु वैज्ञानिक रहस्य न समझ सकने वाले महाशयों की कोरी खुराफात है।

ऐतिहासिक समन्वय

इन्द्र के इस कृत्य पर यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जावे तब भी कुछ उचित आक्षेप हो सकने की सम्भावना नहीं, क्योंकि दिति ने एक वर्ष पर्यन्त कठिन तपश्चर्य्या करके देववृन्द को जड़ से उखाड़ फेंकने वाला भयङ्कर पुत्र उत्पन्न करने की अभिलाषा की थी जैसा कि श्रीमद्भागवत (६ । १८ ।—) में लिखा है—

मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्य्यचिन्तयत् ॥२३॥
कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्वणम् ।
अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥२४॥

अर्थात्—[दिति] शोक से प्रदीप्त हुवे क्रोध में जलती हुई की तरह सोचने लगी कि वह दिन कब होगा जब कि मैं भाई का वध

करने वाले पापी इन्द्र को—जो कि मुझे हलाहल विष के समान दुर्जन दीख पड़ता है—एवं इस समय फूला नहीं समाता—मरवा कर आराम से सोऊंगी ।

यही क्यों ? जब कश्यप जी ने प्रसन्न होकर दिति से कहा कि—'वरं वरय वामोरु !'—तब भी वह अपने इस जघन्य उद्देश्य से न टली और कड़क कर बोली कि—'पुत्रमिन्द्रहणं वृणे' अर्थात्—मैं इन्द्र को मारने वाला पुत्र मांगती हूं । विज्ञ पाठक ही स्वयं सोच सकते हैं कि ऐसी दशा में आत्मरक्षा के लिये इन्द्र का क्या कर्तव्य हो सकता है ? कोई भी बुद्धिमान् दिति की पूर्वोक्त विघातक-भावना की विद्यमानता में इन्द्र के इस अकार्य्य की निन्दा नहीं कर सकता ! वर्तमान कानून भी आत्मरक्षा के लिये किए गए किसी अपराध को उतना दण्डनीय निर्धारित नहीं करता । अतः नैतिक दृष्टि से भी यहाँ कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता ।

रहा दिति के पेट में घुस जाने की असंभवता का प्रश्न—सो तो मूल में ही इन्द्र को 'योगमायया' कहते हुवे साफ कर दिया है । जब कि योगशास्त्रानुसार एक साधारण योगी भी 'परकाय-प्रवेश' कर सकता है, तब देवराज इन्द्र के विषय में आशङ्का का क्या काम ? इसी तरह गर्भ के ४९ टुकड़े किये जाने पर भी जीवित रहने की आशङ्का 'अमोघ-वीर्य्य' होने के विवेक से अपने आप समाहित हो जाती है । आगे इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखा जाएगा । यहाँ इन्हीं शब्दों के साथ यह आख्यान समाप्त है ।

चन्द्रमा और तारा

२९

श्रीमद्भागवत (९ । १४ ।—) में और देवी भागवत (१ । ११ । ६ । १०) में लिखा है कि 'चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की धर्मपत्नी तारा को हठात् छीन लिया ।

जब हजार बार माँगने पर भी नहीं दी तो इससे देव-दानव-युद्ध आरम्भ हो गया, अन्त में श्री ब्रह्मा जी ने बीच बचाव करके किसी तरह तारा वापिस दिलवाई। इसी अर्से में तारा से बुध नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुवा था, जो चन्द्रमा का अपत्य जानकर उसे ही दिया गया'। अश्लीलता की ऐनक लगाकर पुराण पढ़ने वाले महाशयों को इस आख्यान में भी अश्लीलता एवं धर्म्मविरुद्धता का उमढ़ा हुवा तोफान दीख पड़ा करता है, एतदर्थ इस पर भी विचार करना आवश्यक होगा।

वैदिक स्वरूप

(क) सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छद-हृणीयमानः। (अथर्व ५। १७। २)

(ख) यामाहुस्तारकैषा विकेशीनि। (अथर्व ५। १७। ४)

(ग) तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्। (अथर्व ५। १७। ५)

(घ) सौमायनो (=सोमपुत्रः) बुधः। (ताण्ड्य २४।१७।६)

अर्थात्—(क)सोम पहिला राजा हुवा, जिसने ब्राह्मण [= बृहस्पति] की धर्म्मपत्नी (घरमें रखकर) निर्लज्जतापूर्वक पुनः वापिस दी। (ख) जिस स्त्री को विवृद्धकेशों वाली 'तारका' ऐसा कहा जाता था। (ग) उस सोम द्वारा हठात् छीनी गई अपनी स्त्री को बृहस्पति ने प्राप्त किया। (घ) सोम=चन्द्रमा का पुत्र बुध हुआ।

पौराणिक-स्वरूप

उक्त आख्यान का 'पौराणिक-स्वरूप' तथा 'आधिभौतिक अर्थ' इसी

ग्रन्थ में पृष्ट २९६ से पृष्ट २९७ तक लिखा जा चुका है, पाठकों को वहाँ देखना चाहिये, यहाँ पिष्टपेषण करने की आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त मन्त्र ऋग्वेद (८। ६। ७।--) में इसी प्रकार आए हैं वहाँ सायणाचार्य्य ने अपने भाष्य में इनकी इतिहासपरक ही व्याख्या की है इन मन्त्रों में कितनी स्पष्टता के साथ यह आख्यान वर्णित है—यह कहने की आवश्यकता नहीं।

आध्यात्मिक अर्थ

स्वर्गीय श्री पं० कालूराम जी शास्त्री ने उक्त आख्यान का निम्नलिखित आध्यात्मिक भाव प्रकट किया है—

'यहां पर गुरु को बृहस्पति के नाम से याद किया गया है, और आल्हादयुक्त शिष्य को चन्द्रमा कहा है। गुरु विद्या में रमण करता है, इस विद्या को गुरुपत्नी लिखा है, वह साधारण नहीं है, वह तारा है, 'तारयति संसार-सागरात् या सा तारा—विद्या'--संसार सागर से जो पार उतारती है उस विद्या का नाम तारा है। शिष्य गुरु की विद्या को ग्रहण कर लेता है, उस विद्या से शिष्य के अन्तःकरण में ज्ञान पैदा होता है उस ज्ञान को यहाँ पर 'बुध' लिखा है। जब शिष्य को ज्ञान पैदा हो जाता है तब उसको विद्या की आवश्यकता नहीं रहती अतएव वह विद्या फिर गुरु के पास चली जाती है। यह चन्द्र तारा की कथा का आध्यात्मिक भाव है।

ऐतिहासिक समन्वय

हम शैलीवर्णनाध्याय में पुराण शैली की विशेषता का वर्णन करते हुवे यह कह आये हैं, कि पुराणों में बहुत से ऐसे संदर्भ पाये जाते हैं कि जिनमें ऐतिहासिक सामग्री के साथ साथ अनेक आध्यात्मिक एवं

वैज्ञानिक तत्त्वों को ऐसा विमिश्रित कर डाला है कि जिनका पृथक्करण किये बिना विशुद्ध-ऐतिहासिक तथ्यों को ढूंढ निकालना सर्वसाधारण का काम नहीं है, तदनुसार यह आख्यान भी एक सीमा तक मानव इतिहास से सम्बन्ध रखता है, परन्तु श्रीमद्भागवत निर्दिष्ट इस आख्यान के उपसंहारात्मक शब्दों पर गंभीर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तारा अपहरण वाली घटना तो खगोल विषयक 'बुध ग्रह' से ही संबन्ध रखती है--अर्थात्—इस घटना का मानव-इतिहास से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि—

समरस्तारकामयः । (श्रीमद्भागवत ९ । १४ । ७)

—आदि शब्दों से व्यक्त होता है । इसमें ऐतिहासिक तथ्य तो केवल एतावन्मात्र जान पड़ता है, कि ब्रह्मा के पौत्र चन्द्रदेव का बेटा 'बुध' हुवा था जो कि वर्तमान चन्द्रवंशी क्षत्रियों का आदिपुरुष कहा जा सकता है । हमारे विचार में उक्त आख्यान का इससे अधिक ऐतिहासिक मूल्य नहीं आँका जा सकता ।

बृहस्पति और ममता

३० पुराणों पर एक यह भी आक्षेप किया जाया करता है कि उन में बृहस्पति का ममता से बलात्कार करना लिखा है । कहा जाता है कि बृहस्पति ने अपने बड़े भाई उतथ्य की धर्म्मपत्नी ममता से सगर्भावस्था में ही बार बार हटाने पर भी हठात् मैथुन किया, जब गर्भस्थ बालक ने बृहस्पति का वीर्य अन्दर न जाने दिया तो उसके बाहिर गिरते ही उससे 'भरद्वाज' मुनि की उत्पत्ति हुई, एवं बृहस्पति ने क्रुद्ध होकर गर्भस्थ बालक को जन्मान्ध हो जाने का शाप दिया, जिससे दीर्घतमा ऋषि उत्पन्न हुवे । यह कथा

अत्यन्त अश्लील, धर्मविरुद्ध, एवं असम्भव है—हम क्रमागत शैली के अनुसार इस पर भी विचार करते हैं।

वैदिक-स्वरूप

(क) यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः ।

(जैमिनि उपनिषद् २ । २५)

(ख) बृहस्पतिरिव बुद्ध्या । (मन्त्र ब्राह्मण २ । ४ । १४)

(ग(द्वितीयां जायामश्नुते । (तैत्तिरीय १ । ३ । १० । ३)

(घ) तामन्तर्हिताऽरेत.सिग्भ्यामुपदधाति ।

(शत० ७ । ४२ । २४)

(ङ) यद् वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद् भवति ।

(शतपथ ६ । ३ । ३ । २६)

(च) भारद्वाजं वै बृहत् । (ऐतरेय ८ । ३)

(छ) दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे ।

(ऋग्वेद अष्टक २ अनु० ३ व० १)

अर्थात्—(क) इस श्रेष्ठ वाणी के पति को बृहस्पति कहते हैं। (ख) बृहस्पति की तरह बुद्धि से [संगत होता है] (ग) दूसरी स्त्री को प्राप्त होता है। (घ) उस अन्तर्हिता = सगर्भा (ममता) को वीर्य सेचन के लिये उपधान करता है (ङ) जो वीर्य योनि से अतिरिक्त बाहिर पड़ता है वह उस (सगर्भा ममता) के कारण होता है। (च) बहत् ही भारद्वाज है। (छ) दशमयुग = सृष्टि के आरम्भ से दो चतुर्युगी व्यतीत होकर आने वाले त्रेता में ममता का बेटा दीर्घतमा नामक ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हुआ।

पौराणिक स्वरूप

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः ।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत् ॥३६॥
तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किताम् ।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥३७॥
मूढे ! भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते ! ।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥
चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम् ।
व्यसृजन्मरुतो विभ्रन्दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥३९॥

(श्रीमद्भागवत ९ । २०)

अर्थात्—गर्भवती भाई की स्त्री के साथ बृहस्पति मैथुन करने के लिये प्रवृत्त हुआ । [गर्भस्थ बालक ने] निषेध किया अतः उसको अन्ध हो जाने का] शाप देकर [बाहिर ही] वीर्य छोड़ दिया ॥३३॥ पति के त्याग देने के भय से ममता ने उस [प्रस्खलित वीर्य द्वारा उत्पन्न हुये बालक] को छोड़ना चाहा, तब देवताओं ने ममता के प्रति उस [सद्यो-जात शिशु] का नाम निर्वचन-भूत यह श्लोक पढ़ा ॥३७॥ हे मूर्खे ! दो से उत्पन्न होने वाले इस बालक का तू पालन कर ! हे बृहस्पते ! तू भी इस 'द्वाज' दूसरे के क्षेत्राश्रय से अन्य वीर्यजात बालक का 'भर—' पोषण कर । इस तरह परस्पर कहते हुये ममता और बृहस्पति दोनों ही उस बालक को छोड़ कर खिसक गए, इसलिए इसका नाम 'भरद्वाज' ऐसा प्रसिद्ध हुआ ॥३८॥ देवताओं के कहने पर भी ममता ने इस बालक को वितथ व्यर्थप्रायः—अनावश्यक-निरर्थक एव व्यभिचारजात जानकर

छोड़ दिया, [तब इस अनाथ को] मरुत् नामक देवताओं ने प्राप्त कर के भरत के वंश में दे दिया ॥३९॥

वास्तविक भाव

उपर्युक्त दोनों स्वरूपों की तुलना करने पर प्रत्येक साक्षर इस आख्यान की वैदिकता का अच्छी तरह अनुमान कर सकता है। कई क्षुद्रबुद्धि जन इस कथा से नियोग भी सिद्ध करना चाहा करते हैं, परन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि इससे तो आप के माने हुये नियोग की उल्टी धज्जियें उड़ जाती हैं। क्योंकि आपके यहाँ नियोग का लक्षण यही तो है कि 'सन्तान के लिए पति की आज्ञा से या उसके मरने पर किसी परपुरुष से इच्छापूर्वक भोग करना।' उक्त कथा में इन तीनों बातों का सर्वथा अभाव है। क्योंकि सन्तान तो पूर्व ही ममता के गर्भ में विद्यमान थी। पति आज्ञा का इसमें लेशमात्र भी नहीं और ममता अन्त तक इस कार्य के सर्वथा प्रतिकूल ही रही है। अतः इसे खुला व्यभिचार या बलात्कार ही कह सकते हैं। अगर आप की सम्मति में नियोग भी इसी का का नाम है तब तो आप के इस धार्मिक कृत्य पर सौ २ बार बलिहारी ! आशा है कि प्रतिवादी अब इससे नियोग सिद्ध करने का साहस नहीं दिखायेंगे। रहा इसकी वास्तविकता का विचार, सो हम वैदिक शब्दों में ही प्रकट करते हैं। वेदों में लिखा है कि—

(क) वाग्वै बृहती (शतपथ १४।४।१।२२)

(ख) पतिः पालयिता (निरुक्त अ० १० खं० २१)

अर्थात्—(क) यह वाक् ही बृहती कही जाती है। (ख) पति रक्षक को कहते हैं।

सो पुरुष का मन ही बृहस्पति कहलाता है : क्योंकि 'यन्मनसाऽनुमनुते तद् वाचा वदति' इस श्रुति के अनुसार पहिले मन में जो भाव उदित

होता है वही पश्चात् वाणी से बोला जाता है। अतः मनः ही वाणी का पति कहला सकता है। इसका ज्येष्ठ भ्राता जीवात्मा ही उतथ्य है। 'तथ्य' शब्द का अर्थ सत्य है और 'उ' शब्द वितर्क द्योतक है: अर्थात् जिसकी सत्यता में वितर्क हो वह 'उतथ्य' कहा जाता है। अतः यह जीव—'जीवरूपेण सत्य किंवा—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार ब्रह्मरूपेण सत्य है?'—ऐसा विचार जीवात्मा के विषय में निरन्तर बना रहता है। द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धान्त इसी एक 'उ' के चमत्कार हैं। 'ममता' शब्द की विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रचलित भाषा में भी किसी वस्तु में विशेष आसक्त होना या उसमें रागाधिक्य रखना, ममत्व-ममता किंवा मामता कही जाती है, जो कि माया का ही विशद स्वरूप है। 'दीर्घतमा' का अर्थ घोर अन्धकार है, जिसे दूसरे शब्दों में अज्ञान या मोह कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'वीर्य' शब्द भी पराक्रम का पर्याय्य है। अतः आध्यात्मिक पक्ष में इसका सीधा अर्थ यही होगा कि जीमात्मा रूप उतथ्य की स्त्री ममता 'ममत्वयुक्त' तादृश वृत्ति के गर्भ में मोहरूप दीर्घतमा थे। बृहस्पति मन ने इस वृत्ति में अपने वीर्य-सामर्थ्य का संचार करना चाहा, परन्तु जब तक ममता के गर्भ में मोह घुसा बैठा हो तब तक मानसी शक्ति का संचार होना सर्वथा कठिन है। वेद में इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। (यजुः ४० । १२)

अर्थात्—जो मनुष्य अविद्या के चंगुल में फंस जाते हैं वह घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं। अतः मन के हजार बार प्रयत्न करने पर भी ममता-गर्भस्थ मोह मानसिक बल का प्रवेश नहीं होने देता। कदाचित् यह मनःरूप बृहस्पति यथातथा अपने वीर्य सामर्थ्य को ममतावृत्ति के सन्निधान में भी प्रस्खलित करदे-फैलादे, तो उससे आत्मज्ञान रूप 'भरद्वाज' उत्पन्न होता है। क्योंकि 'आत्मज्ञान' मन और

वृत्ति इन दोनों के पारस्परिक संघर्ष का परिणाम है अतः वह 'भरद्वाज' कहा जाता है। उत्पन्न हुवे आत्मज्ञान का यमनियमादि साधनों द्वारा ही परिपोषण होता है, अतः यही 'भरद्वाज' का देवताओं द्वारा रक्षित होने का अभिप्राय है। यही इस कथा का आध्यात्मिक भाव है। इतिहास पक्ष में वेदपुराणसमन्वयाध्याय के देवतावाद-प्रघट्टवर्णित दिव्य चरित्रों का मनन करने से सब शंकाएं काफूर हो जायेंगीं। क्योंकि मनुष्ययोनि कर्मयोनि है अर्थात् इसमें किए गये शुभाशुभ कर्म भोगने पड़ते हैं और पशु पक्षी आदि तथा देव गन्धर्व आदि भोग-योनियें हैं इनमें पूर्व जन्मकृत अशुभ और शुभ कर्मों को केवल भोगना पड़ता है, अतः सूक्ष्म इच्छामय दिव्य शरीरधारी देवताओं के चरित्र स्थूल विकारी पाँच भौतिक शरीरधारी मनुष्यों के लिए अनुकरणीय नहीं होते। इसके अतिरिक्त जहाँ यह कथा आती है वहाँ पर इसे कहीं भी धर्मसंगत नहीं कहा है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में बुरी भली सभी प्रकार की घटनायें लिखी रहती हैं। इससे सर्वसाधारण तादृश अनुकरण करने के लिए बाध्य हों सो बात नहीं है। हमारे विचार में यह कथा एक रूपकप्राय आख्यायिका है परन्तु वेदव्यास जी ने पुराणों की विशिष्ट शैली के अनुसार इसमें ऐतिहासिक अंश को भी विमिश्रित किया है, सो विश्लेषण करने पर इतना जान पड़ता है कि विनष्ट हुवे भरतकुल का उत्तराधिकारी 'भरद्वाज' हुवा है।

भाई बहिन का विवाह ?

३१

कहा जाता है कि प्रसिद्ध राजा वेन के पुत्र राजा पृथु ने अपनी बहिन अर्चि से विवाह किया था। हम इस आख्यान की वास्तविकता प्रकट करते हैं।

पौराणिक स्वरूप

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः ।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥१॥
तद् दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥२॥
एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी ।
इयं च लक्ष्म्याः संभूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥३॥
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥४॥
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवापरुधन्ती ॥५॥

(श्रीमद्भागवत ४ । १५)

अर्थात्—(वेन के मर जाने पर उसके शरीर के मथने से जब निषाद उत्पन्न हो चुका) इसके पश्चात् पुत्रहीन राजा वेन के शरीर को ऋषियों ने फिर मथा तब उसकी भुजाओं से एक जोड़ा पैदा हुवा ॥१॥ ब्रह्मवादी ऋषि उत्पन्न हुवे उस मिथुन को भगवान् की कला जान कर प्रसन्न होकर बोले ॥२॥ इनमें जो पुरुष है वह भुवन की रक्षा करने वाली विष्णु की कला है, और जो स्त्री है, वह विष्णु भगवान् की अनन्य प्रिया लक्ष्मी की कला है ॥३॥ सो यह पुरुष महान् यशस्वी 'पृथु' राजा होगा ॥४॥ और यह कन्या पृथु की अर्धाङ्गिनी 'अर्चि' नाम से विख्यात होगी ॥५॥

उपर्युक्त पौराणिक-स्वरूप के मूल शब्दों से ही उक्त दोनों व्यक्तियों का भाई बहिन होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु विष्णु और लक्ष्मी के

कलावतार होने के कारण दोनों का पति-पत्नी होना ही सिद्ध होता है। कदाचित् शङ्कावादी महाशय वेन के शरीर से उत्पन्न होने के कारण इन दोनों को भाई बहिन बताने का प्रयत्न करेगा तो उसे स्वयं भी इस आक्षेप का पात्र बनना पड़ेगा, क्योंकि महाशय जी और उनकी श्रीमती जी दोनों भी तो एक निराकार से ही सृष्टि के आरम्भ में टपक पड़े थे। अतः यही मानना पड़ेगा कि अयोनिज सृष्टि में तादृश सम्बन्ध नहीं माना जाता, किन्तु योनिज में ही एक दूसरे का वह सम्बन्ध युक्तिसंगत है। हम 'ब्रह्मा दुहिता प्रसंग' में यह विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

यज्ञ का दक्षिणा से विवाह

३२

कहा जाता है कि—यज्ञ ने अपनी सहोदरा भगिनी दक्षिणा के साथ विवाह किया था, यह आख्यान इस प्रकार है—

पौराणिक स्वरूप

प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत्।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥३॥
यस्तयोः पुरुषः साक्षाद् विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक्।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूताऽनपायिनी ॥४॥
तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥६॥

(श्रीमद्भागवत ४। १)

अर्थात्—भगवान् प्रजापति रुचि द्वारा (मनु की आकूति नामक) उस कन्या में परम समाधि से ब्रह्मतेजोमय एक जोड़ा उत्पन्न हुवा ।।३।। उन दोनों में जो पुरुष था वह यज्ञावतारधारी साक्षात् विष्णु भगवान् थे और जो दक्षिणा नामक स्त्री थी वह अनपायिनी लक्ष्मी अंशभूत थी ।।४।। यजुर्वेद के अधिष्ठाता भगवान् यज्ञदेव ने इस इच्छित फलदायिनी दक्षिणा के साथ विवाह किया, और संतुष्ट दक्षिणा में प्रसन्न हुवे यज्ञ से 'तोष-प्रतोष' आदि बारह पुत्र उत्पन्न हुवे ।।६।।

वैदिक स्वरूप

(क) यो वै विष्णुः स यज्ञः । (शतपथ ५ । २ । ३ । ६)

(ख) पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव हविर्धाने मुखमा-
हवनीय उदरं सदो । (कौषीतकी १७ । ७)

(ग) एषा ह वै यज्ञस्य पुरोगवी यद्दक्षिणा ।
(गोपथ ३०६ । १४)

(घ) यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव यज्ञ-
दक्षिणा भवत्यल्पिकापि । (ऐतरेय ६ । ३५)

अर्थात्—(क) जो विष्णु है वही यज्ञ है (ख) यज्ञ ही पुरुष है, 'हविर्धान' उसका शिर है, 'आहवनीय' उसका मुख है, 'सद्' उसका उदर है (ग) यह जो दक्षिणा है सो यज्ञ की 'पुरोगवी' अग्रगण्य है (घ) दक्षिणारहित यज्ञ विनष्ट हो जाता है इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ में अवश्य ही थोड़ी-बहुत दक्षिणा देनी चाहिये ।

विवेचन

उपर्युक्त आख्यान में पुराणों की विशिष्टशैली के अनुसार श्रीवेदव्यास जीने

ऐतिहासिक अंश को याज्ञिक तत्त्व के साथ विमिश्रित करके प्रकट किया है, तदनुसार यहाँ यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार संसार में स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी मानी जाती है और उक्त दम्पती का अनिवार्य ऐक्य ही सन्तान उत्पादन का कारण होता है, ठीक इसी प्रकार वैदिक विधान में दक्षिणादान यज्ञ का एक आवश्यक अङ्ग है : फलतः सदक्षिण-यज्ञ ही स्वर्गादि फलों का आधायक होता है। इसलिये प्रायः समस्त शास्त्रों में 'हतं यज्ञमदक्षिणम्' का सर्वतन्त्र सिद्धान्त अविशेष रूप से अङ्कित है। सो यहाँ यज्ञ-प्रक्रिया के आदि में अभिभावक प्रजापति रुचि और उनके यज्ञानुष्ठान-विधान का आलंकारिक रीति से पितापुत्ररूपेण वर्णन किया है। यज्ञ के साथ दक्षिणादान-मर्य्यादा की संस्थापना भी उक्त क्रियाशील प्रजापति ने ही पहिले की थी इसलिये दक्षिणा को उसकी पुत्री बताया गया है। क्योंकि यज्ञ और दक्षिणा का जोड़ा अनिवार्य है, अतएव 'पौराणिक-स्वरूप' में इस भाव को 'मिथुनमजीजनत्' शब्दों द्वारा प्रकट किया है। सो यहाँ न वास्तव में कोई कन्या है और न उसका अपने किसी वास्तविक सहोदर भाई के साथ विवाह हुआ है, किन्तु यहाँ तो यज्ञानुष्ठान और दक्षिणादान प्रथा के आदिम संस्थापक का—तथा इन दोनों धर्मक्रियाओं की इतिकर्त्तव्यता का निरूपण किया है।

कदाचित् कोई निरा निठल्ला यह कहने का कष्ट करे कि पुराणकार ने इस प्रकार का भ्रामक रूपक क्यों बान्धा है, जिससे कि बहिन भाई के विवाह का तात्पर्य निकलता है,—इसका उत्तर यह है कि जब वेद (ख) में भी यज्ञ को न केवल आलंकारिक रीति से पुरुष मात्र ही कहा है बल्कि उसके अमुक २ विधानों को शिर, मुख, उदर रूप से प्रकट किया है, इससे इस आख्यान की रूपकता सुस्पष्ट ही है। तब पुराणों में इसका पुरुषरूपेण वर्णन करना आक्षेप योग्य कैसे हो सकता है ?

सुद्युम्न का स्त्री हो जाना

३३

श्रीमद्भागवत (९ । १ । १३—४२) में तथा पद्मपुराण (सृ० ख० ५ । अ० ८) में वर्णन आता है कि सुद्युम्न नाम युवक राजकुमार पुरुष से स्त्री बन गया और उसके पेट से पुरूरवा नामक प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा की उत्पत्ति हुई, इत्यादि । शंकावादियों का कहना है कि यह आख्यान अत्यन्त असम्भव एवं सृष्टिनियम के सर्वथा विरुद्ध है । हम इस पर भी विचार करते हैं ।

पौराणिक-स्वरूप

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान्किल ।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत्प्रभुः ॥१३॥
तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत ।
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥१४॥
होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साऽभवत् ।
तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम् ॥१६॥
अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान्हरिरीश्वरः ।
ददाविलाभवत्तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥२२॥
स एकदा महाराज ! विचरन्मृगयां वने ॥२३॥

यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया ॥२५॥
अपश्यत्स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ! ॥२६॥
स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान्बुधः ॥३४॥
स तस्यां जनयायास पुरूरवसमात्मजम् ॥३५॥
एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः ।
सस्मार स्वकुलाचार्य्यं वसिष्ठमिति शुश्रुमः ॥३६॥
स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः ।
सुद्युम्नस्याशयन्पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥
तुष्टस्तस्मै स भगवान्नृषये प्रियमावहन् ॥३८॥
मासं पुमान्स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः ॥३९॥
(श्रीमद्भागवत ९ । १)

अर्थात्—पुराने समय में महर्षि वसिष्ठ ने सन्तानरहित मनु राजा को वंश वृद्धि के लिए मित्रावरुण' का यज्ञ रचा ॥१३॥ मनु की धर्म-पत्नी श्रद्धा ने [एकान्त में] होता = यज्ञाचार्य्य से कन्या उत्पन्न होने की प्रार्थना की ॥१४॥ अतः होता की तादृश भावना से उक्त रानी से पुत्र के बजाय 'इला' नाम वाली कन्या उत्पन्न हुई, जिसे देखकर विमनस्क हुये मनु ने वसिष्ठ जी से शिकायत की ॥१६॥ [वसिष्ठ जी ने रानी और होता की विपरीत भावना से कन्या की उत्पत्ति बता कर] इला के पुरुष बन जाने की इच्छा से आदिपुरुष परमात्मा की स्तुति की ॥२१॥ इससे प्रसन्न होकर भगवान् ने इसे इच्छित वर दिया, जिसके प्रताप से इला स्त्रीत्व को छोड़ कर सुद्युम्न नामक राजकुमार बन गई ॥२२॥ एक बार राजकुमार सुद्युम्न शिकार खेलते हुये ॥२३॥ उस स्थान में जा पहुँचे—जहां कि भगवान् शङ्कर पार्वती सहित रमण करते थे ॥२५॥

(इस स्थान के तादृश प्रभाव से) सुद्युम्न ने देखा कि वह स्वयं स्त्री बना हुआ है और उसका घोड़ा भी घोड़ी बन गया है ।।२६।। इस तरह अपने साथियों सहित स्त्रीभावापन्न सुद्युम्न को वन में घूमता अथवा घूमती हुई देखकर बुध ने उसको चाहा ।।३४।। इस तरह बुध के संयोग से उक्त इला में पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।।३५। इस तरह कुछ समय तक स्त्री जीवन बिताते हुवे मनुपुत्र सुद्युम्न ने अपने कुलपुरोहित वसिष्ठ जी को स्मरण किया—ऐसा सुना जाता है ।।३६।। वसिष्ठ जी (समाधि द्वारा) सुद्युम्न की दुर्दशा देखकर अतीव दुःखित हुये तथा फिर से उसको पुरुष बनाने के लिये श्री शङ्कर भगवान् के पास पहुंचे ।।३७।। सो शिवजी ने प्रसन्न होकर वसिष्ठ की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये [कहा कि—] ।।३८।। आपका गोत्रज सुद्युम्न एक मास पुरुष और एक मास स्त्री रहा करेगा ।।३९।।

समाधान

उपर्युक्त आख्यान को पढ़कर जो महाशय शङ्कापङ्क निमग्न हो जाते हैं उन्हें न केवल प्रकृति-वैलक्षण्य से ही बल्कि सामयिक घटनाओं से भी सर्वथा अपरिचित समझना चाहिए, क्योंकि उन्हें यह विदित नहीं कि भला ! इस कथा में तो जिस यज्ञ द्वारा सन्तानोत्पादन किया जा रहा था उसमें रानी के कहने से 'होता' ने कन्योत्पादक मन्त्रों को पढ़कर तादृश मन्त्रशक्ति के बल से 'हविष्य' में कन्या सन्तति के उत्पादन की योग्यता का आधान कर दिया था अतः वसिष्ठ जी के तपोबल से ही वह कन्या पुंस्त्व को प्राप्त हो सकी थीं, और फिर जगन्नियन्ता श्री महादेव जी के प्रताप से हिमालय के खास प्रदेश में तादृश वातावरण के तारतम्य से स्त्रीभावापन्न हो गई थी, तथा पश्चात् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभुः' महेश्वर के अनुग्रह से ही एक एक महीने बारी बारी से स्त्री पुरुष

बनकर जीवन बिताने का वर मिला था—ऐसा लिखा है जो 'मन्त्र-शक्ति' 'तपोबल' एवं 'देव-सामर्थ्य' रूप कारणों का मनन करने से प्रत्येक आस्तिक के हृदय को समाहित कर सकता है, परन्तु हम तो आज के समय में भी यदृच्छा ही इस प्रकार की घटनाओं का धटना देखते हैं : अर्थात् अब भी गत वर्षों में कई 'स्त्रियों का पुरुष बन जाना और पुरुषों का स्त्री बन जाना' समाचारपत्रों में पढ़ चुके हैं अतः शङ्कावादी महाशय इस प्रत्यक्ष का अपलाप किस प्रकार कर सकते हैं ?

इस आख्यान के 'पौराणिक-स्वरूप' के मूल शब्दों में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि—होता ने मन्त्र-बल से, वसिष्ठ जी ने तपोबल से तथा श्री शङ्कर भगवान् ने अपनी देव-सामर्थ्य से उक्त राजकुमार की गिरगट की तरह काया पलट की थी, सो मन्त्र तपः और देव-सामर्थ्य के अलौकिक चमत्कारों को वेदादि सभी शास्त्र सहस्रमुखेन स्वीकार करते हैं, यथा—

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ।।

(मनुस्मृति ११ । २३८)

अर्थात्—जिसका पार न मिल सकता हो, जो वस्तु अप्राप्य हो, जहां पहुच न हो पाती हो, एवं जो किया न जा सकता हो—वह सब तपोबल के प्रभाव से सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तपः से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं ।

'योगदर्शन' विभूति पाद में योगबल से होने वाले उन उन चमत्कारों का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन किया है कि जिनके पढ़ लेने मात्र से शङ्कावादियों की आँखें खुल जाती हैं । हम विस्तारभय से यहां वह सब प्रकरण उद्धृत नहीं कर सकते । स्वामी दयानन्द सरस्वती

ने भी अपने वेदभाष्य में ऐसे अनेक लोकोत्तर चमत्कारों का उल्लेख किया है, जिनको पीछे के प्रकरणों में देखा जा सकता है।

यहां तो—मन्त्र, तपः और देव-सामर्थ्य के प्रभाव से काया पलट का उल्लेख है. परन्तु अब तो बड़े २ पाश्चात्य डाक्टर साधारणतया भी यह बात मानते ही नहीं, वल्कि शारीरिक विज्ञान द्वारा सिद्ध करते हैं कि अमुक २ साधनों से पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष बनाया जा सकता है। उनका कहना है कि स्त्री और पुरुष की जननेन्द्रिय में थोड़ा ही अन्तर है। यदि स्त्री-प्रजनन की आभ्यन्तरिक बलियों को वैज्ञानिक नियमानुसार बाहर निकाल लिया जाय तो वह 'पुंव्यंजन' का सा आकार बन जायेगा, इसी प्रकार पुरुष चिन्ह को विधिवत् अन्दर वलित कर देने पर स्त्री चिन्ह बन जाएगा। कहना न होगा कि यह पंक्तियें सर्वसाधारण को चाहे होली का विनोद ही क्यों न जंचें, परन्तु वर्तमान विज्ञान इसे सम्भवता की सीमा में अवश्य परिगणित करता है।

यदि अघटितघटनापटीयसी प्रकृति देवी स्वयं ही शङ्कावादी महाशय जी को अपटूडेट श्रीमती के रूप में परिवर्तन करना चाहे तब तो महाशय जी के पुरुषोचित अङ्ग अतीव मन्थरगति से स्त्रीत्व दशा में परिणत होने लगेंगे, अन्त में गर्भाशय और स्तन्याशय भी स्त्रियों के समान ही बन जाएंगे। पाठकों के सन्तोषार्थ हम ऐसी एक दो ताजा घटनाओं का यहां उल्लेख करते हैं—

दो लड़कियों का बाप औरत हो गया—

आर्यसमाजी पत्र 'उर्दू प्रताप' के गुरुदासपुर के सम्वाददाता ने लिखा है कि तीन साल का अर्सा गुजरा कि 'भागलपुर जिला कटक' में 'हरिकृष्ण' नामक आदमी (जिसके दो लड़कियाँ भी पैदा हो चुकी थीं) जब ३५ वर्ष का हुआ तो उसके पुँस्त्व के चिन्ह मिटने लगे और वह कई मास में स्त्री हो गया तो उसका नाम हरिदेवी रक्खा गया और

इसकी रिपोर्ट डिप्टी कमिश्नर के पास गई तो उन्होंने कहा योरोप में ऐसी कई घटनाएं हो गुजरी हैं।'

[जौलाई सन् १६२५ के 'धीमान ब्राह्मण' (मुजफ्फरनगर) से—]

इसी तरह की एक घटना टर्की में हुई थी। वहां स्त्री पुरुष वन गई थी जिसके साथ वहाँ के राज घराने तक की कन्यायें भी विवाह करने के लिये लालायित थीं। क्या अब भी शङ्कावादी इस कथा पर आक्षेप करने का साहस करेगा ?

युवनाश्व की कोख से मांधाता

३४

पुराणों में लिखा है कि प्रसिद्ध सम्राट् मान्धाता का जन्म महाराजा युवनाश्व के पेट से हुआ था—यह कथा अत्यन्त असम्भव है। पुरुष पेट में न गर्भाशय होता है और नांही उसमें किसी बालक को धारण कर सकने की गुञ्जाइश होती है। अतः पुराणों का यह लेख कोरा 'गप्प गोला' ही समझना चाहिए। हम सर्वप्रथम इस आख्यान का पौराणिक-स्वरूप प्रकट करते हैं—

पौराणिक स्वरूप

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः।
इष्टिं स्म वर्तयांचक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥२६॥
राजा तद्यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः।
दृष्ट्वा शयानान्विप्रांस्तान्पपौ मन्त्रजलं स्वयम् ॥२७॥

ततः काले उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् ।
युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ॥३०॥
कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् ।
मान्धाता वत्स मारोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात् ॥३१॥
(श्रीमद्भागवत ८ । ६ ।—)

अर्थात्—] महाराजा युवनाश्व निःसन्तान होने के कारण] सौ स्त्रियों से दुःखित हो गया, तब कृपालु ऋषियों ने बड़ी ही तत्परता के साथ (सन्तान प्राप्ति के लिये) इन्द्र का यज्ञ रचा ॥२६॥ रात के समय प्यास से अत्यन्त पीड़ित हुआ राजा यज्ञशाला में पहुँचा सब ऋत्विजों को सोते देखकर स्वयं ही मन्त्रों से अभिमन्त्रित किया हुआ 'यज्ञ-कलश' का जल पी गया ॥२७॥ (क्योंकि यह जल पुंसवन-मन्त्रों से अभिमन्त्रित होने के कारण पुत्रोत्पादन की अचूक सामार्थ्य से परिपूरित था अतः) कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद युवनाश्व की दाईं कोख को फाड़ कर एक चक्रवर्ती-लक्षणोपेत बालक का प्रादुर्भाव हुआ ॥३०॥ 'यह बालक किसकी दूधी पीयेगा ? यह दूध के लिए बार २ रो रहा है'—ऋषियों की ऐसी उक्ति सुन कर इन्द्र ने कहा कि हे पुत्र ! तू मत रो ! और मुझे पान कर—ऐसा कहते हुये उसके मुंह में इन्द्र ने अपनी अंगुली डाल दी ॥३१॥ (इन्द्र के 'माँ-धाता' कहने से ही इसका वैसा नाम पड़ गया) ।

समाधान

उपर्युक्त कथा में भी वेदमन्त्रों की अचूक शक्ति के प्रताप से ही युवनाश्व की कोख से मान्धाता का उत्पन्न होना प्रकट किया है । सो वेदमन्त्रों की अमोघशक्ति का दिग्दर्शन हम पूर्व कर आये हैं, अतः यहाँ

पिष्टपेषण करने की सुतरां आवश्यकता नहीं है, परन्तु हमारे दयानन्दी भाई वेदानुयायी होने का स्वांग भरते हुए भी हृदय से वैदिक चमत्कारों के विश्वासी नहीं होते, यह बात हमने कई बार समाजी पण्डितों की बातचीत के दौरान में नोट की है। अतः हम प्रत्यक्षवादी महाशयों को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी सन्तुष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

पुरुष के पेट से दो बच्चे

'बलगेड – सरबिया के अस्पताल में एक किसान अपनी गर्भिणी स्त्री को भरती कराने के लिये ले गया, जब डाक्टर से भेंट हुई तो उन्होंने कहा कि इस किसान के पेट में एक बहुत बड़ा फोड़ा है कि जिसके कारण इसे महान् कष्ट है—ओपरेशन किया गया तो पेट के ऊपरी भाग से दो बच्चे निकले ! एक लम्बाई में ९ इंच आधा पोण्ड का था, इसके सिर बाल, मुंह में कई दाँत थे। शरीर की समस्त रचना पूर्ण थी। दूसरा बच्चा अधूरा और अपूर्ण था उसका शिर और पेट बन चुका था।' (ता० २९--६--२५ के 'हिन्दूसर्वस्व'--हरिद्वार से)

सम्भवतः अब महाशयों को कुछ चीं चपट करने का अवसर न रहेगा, क्योंकि अब तो हमने बीसवीं सदी के वेदभूत—स्वतःप्रमाण 'न्यूज पेपर' का सबूत ऊपर दर्ज कर दिया है !

मनु की नाक से इक्ष्वाकु

३५

'विष्णु-पुराण' में लिखा है कि मनु राजा के छींकते हुवे घ्राण से प्रसिद्ध इक्ष्वाकु पुत्र पैदा हुवा। यथा—

क्षुवतश्च मनोरिक्ष्वाकुर्घ्राणतः पुत्रो जज्ञे।

(विष्णुपुराण अंश ४ अ० २ श्लो० १६-१८३)

यह बात चण्डूखाने की गप्प के बराबर है।

समाधान

वेदादि शास्त्रों का यह सर्वतन्त्र सिद्धांत है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है—(१) मैथुनी और (२) अमैथुनी, अर्थात् माता पिता के संभोग से उत्पन्न होने वाली और अनिर्वचनीय प्रकृति के नियन्त्रण से अपने आप इच्छा मात्र से उत्पन्न होने वाली। वैदिक-साहित्य में उक्त दोनों तरह की सृष्टियों का खुला वर्णन आता है। मैथुनी सृष्टि की उत्पत्ति हम रात दिन देखते हैं, अतः हमें इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं होता। परन्तु अमैथुनी सृष्टि के मनुष्य अतीतकाल के गर्भ में विलीन हो चुके हैं, अतः अब उनकी उत्पत्ति हमें कुतूहल-जनक जान पड़ती है। यदि अन्तर्मुखी होकर विचार किया जाये तो मैथुनी-सृष्टि का प्रादुर्भाव भी कम आश्चर्य का विषय नहीं, क्योंकि माता के उदर की जाठराग्नि में माता के भक्षण किये हुवे कड़े से कड़े पदार्थ भी—यहां तक कि मांसाहारी जातिकी स्त्रियों की जाठराग्नि में तो माँस-अस्थि-खण्ड तक भी कुछ घण्टे में ही भस्मसात् हो जाते हैं, उसी जाठराग्नि के धधकते हुवे कुण्ड के एक कोने में पिता का सेचन किया हुआ अकिञ्चित्कर वीर्य्यकण तथैव सुरक्षित रहता हुआ दशवें महीने में सर्वाङ्ग-सुन्दर बालक के रूप में प्रादुर्भूत होता है,—क्या यह कुछ कम अचम्भे की बात है? परन्तु निरन्तर देखने के कारण हमें इसमें कुछ भी कौतुक नहीं दीख पड़ता! यह तो हुई मैथुनी-सृष्टि की बात। अब अमैथुनी का भी रहस्य सुनिये।

जिसप्रकार मैथुनी सृष्टि का मूल कारण विशुद्ध रजः और वीर्य्य का गर्भाशय में विमिश्रित हो जाना है, इसीप्रकार अमैथुनी सृष्टि का मूलकारण—सत्य-सङ्कल्प मनुष्य की आत्मशक्ति को किसी एक अङ्ग में केन्द्रीभूत करना मात्र है। सो सत्य-संकल्प मनुष्य का आत्मशक्ति जिस भी अङ्ग में केन्द्रीभूत हो जाएगी उसके उसी अङ्ग से इच्छित सन्तान की प्राप्ति हो जाएगी। शास्त्र कहता है कि—

यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति ।
(छान्दोग्य ८ । २ । १०)

अर्थात्—[सत्यसंकल्प मनुष्य] जिस काम को चाहता है वह काम उसे संकल्पमात्र से ही प्राप्त हो जाता है ।

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले हमारे शतशः पूर्वज संकल्पमात्र से ही उत्पन्न हुवे थे यह बात हिन्दू इतिहास के पढ़ने से भली प्रकार विदित हो जाती है । मुसलमान और ईसाई मत में भी अमैथुनी सृष्टि का होना स्वीकार किया गया है तदनुसार 'आदम' की बाँई पसली से 'हव्वा' का पैदा होना एवं बकौल 'बाईबल' स्वयं ईसामसीह का पुरुष संयोग के बिना ही 'क्वारी मरियम' के गर्भ में आजाना—अमैथुनी सृष्टि के अस्तित्व की ही सूचना देते हैं । अतः वे लोग इक्ष्वाकु की उत्पत्ति पर कुछ आक्षेप नहीं कर सकते ।

आर्य्यसमाज के स्वयम्भू आचार्य प्रो० रामदेव ने अपने 'पुराणमत पर्य्यालोचन' ग्रंथ के २५वें पृष्ठ पर उपर्युक्त आख्यान का व्यर्थ उपहास उड़ाते हुवे फरमाया है कि—'खूब गप्प गढ़ी, क्या कहीं थूकते छींकते भी पुत्र हुवे हैं।'—हमें प्रोफेसर साहिब की पर्वतायमान अक्ल पर तरस आता है कि आपको 'विष्णुपुराण' के इस पद्य में तो 'गप्प' पन की व्यर्थ बू आगई परन्तु अपने दादागुरु के 'सत्यार्थप्रकाश' (पृष्ठ २३७) का वह लेख नहीं सूझा कि जिसमें स्वामी जी ने तिब्बत की पहाड़ियों पर युवा युवितियों के जोड़ों का धड़ाधड़ बरस जाना लिखा है । ई हजरत ! पुराण में तो भला साकार मूर्तिमान् मनु राजा की नाक से साकार बच्चे का उत्पन्न हो जाना ही लिखा है जो कि किसी हद तक नास्तिक की भी समझ में आ सकता है, परन्तु आपके दादागुरु जी तो 'अकायमव्रणम्' कहे जाने वाले निराकार से ही साकार जोड़ों की टपकन लगाते हुवे नहीं अघाते ! कुछ इस 'महागप्प' का भी ध्यान है ।

मृत वेन को मथने से पुत्र

३६ पुराणों में वर्णन आता है कि पापिष्ठ राजा वेन के मर जाने पर ऋषियों ने उसकी जांघ को मथ कर उससे 'निषाद' नामक पुत्र उत्पन्न किया और उसकी भुजाओं को मथ कर उससे प्रसिद्ध सम्राट् 'पृथु' और 'अर्चि' को पैदा किया—यह कथा सर्वथा असम्भव है।

पौराणिक स्वरूप

(क) ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद् बाहुको नरः ॥

(श्रीमद्भागवत ४। १४। ४३)

(ख) बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ।

(श्रीमद्भागवत ४। १५। १)

अर्थात्—(क) उसकी जंघा को मथने से नाटे कद का मनुष्य पैदा हुवा। (ख) [और] भुजाओं को मथने से एक जोड़ा उत्पन्न हुवा।

समाधान

इस आख्यान के प्रसङ्ग में यह जिक्र आता है कि वेन के मर जाने पर ऋषियों ने सोचा कि निस्सन्तान वेन की राजगद्दी का उत्तराधिकारी किसे बनाया जाए ? तब यह रहस्य ध्यान में आया कि—

अमोघवीर्य्या हि नृपा वंशेऽस्मिन्केशवाश्रयाः ।

(श्रीमद्भागवत ४। १४। ४२)

अर्थात्—इस वंश में केशव भगवान् के भक्त, राजा लोग प्रायः 'अमोघ वीर्य्य' (=जिनका वीर्य्य किसीभी दशामें निष्फल न जाये तादृश) होते हैं।

सो इस सद्योमृत राजा के शरीरस्थ, अमोघ वीर्य्य को ऋषियों ने वैज्ञानिक ढंग से मथन कर उससे सन्तान को प्राप्त किया। तात्पर्य्य यह है कि वर्तमान अनुसन्धायकों ने अनेक यन्त्रों के प्रयोग से इस बात का पता लगाया है कि 'वीर्य्य' के प्रत्येक कण में अगणित कीटाणु होते हैं जो बढ़िया 'अणु-वीक्षण यन्त्र' से देखे भी जा सकते हैं, परन्तु वे कीटाणु इतने मृदु = लतीफ होते हैं कि प्राणी-शरीर से वीर्य्य के च्युत होते ही बाह्य वातावरण के प्रभाव से प्रायः तत्काल ही मर जाते है, यही दशा रजोगत कीटाणुवों की समझनी चाहिए।

गर्भाधान के समय रजोवीर्य के कीटाणु एक दूसरे को खाना आरम्भ कर देते हैं और इस तरह आन की आन में अन्त में केवल एक कीट शेष रह जाता है। यदि वीर्य अधिक प्रबल होता है तो अन्त में वीर्या-धिक्य के कारण पुरुषत्व-प्रधान कीट बचता है जो दशवें महीने पुत्र सन्तान के रूप में परिणत होकर उत्पन्न होता है। इसी तरह रजः के प्राबल्य से कन्या की उत्पत्ति, और दोनों के समान हो जाने पर नपुंसक का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। सो गर्भाशयादि के दुष्ट होने की दशा में उक्त कीटाणु उसके विषैले वातावरण में तत्काल मर जाते हैं, अतएव गर्भस्थिति नहीं हुवा करती। यह तो हुई साधारण रजोवीर्य की बात ! अब 'अमोघ' वीर्य का भी रहस्य समझिये।

सृष्टि के आरम्भ काल में स्वभावतः और फिर आगे चलकर अमुक २ साधनों द्वारा नियमित आहार विहार पूर्वक जीवन बिताने की दशा में पुरुष का वीर्य अमोघ = सफल = अचूक किंवा बाह्य वातावरण की शीतोष्णता को भरसक सहन कर सकने की क्षमता वाला हो जाया करता है, अर्थात्—अमोघ वीर्य के कीटाणु साधारण वीर्यगत कीटाणुवों की तरह मृदु = लतीफ नहीं रहते जो कि हवा के एक झोंके से मर जाएं बल्कि वे इसके विपरीत नियमानुकूल आहार मिलने की दशा में गर्भस्थ बालक की भाँति परिपुष्ट होते होते सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्य बन सकने की

शक्ति रक्खा करते हैं। जिसतरह आम्र फल को पेड़ पर लगे रहने की हालत में तो प्रकृति देवी स्वयं नियमानुकूल पका कर रसीला बनाती है, परन्तु मनुष्य उसे कच्चा ही तोड़ कर घास फूंस की पाल में दबा कर बनाबटी उष्णता से भी पका लेते हैं, अथवा मुर्गी के अण्डे को आजकल बिजली के यन्त्र में रख कर नकली ताप से भी सेलिया जाता है, ठीक इसीतरह हमारे पूर्वज अमोघ वीर्य के कीटाणु को गर्भाशय की भाँति किसी खास स्थान में सुरक्षित रख कर और उसे पुष्ट करने के लिये उचित उपचार करते हुए पूरा मनुष्य बना सकने की योग्यता रखते थे।

तदनुसार ऋषियों ने प्रथम सद्योमृत वेन के जघनार्ध भाग का औपरेशन किया, जिसमें से एक जीवित वीर्य-किटाणु प्राप्त हुवा, परन्तु वह बेन के दुराचारों के प्रभाव से दूषितप्राय था, अतः उससे उसी प्रकार की पापप्रधान सन्तति के होने का ऋषियों ने अनुमान किया। पश्चात् उसकी भुजाओं के मथने = किंवा = पर्यन्वेषण करने से उसमें से दो कीटाणु उपलब्ध हुए, जो तीनों ही ऋषियों की वैज्ञानिक रीति से परिपुष्ट किए जाने पर क्रमशः निषाद, पृथु और अर्चि: नाम से विख्यात हुये। यही इस आख्यान का मूल रहस्य है। हमारे महाशयों की इतने ऊंचे विज्ञान तक पहुंच कहाँ है, वे तो सिर्फ 'चेमेंगोइयाँ' ही करना जानते हैं।

कदाचित् शङ्कावादी सज्जनों को इतने पर भी संतोष न तो हो उन्हें कुरुक्षेत्र जिला करनाल (पंजाब) के किसी बूढ़े किसान के पास जाकर अपनी तसल्ली करनी चाहिए। क्योंकि इस इलाके में भैंस के तूजाने या फिर जाने पर अर्थात्—गर्भस्राव हो जाने की हालत में जमींदार लोग भैंस का बंधा तोड़ने के लिये उसके भैंसे से संयुक्त हो जाने के बाद योनि में हाथ डाल कर अन्दर से सबका सब वीर्य चुल्लू भर २ कर निकाल लेते हैं और उसे सरसों के तेल भरे बर्तन में रख

छोड़ते हैं। पश्चात् उसकी नाक में वह सब का सब वीर्य डाल कर थूथड़ी को खास तरह से घुमाते हैं जिससे वह वीर्य पुनः गर्भाशय में पहुंच जाता है, और भैंस समय पर ब्याती है। उनका यह सतत अनुभूत अनुभव है कि यदि भैंस की नासिका के बाएं छिद्र में वीर्य डाला जायगा तो अवश्य कटड़ी पैदा होगी, इसी तरह दाईं नाक में डालने पर कटड़ा पैदा होगा। नाक में वीर्य डालते समय यदि भैंस के सामने सफेद चद्दर तान दी जाए तो उससे भूरी कटड़ी पैदा होने की सम्भावना की जाती है। यह सब क्रिया हमने भी कई बार अपनी आँखों देखी है, यदि अन्य किसी को देखनी हो तो वह भी जब चाहे देख सकता है।

अब विचार करना चाहिये कि जब इस गए गुजरे जमाने में भी भारत के अपठित किसान योनिमार्ग से सेचन किये हुवे पशु वीर्यगत कीटाणुओं को तेल के पात्र में सुरक्षित रखकर पुनः नाक छिद्र द्वारा गर्भाशय में पहुंचा देने की योग्यता रखते हैं, तब हमारे पूर्वज त्रिकालज्ञ महर्षि अमोघ वीर्य के कीटाणुवों को परिपुष्ट करके, सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्य बना सकने की योग्यता नहीं रखते थे—इसप्रकार का का मनहूस खयाल भी करना हम तो कोरी मूर्खता समझते हैं। इसलिये राजा वेन के शरीर से संतान उत्पन्न करना न असम्भव है, न प्रकृति के प्रतिकूल ही है।

अरणी काष्ठ से शुक जन्म

३७

कहा जाता है कि—'यज्ञार्थ अग्निमन्थन करते हुवे व्यास जी का वीर्य घृताची अप्सरा को देख कर अरणी नामक लकड़ी में गिर गया, जिससे शुकदेव जी का जन्म हुवा'—यह कथा कोरी गप्प है।

पौराणिक स्वरूप

(क) मेरुशृङ्गे महारम्ये व्यासः सत्यवतीसुतः ।
तपश्चचार सोऽत्युग्रं पुत्रार्थकृतनिश्चयः ॥४॥
गत्वा ऋषिसमीपं तु तमुवाच जगद्गुरुः ।
उत्तिष्ठ वासवीपुत्र ! पुत्रस्ते भविता शुभः ॥१९॥
शूलपाणिं नमस्कृत्य जगामाश्रममात्मनः ॥२२॥
अरणीसहितं गुह्यं ममन्थाग्निचिकीर्षया ।
मन्थनं कुर्वतस्तस्य चित्ते चिन्ताभवत्तदा ॥२३॥
पावकस्य यथा तद्वत्कथं मे स्यात्सुतोद्भवः ।
पुत्रारणी तु याख्याता सा ममाद्य न विद्यते ॥२५॥
एवं चिन्तयतस्तस्य घृताची दिव्यरूपिणी ॥२९॥
प्राप्ता दृष्टिपथं तत्र समीपे गगने स्थिता ॥३०॥
पंचबाणपरीताङ्गस्तूर्णमासीद्धृतव्रतः ॥३१॥
(देवी भागवत १ । १०)

(ख) सा कृत्वाथ शुकीरूपं निर्गता भयविह्वला ॥३॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमथापतत् ॥७॥
तस्माच्छुकः समुद्भूतो व्यासाकृतिः मनोहरः ॥८॥
(देवी भागवत १ । १४)

अर्थात्—(क) मेरु पर्वत की रमणीय चोटी पर सत्यवती के पुत्र

व्यास जी ने पुत्र प्राप्ति के लिये कठिन तपश्चर्या आरम्भ की ॥४॥ (तप से प्रसन्न होकर) जगद्गुरु महादेव जी ने व्यास के निकट जाकर कहा कि हे पुत्र! उठ, तेरे कल्याणकारी पुत्र उत्पन्न होगा ॥१९॥ व्यास जी महादेव को नमस्कार करके अपने आश्रम में आ गये ॥२२॥ अग्नि को प्रकट करने के लिये अरणी = जांडी की दो लड़कियों को मन्थन करते हुये व्यास जी के हृदय में चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥१३॥ (इन दोनों काष्ठों के परस्पर संघर्ष से) अग्नि की तरह मेरे कैसे पुत्र उत्पन्न होगा : क्योंकि पुत्र को उत्पन्न करने वाली अरणी रूप स्त्री मेरे घर में नहीं है ॥२५॥ ऋषि इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि आकाश मार्ग से जाती हुई परम सुन्दरी घृताची नाम वाली अप्सरा दीख पड़ी ॥२९-३०॥ वे व्रतधारी व्यास जी उसे देखकर तत्काल ही कामाक्रांत हो गये ॥३१॥ (ख) घृताची ऋषि के भय से शुकी रूप बनाकर वहाँ से गुजर गई ॥२॥ तब व्यास जी का शुक्र सहसा मन्थनारणी में ही गिर गया ॥७॥ जिससे व्यास जी के समान मनोहर रूप वाले शुकदेव जी प्रादुर्भूत हुये ॥८॥

समाधान

उक्त कथा में भी व्यास जी के अमोघवीर्य की ही महिमा लक्षित होती है। जब कि तप के प्रभाव से रजोवीर्य के बिना भी मानसी सन्तान का उत्पन्न हो जाना वेदादि शास्त्रों में लिखा है, तब स्थूल शरीर की कारण सामग्री से परिपूरित अमोघ वीर्य के द्वारा पुत्र का उत्पन्न हो जाना किसी प्रकार भी असम्भव नहीं कहा जा सकता। मानसी किंवा तापसी सृष्टि का वर्णन वेदों में डंके की चोट किया है, यथा—

(क) मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। (अथर्व १९। ५२। १)

(ख) श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव। (अथर्व ६। १३३। ४)

अर्थात्—(क) सृष्टि के आरम्भ में 'मनसो रेतः'=मानसिक वीर्य ही था। (ख) श्रद्धा की पुत्री तप से उत्पन्न हुई थी, जो कि सृष्टि के सूत्रधार ऋषियों को बहिन लगती थी।

इसलिए व्यास जी ने अपने अमोघवीर्यगत एक विशिष्ट कीटाणु को पूर्वप्रदर्शित पद्धति के अनुसार परिपुष्ट करके पुत्ररूप में परिणत कर लिया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात हुई ?

घड़े से अगस्त्य और वसिष्ठ

३८ कहा जाता है कि मित्रावरुण उर्वशी अप्सरा को देख कर क्षुब्ध हो गये, और अपना वीर्य यज्ञ कलश में डाल दिया, जिससे अगस्त्य और वशिष्ठ ऋषि उत्पन्न हुवे। यह कथा न केवल असम्भव है बल्कि अश्लील भी है।

वैदिक स्वरूप

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाःपुष्करे त्वा ददन्तः।११।
अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः ॥१२॥
सत्रेजाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततोहमानउदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्।१३।
(ऋग्वेद ७। ३३)

अर्थात्—हे वशिष्ठ! आप मित्रावरुण के पुत्र हो, हे ब्रह्मन्! उर्वशी को देख कर उक्त देवताओं का मानसिक द्रप्स=(वीर्य) स्कन्न=(च्युत) हो गया था जिससे तुम उत्पन्न हुवे हो, इसलिये समस्त देवताओं ने दिव्य वेद-राशि सहित आपको पुष्कर में धारण किया

था ।।११।। वसिष्ठ अप्सरा से उत्पन्न हुवे थे ।।१२।। यज्ञ में दीक्षित हुवे मित्र और वरुण ने दूसरों द्वारा प्रमाणित होने के बाद एक साथ ही कुम्भ (घड़े) में रेत: (वीर्य) को सींचा था, तब उस घट में से शमीप्रमाण अगस्त्य का प्रादुर्भाव हुआ था और उससे ही वसिष्ठ का जन्म हुवा था ।।१३।।

सायण—भाष्योद्धृत--इतिहास

यजुर्वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्रों का व्याख्यान करते हुवे नीचे लिखा इतिहास भी उद्धृत किया है, जिससे इन दोनों महर्षियों की पुराण-प्रदर्शन उत्पत्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

तयोरादित्ययो: सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद् वासतीवरे ।।२।।
तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रार्षी संबभूवतु: ।।२।।

तात्पर्य प्राय: वही है जो कि वेद मन्त्रार्थ में व्यक्त किया जा चुका है। आगम प्रमाण की विद्यमानता में हम स्वयं कुछ भी लिखना अनावश्यक समझते हैं, हां ! इतना इशारा करना अनुचित न होगा कि देवसामर्थ्य की अचिन्त्य महिमा है, तदनुसार वीर्यगत कीटाणुओं का तत्काल प्रवृद्ध हो जाना कुछ दु:साध्य बात नहीं है। यदि इतने पर भी महाशयों को सन्तोष न हो तो उन्हें व्याख्यानभूत पुराण ग्रन्थों का पीछा छोड़ कर वास्तविक अपराधी वेदों अथवा उनके बनाने वाले निराकार बाबा की ही नालिस करनी चाहिये जो कि खुले बन्दो उक्त दोनों महर्षियों की अप्राकृतिक उत्पत्ति का ढिंढोरा पीट कर विचारे दयानन्दियों की दकियानूसी का पर्दा फास करते हैं।

सगर के साठ हजार बेटे

३९ 'ब्रह्माण्ड-पुराण' में लिखा है कि सगर की रानी सुमति के गर्भ से एक मांस का बेडौल लौथड़ा पैदा हुआ। राजा उसे बाहिर फेंकने को तैयार था कि महर्षि और्व ने उसे समझाया कि इस मांसपिण्ड में बहुत से जीवित बीज विद्यमान हैं, अतः आप यत्नपूर्वक इनकी रक्षा कीजिए जो समय पाकर आपके पुत्र कहलाएँगे। ऋषि की आज्ञानुसार घी के बर्तनों में उस मांसपिण्ड के विभिन्न साठ हजार खण्ड यत्नपूर्वक रक्खे गये, तथा उनकी रक्षा के निमित्त प्रत्येक बर्तन पर एक २ धाय नियत कर दी गई। इस तरह बहुत काल बीत जाने पर महातेजस्वी साठ हजार कुमार उन बर्तनों में से प्रादुर्भूत हुये, यथा—

एवं क्रमेण सञ्जातास्तनयास्ते महीपतेः।
ववृधुः संघशो राजन्षष्टिसाहस्रसंख्यया॥

(ब्रह्माण्डपुराण, उपद्घातपाद ५६। ७)

वैदिक स्वरूप

षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आरुशमेषु दद्महे।

(अथर्व २०। १२७। १)

अर्थात्—साठ हजार नब्बे मांसपेशियों को आधान पात्रों में प्रदान किया।

जान पड़ता है कि महाराजा सगर के वीर्याधान करने पर किसी खास कारणवश रानी के गर्भाशय में वीर्यगत कीटाणुपुञ्ज मक्खियों

के छत्ते की भाँति पृथक् २ ही जरायु कोश में संश्लिष्ट रहे। गर्भाशय के स्वल्पावकाश के कारण और प्रत्येक कीट को उचित परिपोषक रस के न मिल सकने के कारण भी वे सब कीट परिपुष्ट होकर हाथ पांव आदि अङ्गों का विकाश न पा सके, परन्तु अमोघ वीर्य होने के कारण वे विनष्ट भी नहीं हुए। आजकल भी प्रकृति के वैलक्षण्य से कभी २ स्त्रियों के पेट से दो चार तक बच्चे पैदा होते देखे जाते हैं तथा कभी २ मांसपेशियों की दशों थेलियें उत्पन्न होती देखी गई हैं। यह घटना गर्भ में वीर्यगत कीटाणुओं के एक से अधिक संख्या में बने रहने पर ही घटित हो सकती है, सो इससे महारानी के उदर में भी प्रकृति के नियन्त्रण से बहुत से कीटाणुवों का बने रहना अनुमान सिद्ध है।

जिज्ञासा हो सकती है, कि पुराणों में तो सगर पुत्रों की संख्या साठ हजार लिखी है परन्तु वेद में इसके विपरीत साठ हजार और नब्बे बताई गई है—इस विरोध का क्या कारण है? हमारी समझ में आरम्भ में तो घी के बर्तनों में साठ हजार और नब्बे ही कीटाणु डाले गये होंगे जैसा कि वेद के उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध होता है, परन्तु उनमें से पूरे नब्वे उपचार निगरानी की शिथिलता के कारण विनष्ट होकर अन्तिम दिन साठ हजार ही शेष रहे होंगे, सो वेद प्रमाण में आरम्भिक संख्या का उल्लेख है और पुराणों में अन्तिम संख्या बतलाई है यही द्वितीय वर्णन का अभिप्राय है।

हम पीछे लिख आये हैं कि वीर्य के बिन्दु में अगणित कीटाणु होते हैं सो अमोघरेत: सगर के आधान किये हुये गर्भ में साठ हजार कीटाणुओं का हो जाना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। आशा है हमारे लालनीय लाला चिम्मनलाल जी अब इन साठ हजार लल्लाओं की लत में पड़ कर अपनी तबियत को व्यर्थ ही अलील न करेंगे?

सौ कौरव

४०

धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों का वर्णन प्राय: सभी को विदित है। कहा जाता है कि गान्धारी को व्यास जी ने सौ पुत्र होने का वर दिया था तदनुसार यह सगर्भा हुई। उसी समय पाण्डवों की माता कुन्ती भी गर्भवती थी। दशवें महीने कुन्ती के उदर से युधिष्ठिर जी का जन्म हुआ परन्तु गान्धारी तथैव सगर्भा बनी रही। तीन वर्ष के बाद कुन्ती ने पुन: सगर्भा होकर दूसरे पुत्र भीम को प्रसव किया, गान्धारी अब भी सगर्भा बनी रही। अपनी देवरानी के बालकों का डाह से दग्ध होकर गान्धारी ने अपने पेट को खूब पीटा जिससे वह गर्भ गिर गया। व्यास जी ने अपना वर सत्य करने के अभिप्राय से उस पतित हुये मासपिण्ड के एक सौ एक खण्डों को तथैव घृत-कुम्भों में सुरक्षित रक्खा जिससे समय पाकर दुर्योधनादि सौ पुत्र और दु:शला नाम की एक कन्या प्रादुर्भूत हुई।

उपर्युक्त कथा का समाधान भी पूर्वोक्त सगर-पुत्रों की कथा के अनुसार ही समझ लेना चाहिए, दुहराना व्यर्थ है।

बुढ़ापे के बदले जवानी

४१

श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है कि महाराजा ययाति को भृगु जी ने कारणवश बूढ़ा हो जाने का शाप दिया था, परन्तु पीछे से ययाति के विनय करने पर किसी दूसरे को अपना बुढ़ापा देकर उससे यौवन लेने का शापानुग्रह भी कर दिया था, तदनुसार ययाति ने अपने अन्यतम बेटे पूरु से जरा के परिवर्तन मे यौवन लेकर बहुत दिन तक विषयभोग किया, यथा—

इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः ।
सोऽपि तद् वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप !

(श्रीमद्भागवत ९ । १८ । ४५)

[अभिप्राय ऊपर आ चुका है]—यह लौट बदल का छूमन्तर बुद्धि-ग्राह्य नहीं ।

समाधान

हम इसी ग्रन्थ के पीछे वेद प्रमाण-पूर्वक लिख आये हैं कि अश्विनी कुमारों ने अतीव जीर्णशीर्ण बूढ़े च्यवन को षोडश वर्ष वयस्क के समान जवान बना दिया था । सो जब कि अमुक अमुक उपचारों द्वारा वार्धक्य को सर्वथा निर्मूल ही किया जा सकता है तो फिर उसकी लौट बदल में क्या आश्चर्य हो सकता है ? योगदर्शन के विभूतिपाद में अमुक २ साधनों द्वारा तथा आयुर्वेद में तत्तत् औषधी द्वारा 'काया कलट' हो जाने का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है । अब भी पाश्चात्य देशों के डाक्टर वानर आदि की गिलटियों को जराजीर्ण मनुष्यों के शरीर में बदल कर उसे यौवन प्रदान करने की चेष्टा में संलग्न हैं । इस उपचार में एक सीमा तक सफलता भी मिली है । सम्भव है आगे चलकर यह उद्योग बूढ़ापन दूर करने का अचूक उपचार सिद्ध हो सके ।

इसके अतिरिक्त विशुद्ध मन से तादृश दृढ़ संकल्प करने की दशा में एक दूसरे का सुख दुःख बाँटा भी जा सकता है । इसके लिये बहुत सी लौकिक घटनाएं प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, जैसे प्रायः सभी जानते हैं कि एक बार मुगल सम्राट् बाबर का हुमायूं नामक शाहजादा अतीव रुग्णावस्था में था । जब वैद्य और हकीमों ने उसके जीवन से निराशा प्रकट की तो सम्राट् ने पुत्र वात्सल्य से प्रेरित होकर दृढ़संकल्पपूर्वक ईश्वर से प्रार्थना की, कि 'मेरे पुत्र का समस्त रोग मुझ में आ जाये, और यह सर्वथा नीरोग हो

जाए'। बस, ज्योंही इस प्रकार की सच्ची भावना से बादशाह ने अपने पुत्र की चारपाई की तीन प्रदक्षिणा की त्योंही पुत्र का रोग पिता के शरीर में संक्रमण कर गया और आन की आन में बादशाह बीमार होकर कुछ दिन के बाद मर गया, तथा पुत्र स्वस्थ मनुष्य की भांति सब कार्य करने के लायक बन गया।

दूर क्यों जाते हो, चतुर्मास में उत्पन्न होने वाला भ्रमरी (भंभीरी) नामक कीट दूसरी जाति के कीड़ों को तत्परता से सेता हुआ अपने समान बना लेता है—यह बात प्रायः सभी जानते हैं। जब कीट पतङ्गों में भी मनोविज्ञान के प्रभाव से काया पलट कर डालने की योग्यता विद्यमान है तब—'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति' (निरुक्त) निर्वचन के अनुसार मानसिक व्यापार के ठेकेदार 'मनुष्य' कहलाने वाले प्राणियों का तादृश चमत्कार असम्भव क्यों जंचता है?—यह पहेली हमारी समझ में नहीं आती! इसलिये बूढ़े ययाति का बदले में जवानी ले लेना मनोविज्ञान का ही एक चमत्कार है।

धृष्टद्युम्न और द्रौपदी

४२ इस प्रकार राजा द्रुपद के पुत्रेष्टि यज्ञ में गर्भाधायक हविष्य के तैयार हो जाने पर द्रुपद पत्नी का ऋतुमती हो जाने के कारण यज्ञशाला से बाहिर चले जाना और मुहूर्त टल जाने के खयाल से किया धरा सब यज्ञ व्यर्थ जाता देखकर ऋत्विजों द्वारा उस हविष्य का अग्निकुण्ड में ही स्वाहा कर देना, एवं उस अग्निकुण्ड में से धृष्टद्युम्न नामक कुमार और द्रौपदी नामक कन्या का प्रादुर्भूत होना, वेद मन्त्रों की अलौकिक शक्ति का चमत्कार ही समझना चाहिए।

मत्स्यगन्धा और मत्स्यराज

४३ उपरिचर राजा द्वारा अपनी ऋतुस्नाता पत्नी के पास सधाये हुये बाज नामक पक्षी द्वारा वीर्य्य भेजने पर मार्ग में अन्य पक्षियों के झमेले में वीर्य्य का दोना गिर-जाना और वीर्य्य का शापवश मछली बनी हुई अद्रिका नामक अप्सरा के अन्दर चले जाना जिससे मत्स्य नामक कुमार और मत्स्यगन्धा नामक कन्या का प्रादुर्भूत होना भी अमोघ वीर्य्य की महिमा का ही अन्यतम उदाहरण समझना चाहिए।

हम मन्त्रमहिमा और अमोघ वीर्य्य का रहस्य पीछे लिख आये हैं अतः यहाँ पुनः चर्वितचर्वण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

गोकर्ण जन्म

४४ पद्म-पुराणान्तर्गत-श्रीमद्भागवत माहात्म्य में वर्णन आता है कि आत्माराम नामक निःसंतान ब्राह्मण को एक महात्मा ने गर्भाधायक ने फल देकर उसके विधिपूर्वक खाने की व्यवस्था की। परन्तु पण्डिताइन जी अजीब ढंग की औरत थीं, अतः उन्होंने वह फल स्वयं न खाकर अपनी गाय को खिला दिया, जिससे यथा समय गाय के पेट से मनुष्याकृति किन्तु गाय के सदृश कानों वाला बच्चा पैदा हुआ। वह अपनी अवस्था में जाकर अत्यन्त विद्वान् एवं धार्मिक मनुष्य प्रसिद्ध हुआ, यथा—

धेन्वा बालः प्रसूतस्तं देवरूपीति कौतुकम् ॥६४॥
गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्ण नाम चाकरोत् ॥६५॥
गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी ॥६६॥ (श्रीमद्भागवत माहात्म्य ४—)

(अभिप्राय ऊपर आ चुका है) कहा जाता है कि— यह कथा सृष्टि नियम के विरुद्ध है।

समाधान

अचिन्त्य प्रकृति के वैलक्षण्य से कई बार अघटित सी जंचने वाली घटनाएँ भी घटित हो जाया करती हैं। हमारे अपने छोटे से जीवन काल में भी ऐसे एक दो अद्भुत प्रसव देखने तथा सुनने में आये हैं, जब कि मानव स्त्रियों से पशु पक्षियों जैसे अमुक २ अङ्गों वाले विचित्र आकार के बालक तथा गाय और भैंसों से न्यूनाधिक विलक्षण अवयवों वाले बच्चे पैदा हो गए हों। यद्यपि ऐसे बच्चे अधिक काल तक प्रायः जीवित नहीं रहा करते हैं, तथापि कभी २ कुछ विलक्षण बालक सरकसों और प्रदर्शनियों में भी देखने को मिलते हैं। अफ्रीका में पर्य्यटन करते हुये हमने युगंडा प्रान्त के घने जङ्गलों में एक ऐसे ही अद्भुत बालक को पाया था जिसके कि कमर के पास से बराबर दो धड़ जुड़ कर दोनों ओर ही पूरे दो शिर थे, चार भुजाएं थीं और कोखों में तीन पूरी टाँगे, तथा एक अधूरी सी टाँग विद्यमान थी। हमारे पास अभी तक इस अद्भुत बालक का फोटो मौजूद है जो सज्जन चाहें देख सकते हैं।

इस तरह सामयिक समाचार पत्रों में भी विलक्षण बालकों के प्रसव के लेख बहुधा छपते रहते हैं, प्रमाणार्थ हम यहां एक दो उद्धरण देते हैं यथा—

चौपाया बच्चा

'मङ्गलौर में एक प्रोफेसर की पत्नी ने चार पाँव का बालक प्रसव किया है। इसके मुंह पर मूछें और शरीर घुंघराले बालों से ढका हुआ है। प्रशंसनीय बात यह है कि इसकी नाक लम्बी और शिर मनुष्य का सा है।' (ता० ३१-८-२५ के 'हिन्दू सर्वस्व'–हरिद्वार से—)

तीन टांग का अर्धनारीश्वर

'देहली में आठ वर्ष की आयु का एक ऐसा बालक है कि जिसकी तीन टांगें हैं। इसका आधा शरीर पुरुष और आधा स्त्री का है !'

(ता० २६-८-१९२५ 'हिन्दू सर्वस्व' से—)

रीछ और गधे का मिक्स

"लाहौर १९ जून। लाहौर जिले के एक बढ़ई की स्त्री ने एक लड़की को जन्म दिया है जिसका भालू जैसा चेहरा और गधे जैसे कान हैं। उसकी जीभ गर्दन से सटी हुई है। लड़की जन्म लेने के कुछ घण्टों पीछे मर गई।'* (ता० २१-६-१९२६ के 'हिन्दू संसार' देहली से)

जब कि मानव स्त्रियों के पेट से पशुओं के आकर प्रकार के अद्भुत बच्चे अब भी पदा होते हैं तब अतीत काल में गाय के पेट से मनुष्याकृति बच्चे का पैदा हो जाना किस न्याय से सृष्टि नियम के विरुद्ध जंचता है, यह दुरंगी हमारी समझ में नहीं आती ! कदाचित् महाशयों को गोकर्ण का पूर्ण पण्डित होकर मनुष्यायु भोगना अखरता हो तो उन्हें महात्मा-प्रदत्त उस फल का भी तो ध्यान करना चाहिये जो कि योग-विद्या के चमत्कारों से परिपूर्ण होने के कारण अमुक २ गुणसम्पन्न दीर्घायु: सन्तान प्रदान करने की सामर्थ्य रखता था। इसलिये योग-शक्ति के प्रभाव का तथा प्रकृतिदेवी के वैलक्षण्य का विचार करते हुये उक्त कथा का मनन करना चाहिये। जो बात हमारी तुच्छ बुद्धि में न समा सके उसके लिये 'सृष्टिनियमविरुद्ध' होने का फतवा दे देना तो निरी अज्ञता है।

---

* इस प्रकार के अद्भुत समाचार व तथ्यों को जानने के लिये पढ़ें पुराणदिग्दर्शन परिशिष्ट नं० १।।)

ब्रह्मा के कानों से दिशाओं की उत्पत्ति

४५ महाशय चिम्मनलाल 'पुराण-तत्त्व-प्रकाश' में फर्माते हैं कि—'वाराह-पुराण' अध्याय २६ में लिखा है कि जब ब्रह्मा को चिन्ता हुई तब ब्रह्मा के कानों से दस दिशाएं उत्पन्न हुईं।

प्रादुर्बभूवुः श्रोत्रेभ्यो दश कन्या महाप्रभाः।
पूर्वा च दक्षिणा चैव प्रतीची चोत्तरा तथा ॥३॥

(लाला जी के खयालेशरीफ में यह लेख भी पुराणों की असम्भवता का एक नमूना है। शायद आपका कभी नीचे लिखे वेद मन्त्र से वास्ता नहीं पड़ा—)

(क) पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकां २॥ अकल्पयन्।
(यजुः ३१ । १३)

(ख) दिशो मे श्रोत्रे श्रिताः (तैत्तिरीय ३।१०।८।६)

(ग) अथ यत्तच्छ्रोत्रमासीत्ता इमा दिशोऽभवन्।
(जैमिनीयोपनिषद् २ । २ । ४)

(घ) यत्तच्छ्रोत्रं दिश एव तत्। (शतपथ १० । ३ । ३ । ७)

अर्थात्—(क) विराट् भगवान् के पाँवों से भूमि और श्रौत्र से दिशाओं की उत्पत्ति हुई, इसी प्रकार अन्यान्य अङ्गों से लोकान्तर की रचना हुई (ख) दिशायें मेरे श्रोत्रेन्द्रिय के आश्रित हैं। (ग-घ) विराट् भगवान् के श्रोत्र ही दिशायें हैं।

कहिये भद्रगुप्त जी! आपको कानों से दिशाओं का उत्पन्न होना

ही असम्भव जंचता था परन्तु यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय में तो निराकार बाबा के अमुक २ अङ्गों से गाय, घोड़ा, गधा, भेड़, बकरी और आकाश-पाताल समस्त चराचर का उत्पन्न होना अङ्कित है। कदाचित् आपको निराकार के वचन भूत उपर्युक्त वेदमन्त्रों पर शंका करने की गुजाँइश हो तो हम एक प्रत्यक्ष घटना द्वारा भी आपको शङ्कापङ्क से निकालने का प्रयत्न करेंगे, जरा आंख उघाड़ कर पढ़िये—

सात महीने की लड़की के शिर से बच्चा पैदा हुआ।

'जलालपुर—जट्टां (पंजाब) का समाचार है कि एक सात महीने की लड़की के सिर में 'रसौली' की तरह कई पौण्ड वजन का फालतू मांस बढ़ा हुवा था, लड़की के संरक्षकों ने कई डाक्टरों से उसे कटा देने का प्रयत्न किया परन्तु किसी भी डाक्टर को औपरेशन करने की हिम्मत न हुई, आखीर डाक्टर बोधराज साहिब ने उसका औपरेशन किया तो उस कटे हुवे मांस पिण्ड में से एक बच्चा निकला जिसके सब अङ्ग मुकम्मल बन चुके थे, हड्डियें भी बराबर थीं—जिस लड़की का औपरेशन किया गया वह अभी जीवित है, लोग दूर दूर से देखने आते हैं।

'ता० २२-५-३३ अखबार 'तालीम' (लाहौर) से

शिल्प निंदा का आक्षेप

४६ महाशय कर्मानन्द सरस्वती समाजी ने पुराणों पर कुछ आक्षेप किये थे हम उन पर भी विचार करना आवश्यक समझते हैं। इस सिलसिले में पहिले उनका आक्षेप और फिर अपना समाधान रक्खा गया है, पाठक मनन करें—

शिवपुराण वायुसंहिता अध्याय ३१ श्लोक ३६ में लिखा है—

शिल्पिनः कारवो वैद्या हेमकारा नृपध्वजाः ।
भृतकाः कूटसंयुक्ताः सर्वे ते नारकाः स्मृताः ॥

अर्थात्—कारीगर, शिल्पी, वैद्य, सुनार, राजा की ध्वजा उठाने वाले नौकर और मक्कार ये सब नरकगामी हैं अर्थात् दोजखी हैं।

जब से इन सब पुराणों ने इस प्रकार की शिक्षा देनी आरम्भ की, तभी से भारतवर्ष का सुख नष्ट होगया और अन्यों से पदाक्रान्त होकर यह आज अनेक प्रकार के असह्य कष्ट भोग रहा है। क्या आप इसको वेदानुकूल सिद्ध कर सकते हैं ?

समाधान

इस श्लोक का अर्थ आपने खाक भी नहीं समझा । किसी सनातन-धर्मी विद्वान् के चरणों में बैठकर कुछ दिन साहित्यशास्त्र का अध्ययन कीजिये तब विशेष्य, विशेषणों की अन्वय शैली का बोध होगा। सुनिये इस श्लोक में 'कूट-संयुक्ताः' जो पद है वह शिल्पी आदि हर एक विशेष्य (Noun) का विशेषण (Adjective) है और इसका अर्थ 'धोखेबाज' है। सो कदाचित् हथियार बनाने वाले कारीगर, जीवन के रखवाले वैद्य, सोने वगैरा की कानों के इन्चार्ज, और सेना के अग्रभाग में झण्डा उठा कर आगे पीछे बढ़ने का इशारा करने वाले आफिसर मालिक को धोखा देने वाले हों तो वे नरकगामी होते हैं, यही इसका भाव है।

थोड़ी सी समझ रखने वाला मनुष्य भी समझ सकता है कि इस श्लोक में जिन चार पदाधिकारियों का जिक्र किया गया है वे अत्यन्त विश्वासपात्र तथा ईमानदार होने चाहियें । यदि भूल से धोखेबाज मनुष्यों को इन पदों पर नियत कर दिया जाय तो वे राष्ट्र का सर्वनाश कर सकते हैं।

शस्त्र बनाने वाले कारीगर शत्रु से मिल कर कच्चे लोहे के ऐसे हथियार बना सकते हैं जो कि सेना को ऐन मौके पर असफल कर दें विश्वासघाती वैद्य औषधि के स्थान में बिना किसी रुकावट के जहर मिला सकता है। खानों के इन्चार्ज गुप्त रीति से शत्रु को आर्थिक मदद दे सकते हैं। झण्डा उठाने वाला गलत सङ्केत देकर अपनी ही सेना को शत्रु की तैयार की हुई खन्दक में गिरा सकता है।

पुराणों की उपर्युक्त शिक्षा कितनी धर्मसंगत, एवं राष्ट्र को सम्भव विपत्ति से सावधान करने वाली है यह कोई भी समझदार तत्काल समझ सकता है। जब से भारतीय पुरुषों ने आर्यसमाज सदृश अदूरदर्शी लोगों के देशनाशक प्रोपेगंडे के जाल में फंसकर पुराणों की ऐसी अनुपम शिक्षाओं पर ध्यान देना छोड़ा है तभी से भारतवर्ष का सर्व सुख नष्ट हो गया और अन्यों से पदाक्रांत होकर आज अनेक प्रकार के असह्य कष्ट भोग रहा है, शिवपुराण की उपर्युक्त शिक्षा वेद के—

'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम: (निरुक्त १। ३। ६)

—आदि मन्त्रों के सर्वथा अनुकूल है। मनुस्मृति (९-२५८-२६१) में भी इसका स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है।

मद्यमांस से देवी का पूजन

भविष्यपुराण उत्तरपर्व अध्याय ६१ श्लोक ५१-५२

४७ कुमारी सुभगा देवी सिंहस्यदनगामिनी।
ध्वजान्नानाविधान्कृत्वा पुरस्तस्याश्च पूजयेत्
मालती-कुसुमैर्दीपैर्गन्धधूपविलेपनैः। ।
बलिभिः पशुभिर्मेध्यैः सुरामांसासृगम्बरैः ॥

अर्थात्—इसमें स्पष्ट रूप से देवी को माँस, शराब और पशुओं के चढ़ाने का विधान है। क्या वेदों में कहीं इसप्रकार की पूजा की आज्ञा है ?

समाधान

वेद पुराण आदि हिन्दू धर्मग्रन्थों में जहां सत्वगुणी और रजोगुणी पुरुषों को धर्मनिष्ठ रहने की आज्ञा दी है वहाँ तमोगुणी मनुष्यों को भी आस्तिक बनाए रखने की व्यवस्था की है। सनातनधर्म के विशाल क्षेत्र में संसार भर के भले और बुरे सभी प्रकार के मनुष्य समा सकते हैं। यही सार्वभौम धर्म बड़े से बड़े दुराचारी को भी क्रमश: सदाचारी बनाने की शक्ति रखता है। अतएव गीता में—'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्'—ऐसी आज्ञा दी गई है। प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि शराबी एवं कबाबी मनुष्यों को एकदम इस चिराभ्यस्त दुराचार से हटाने की चेष्टा की जाए तो सफलता नहीं मिलती। इसीलिये गीता के 'शनैशनैरुपरमेत' आदेश के अनुसार तरीके से ही धीरे २ बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

तमोगुणी पुरुषों का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाय, यह भी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि—'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' इस मनूक्ति के अनुसार संसार में तमोगुणी मनुष्यों की संख्या अत्यधिक है वे बहिष्कृत किये जाने पर और भी उद्दण्ड एवं उच्छृङ्खल हो जाएंगे और देश में ऐसी अशान्ति फैलेगी कि सदाचारी-समुदाय को जीवन निर्वाह करना भी महाकठिन हो जायगा, अत: ईश्वर ने तमोगुणी मनुष्यों को भी धर्मसूत्र में बाँधकर अस्तिक बनाये रखने का आदेश दिया है और मनुष्य समाज में उनका विशिष्ट स्थान रख दिया है। वे लोग पूजन सामग्री तो अपने आचार के अनुसार ही बर्ताव में लायेंगे, परन्तु किसी न किसी

तरह ईश्वर उपासक एवं आस्तिक अवश्य बने रहेंगे । इसलिए ऋषियों ने—

'यदन्नः पुरुषो लोके तदन्नास्तस्य देवताः'

(वाल्मीकीय रामा० अयोध्या० २०३-३०)

अर्थात्—मनुष्य स्वयं जैसा भोजन खाने वाला हो वह अपने देवताओं को भी वैसा ही प्रदान करता है—ऐसा सिद्धांत स्थिर किया है।

सो भविष्यपुराण का 'कुमारी सुभगा देवी' आदि विधान भी केवल तामस मनुष्यों से ही सम्बन्ध रखता है । वे उक्त रीति से पूजन कर सकते हैं । शेष वैष्णवी उपासना वाले सदाचारी पुरुष तो विशुद्ध पत्रपुष्पादि से ही पूजन करते हैं—यह प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है। तमोगुणी अधिकारियों के लिए वेद में भी ऐसी तामसी उपासना का उल्लेख मिलता है, यथा—

यन्मांसं निपृणामि ते । (अथर्व १८ । ४ । ४२)

अग्नमु पशोर्मांसम् । (शतपथ ७ । ५ । २ । ४२)

—इत्यादि प्रमाण दर्शनीय हैं ।

महाशय जी ! आपको यह प्रश्न करते हुये आर्यसमाज की उस मांस पार्टी का ध्यान नहीं रहा जो कि नित्यप्रति मांस द्वारा ही निराकार बाबा का पूजन करती है और अपने इस कार्य का न केवल वाचिक बल्कि—२०० पृष्ठ की लम्बी चौड़ी 'मांसभोजनविचार' नामक पुस्तक छपाकर वेदमन्त्रों द्वारा खुला समर्थन करती है । उदाहरणार्थ इस पुस्तक से एक आध उद्धरण नीचे देते हैं ।

'जल और घी से पकाया हुआ बकरा सर्वोत्तम खाना है । इससे सुखप्रकाश और ज्ञानादियुक्त धर्मलोक प्राप्त होते हैं' । (पृष्ठ ८६)

'बकरे के जघन के मांस से सिद्ध भात को पश्चिम दिशा में धरो,

दूसरे भाग के पकाये भात को······कुक्षिस्थ माँस से पकाये भात को······बकरे के बकरी वाले स्थान से सिद्ध भात को······मध्य भाग के पकाये भात को पूर्वादि दिशाओं में धरो' (पृष्ठ ६७)

यह पुस्तक जोधपुर (मारवाड़) के आर्यसमाज ने छपाई है। महात्मा हंसराज और प्रोफेसर दीवानचन्द (लाहौर) आदि प्रसिद्ध दयानन्दी नेता डंके की चोट इसके **समर्थक हैं**। जरा आंख खोलकर देख लीजिये कि निराकार बाबा को **भोग लगाने** के लिये किस प्रकार पूर्वादि दिशाओं में बकरे के वभिन्न भागों (यहाँ तक कि गुह्येन्द्रिय) के मांस की बलि दी जा रही है। सम्भव **है आप इसको** एक पार्टी का कृत्य बताकर स्वा० दयानन्द और अपनी **पार्टी का** दोष परिमार्जन करना चाहें परन्तु ध्यान रहे स्वामी दयानन्द **अपने यजुर्वेद** भाष्य में मांस के हवन द्वारा निराकार की पूजा करना **और बचा** हुआ स्वयं खाना समाजियों के लिये स्पष्ट लिख गये हैं, **यथा**—

'जो इस संसार में बहुत पशु वाला होम करके हुतशेष का भोक्ता वेदवित्, और सत्य क्रिया का कर्ता मनुष्य होवे सो प्रशंसा को प्राप्त होता है' (यजुर्वेदीय दयानन्द भाष्य १६। २०)

जुआ खेलने की आज्ञा

४८ कुर्यान्महोत्सवं राजा दिनानि नव सप्त वा।
वैश्याङ्गनानरैर्हृष्टैर्द्यूतक्रीडामहोत्सवैः॥

(भविष्यपुराण उत्तरपर्व ४ अध्याय १३६)

श्लोक २४ से २६ तक, तथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० १२२ श्लोक २५-२६—प्रातर्गोवर्धनः पूज्यो द्यूतं रात्रौ समाचरेत्।

—में स्पष्ट रूप से जुआ खेलने का **विधान है**।

समाधान

जुआ दो प्रकार का होता है, एक पासे, कौड़ियें, सलाई आदि वस्तुओं की संख्या पर दाव लगाना ; दूसरा अन्नादि वस्तुओं के भावी भाव कल्पना करना, तथा मल्लों की शारीरिक गठन के आधार पर हार जीत का अनुमान करना और घुड़दौड़ में घोड़े की चपलता द्वारा तेज दौड़ का अन्दाजा लगाना इत्यादि। मनुस्मृति (९।२२३) में तथा नारद स्मृति में पहले भेद को 'जिह्मकारिता' (ठग्गी) के नाम से और दूसरे भेद को 'समाह्वय' (चुनौती) के नाम से याद किया है।

इसमें से वेदादि शास्त्रों ने पहिले प्रकार के जूए को ही निन्दित कहा है, क्योंकि पासे, कौड़ी आदि जड़ वस्तुओं की परतन्त्रता में पड़ कर खेलने वाला अपनी बुद्धि या पौरुष का इसमें कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता, वह सर्वथा पराधीन रहता है तथा इससे किसी मानसी शक्ति का भी विकाश नहीं होता। इसीलिये वेद में स्पष्टतया—

अक्षैर्मा दीव्य... (ऋग्वेद १० । ३४ । १३)

अर्थात्—पाशे मत खेल ऐसी आज्ञा दी है।

परन्तु दूसरे प्रकार का जुआ शास्त्रों में पाप नहीं समझा गया, क्योंकि इससे कल्पना शक्ति बढ़ती है, तथा साहस का भी उत्थान होता है। अतएव 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' (व्यवहाराध्याय द्यूत प्रकरण २०२) में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि 'जो द्यूत निषेधक वचन हैं वे सब 'कूटाक्षदेवन' (धोखे से पाशों द्वारा ठगना) विषयक हैं।

प्रत्यक्ष में भी संसार भर की समस्त सभ्य गवर्नमेन्टों के कानून में 'जिह्म' (पहिले प्रकार के जुए) को ही अपराध समजा जाता है। बदनी के सौदे, घुड़ दौड़ या बरसात के सट्टे, तथा लाटरी, प्रत्येक शहर में बड़ से बड़े सभ्य सेठ साहूकार—यहाँ तक की राजा और सम्राट् भी

आये दिन लगाते हैं। यद्यपि यह भी एक प्रकार का जुआ ही है और खतरे से भी खाली नहीं, तथापि प्रवृत्ति मार्ग वाले लोगों के लिये एक अंश तक लाभकारी तथा मनोरंजन का साधन है अतः शास्त्र और लोक-व्यवहार में इसे अपराध नहीं समझा जाता।

पुराणों के जिन प्रमाणों को उद्धृत करके महाशय जी प्रश्न कर रहे हैं इनमें 'समाह्वय' का ही विधान किया गया है 'जिह्म' का नहीं। जैसे 'कुर्य्यान्महोत्सवं राजा' में कहा गया है कि राजा को दीवाली के मौके पर ७ या ६ दिन का एक महोत्सव मनाना चाहिये, जिसमें अनेक गाने बजाने वाले अपनी २ कला दिखायें तथा द्यूत = (घुड़दौड़, मल्लयुद्ध, बदनी के सौदे, और लाटरी आदि) का भी प्रबन्ध किया जाय।

आज भी जर्मनी, जापान, अमेरिका और इङ्गलैंड जैसे प्रगतिशील देश युवक-वर्ग को साहसी बनाने के लिये ऐसे मनोरंजनकारक महोत्सव मनाते हैं। इसीलिए वे मुट्ठीभर आदमी संसार के अरबों मनुष्यों पर शासन कर रहे हैं। परन्तु हमारे कूपमण्डूक कर्मानन्द जी को इस राष्ट्रीय उत्थान के समय में भी युवकवृन्द के साहस को प्रोत्साहन देने वाले ऐसे २ आर्ष विधान वेद प्रतिकूल जंचते हैं, इसे मस्तिष्कदासता के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

वेश्याओं की मुक्ति का अपूर्व उपाय

४६ भविष्यपुराण उत्तर पर्व ४ अध्याय १११ श्लोक ४१ से अध्याय-समाप्ति पर्यन्त।

यथेष्टाहारभुक्तश्च तमेव द्विजसत्तमम्।
रत्यर्थं कामदेवोऽयमिति चित्तेऽवधार्य च ॥४४॥

यद्यदिच्छति विप्रेन्द्रस्तत्तद् कुर्याद्विलासिनी ।
सर्वभावेन चात्मानमर्पयेत् स्मितभाषिणी ॥४५॥
ततः प्रभृति योऽन्योपि रत्यर्थं गृहमागतः ।
स सम्यक् सूर्यवारेण समं पूज्यो यथेच्छया ॥५५॥
एवमेकं द्विजं शान्तं पुराणज्ञं विचक्षणम् ।
तमर्चयेच्च सदा अपरं वा तदाज्ञया ॥५६॥
करोति या शेषमखण्डमेतत् कल्याणिनी माधवलोकसंस्था ।
सा पूजिता देवगणैरशेषैरानन्दकृत्स्थानमुपैति विष्णोः॥६४॥

—इत्यादि श्लोकों में वेश्याओं को आदित्यवार के दिन ब्राह्मणों की भोगेच्छा आदि सब इच्छायें पूर्ण करना तथा ऐसा करने से विष्णुलोक की संप्राप्ति किस वेद की आज्ञा के अनुकूल है ?

समाधान

दयानन्दियों को अपनी विकृत बुद्धि के अनुसार चारों ओर नियोग भोग का प्रयोग ही दीख पड़ता है, इस मोतियाविन्द का इलाज हमारे पास क्या हो सकता है ? अफसोस तो यह है कि यही महाशय लोग उधर तो 'चाँद' आदि पत्रों में वेश्याओं के सुधार का मनमाने ढंग पर आन्दोलन खड़ा करते हैं और इसकी आवश्यकता के गीत गाते हुये थकते नहीं, इधर जब वेदव्यास जी के शब्दों में भगवान् कृष्ण जी की बताई हुई वास्तविक सुधार स्कीम सामने आती है तो इन्हें चौथइय्या बुखार चढ़ जाता है ।

बात यह है कि महाराजा धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर जी ने एक बार श्रीकृष्ण भगवान् से वेश्याओं के सुधार का उपाय पूछा और भगवान् ने बड़ी ही

सारगर्भित रीति से इसका उत्तर दिया। यह एक लम्बा प्रसङ्ग है, जिसे साद्यन्त पढ़ लेने पर बड़ा ही आनन्द आता है, तथा जीवन्मृत इन पतित बहनों की करुणामयी दशा पर चार २ आँसुओं रोने वाले दयार्द्रहृदय मनुष्यों को, वेश्या सुधार की कठिन समस्या को हल करने के लिये क्या कुछ करना चाहिये इसका भी स्पष्टीकरण हो जाता है। महाशय जी यदि इसे शुरू रे आखीर तक लिख देते तो सारी कलई खुल जाती परन्तु चूहे के चेले दयानन्दियों की बीच २ से प्रमाण कतर डालने की आदत कब छूटने लगी। यहाँ भी 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू' को चरितार्थ किया गया है।

भगवान् ने इस प्रसङ्ग में जो आज्ञा की है उसका सार यह है कि कोई भी व्यसन एकदम छोड़ डालना महा कठिन है अतः बुद्धिमान् उसे शनैः शनैः छुड़ाया करते हैं। सो यदि अगणित पुरुषों से व्यभिचार करने वाली वेश्यायें दो बातों का नियम बांध लें तो उनका बहुत कुछ सुधार हो सकता है, पहिली बात (१) यदि कोई द्विज, वेश्या को दासी या ख्वाहिश के रूप में भोजन आच्छादन मात्र पर अपनी शरण में रखले तो उसी एक को अपना सर्वस्व समझ कर आत्मसमर्पण कर दें, तथा उसकी आज्ञाकारिणी बनकर सभ्य महिलाओं की भाति अपना शेष जीवन बिताये। इससे अनेक पुरुषों से व्यभिचार करने की पतित वृत्ति भी छूट जायेगी और योगक्षेम का प्रश्न भी हल हो जायगा। दूसरी बात (२) प्रत्येक रविवार को उपवास करके किसी 'शान्त' = (विषय-वासनानिर्मुक्त एवं रागद्वेषरहित) वेद पुराणों के ज्ञाता विचक्षण ब्राह्मण से कथा वार्ता आदि सुने और उसका यथोचित सत्कार करे। ऐसा करने से 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन:' इस गीता के सिद्धान्तानुसार यह उत्तरोत्तर विषयों से क्लान्त होकर समस्त देवताओं से भी पूजित हो जायगी, और अन्त में अखण्ड आनन्दमय मुक्तिपद को पायेगी। इस प्रकार यह प्रसंग समाप्त होता है।

महाशय जी ने बहुत कुछ कसर ब्योंत करने के बाद बीच २ से काट छांटकर भी जो प्रमाण प्रश्न में उपस्थित किये हैं उनमें भी कई ऐसे शब्द आ गये हैं जो महाशय जी के किये आक्षेप पर पानी फेरते है यथा—श्लोक ५६ में 'शान्त' क्या विषय-क्लान्त और पढ़े लिखे मनुष्य ही कामकला में प्रवीण होते हैं ? महाशय जी के भावानुसार तो यहाँ··· ·· पुष्टं कोकशास्त्रविचक्षणम्' होना चाहिये था। हम नहीं समझते कि कर्मानन्द जी ने 'भोगेच्छा' अर्थ किस श्लोक के किस पदका कर डाला है ? मूल में तो इसकी गन्ध भी नहीं है। संभवतःयह आप की ही खोपड़ी की उपज है। क्योंकि आर्यसमाज में सन्यासियों की खोड़ी में भी ऐसा ही माल मसाला पर्याप्त मात्रा में भरा रहता है, यह रहस्य 'सत्यार्थ-प्रकाश' के चौथे समुल्लास की 'पतिमेकादशं कृधि' और 'नाक से नाक' वाली कोकशास्त्रीय शिक्षाओं के देखने पर स्पष्ट हो जाता है।

क्यों कर्मानन्द जी ! भला भविष्यपुराण में तो वेश्याओं की व्यभिचार वृत्ति छुड़ाने के लिये एक पुरुष के घर बैठ जाना भी आपको बेतरह अखरता है, परन्तु स्वामी दयानन्द का—संसार भर की पतिव्रता स्त्रियों को बिना रोक टोक ११, २१ और अगणित पुरुषों से व्यभिचार करने का हुक्म आपको सूझता भी नहीं। यही क्यों—(१) क्वाँरी कन्याओं का विवाह से पूर्व ही 'गुप्त व्यवहार' में ट्रेण्ड हो जाना (स० प्र० ६३) (२) विवाह संस्कार के पूर्व 'इमन्ते उपस्थं' मन्त्र द्वारा वर के मूत्रेन्द्रिय पर शहद, शराब या जल डालना (सं० वि० पृ० १२६)। (३) पति की लाश घर में पड़ी रहते ही किसी महाशय से 'आर्यसमाज' कराना (स० प्र० ११८) (४) सगर्भा होते हुये भी दूसरा गर्भ ठुंसवाने की चेष्टा करना (स० प्र० १२३) आदि तुच्छ दयानन्दीय शिक्षाओं पर भी कभी ध्यान दिया है ?

अस्तु, आपकी तो आप जनें। परन्तु हमारे भविष्यपुराण की

उपर्युक्त व्यवस्था वेद के—

'दुरितानि परासुव' (यजु० ३० । ३)

तथा गीता के—'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः' ।। (अर्थात्—महादुराचारी भी यदि अनन्यभाव से मेरी भक्ति में तत्पर हो जाये तो उसे श्रेष्ठ ही समझना चाहिये) के सर्वथा अनुकूल है ।

पुराणों में शास्त्रों का खण्डन

५० पद्मपुराण उत्तर खण्ड अध्याय २३६ श्लोक १ से २७ तक में पुराणों को तथा दर्शनों को और स्मृतियों को तामसादि बताया है वह किस आधार पर है? क्योंकि दर्शनादि वेद के उपांग हैं, तथा स्मृतिकारों ने पुराणपाठकों की निन्दा की है, यथा—अत्रिस्मृति श्लोक ३८५-८६ में 'पुराण पढ़ने वाले ब्राह्मण को जो यज्ञ, दान और श्राद्ध में बुलाता है उसके पितर नरक में चले जाते हैं । दान निष्फल होता है और यज्ञ का फल नष्ट हो जाता है ।' फिर भी न जाने आप लोग इनको किस प्रकार वेदानुकूल कहते हैं ?

समाधान

पद्मपुराणादि में जो पुराण, दर्शन और स्मृति ग्रन्थों के सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग किये हैं वे वेद के 'अजामेकां लोहितशुक्ल-कृष्णाम्' आदि प्रमाणों के आधार पर त्रिगुणी माया के कार्यजात को सामने रखकर किये हैं । महाशय जी को इतनी भी खबर नहीं कि तामस आदि भेद न केवल पुराणादि ग्रन्थों के ही हैं, बल्कि स्वयं वेद का भी

⅓ रा भाग तामस है जिसका उल्लेख जगन्मान्य गीताग्रन्थ में श्रीकृष्ण भगवान् ने—

त्रैगुण्य-विषया वेदा:, (गीता २ । ७५)

(अर्थात्—वेद रज, सत्व, और तम, तीनों गुणों के विधायक हैं)-—आदि श्लोकों में डंके की चोट किया है ।

किसी ग्रन्थ का तामस होना दूषण नहीं होता बल्कि गुणत्रय-प्रतिपादक होने के कारण 'सर्वतोमुखता' का परिचायक होता है । यदि आपकी कम समझी के अनुसार हिन्दू ग्रन्थों में तामस नामक विभाग न होता तो दूसरे मतमतान्तरों की तरह हिन्दू-धर्म भी अपूर्ण एवं अधूरा ही रह जाता है ! महाशय जी की उलटी सूझ में न जाने गुण भी अवगुणरूपेण क्यों जंचता है ? सम्भवतः पित्त-कुपित बीमार की तरह चांदी, चांद, शंख और दूध जैसे स्वच्छ एवं सफेद पदार्थ भी पीले, मटीले, धुन्धले दीखने लगे हैं ! अत्रिस्मृति श्लोक ३८५-८८६ में पुराण-पाठकों की निन्दा का तो नामोनिशान भी नहीं है । हां ! कपटी दुराचारी तथा मोल खरीदी स्त्री की सन्तान की निन्दा अवश्य लिखी है । शायद महाशय कर्मानन्द जी भी दयानन्द की तरह भंग पीकर प्रश्न लिखने बैठे हैं ! इसीलिये पुस्तक निकाल कर प्रमाण देख लेने की होश नहीं रही । कदाचित् श्लोक ३८१-८२ के 'कीरा: पौराणपाठका:' पद को देखकर पुराणों की निन्दा का भ्रम हो गया है, परन्तु अर्थ-समन्वय का थोड़ा सा बोध भी होता तो 'कीरा:' शब्द पर अवश्य ध्यान पहुंचता ! जनाब ! यह 'कीरा:' शब्द 'पौराणपाठका:'—का विशेषण है, जिसका तात्पर्य 'तोते की तरह शब्दमात्र का रट्टू होते हुवे भी पुराणज्ञान का दम भरने वाला मनुष्य है,'—इसमें निन्दा की कौन बात हुई ? वेद भी 'स्थाणुरयं भारहार: किलाभूत्' आदि मन्त्रों में शब्दमात्र के ज्ञाता की कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं, और अर्थज्ञ की प्रशंसा करते हैं ।

(निरुक्त १ । ६ । २--३) में यह सब प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक आता है । यही भाव यहाँ दिखाया गया है । ऐसे अर्थ ज्ञान-शून्य पुरुषों को दान, यज्ञ, श्राद्ध आदि में सम्मानित करना अवश्य वर्जित है यह तो हमारा सनातन सिद्धाँत है । हमारे यहाँ दयानन्दी समाज की तरह—'विश्वानि देव सवितः !' के स्थान में—

बीस वानिदे सरबत दूरीतानपरासवा

—बोलने वाले पञ्चम-अन्यथासिद्धों को भी 'वेदालङ्कार' की उपाधि नहीं दी जा सकती ?

पुराण शास्त्रों में किसी भी सद्ग्रन्थ की, तथा स्मृत्यादि में किसी ग्रन्थ विशेष के पाठकों की कहीं भी निन्दा नहीं की गई । विश्व भर की निन्दा का ठेका तो एकले दयानन्द जी और उनके चेले चाँटों के नाम सदा के लिये 'रिजर्व' हो चुका है । यह करतूत 'सत्यार्थप्रकाश' आदि ग्रन्थों से, और सत्यवक्ता महात्मा गाँधी के शब्दों में—दूसरे मजहबों की निन्दा करने वाले 'झगड़ालू' समाजियों के व्यवहार से—काफी विख्यात हो चुकी है ।

आयुर्निर्णय

५१

कई महाशय कहते हैं कि पुराणों में तथा रामायण महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों में अनेक ऋषियों मुनियों का सहस्रों वर्ष तक तपश्चर्या करना एव अनेक राजाओं का हजारों वर्षपर्यन्त राज्य करना लिखा है, जिससे तत्कालीन पुरुषों का इतनी बड़ी आयु वाला होना पाया जाता है, परन्तु वेद में 'शतायुर्वै पुरुषः' आदि प्रमाणों के अनुसार मनुष्य की पूर्णायु केवल सौ वर्ष ही लिखी है, और प्रत्यक्ष में भी अधिक से अधिक इतनी ही आयु देखी जाती है । इसलिए पुराण प्रतिपादित मनुष्यायु अवश्य ही अतिशयोक्ति

से परिपूर्ण है—हम इस विषय का कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन करना आवश्यक समझते हैं जिससे कि सर्वसाधारण को आयुष्यविज्ञान का पूरा २ बोध हो जाए।

वेदादि शास्त्रों के आयुष्य-विषयक समस्त वर्णनों की एकवाक्यता की जाय तो हमें चार प्रकार की जीवन सीमा उपलब्ध होती है यथा—

(१) **अमर**—कुछ ऐसे प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं कि जिससे बहुत से जीवनधारियों का अमर होना पाया जाता है। ये जरा पलित आदि से उन्मुक्त रहते हुवे दिव्य आयु का उपभोग करते हैं, जैसे देवता, दिव्य पितर और देहाध्यासरहित योगीश्वर आदि।

(२) **चिरंजीवी**—दूसरे कुछ ऐसे भी प्राणधारी हैं जो कि अमर पद के अधिकारी तो न हो सके परन्तु अपेक्षाकृत उनकी आयु अतीव दीर्घ होती है। इससे वे एक लम्बी—किन्तु अनिश्चित अवधि तक—यथेच्छ विचरते रहते हैं। जैसे अश्वत्थामा, बली, व्यास और हनुमान् आदि।

(३) **स्वच्छन्द मृत्यु**—तीसरे वे प्राणी हैं जिन्होंने कि स्वयं ब्रह्मचर्य्यादि को धारण करके अथवा योगाभ्यासपूर्वक जीवन बिता कर मृत्यु के ऊपर अपना अधिकार कर लिया हो--तदनुसार वे जब चाहें तब अपने जराजीर्ण शरीर का परित्याग करें। जैसे--भीष्मपितामह, युधिष्ठिरादि पाण्डव आदि।

(४) **सर्वसाधारण**—जो किसी प्रकार की योग्यता नहीं रखते वे जिस हद तक संयत जीवन बितायेंगे उतनी ही अधिक आयु को प्राप्त होंगे, और जितने उत्पथ-गामी होंगे उतनी ही जल्दी मरेंगे, जैसे सदाचारी और दुराचारी।

वेदोक्त आयुष्यवाद

ऊपर जो आयुष्य के चार भेद प्रकट किए गये हैं अब उनका वेद-प्रमाणों से समर्थन किया जाता है, यथा—

(क) प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा धर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । जरदष्टिः कृतवीर्य्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् । (अथर्व १७ । १ । २७)

(ख) आयुर्वै सहस्रम् ।। (तैत्तिरीय ३ । ८ । १५ । ३)

(ग) य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयाँसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति । (शतपथ १० । २ । ६ । ८)

(घ) शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्य्यः शतेन्द्रियः ।

(ऐतरेय २ । १७)

(ङ) अपि हि भूयाँसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति ।

(शतपथ १।६।३।१६)

(च) ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्ता भव्येन चाहम् । मा मा प्रापत् पाप्मा मोतमृत्युरन्तर्दधेहं सलिलेन वाचः ।। (अथर्व १७ । १ । ३०)

(छ) इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नुगादपरो अर्थमेतम् । शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ।। (ऋग्वेद १०।१८।४)

(ज) विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु । (अथर्व १८।३।६२)

(झ) मा पुरा जरसो मृथा । (अथर्व ५।३०।१७)

(ञ) जीवेम शरदः शतं···भूयश्च शरदः शतात् । (यजु० ३६।२४)

(ट) स्वयं च जीव शरदो यावच्छिसि । (कठोपनिषद् १।१।२२)

अर्थात्—(क) [सायणभाष्यानुसारी भाषार्थ] (प्रजापतिः) सूर्य के (ब्रह्मणा) तेजोमय (वर्म्मणा = [सायणाभिमतपाठे] वर्म्मणा) कवचरूप अङ्गरक्षक स्वरूप से (आवृतः) सुरक्षित हुआ (अहम्) मैं [तथा] (कश्यपस्य) चराचर के द्रष्टा तेजोमय भगवान् के (ज्योतिषा = वर्चसा च) अन्धकारविनाशक और हृदय प्रकाशक प्रकाश द्वारा [परिवेष्टित हुआ मैं] (जरदष्टिः) रोगरहित दृढाङ्ग होते हुये अनेक भोगों को भोगता हुआ (कृतवीर्य्यः = [सायणीयपाठे] शतवीर्य्यः) अनेक प्रकार की सामर्थ्य, किंवा सैकड़ों सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति वाला (जिह्मायाः) सब तरह से अप्रतिरुद्धगति-सम्पन्न (एवं) (सुकृतः) पुण्य कर्म करता हुआ, अथवा भली प्रकार बना ठना (सहस्रायुः) अपरिमित आयु वाला होकर (चरेयम्) यथेच्छ विचरूँ । (ख) आयु का प्रमाण सहस्र है । (ग) जो भी सौ वर्ष तक या इससे भी अधिक वर्ष तक जीवित रहता है वही निश्चय से अमृतपन को प्राप्त होता है । (घ) पुरुष के जीवन की मर्य्यादा (Limit of Life) सौ वर्ष है उसका पराक्रम और इन्द्रियें भी सौ वर्ष तक बनी रहती हैं । (ङ) निश्चित ही पुरुष सौ वर्ष से बहुत अधिक वर्षों तक जीवित रहता है (च) मैं सत्य द्वारा सुरक्षित, तथा वसन्तादि सब ऋतुवों से सुरक्षित एवं पूर्व उत्पन्न हुये

पदार्थों से तथा भविष्य में पैदा होने वाली वस्तुओं से पालित हूं। नरक में डालने वाला कोई भी पाप मेरे पास न आये, तथा मौत भी मेरे निकट न फटके ! मैं इस अभिमन्त्रित जल से अपने आपको सब ओर से छुपाता हूं। (छ) मैं जीवों के लिए यह मर्य्यादा स्थापित करता हूं कि इन जीवों में से कोई भी इस (अर्थ =) मृत्यु पथ को (नु) अवधि से पहिले प्राप्त न हो ! (पुरूचीः) सब तरह से जीवन व्यापार में सचेष्ट रहते हुये ये प्राणी सौ वर्ष पर्य्यन्त जीवित रहें ! मृत्यु को पर्वत (की कन्दरा) में बन्द किया जाए। (ज) सूर्य्य भगवान् हमें अमरपन में नियत करें, मृत्यु हम से दूर जाय और अमृत हमें प्राप्त हो। (झ) बुढ़ापे से पूर्व मत मरो। (ञ) हम सौ वर्ष तक जीवित रहें और सौ वर्ष से अधिक काल तक जीवित रहें। (ट) [हे नचिकेत !] तू स्वयं जितने वर्ष जीना चाहे जी।

आयुष्य पर मनुष्य का अधिकार

हिन्दू साहित्य का मनन करने पर यह बात निश्चित हो जाती है कि एक हद्द तक मनुष्य ही अपना भाग्यविधाता आप है। यदि वह चाहे तो योगशास्त्र तथा आयुर्वेदशास्त्र निदिष्ट आयुष्यर्द्धक उपायों का अवलम्बन करके अपनी आयु को यथेच्छ बढ़ा सकता है। मनुष्य दीर्घायु हो सकता है ! चिरंजीवी हो सकता है ! ! और अजर अमर भी हो सकता है ! ! ! हिन्दू सिद्धान्त में मनुष्य के लिये मरना कुछ आवश्यक नहीं है, किन्तु वह उसकी इच्छा पर निर्भर है, बशर्ते कि मनुष्य त्रिकालदर्शी महर्षियों द्वारा निर्धारित धर्ममार्ग में पूरी तरह से तत्पर हो। हम अपने इन विचारों का समर्थन करने वाले कुछ वेदप्रमाण नीचे अङ्कित करते हैं जिनसे कि न केवल दीर्घजीवी होने का बल्कि मौत को जीत लेने का भी मानव अधिकार व्यक्त होता है, यथा—

(क) द्राघीयो हि देवायुषम्। (शतपथ ७।३।१।१०)

(ख) अमृता देवाः। (शतपथ २।१।३।४)

(ग) ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व ११।५।१६)

(घ) अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

(मनु ५।४)

अर्थात्—(क) देवताओं की आयु बहुत दीर्घ होती है (ख) देवता अमर होते हैं (ग) ब्रह्मचर्य और तप से देवताओं ने मौत को मार डाला (घ) वेदों का अभ्यास न करने से, सदाचार के छोड़ने से, आलस्य और अभक्ष्य भक्षण से ही मृत्यु विप्रों को मारना चाहती है।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि अमुक २ धर्मानुष्ठान करने से मनुष्य 'अमर पद' को भी प्राप्त कर सकता है। मार्कण्डेय, हनुमान् और भीष्म जी इसके निदर्शन हैं।

आयुष्य पर युग का प्रभाव

यह एक मानी हुई बात है कि सृष्टि के आरम्भ में सभी पदार्थ अतीव 'सत्वसम्पन्न' होते हैं, परन्तु ज्यों २ समय गुजरता जाता है त्यों २ वह सत्त्व क्षीण होने लगता है। अन्त में 'निर्बीजा पृथिवी निरौषधिरसा'-के अनुसार प्रलय समय आ पहुँचता है। हमारे शास्त्रों में इसे 'युगव्यवस्था' के नाम से स्मरण किया है। तदनुसार यह माना जाता है कि सत्ययुग में मनुष्यों में जो बल, जो पराक्रम, जैसे डील डौल और जितनी दीर्घायु होती थी अब वैसी नहीं होती। यह मान्यता कोरी कल्पना मात्र हो—सो बात नहीं है। पदार्थ-विज्ञान भी इस बात का साक्षी है। यह कहने

की आवश्यकता नहीं कि सृष्टि के आरम्भ में हमारी यह पृथ्वी अतीव उष्णतासम्पन्न थी; अतः इससे उत्पन्न होने वाले अन्नादि में भी वह तेज अधिक मात्रा में रहता था, जिसे खाकर मनुष्यादि प्राणी भी तथैव 'सत्वसंयुक्त' होते थे, परन्तु ज्यों २ वह ताप घटता जा रहा है त्यों २ समस्त पर्थिव द्रव्यों का तेज भी कम हो रहा है। अजायब घरों में रक्खे हुये पुरातन नरकंकाल आज के नर-कंकाल से कहीं अधिक लम्बे चौड़े और दृढाङ्ग देखे जाते हैं। हमारे अपने छोटे से जीवन काल में ही क्रमशः यह प्राकृतिक ह्रास होता जा रहा है, हमारे बड़े बूढ़े ही जैसे दृढाङ्ग और जितनी लम्बी उमर के होते थे अब आगे आने वाली पीढ़ियें वैसी नहीं होती, किन्तु वे पतन की ओर ही अग्रसर-सी हो रही हैं। इसलिए मनु जी ने तो स्पष्ट शब्दों में ही यह लिख दिया है कि आज कलिकाल में जो आयुष्य परिमाण एक सौ वर्ष नियत है वही द्वापर में इससे दोगुना, त्रेता में तीनगुना और सत्ययुग में चार गुना था, अर्थात् सत्ययुग के मनुष्यों की आयु की गारन्टी ४०० वर्ष की थी यथा—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषा आयुर्ह्रसति पादशः ॥

(मनुस्मृति २।८३)

अर्थात्—सत्ययुग में मनुष्य रोगरहित, इच्छित फल के भागी और चार सौ वर्ष की आयु वाले होते थे। त्रेता आदि युगों में उक्त आयुष्य परिमाण का एक २ पाद क्रमशः घट जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में लिखा है कि—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम किंपुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरंजीवति स वर्षशतं जीवति (१।१।२२)' इससे भी प्राक्कालीन पुरुषों का दीर्घ-जीवी होना ध्वनित होता है।

इसलिये पुराणादि ग्रन्थों में केवल कलियुगीय मनुष्यों का ही वर्णन

अङ्कित नहीं है बल्कि पुराण तो सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय पर्य्यन्त उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के चरित्रों का वर्णन करते हैं, वर्तमान-कालिक आयुष्य ह्रास को देखकर उसी कांटे पर पुराने पूर्वजों की भी आयु को तोलना उचित न होगा, क्योंकि युगव्यवस्था के अनुसार भी हमारे पूर्वजों का हम से कहीं अधिक आयुष्मान् होना शास्त्र-सम्मत है।

देव, पितर और मनुष्यायुः का भेद

इसके अतिरिक्त एक यह भी बात विचारणीय है कि जिस तरह मनुष्यों की आयुष्य का परिमाण सौ मानव वर्ष है, इसीतरह पितरों की आयु भी सौ पैत्र्य वर्ष की होती है। तथा इसीप्रकार देवताओं की आयु का परिमाण भी सौ दिव्य वर्ष समझना चाहिये, तदनुसार पितरों के सौ वर्ष, तीन हजार मानव वर्षों के बराबर होते हैं। इसी तरह देवताओं के सौ वर्ष छत्तीस हजार मानव वर्षों के बराबर होते हैं क्योंकि हमारा एक महीना पितरों के एक दिन के बराबर होता है। और हमारा एक वर्ष देवताओं के एक दिन के बराबर होता है। इससे निश्चित हुआ कि जिसप्रकार मनुष्यों की आयु का प्रमाण सौ मानव वर्षों का है, इसीप्रकार पितरों का तीन हजार और देवताओं का छत्तीस हजार मानव वर्षों का समझना चाहिए।

हम देवताओं के वंशज हैं

सृष्टि के आरम्भ में देवताओं और मनुष्यों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध था, या यूं समझिये कि हमारे गोत्रप्रवर्तक महानुभाव प्रायः देवताओं के ही आत्मज थे। वैदिक-साहित्य का पारायण करने से विदित होता है, कि प्रायः सभी मनुष्यों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप

में देवसत्ता से है, जैसे प्रसिद्ध सूर्यवंश और चन्द्रवंश के प्रवर्तक भगवान् सूर्यदेव और चन्द्रदेव हैं इसीप्रकार अन्यान्य वंशों के प्रवर्तक—अंगिरा भृगु आदि भी साक्षात् देवता ही थे। सो देवांशभूत होने के कारण भी हमारे पूर्वज देवताओं के समान आयु वाले होते थे। जब कि देवताओं की आयु ३६००० मानव वर्षों के बराबर होती है तो देवताओं के वंशजों की भी न्यूनाधिक इतनी ही आयु हो जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

हमने यह सृष्टि के आरम्भ काल की अवस्था बतलाई है, परन्तु ज्यों २ सृष्टि का विस्तार होता चला गया, त्यों २ हमारी धमनियों में बहने वाला वह दिव्य रक्त भी क्रमशः मानव रक्त के विमिश्रण से कम मात्रा में होता गया, इस तरह वह दिव्य आयु भी मानव आयुष्य में परिणत हो गई। सो देवताओं के वंशज होने के कारण भी हमारे पूर्वजों की आयु अधिक होती थी।

संवत्सर शब्द का अर्थ दिन भी है

यद्यपि सामान्यतया वर्ष, वत्सर संवत्सर और शरत् आदि शब्द अन्यून तीन सौ साठ दिनों के समुदायात्मक काल को कहते हैं तथापि कई आचार्यों ने उक्त शब्दों का अर्थ केवल दिन भी सिद्ध किया है, जैसा कि 'मीमांसादर्शन' में लिखा है - वह प्रसङ्ग इसप्रकार है—

'वेद में लिखा है कि—

'सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्' पंचपंचाशतास्त्रिवृतः संवत्सराः। पंचपंचाशतः पंचदशाः। पंचपंचाशतः सप्तदशाः। पंचपंचाशत एकविंशाः। विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्। (ताण्ड्य· २५।१८।१)

अर्थात्—सहस्रवर्ष की आयु वाला होकर यज्ञादि पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करूं (तो ताण्ड्य की उक्त श्रुति में) 'पंचपंचाशत्' शब्द का अर्थ पंचगुणित पंचाशत्' (५ × ५० = २५०) है, यह शब्द इस श्रुति में चार बार आया है अतः (२५० × ४ = १०००) वर्षों में क्रमशः त्रिवृत, पंचदश, सप्तदश और एकविंश नामक स्तोम समाप्त होते हैं।

इस आशय को मन में रख कर जैमिनि जी पूर्वपक्ष स्थापन करते हैं।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु । (६।७।३१)

अर्थात्—उपर्युक्त ताण्ड्य श्रुति में जो सहस्रवर्षीय यज्ञ का विधान है, यह मनुष्यार्थ नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य की १००० वर्ष की आयु असम्भव है।

अपि वा तदधिकारान्मनुष्य-धर्म्मः स्यात् । (६।७।३२)

अर्थात्—क्योंकि शास्त्र में देवादिकों का अधिकार नहीं है, इससे तो उपर्युक्त यज्ञ भी मनुष्यार्थक ही होना चाहिए।

कदाचित् रसायनादि द्वारा हजार वर्ष की आयु संभव हो इसके उत्तर में—

नासामर्थ्यात् । (६ । ७ । ३३)

(भाष्यम्) न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टम् । येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः एतानि हि अग्नेर्वर्द्धकानि बलिपलितस्य नाशकानि स्वरवर्णप्रसादकानि, मेधाजननानि, नैतावदायुषो दातृणि दृश्यन्ते ।

अर्थात्—रसायन में भी ऐसा सामर्थ्य नहीं देखा जाता, जिससे कि पुरुष हजार वर्ष तक जीवित रह सके। क्योंकि रसायनों के सेवन से

जाठराग्नि बढ़ सकती है, चमड़ी का ढीलापन तथा बालों का पकना दूर हो सकता है, आवाज और कान्ति उत्तम हो सकती है एवं धारणा-शक्ति उत्पन्न हो सकती है, परन्तु आयु बढ़ सकती हो--ऐसा नहीं देखा जाता।

सकुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ।
(६।७।३५)

अर्थात्—कार्ष्णाजिनि ऋषि ऐसा मानते हैं कि यह यज्ञविधान जब कि हजार वर्ष पर्यन्त एक मनुष्य का जीवित रहना भम्भव नहीं है ऐसी दशा में यज्ञारम्भकर्ता यजमान के कुल में उत्पन्न होने वाले पीढ़ी दर पीढ़ी कई एक पुरुषों द्वारा संपादनीय होना चाहिये ।

उपर्युक्त मत में विप्रतिपत्ति दिखाते हैं ।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् । (६।७।३६)

अर्थात्—क्यों कि यह यज्ञ विधान एक व्यक्ति से ही सबद्ध है अतः यहाँ 'कुलकल्प' (पीढ़ी दर पीढ़ी करणीय) नहीं माना जा सकता ।

विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्तरः स्यादिति लाबुकायनः ।
(६ । ७ । ३७)

अर्थात्—लावुकायन के मत में 'सहस्र' शब्द यहाँ गौण है (यानी अपने मुख्य अर्थ हजार का वाचक न होकर अनेकार्थ वाचक है) इसी तरह—

संवत्सरो विचालित्वात् । (६ । ७ । ३८)

अर्थात्—संवत्सर शब्द भी विचालि' = (निश्चित तौर पर ३६० दिनों के समूह का ही वाचक न होने के कारण) अनेकार्थक है। इसतरह कार्यकारणपुरस्सर सब विप्रतिपत्तियों का निरूपण कर चुकने के बाद सिद्धान्तित करते हैं कि—

अहानि वाऽभिसंख्यत्वात् । (६ । ७ । ४०)

अर्थात्—सुनिश्चितसंख्याप्रदर्शन के कारण यहाँ 'संवत्सर' शब्द एक दिन का वाचक मानना चाहिए।

तात्पर्य यह हुआ कि उपर्युक्त ताण्ड्य श्रुति में जो सहस्रवर्षीय यज्ञ का विधान लिखा है वास्तव में यहाँ एक दिन को ही एक संवत्सर समझना चाहिये। इस तरह एक ही यजमान द्वारा यह यज्ञ सम्पादन किया जा सकेगा तथा आयुष्य की असम्भवता का आक्षेप भी समाहित हो जाएगा।

शत, सहस्रादि शब्दों का अर्थ 'बहुत' भी है।

पूर्वोक्त आयुष्य विषयक प्रमाणों में (क) में मनुष्य को 'सहस्रायु' बताया गया है और (ध) में 'शतायुः' कहा गया है। यदि हम यहाँ शत और सहस्र शब्द का अर्थ लौकिक रूढ़ि के अनुसार 'सौ' और 'हजार' करें तो वेदों पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादन का दोष आरोपित हो जाएगा क्योंकि एक मन्त्र 'सहस्रायुः' बताता है और दूसरा 'शतायुः' होना ही ठहराता है! इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में आज भी डेढ सौ दो सौ वर्ष की आयु वाले बहुत से मनुष्य देखे और सुने गये हैं जैसा कि हम आगे चलकर बतलायेंगे। यदि 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुति के अनुसार अवश्य ही मनुष्य की आयुः अधिक से अधिक सौ वर्ष ही होती है तब तो यह बात प्रत्यक्ष के भी सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध हो जायेगी। इसलिये हमें लोकरूढ़ि को छोड़कर वेदोक्त 'शत' और 'सहस्र' शब्द का अर्थ वैदिक-कोश में ही ढूंढना चाहिये, तथा जिन मन्त्रों में उक्त दोनों शब्द प्रयुक्त हुये हों उन सबका समन्वय करके ही इन शब्दों का वास्तविक अर्थ हृदयङ्गम करना चाहिये। अस्तु, वेदार्थनिर्णायक सर्वमान्य 'निरुक्त-निघण्टु' में उक्त दोनों शब्दों का अर्थ बहु = बहुत लिखा है यथा :—

बहु नामान्युत्तराणि द्वादश—

उरुः, तुविः, पुरुः, भूरिः, शश्वत्, विश्वम्, परीणसा व्यानशिः, शतम्, सहस्रम्, सलिलम्, कुविद् ।

(निरुक्त अध्याय ३ खण्ड १३)

अर्थात्—उरु, तुवि, आदि बारह बहुत शब्द के पर्य्याय हैं । इसी तरह वेद के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय पं० मधुसूदन जी ओझा (जयपुर) ने अपने 'वैदिक-कोश' में लिखा है कि—

उरु पुरु शश्वद् विश्वं, परीणसा व्यानशिः कुवित्सलिलम् ।
तुवि च शतं च सहस्रं, भूरि च बहुवाचका एते ॥

(वैदिक-कोश पृष्ठ १४)

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से स्पष्ट है कि वेद में शत और सहस्र इन दोनों शब्दों का गौण अर्थ तो चाहे प्रसगङ्गवश 'सौ' और 'हजार' भी होता हो परन्तु इनका वास्तविक सर्वसम्मत एवं मुख्य अर्थ तो सर्वत्र 'बहुत' ही होगा ।

'निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार श्रीदुर्गाचार्य जी ने अपनी निरुक्त टीका में उक्त उरु आदि शब्दों के वेदोक्त उदाहरण भी दिये हैं, जिनमें कि इन शब्दों के प्रयोगों द्वारा ही इनका 'बहुत्व' पर्य्याय होना सिद्ध किया है । हम व्यर्थ विस्तारभय से यहाँ वह सब प्रसङ्ग उद्धृत नहीं करते । विज्ञ पाठक आवश्यकता पढ़ने पर तत्रैव देख सकते हैं ।

सौ वर्ष की आयु का तात्पर्य

अस्तु, यह निश्चित हो गया है कि वेदादि शास्त्रों में आयुष्यविषयक शत सहस्र आदि शब्दों का अर्थ प्रायः 'बहुत' ही है । परन्तु एतावता यह भी न समझ लेना चाहिये कि 'पत्थर की लकीर' की तरह वेदोक्त 'शतायुर्वै पुरुषः' इस प्रसिद्ध श्रुति का तात्पर्य—'बहुत आयु वाला पुरुष'

ऐसा कर डालने पर ही छुट्टी मिल जायगी क्योंकि पूर्वोक्त आयुष्य-विधायक प्रमाणों में (ग) और (ङ) श्रुति का मनन करने से यह विदित होता है कि 'सौ' संख्या के साथ मनुष्यायु: का अवश्य ही कुछ न कुछ गाढ़ सम्बन्ध है, अन्यथा 'भूयांसि शरद: शतात्' इत्यादि वाक्यों में 'शत' शब्द का अर्थ='बहुत' करने पर बहुत से 'बहुत' और बहुत वर्षों से बहुत'—ऐसा ही निरर्थक सा अर्थ होगा, जिससे कुछ भी वास्तविक अभिप्राय न निकल सकेगा। इसलिए मनुष्यायु: के साथ 'सौ वर्ष' का जो सम्बन्ध है—हम उस रहस्य को भी प्रकट करते हैं।

आयुष्य विधायक प्रमाणों की एकवाक्यता करने पर यह तत्व निकलता है कि जिस प्रकार आजकल अमुक २ बाजारू चीजों का टिकाऊपन प्रकट करने के लिये उनकी निश्चित वर्षों तक की टिकाऊपन की गारन्टी स्थिर की जाती है ठीक इसी प्रकार मनुष्य शरीर की अवधि = आयुष्य-परिमाण, किंवा उसकी गारन्टी (Guarantee) सौ वर्ष है। परन्तु गारन्टी का यह अर्थ नहीं होता कि वस्तु किसी प्रकार भी बरती जाने पर न गारन्टी से पहिले बिगड़ सकती हो और न निश्चित गारन्टी से अधिक समय तक ठहर सकती हो। वस्तुत: प्रत्येक वस्तु नियम विरुद्ध लापरवाही से बरती जाने की हालत में अवश्य ही गारन्टी से पहिले भी बिगड़ सकती है और सुरक्षित रखने पर गारन्टी से भी कहीं अधिक समय तक ठहर सकती है...यह प्रत्यक्ष भी देखने में आता है। हमने संवत् १९७४ में हारमोनियम खरीदा था जिसकी गारन्टी तीन साल की थी, उसे खूब बजाया गया लेकिन नियमानुकूल, वह ३९ वर्ष गुजर जाने पर भी हमारे पास वैसा ही काम देता रहा। हमारे मित्र पाधा जी ने भी एक तीन साल की गारन्टी की घड़ी ली थी, मारे चाव के रात दिन उसकी पीठ का ढक्कन खोल कर बार २ देखा करते थे आखीर कुछ ही महीने बाद वह 'चूनेदानी' हो गई। ठीक इसी प्रकार मनुष्य आयु: का परिमाण अथवा मनुष्य शरीर के टिकाऊपन की गारन्टी

अन्यून सौ वर्ष है, तथापि आयष्यवर्द्धक तत्तत् नियमों का भलीभांति पालन करने पर उसे यथेच्छ बढ़ाया भी जा सकता है और वर्तमान काल की तरह नियमविरुद्ध उच्छृङ्खल जीवन बिताने पर उसको अपने हाथों विनष्ट भी किया जा सकता है। इसलिए 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य्य यही है कि मनुष्यायुः का परिमाण (गारन्टी) सौ वर्ष है।

यहां तक हमने जो कुछ विवेचन किया है उसका सार है कि—

(क) मनुष्य प्रयत्न करने पर—'दीर्घजीवी', 'स्वच्छन्दमृत्यु','चिरंजीव' और 'अमर' भी बन सकता है।

(ख) वेदों में जो पुरुष को 'शतायु' कहा है, उसका अभिप्राय केवल यही है, कि मानव जीवन की अवधि गारन्टी के तौर पर सौ वर्ष की है, परन्तु शुभाशुभ कर्म्मों के अनुसार यह यथेच्छ बढ़ घट सकती है।

(३) सामान्यतया वेदप्रयुक्त, आयुष्यविषयक 'शत' और 'सहस्र' शब्द का मुख्य अर्थ 'बहुत' है।

(४) यदि हठात् कोई महाशय 'शत' शब्द का अर्थ लोकरूढ़ि के अनुसार 'सौ' ही बताने का आग्रह करे तब भी 'सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्' इस श्रुति के अनुसार कम से कम हजार वर्ष की मनुष्यायु अवश्य ही सिद्ध हो जायेगी।

(५) पुराणादि ग्रन्थों में जिन व्यक्तियों की लम्बी २ आयु का उल्लेख मिलता है वे प्रायः सत्य, त्रेता आदि युगों में उत्पन्न होने वाले महानुभाव हैं। युगव्यवस्था के अनुसार भी वैज्ञानिक रीति से उनका दीर्घायुः होना युक्तियुक्त है।

(६) जिन व्यक्तियों को दीर्घायु लिखा है वे हमारे पूर्वज प्रायः देवताओं के अंश से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति हैं, अतः वे दिव्य आयु के भी अधिकारी थे।

(७) मीमांसा-दर्शन के निर्णयानुसार वर्ष, संवत्सर आदि शब्दों का अर्थ केवल 'एक दिन' भी है। अतः अमुक २ व्यक्तियों की आयुर्गणना में प्रसंगानुसार वहाँ पुराणकार को वही अर्थ अभिप्रेत हो सकता है।

यहाँ तक हमने शास्त्ररीति से आयुष्यविषयक विभिन्न विचारों का सामंजस्य प्रकट किया है। अन्यान्य मतावलम्बियों के विचारों का दिग्दर्शन कराना भी अनावश्यक न होगा।

(१) **आर्यसमाज**—के प्रसिद्ध पं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर ने 'मानव आयुष्य' नामक पुस्तक लिखकर ४०० वर्ष तक की आयु स्वीकार की है। स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भी 'सत्यार्थप्रकाश' (पृष्ठ ४२) में लिखा है कि 'उत्तम ब्रह्मचर्य्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयुः को बढ़ावें'। इसी तरह आपने यजुर्वेद भाष्य (१७-६८) में योगियों के लिये 'लोकान्तर गमन' और (१७-७१ में) 'परकाय-प्रवेश' की सिद्धि स्वीकार की है [पाठक वर्ग ! वे प्रमाण इसी ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठों में देखें—] सो 'परकाय-प्रवेश' और स्वच्छन्दगति' वाले प्राणियों का 'चिरंजीवी' किंवा 'स्वच्छन्दमृत्यु' होना स्वाभाविक ही है। अतः आर्यसमाजी महाशय पुराणोक्त दीर्घायुष्य पर कुछ भी आक्षेप नहीं कर सकते।

जैन—लोगों के मान्य ग्रन्थ 'रत्नसार' भाग १ पृष्ठ १६६-१६८ तक में लिखा है कि ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख पूर्व वर्ष थी। अजितनाथ की ७२ लाख, संभवनाथ की साठ लाख, अभिनन्दन की पचास लाख, श्रेयांसनाथ की चौरासी लाख, इसी तरह अन्यान्य तीर्थंकरों की भी लाखों वर्ष की आयुः लिखी है। अतः ये लोग भी पुराणोक्त दीर्घ आयुष्य पर आक्षेप करने का अधिकार नहीं रखते।

(३) ईसाई—लोगों के यहां (तोरेत, पर्व ५ आयत २२ में) लिखा है कि 'हनूक, मतूसिलह की उत्पत्ति के पीछे तीन सौ वर्ष लों ईश्वर के साथ साथ चलता था ।' इससे उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों का तीन सौ वर्ष से अधिक आयु वाला होना स्पष्ट है। इसी तरह 'योहन के प्रकाशित वाक्य' पुस्तक (पर्व २० आयत २—३) में लिखा है कि—'उसने अजगर को अर्थात् प्राचीन सांप को जो दियबल और शैतान है, पकड़ के उसे सहस्त्रवर्ष लों बांध रखा।' इस प्रमाण से भी यह स्पष्ट है, कि शैतान को हजार वर्ष तक कैद में रखने वाले व्यक्ति की आयु हजार वर्ष से कहीं अधिक होनी चाहिये। अतः ईसाई भी पुराणोक्त आयु पर नुकताचीनी करने का अधिकार नहीं रखते।

(४) मुसलमान—लोगों की मजहबी किताब कुरान में भी अन्यून हजारों वर्ष की आयु का उल्लेख मिलता है, जैसे कि—'और अवश्य भेजा हमने नूह को तर्फ कौम उसके कि बस रहा बीच उनके हजार वर्ष परन्तु पचास वर्ष कम'। (कुरान मंजिल ५ सिपारा २१ सू० २९ आयत १३) इसी तरह—'अवधि उसकी हजार वर्ष उन वर्षों से कि गिनते हो तुम'। (कुरान मं० ५ सि० २१ सू० ३२ आयत ४-५) ऊपर लिखे प्रमाणों के अनुसार जबकि हजरत नूह एक स्थान में पूरे साढ़े नौ सौ वर्ष तक रहता है तो अवश्य ही उसकी आयु इससे कहीं अधिक होनी चाहिये। इसलिये मुसलमान लोग भी पुराणोक्त दीर्घायुष्य पर नुकताचीनी करने का क्या मजाल रखते हैं ?

आयुष्य के विषय में विदेशियों की राय

पाश्चात्य पण्डितों ने एक हद तक मनुष्य का 'चिरंजीवी' बन सकना स्वीकार किया है, यथा—

"Man may not become quite immortal yet the duration of life between brith and natural death will increase without ceasing, will have no assignable term, and may properly be expressed by the word indefinite, a constant approach to an unlimited extent without ever reaching it or an increase in the immensity of ages to an extent greater than any assignable quantity."

(M. Condorcet's problem of life)

अर्थात् --'मनुष्य अमर तो नहीं हो सकता परन्तु उसके जीवन के दिन स्वाभाविक मृत्यु के दिनों से बढ़ सकते हैं और फिर यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक पुरुष की अवस्था इतने ही दिनों की होगी। धीरे धीरे अवस्था में वृद्धि होते होते सैंकड़ों वर्षोंमें मनुष्य ऐसा दीर्घजीवी बन सकता है कि उसकी उमर का कोई अन्दाज नहीं कर सकता' (देश दर्शन—पृष्ठ १०० से)

आधुनिक दीर्घजीवियों का व्योरा

(१) 'बरीसाल के कौनिया नामक गाँव में सुधी खां नामक एक आदमी था जिसकी उमर का यह ११४ वाँ वर्ष आरम्भ है। उसके पिता का नाम चांदखां था। उसके दांत अब भी १८ हैं। प्रातःकाल ही उठ कर वह अपने कामों में लग जाता है। उसका पहिला व्याह ४० वर्ष की अवस्था में हुवा था। वर्तमान स्त्री उसकी तीसरी स्त्री है जिसकी उम्र ७० वर्ष की है। सुधीखाँ अभी भी ५-६ माइल पैदल चल सकता है और १०--१५ सेर चीज मजे में ले जा सकता है।'

[ता० १-११-२५ के दैनिक 'भारत-मित्र' कलकत्ता से—]

(२) 'संसार में हाजी ताहर नाम का एक आदमी अभी तक है

कि जिसने नैपोलियन को अपने जीवन में देखा। इसकी जन्मभूमि मवमाअजमल है। यह आधुनिक संसार के मनुष्यों में सबसे अधिक उम्र वाला है। क्योंकि यह स्वयं अपनी आयु १४० की बतलाता है। इतना वृद्ध होने पर भी यह इतना हट्टा कट्टा है कि अपने तीसरे बार के जमे हुवे दांतों से कड़ी से कड़ी वस्तु को भी चाब सकता है।' [ता० ६ जौलाई सन् १९२६ के 'हिन्दू-सर्वस्व' से—]

(३) 'बिलगुडर (सर्विया) में नमफीईरए फन्दी नामक एक बूढ़ा ऐसा है कि जिसने अपनी १५१ वर्ष की अवस्था में २७ विवाह करके ११० बच्चे उत्पन्न किये हैं।' [ता० ३-१-२६ के 'भारत मित्र' से—]

(४) 'मनुष्य की आयु का निश्चय करना और उसके लिये सीमा बाँध देना असम्भव जान पड़ता है। पीटर मर्फेस ने भारत के इतिहास में लिखा है कि नुमीसडे सन् १५६६ में मरा, उस समय उसकी अवस्था १७१ वर्ष की थी। टामसडार की आयु १५२ वर्ष की थी। इफिन्घम १४४ वर्ष की उमर में मरा। गुसांई लक्ष्मणपुरी इमलहा (मिर्जापुर) ११९ वर्ष के हो कर मरे। ['देशदर्शन पृ० ९९ से—]

(५) 'वर्न गांव भुसावल में एक दर्शनीय परमहंस महात्मा ऐसे हैं कि जिनकी आयु इस समय तीन सौ वर्ष की है।'

[ता० २-११-२५ के 'हिन्दू-सर्वस्व' से—]

पाठकवृन्द ! न तो सन्देहों की इयत्ता हो सकती है और नांही— इनके निवारण का ही अन्त ठहराया जा सकता है, अतः इस अनवस्था को देखकर हम उक्त अध्याय को यहीं समाप्त कर देने के लिये विवश हैं। विज्ञ पाठक स्वयं अनुभव कर चुके होंगे कि इस अकेले अध्याय ने उक्त ग्रन्थ का आधा कलेवर घेर लिया है, इतने पर भी सभी आक्षेपों का समाधान इसमें आचुका हो सो बात नहीं है। हम जानबूझ कर इस अध्याय में कई एक सुप्रसिद्ध आख्यानों का रहस्य प्रकट नहीं कर

रहे हैं, उदाहरणार्थ—'समुद्रमंथन, गणेश-उत्पत्ति*, देवताओं के विलक्षण स्वरूप और विलक्षण वाहनादिक एवं अमुक २ व्यक्तियों का सदेह स्वर्गादि में आना जाना' आदि २ से सम्बन्ध रखने वाले आख्यानों का नाम लिया जा सकता है। उक्त आख्यानों को इस ग्रन्थ में स्थान न मिलने का कारण यही है कि यदि हम संक्षेपपूर्वक रहस्य प्रकट करते तब तो पाठकों के पल्ले कुछ न पड़ने की—उल्टा किसी हद तक अधिक संदेह बढ़ जाने की भी—संभावना थी, और विस्तारपूर्वक प्रत्येक भाव का रहस्य प्रकट करने के लिये न इस ग्रन्थ का कलेवर आज्ञा देता था और नाहीं 'आर्थिक-समस्या' ही अनुकूल पढ़ती थी। इसलिये हम 'स्थालीपुलाक' न्याय से ५१ सन्देहाभासों का निवारण करने के साथ साथ इस अध्याय को भी यहीं समाप्त करते हैं। ईश्वर ने बल दिया और कृपालु पाठकों ने हमारे परिश्रम को उदारतापूर्वक स्वीकार किया तो उक्त ग्रन्थ के आगामी संस्करण में सन्देहाभासों का भी निवारण किया जायेगा, तथास्तु—

असम्भव गप्पों के आगार, ग्राम्य अश्लील-कथा भण्डार।
धर्म्म विपरीत अनेक चरित्र, परस्पर भाव विरोधी चित्र।
चार ये दोषाभास महान्, पुराणों में देखें अनजान।
किया सब दोषों का परिहार, यही अध्याय नवम का सार॥

---

* टिप्पणी—गणेश भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली समस्त शङ्काओं के निराकरण के लिये तथा देवताओं के स्वरूप और उनके वाहनों के परिज्ञान के लिये हमारे 'क्यों?' नामक ग्रन्थ को पढ़ें। मूल्य २२)

* नौवां अध्याय समाप्त *

विश्व विद्या-निरूपणाध्यायः

(दशम अध्याय)

न सा विद्या, न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं न सा कला ।
न तत्त्वं हि गहनं, पुराणैर्यन्न गीयते ।।
तत्राप्यसम्भवत्वं यत्, पर-प्रत्यय-बुद्धिभिः ।
आशङ्क्यते, तदेवात्र, समाधाय निरूप्यते ।।

वेदव्याख्याता सायणाचार्य ने ऋग्वेद उपोद्घात में पुराणों को समस्त विद्याओं का भण्डार होने के कारण 'विद्यास्थान' की उपाधि से विभूषित किया है, जैसा कि हम 'प्रमाणसङ्ग्रहाध्याय' में लिख आये हैं। इसी प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी अपने प्रसिद्ध धर्मशास्त्र में पुराणों को चतुदर्श विद्याओं में परिगणित करते हुये उन्हें प्रथम स्थान दिया है। इस अध्याय में हम कतिपय विद्याओं का सप्रमाण निरूपण करके यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि वास्तव में पुराण ग्रन्थ 'विद्यास्थान' उपाधि के सर्वथा योग्य ही हैं। क्योंकि पुराणों में इतिहास (History) व्याकरण (Grammer) निरुक्त (Philology) पितृविद्या (Anthropology) गणित विद्या (Methematics) दैवविद्या

(Physical Geography) निधि विद्या (Minerology) तर्क-विद्या (Logic) नीति शास्त्र (Ethics) देव-विद्या (Physical Sceince) ब्रह्म-विद्या(Brahm Vidya) भूत-विद्या (Zoology-Anatomy etc.) क्षत्र-विद्या (Military Sceince and Art of Government) नक्षत्र-विद्या (Astronomy)और गाथा शास्त्र (Mythology) आदि २ समस्त विषयों का सर्वाङ्गपूर्ण एवं विश्वस्त वर्णन विद्यमान है। यद्यपि हम 'ग्रन्थ-विस्तरभयात्, इस अध्याय में उक्त सब विद्याओं का निरूपण नहीं कर सकते, तथापि (१) वर्तमान समय में जिन २ विषयों की विद्वत्समाज में प्राय: चर्चा चलती है तथा (२) जिन जिन बातों को वर्तमान विज्ञान का ही अभूतपूर्व चमत्कार कहा जाता है एवं (३) पुराणों के जिन २ वर्णनों को अदूरदर्शिता के कारण चन्द कूपमण्डूक, असम्भव, नामुमकिन, सृष्टि-नियम-विरुद्ध, प्रत्यक्ष-विरुद्ध, गप्पाष्टक, गपोड़े, सफेद झूठ आदि उपाधियों से तिरस्कृत करने का साहस किया करते हैं-—ऐसे कतिपय विषयों का सप्रमाण एवं सयौक्तिक निरूपण अवश्य करेंगे, जिससे विज्ञ पाठक पुराणों की उपयोगिता के साथ २ पुराणों को कोसने वाले महाशयों की मूर्खता का भी अनुमान कर सकेंगे।

हमारा दावा है कि पुराणों में जो कुछ भी लिखा है वह सर्वथा सत्य एवं विश्वास करने योग्य है। हमें जो २ अंश अटपटे तथा बुद्धि में न जंचते हुये से जान पड़ते हैं वास्तव में वहाँ तक हमारे मस्तिष्क की पहुच नहीं है, अथवा पुराणोक्त लाक्षणिक शब्दों का विचार करके तत्तद् विषयों की अर्थसङ्गति मिठलाने की हम में क्षमता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वर्तमान खोज' की दुहाई देकर भी तद्विरुद्ध पौराणिक वर्णनों को झुठलाने का प्रयत्न किया जाया करता है किन्तु निश्चित ही वर्तमान खोज सिद्धान्त-सीमा तक नहीं पहुंच पाई है, वह अभी 'साध्य कोटि' में ही मानी जाती है। अतएव आये दिन नई २ खोज हो जाने

पर पहली धाराओं में रद्दो-बदल होती रहती है। सो एवंभूत अधूरी खोज के आधार पर त्रिकालदर्शी महर्षियों के समाधिलब्ध रहस्यों में 'किन्तु-परन्तु-ननु-नच' का अडङ्गा लगाना विचारशील व्यक्तियों का काम नहीं हो सकता।

इस अध्याय में भी इस विषय-संकीर्णता के कारण कोई सुस्थिर क्रम-बन्धन नहीं कर पाए, हमारी इस विवशता के लिए उदार पाठक अवश्य क्षमा करेंगे, ऐसी हमें आशा है।

भूमण्डल-विद्या

पुराणों में भूमण्डल के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह इतना विस्तृत एवं विवेकपूर्ण वर्णन है कि जिसका मनन करने से ऋषिजनों की प्रतिभा पर चकित रहना पड़ता है। पृथ्वी का नाप, तोल, व्यास, परिधि, क्षेत्रफल और पार्थिव आकर्षण की सीमा,—तथा पृथ्वीस्थ समस्त पर्वतों की स्थिति, विस्तार उनकी चोटियों की ऊँचाई और पृथ्वी गर्भ में धंसी हुई गहराई, तत्सम्बद्ध धातुओं तथा रत्नों का ब्यौरा, इसी प्रकार प्रसिद्ध नदियों, सरोवरों, नदों महारण्यों और तत्तत्कालीन वन उपवनों का संस्थान—एवं सामयिक सम्राटों द्वारा निर्धारित तत्तत् प्रदेशों की हदबन्दी—गर्ज है कि जो बातें आज उन्नत कहे जाने वाले जमाने में भी 'इदमित्थं' नहीं जानी जा सकी हैं पुराणों में उन सब का सर्वाङ्गपूर्ण एवं यथार्थ वर्णन विद्यमान है। उदाहरण के लिये भूमि में धंसे हुये पर्वत पादों को ही लीजिये। वर्तमान अनुसन्धायक आज तक न इस रहस्य को जान सके हैं न भविष्य में जान सकेंगे ऐसी सम्भावना है, क्योंकि जरीब और फीतों को डाल कर नाप=पैमाइश करने वाले जड़वादी मौजूदा अनुसन्धायक भूगर्भ में धंसने की योग्यता नहीं रखते! यह रहस्य तो वे ही आत्मवादी महर्षि जान सकते हैं जो कि अष्टाङ्ग योग द्वारा—

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।'

—के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड के परोक्ष पदार्थों को भी 'हस्तामलक' कर सकने की क्षमता रखते हों ! यह योग्यता केवल भारतीय ऋषियों की ही बपौती थी इसलिये आज साइन्स के प्रकाश में जो कुछ भी दीख पड़ता है वह पुराणवर्णित रहस्यों की धुंधली छायामात्र है ।

पौराणिक भूगोल पर जितने आक्षेप किये जाया करते हैं हम उन सबको प्राय: तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा—

(१) अनुपलब्धि—अर्थात् पुराणों में जिन २ नद नदी सरोवरों पर्वतों किंवा नगरों का होना प्रकट किया है, बहुत छानबीन करने पर भी अब कहीं वे चीजें प्राप्त नहीं होतीं, जैसे पुराणोक्त जामुन के रस से परिपूर्ण जम्बूनद, आम के रस से बहने वाली अरुणोदा नाम की नदी, ईख रस, सुरा, घी-दही-दूध और मीठे पानी के समुद्र, सुमेरु आदि सोने के पहाड़ एवं शतकुम्भी, देवधानी, संयमनी, निम्लोचनी और विभावरी आदि पुरियों का कहीं पता नहीं चलता ।

(२) असम्भवता—अर्थात् [यदि कोई सज्जन पुराण-वर्णित उपर्युक्त नद नदी सरोवरों पर्वतों किंवा नगरों की अनुपलब्धि का समाधान करने के लिए यह उत्तर दे कि "वहाँ तक पहुँच सकने की हम मनुष्यों में शक्ति ही नहीं है" तब यह भी एक प्रबल आक्षेप उपस्थित होगा कि संसार में दूध दही के समुद्रों और सोने के पहाड़ों का अस्तित्व बुद्धिग्राह्य न होने के कारण सर्वथा असम्भव है ।

(३) परिमाण-वैपरीत्य—अर्थात् पुराणों में उक्त नद नदियों, सरोवरों पहाड़ों किंवा भूखण्डों की जितनी लम्बाई चौड़ाई ऊंचाई और गहराई बतलाई गई है न वह प्रत्यक्ष में ठीक उतरती है तथा नांही अनुमान द्वारा उसकी सत्यता स्वीकार की जा सकती है,

जैसे हमारी इस भूमि का परिमाण [अन्यून आठ हजार माइल मात्र प्रत्यक्ष सुनिश्चित है, तथापि पुराणों में वह] पचास करोड़ योजन लिखा है । इसी तरह (समस्त भूमण्डल में पर्वतों की ऊंची से ऊंची चोटियें पांच मील से अधिक नहीं पाई जाती तथापि पुराणों में) सुमेरु की ऊंचाई एक लाख योजन दर्ज है ।—इत्यादि परिणाम सर्वथा विपरीत ठहरते हैं ।

यदि शङ्कावादियों की इस बात को ठीक भी मान लिया जावे कि "वस्तुत: पुराणोक्त वस्तुओं की स्थिति आज की खोज में पूरी नहीं उतरती हैं"—तब भी पौराणिक भूगोल पर आक्षेप करना व्यर्थ है, क्योंकि पुराण अमुक २ कल्प का नाम देकर उस २ कल्प के समय की वस्तु स्थिति का निरूपण करते हैं, अत: अर्बों वर्ष पूर्व तादृश रूप में विद्यमान होने वाले पदार्थ को आज भी वैसी स्थिति में प्रत्यक्ष देखने की अभिलाषा रखने वाले सज्जनों को कुछ प्राकृतिक परिवर्तन का भी मनन करना चाहिये ।

कविवर भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'उत्तर रामचरित' में जन-स्थान को देख कर श्री रामचन्द्र जी के शब्दों में प्राकृतिक परिवर्तन का एक बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है, हम पाठकों के लाभार्थ यहाँ उसे उपस्थित करते हैं । आपने दृष्टपूर्व तत्तत् पदार्थों को लक्ष्य करके कहा कि—

पुरा यत्र स्रोत: पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभाव: क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेश: शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥

(उत्तररामचरित २ । २७)

अर्थात्—पहिले कुछ वर्ष पूर्व जहाँ झरनों की श्रवण-रमणीय हर-हर ध्वनि होती थी आज वहां उत्ताल तरङ्गों को उछालती हुई नदियों के विशाल किनारे नजर आ रहे हैं। जहाँ हरे २ संकुलित घने जंगल थे वे स्थान आज लहलही लतिकाओं से आच्छादित हो रहे हैं। अहो! आज मुद्दत के बाद देखा हुआ यह जनस्थान मुझे अदृष्टपूर्व विलक्षण सा ही दीख रहा है, परन्तु जहाँ तहाँ पर्वतों का जो यथावत् विन्यास है वही केवल इसके दृष्टपूर्व जनस्थान होने की सम्भावना को दृढ़ कर रहा है।

यह कोरी कविकल्पनामात्र ही नहीं है किन्तु तथ्य भी यही है। आज एक शताब्दी के अन्दर बने हुये वृन्दावन में यमुनाघाट व्यर्थ से हो गये हैं, यमुना की धार आज वहाँ प्रवाहित हो रही है जहाँ कि कभी उत्तम उद्यान विद्यमान होंगे किंवा कूओं से खेती हुआ करती होगी। आज वे उजाड़ प्राय: घाट तथा यमुना के अन्दर आये हुये कूवे दिल खोल कर इस प्राकृतिक परिवर्तन की साक्षी दे रहे हैं। इतना ही नहीं कौरव वंश की प्राचीन राजधानी हस्तिनापुर को ही देख लीजिये, जहाँ पर कि भारत सम्राट् की विशाल राजधानी थी आज वहाँ खण्डहरों से बने हुये टीले, प्रकृति के परिवर्तन में सम्मिलित होकर सिंह आदि महासत्वों की कर्णकटु भयावह आवाज के साथ गर्जना करते हुये बतला रहे हैं कि "संसरणात् संसार:"। ऐसी दशा में हम आज पुर, ग्राम, बन, नदी आदि का सन्निवेश पुराणवर्णन के विरुद्ध देख कर भी हजारों वर्ष पुराने वर्णनों को कैसे झुठला सकते हैं?

प्रत्नतत्त्ववेत्ता भूगर्भ शास्त्री आज राजपूताने के रेगिस्तान (मरुभूमि) को पुराना समुद्र स्थान बताते हुवे "सांभर झील"* को इसका निदर्शक प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाते हैं।

---

* टिप्पणी—इसके जल का स्वाद समुद्र जल सा खारा है, इसके जल से 'सांभर नमक' भी बनता है।

"असीरिया" के रेगिस्तान को भी (जिसका कि पार करना स्थल मार्ग से तो क्या वैसे भी सर्वथा असम्भव है) समुद्र का आवास स्थान बताते हैं तथा उस भयङ्कर निर्जन प्रदेश में जलीय जन्तुओं की अस्थियों को देख कर अपने विचार की पुष्टि कर रहे हैं। काश्मीर जैसे पर्वतीय प्रदेश की पर्वतमालाओं के भीतर से निकली हुई जलीय जन्तुओं की हड्डियें भी वहां पर प्राचीन समय में जल का होना सिद्ध करती हैं। जब कि समुद्रके स्थान में रेगिस्तान हो जाना तक सम्भव हो सकता है तब क्या पुराणों ने ही कोई पाप किया है कि जो वे—(सामन्य वर्णन में वर्तमान वस्तु-स्थिति से विभेद होते ही) परित्याज्य समझे जायें ?

जो लोग पौराणिक भूगोल पर इस प्रकार के आक्षेप करते हैं, वास्तव में उन सज्जनों ने पौराणिक भूगोल-शैली का गुरुमुख से अध्ययन नहीं किया तथा नांही उन्हें पुराणोक्त भूमण्डल विद्या में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों की सीमा का ही बोध है। सर्वसाधारण की कौन कहे भागवत के सैंकड़ों सप्ताह बांच डालने वाले बड़े २ अद्वितीय (द्वितीय स्कन्ध के ज्ञान से शून्य) कथक्कड़ भी पञ्चमस्कन्धोक्त भूगोल की अर्थसङ्गति बिठलाने में 'गूंगे का गुड़' खा बैठते हैं। इसलिये हम सर्वप्रथम 'पौराणिक भूगोल शैली' और उसमें प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों का कुछ विवेचन करना आवश्यक समझते हैं।

पौराणिक-भूगोल-शैली

(स्थूल और सूक्ष्म जगत् का तारतम्य)

हम इसी ग्रन्थ के शैलीवर्णनाध्याय में पुराणों की विशिष्ट शैली का निरूपण कर चुके हैं, तदनुसार श्री वेदव्यास जी ने जिस तरह ऐतिहासिक अंश के साथ २ अन्यान्य वैज्ञानिक तत्त्वों को भी पुराण साहित्य में यत्र-तत्र विमिश्रित करके एक प्रघट्ट में ही अनेक उपयोगी

रहस्यों को प्रकट कर डाला है, ठीक इसी तरह पौराणिक भूगोल प्रसङ्ग में भी स्थूल जगत् का यथावत् वर्णन करते हुवे साथ २ सूक्ष्म किंवा दिव्य जगत् का भी विशद निरूपण किया है। कहना न होगा कि भूमण्डल विषयक पौराणिक वर्णन को केवल इस प्रत्यक्षदृष्ट भूखण्डमात्र के साथ ही सम्बद्ध मानना पहली भूल हो सकती है। वस्तुत: यह सब वर्णन जहाँ हमारी इस अकिञ्चन भूमि की संस्था का परिचायक है वहाँ इन्द्रियाक्रान्त एवं अनुभवैकवेद्य, सूक्ष्म जगत् के दिव्यसंस्थान का भी द्योतक है।

पौराणिक भूगोल-विद्या का मनन करते हुवे यह 'गुर' कण्ठस्थ कर लेना चाहिये कि हमारा यह स्थूल जगत् इन्द्रियातीत सूक्ष्म जगत् का ही छोटा किन्तु सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिबिम्ब (फोटो) है। सूक्ष्म जगत् में जिन २ पदार्थों की जैसी स्थिति है हमारे इस स्थूल जगत् में भी उन २ पदार्थों के प्रतिनिधिभूत पदार्थों की वैसी ही संस्था है।

पुराणों में जिन नद, नदी, सरोवरों, पर्वतों किंवा नगरों का जहाँ—जैसा जिसतरह का वर्णन किया गया है वे सब मुख्यतया सूक्ष्म जगत् में उसी रूप में और उसी परिमाण में ठीक २ वैसे ही विद्यमान हैं। साथ ही गौणरूपेण इस स्थूल जगत् में भी तत्तत् पदार्थों के प्रतिनिधिभूत नद, नदी, सरोवर और पर्वतादिक विद्यमान तो अवश्य हैं परन्तु उनमें पुराणवर्णित सब गुण अथवा अवगुण घटित होते हों सो बात नहीं है। जिस तरह कागज पर बने हुवे भूगोल-चित्र में किंवा गारा, मिट्टी, मोम और मसाले से तैयार किये हुवे भूपिण्ड (Globe) में हमारे इस दृश्य संसार के प्राय: सभी प्रधान २ नद, नदी, सरोवरों, पर्वतों और नगरों के रूप-रेखात्मक चिन्ह तो अवश्य विद्यमान होंगे परन्तु नाप तोल परिमाण में और करणभूत सामग्री में वे बनावटी चित्र वास्तविक भूपिंड नहीं हो सकते, ठीक इसीप्रकार हमारा स्थूल जगत् भी उस इन्द्रियातीत सूक्ष्म जगत् का प्रतिचित्र==नक्शा मात्र है। इस स्थूल जगत् के समस्त नद,

नदी, सरोनवादिक उस सूक्ष्म जगत के नद, नदी आदि पदार्थों के ही निदर्शनमात्र है। नक्शे की नीली रेखाएं जिस तरह गङ्गा, यमुना आदि नदियों की प्रतिमूर्ति होती हुई भी असली नदियों की भांति अपनी उत्ताल तरङ्गों से किनारों को आप्लावित नहीं कर सकती, ठीक उसी तरह सूक्ष्म जगत् के पदार्थों के प्रतिकृतिभूत स्थूल-जगत्-संस्थित नद, सरोवरादिक भी अपनी सीमा तक ही पुराणवर्णित भूगोल के साथ समता रखते हैं। इसलिये पौराणिक भूगोल का अध्ययन करते हुवे पाठकों को यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये कि इस प्रसंग में जिन २ पदार्थों का जैसा संस्थान पुराणों में अङ्कित है वह सोलहों आने तो सूक्ष्म जगत में ही उपलब्ध हो सकता है उसकी प्रत्याकृतिमात्र हमारे इस स्थूल जगत् में मिल सकती है, यही पौराणिक-भूगोल शैली की विशेषता का रहस्य है।

पौराणिक भूगोल के पारिभाषिक शब्द

यूं तो सभी विषयों में कुछ खास २ शब्द ग्रन्थकार के व्यापक अभिप्राय को प्रकट कर सकने के लिए निश्चित रहते हैं जिन्हें कि तत्तत् शास्त्र के परिभाषिक शब्दों के नाम से स्मरण किया जाता है, परन्तु भूगोल विषय में तो पारिभाषिक शब्दों का इतना बाहुल्य है कि तत्सम्बन्धी प्रत्येक भाव को व्यक्त करने लिये बार २ उनके प्रयोग की ही आवश्यकता पड़ती है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि पौराणिक भूगोल विद्या का अध्ययन करने वाले महानुभावों को सर्व प्रथम पारिभाषिक शब्दों का खूब मनन करना चाहिये।

इस विषय में इतनी बात और भी गाँठ बाँध लेनी चाहिये कि पारिभाषिक शब्दों की 'अर्थ सीमा' निर्धारित करना ग्रन्थकार की अपनी इच्छा पर ही निर्भर है। वह जिस शब्द को जिस सीमा तक व्यापक

करना चाहे यथेच्छ कर सकता है। इस विषय में किसी दूसरे का यह बलात्कार नहीं चल सकता कि 'वह ऐसा ही क्यों मानता है'। हमारी यह उक्ति साधारणतया समस्त पारिभाषिक शब्दों पर और विशेषतया नाप तोल के परिमाणों (पैमानों Measure) पर सर्वथा लागू होती है जिसकी स्पष्टता के लिये हम यहां कतिपय उदाहरण दे देना भी आवश्यक समझते हैं।

सभी जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का वजन प्रकट करने के लिये छटाँक, सेर और मन आदि तोल का उल्लेख होता है, परन्तु देश भेद से यह परिमाण पचासों प्रकार का देखा जाता है जैसा कि नीचे लिखी तालिका से विदित हो सकेगा कि 'सेर' की परिभाषा प्रान्त भेद से किस तरह बदल जाती है, यथा—

बम्बई शहर में—मेवा, किराना, सागसब्जी और घी का	२८ तोले का सेर
„ „ दूध दही	५५ „
„ „ अन्नादि	८० „
मुजफ्फरनगर के इलाके में सब चीजों का	८८ „
धामपुर नगीना „ „	६५ „
मुरादाबाद बरेली „ „	१०५ „
अम्बाला के इलाके में (पुराना तोल)	३६ तोले का

इसी तरह हम नाप सम्बन्धी—गज, कोस आदि पारिभाषिक शब्दों की इयत्ता में भी प्रत्यक्ष अन्तर देख पाते हैं। हमारे अपने प्रान्त में ही तीन प्रकार का गज बर्ताव में आता है। सोलह गिरह का छत्तीस इञ्ची अंग्रेजी गज तो आज सभी जगह प्रचलित है परन्तु बढ़ई लोग एक चौबीस तसू का गज बर्तते हैं जिसे कि वे 'इमारती गज' के नाम से पुकारते हैं और वह लगभग ३२ इञ्च का होता है। जुलाहे लोग और

प्राचीन सभ्यता के पुजारी किसान लोग एक तीसरा गज बर्ताव में लाते हैं जिसे वे 'कच्चा गज' कहते हैं वह अन्यून १२ गिरह का ही होता है।

कोस का छोटा बड़ापन तो प्रायः सभी यात्रियों को विदित है। मारवाड़ में जितनी दूरी को एक कोस बताते हैं देहली प्रान्त में उसे दो कोस और पूर्वीय पंजाब में चार कोस तक कह सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नाप सम्बन्धी परिमाण में भी तत्तत्प्रान्तीय व्यवस्था के अनुसार ही परिभाषा कल्पना करनी पड़ती है, अन्यथा न्यूनाधिक का गड़बड़ घुटाला हो जाना स्वाभाविक है।

ठीक इसी प्रकार पौराणिक भूगोल सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की अर्थसीमा भी पौराणिक परिभाषा के अनुसार ही निश्चित करनी चाहिये। जिस तरह मुरादाबाद-वास्तव्य पुरुष के समक्ष बम्बइ निवासी सज्जन का यह कहना कि 'मैं आधा सेर घी प्रतिदिन खाता हूँ' मुरादाबाद की परिभाषानुसार १०५ तोले का सेर मानने की दशा में ही असम्भव जंच सकता है परन्तु बम्बई की परिभाषा के अनुसार केवल २८ तोले मात्र का सेर स्वीकार करने पर वह असम्भवता काफ़ूर हो जाती है, ठीक और 'भू-विवर' आदि शब्दों का तथा तत्तत्परिमाणद्योतक योजन आदि इसी तरह पौराणिक भूगोल प्रयुक्त 'भू-मण्डल' 'भूवलय' 'द्वीप' 'समुद्र' शब्दों का पुराण-सम्मत पारिभाषिक अर्थ जान लेने पर भी वे वे सब सन्देह काफ़ूर हो जायेंगे जो कि उक्त शब्दों को लोकप्रसिद्ध मानने की दशा में प्रायः उत्पन्न होते हैं।

'भू-मण्डल' शब्द का परिभाषार्थ

'भूमण्डल' का शब्दार्थ चाहे कुछ भी हो, परन्तु पुराण ग्रन्थों में इस शब्द की निम्नलिखित परिभाषा नियत की गई है—

···भू-मण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते।

(श्रीमद्भागवत ५।१६।१)

अर्थात्—भगवान् सूर्य जितनी दूर तक ताप दान करते हैं और जिस स्थान में तारागणों सहित वह चन्द्रमा दीख पड़ता है उतने विस्तृत स्थान को 'भूमण्डल' कहते हैं।

अब जो लोग पौराणिक भूगोल को पढ़ते हुये तद्वर्णित समुद्र-नद नदी सरोवरों किंवा पर्वतों को इस दृश्यमान छोटी सी भूमि पर ही देखना चाहते हैं उन्हें आँख खोल कर ऊपर लिखी पंक्तियें पढ़नी चाहियें। जब कि पौराणिक भूगोल के प्रथम शब्द 'भूमण्डल' की परिभाषा में ही यह व्यक्त कर दिया गया है कि पौराणिक भूगोल का क्षेत्र केवल यह भूपिण्डमात्र ही नहीं है बल्कि जहां तक सूर्य्यदेव तपते हैं और जहाँ ज्योतिश्चक्रसहित चन्द्र भगवान् दीख पड़ते हैं उतने लम्बे चौड़े विस्तृत आकाश-स्थल के अभ्यन्तरवर्ती समस्त पदार्थों को यथावत् प्रकट करना ही पुराणों का ध्येय है तब भूपिण्डमात्र में सब कुछ ढूंढने की चेष्टा करना और न मिलने पर पुराणों का दोष बतलाना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

सातों द्वीप और सातों समुद्र कहाँ है?

पुराणों में—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर नाम सात द्वीपों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल नामक सात समुद्रों का वर्णन आता है। पुराणों में इन सबका जिस प्रकार का वर्णन किया है वे इदमित्थं वैसे ही भूमण्डल की विस्तृत सीमा के अभ्यन्तर—सूक्ष्म-जगत् के संस्थान में उपलब्ध हो सकते हैं, जैसा कि हम पीछे 'पौराणिक भूगोल शैली की विशेषता' प्रघट्ट में प्रकट

कर आये हैं। कदाचित् शङ्कावादी महाशयों को अब भी दूध दही आदि के समुद्रों पर विश्वास न हो तो हम इस विषय में साक्षात् निराकार भगवान् की गवाही भी दिलवा सकते हैं, जिससे कम से कम आस्तिक समाज को तो इनके अस्तित्व पर कुछ भी सन्देह शेष न रहे। यथा—

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः, क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः, स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः। (अथर्व ४। ३४। ६)

अर्थात्—घी, मधु, दही और जल से परिपूर्ण ह्रद—तड़ाग—झील समुद्र धारा रूप में तुझे तृप्त्यर्थ प्राप्त हों।

उपर्युक्त मन्त्र में बड़ी ही खूबी के साथ परोक्षभूत एवं आश्चर्यकारक घृतोद, इक्षुरसोद, सुरोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद और मिष्टजलोद इन छहों समुद्रों का वर्णन विद्यमान है। सातवां लवणोद नामक खारा समुद्र प्रत्यक्ष ही है। अतः वेद के इस मन्त्र में उसे परिगणित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

यहाँ तक हमने पौराणिक भूगोल-वर्णित अमुक २ वस्तुओं के न मिलने की शिकायत का निराकरण किया है, तदनुसार विज्ञ पाठक यह समझ चुके होंगे कि—'क्योंकि पौराणिक भूमण्डल का क्षेत्र दिव्य जगत् तक विस्तृत है, अतः इस भूखण्ड में उपलब्ध न होने वाले पदार्थ उस इन्द्रियातीत सूक्ष्म-जगत् में अवश्य विद्यमान हैं जैसा कि परोक्ष ज्ञान के भण्डार वेद में स्पष्टतया लिखा है। ऐसी दशा में किसी भी आस्तिक सज्जन को अब पुराण-वर्णित अमुक पदार्थ के न मिलने का आक्षेप करने का अधिकार शेष नहीं रहेगा।

लक्षणा से असम्भवता का परिहार

पौराणिक भूगोल पर दूसरा आक्षेप असम्भवता-विषयक किया

जाता है जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं। शङ्कावादी महाशयों का कहना है कि 'दूध दही के समुद्र नहीं हो सकते और नाहीं कोई सोने का पहाड़ हो सकता है'। हम प्रतिवादियों के इस आक्षेप का स्वागत करते हुये विनम्र भाव से पूछना चाहते हैं कि—क्या आपके कोश में प्रत्येक शब्द का अभिधार्थ ही ग्राह्य होता है ? अथवा प्रसङ्गानुसार लाक्षणिक और व्यंग्य अर्थों को भी किसी हद्द तक उसमें अवकाश मिल सकता है ?

इन्द्रियातीत होने के कारण हम क्या—कोई भी यह तो नहीं कह सकता कि उपर्युक्त समुद्रों का और कांचनगिरि सुमेरु का वास्तविक स्वरूप कैसा होगा, परन्तु वेद और पुराण दोनों में ही उनका वर्णन समान रूप से पाया जाता है, इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि उक्त समुद्रों का जल रूप, रस या गन्ध आदि किसी न किसी गुण में दुग्ध दही सुरा आदि पदार्थों से समता अवश्य रखता होगा ? जैसे लोक में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार किसी एक विशिष्ट गुण के कारण अमुक २ पदार्थ का वैसा नाम प्रसिद्ध हो जाता है, इसी तरह साक्षात् दूध दही आदि न होने पर तत्समान जल के कारण उक्त समुद्रों का वैसा नाम प्रसिद्ध हो सकता है। इसी तरह मेरु को 'काञ्चनगिरि' कहने का अभिप्राय भी उक्त पर्वत में अधिक मात्रा में सुवर्ण का होना हो सकता है। इस प्रकार इक्षुरसोद सुरोद आदि २ नामों को लाक्षणिक मानने पर असम्भवता का सन्देह अवशिष्ट न रहेगा।

जैसे वर्तमान समय में उत्तरीय ध्रुव के निकटवर्ती एक द्वीप का नाम 'ग्रीनलण्ड' (Green Land) प्रसिद्ध है, जिसका अक्षरार्थ 'हरा स्थान' होता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि इस द्वीप की [मिट्टी, पत्थर, दूध और पानी आदि] सभी चीजें हरे रङ्ग में सनी हुई हों, किन्तु उपजाऊपन के कारण हरे भरे शाद्वलों के आधिक्य से ही इसका ऐसा नाम पड़ गया है। इसी तरह अमृतसर (पंजाब) में सिक्ख सम्प्रदाय के प्रसिद्ध 'हरिमन्दिर' का नाम 'गोल्डनटैम्पल' मशहूर

है जिसका अर्थ 'सोने का मन्दिर' होता है, परन्तु एतावता यह नहीं समझना चाहिए कि उसमें ईंट चूना पत्थर आदि लगा ही नहीं है किन्तु शिखर के ऊपर सुनहरी झोल होने के कारण ही ऐसा नाम पड़ गया है। ठीक इसी प्रकार क्षीरोद, दधिमण्डोद और सुरोद आदि समुद्र नामों की तथा कांचनगिरि 'सुमेरु' की व्यवस्था समझनी चाहिए।

परिमाण ठीक हैं

'परिमाण-वैपरीत्य' का तीसरा आक्षेप भी उसी दशा में उत्पन्न होता है जब कि हम इस लघु कलेवर भूपिण्डमात्र को 'भूमण्डल' समझ बैठते हैं। परन्तु जब पौराणिक परिभाषा के अनुसार भूमण्डल का आयाम सूर्य्यताप और चन्द्र-संस्थान तक विस्तृत समझ लिया जाता है तो परिमाण वैपरीत्य का सन्देह अपने आप समाहित हो जाता है, जैसे भूमण्डल के परिमाण को ही लीजिये—

पचास करोड़ योजन भूमण्डल

पुराणों में उपर्युक्त भूमण्डल का पचास करोड़ योजन परिमाण स्पष्ट करते हुये बतलाया गया है कि—

अण्डमध्यगतः सूर्य्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम्।
सूर्य्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः॥

(देवीभागवत ८।१४।१६-१७)

अर्थात्—स्वर्ग और भूमि का जो मध्य भाग है वह ब्रह्माण्ड का बीच माना जाता है। इसी केन्द्र स्थान में सूर्य भगवान् विराजते हैं। सूर्य्य से सब तरफ पच्चीस करोड़ योजन तक ब्रह्माण्ड की सीमा है।

तात्पर्य यह हुआ कि सूर्य्य से पच्चीस करोड़ योजन नीचे और सूर्य

से पच्चीस करोड़ योजन ऊपर तक इसी तरह पच्चीस करोड़ योजन बाईं तरफ और पच्चीस करोड़ योजन दाईं तरफ इतने विस्तृत गोल का नाम ब्रह्माण्ड है। पुराणों में इसी गोले के दो विभाग करके पचास करोड़ योजन को भूगोल के नाम से और उतने ही परिमाण वाले दूसरे गोलार्ध को खगोल के नाम याद किया है। इस प्रकार भूमण्डल का पचास करोड़ योजन परिमाण ठीक ही उतरता है।

हमारी-पृथ्वी

हम पीछे कह चुके हैं कि पौराणिक वर्णनानुसार विस्तृत भू-मण्डल की जैसी संस्था है, अर्थात्—हमारी पृथ्वी से लेकर सुदूर सूर्य्यताप की सीमा पर्य्यन्त सूक्ष्म जगत् में जिन २ समुद्रों पर्वतों किंवा नदी सरोवर आदिकों का जैसा अस्तित्व विद्यमान है हमारी इस लघुकाय मानव पृथ्वी पर भी उन वस्तुओं के प्रतिनिधि-भूत समुद्र पर्वतादिक ठीक वैसे ही विद्यमान हैं। इसलिये हम पुराणोक्त तत्तत्पदार्थों के वर्तमान-कालिक नामों का उल्लेख करते हुये यह बताने की चेष्टा करेंगे कि अब नई पड़ताल के अनुसार भी वर्तमान गवेषकों ने हमारी इस मानव पृथ्वी का जैसा संस्थान निर्धारित किया है वह भी अधिकांश पुराण-प्रतिपादित पार्थिव भूगोल का ही समर्थन करता है। यदि वर्तमान गवेषकों की पड़ताल में और पौराणिक-भूगोल में एक अंश तक कुछ अन्तर भी दीख पड़ता है तो वह जड़वादी गवेषकों की अनुसन्धान-पद्धति के अधूरेपन का ही दोष है। ज्यों ही ये लोग अपनी अनुसन्धान-पद्धति की अपूर्णता को दूर कर पाएंगे त्यों ही पुराण-प्रतिपादित भूगोल के साथ सर्वांश में सहमत हो जाएंगे।

सात-द्वीप

हमारी इस पृथ्वी पर सात द्वीप पाये जाते हैं, यथा—जम्बूद्वीप

(यूरेशिया Eurasia) शाक-द्वीप (आस्ट्रेलिया Australia) कुश-द्वीप (दक्षिणी अमेरिका South America) क्रौंच-द्वीप (उत्तरी अमेरिका North America) शाल्मली द्वीप (ग्रीन लैण्ड Green Land) प्लक्ष-द्वीप किंवा गोमेघ-द्वीप (ऐन्टरैक्टिका विक्टोरिया लैण्ड आदि (Auntractica Victoria Land etc.) और पुष्कर-द्वीप (अफ्रीका Africa)

वर्तमान भूगोलवेत्ता सज्जन यूरेशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका और उत्तरी अमेरिका इन पाँचों को महाद्वीप मानते हैं। शेष भूखण्डों को उपद्वीप के नाम से पुकारते हैं, परन्तु वेदव्यास जी ने पुराणग्रन्थों में 'त्यक्तानुबन्धे सामान्यग्रहणम्' इस नियम के अनुसार 'महा' और 'उप' दोनों अनुबन्धों को त्याग कर विशिष्ट भूखण्डों को सामान्यतया 'द्वीप' नाम से ही याद किया है अतएव उनकी संख्या सात ठहरती है, परन्तु जो जो भूखण्ड अत्यन्त छोटे किंवा प्रायद्वीपों की भान्ति तत्तत् द्वीपों से सटे हुये हैं उन्हें पुराणों में उन उन निकटवर्ती द्वीप के 'उपद्वीप' माना है, जैसे हमारे जम्बूद्वीप के लंका सिंहल आदि आठ उपद्वीप बतलाये हैं।

सात समुद्र

यद्यपि पृथ्वी के समस्त खण्डों को आवेष्टित करने वाली जलराशि को जलत्वसामान्येन एक ही समुद्र कहा जा सकता है तथापि जल के अमुक भाग में अमुक गुण की विशिष्टता से अथवा अमुक २ देश के तट-सान्निध्य से वर्तमान गवेषकों ने भी उस एकत्व-संख्यावच्छिन्न समुद्र के सात विशिष्ट भाग माने हैं अतः वे भी सात समुद्र बतलाते हैं। यदि हम पुराणवर्णित दही दूध के समुद्रों के साथ वर्तमान समुद्रों के नामों की तुलना करें तो सहसा यह स्पष्ट हो जायेगा कि अब भी उन २

समुद्रों के नाम प्राय: पौराणिक नामों के समान ही प्रसिद्ध हैं यथा—इक्षुरस समुद्र (सीमोर Simor Sea) सुरा समुद्र (अटलांटिक Atlantic Ocean) सर्पि: समुद्र (हड्सन Hudson) दधिमण्ड समुद्र (अण्टरेक्टिक Antarectic) क्षीरसागर (ह्वाइट White Ocean) स्वादूदक (रूमसागर Mediterranean Sea) लवण-समुद्र Indian Ocean) ।

पार्थिव-सुमेरु

यदि हम पुराणोक्त लक्षण के अनुसार पार्थिव-सुमेरु का अन्वेषण करना चाहें तो एशिया और यूरोप की सीमा को विभक्त करने वाला यूराल (Ural) नामक पहाड़ ही हो सकता है। क्योंकि पुराणों में सुमेरु को भूमण्डल का मध्यस्थ पर्वत माना है तदनुसार 'पार्थिव-मेरु' भी हमारी इस पृथ्वी के ठीक मध्य में होने वाला ही कोई पहाड़ होना चाहिए। सो यदि यूराल पर्वत की मध्य चोटी पर से पृथ्वी के गोले पर एक रेखा—जो गोले को ठीक दो भागों में बाँटने वाली हो—यूराल से पूर्व की तरफ फारमूसा द्वीप (सिंघाई और हाङ्गकाँग के बीच में) तथा शाकद्वीप=वर्तमान आस्ट्रेलिया के पूर्व किनारे को काटती हुई और यूराल से पश्चिम की तरफ सैनिक (हालेण्ड) से ऊपर इङ्गलैंड में लन्दन की ओर होती हुई दक्षिणी अमेरिका को काटती हुई खींची जावे तो इस रेखा पर पृथ्वी के सूखे भाग की लम्बाई जितनी पूर्व रेखा पर होगी ठीक उतनी ही पश्चिमी रेखा पर भी होगी। यदि यूराल की मध्य चोटी पर उत्तर दक्षिण को दूसरी रेखा खींची जावे तो उसपर भी पृथ्वी के सूखे भाग की लम्बाई जितनी उत्तर को होगी ठीक उतनी ही दक्षिण को भी होगी। इसलिये वर्तमान समय में यूराल* कहे जाने

* टिप्पणी—स्वर्गीय लोकमान्य तिलक आदि कई समालोचकों ने उत्तरी ध्रुव को सुमेरु माना है।

वाले पहाड़ को ही हमारी इस मर्त्य पृथ्वी का सुमेरु कहा जाना चाहिये! क्योंकि पुराणों में सुमेरु को 'काँचनगिरि' लिखा है अतः अन्वेषण करने पर उक्त पर्वत में अत्यधिक उज्ज्वल खरे सोने की खानें भी बहुतायत से प्राप्त हो सकती हैं—यह भी सुनिश्चित है।

हमारी पृथ्वी का परिमाण

जिस तरह सूर्य के ताप की सीमा पर्य्यन्त विस्तार वाले भूमण्डल का परिमाण 'पचास करोड़ योजन' है ठीक इसी प्रकार हमारी पृथ्वी का परिमाण भी पचास करोड़ योजन ही है। शङ्का हो सकती है कि जब पूर्वोक्त 'अण्डमध्यगतः सूर्य्यो' आदि प्रमाणों के अनुसार भूपिण्ड से लेकर सूर्य्यताप स्थान तक विस्तृत अन्तरिक्ष का परिमाण केवल पचास करोड़ योजन माना गया है फिर तदन्तर्गत अकिञ्चित्प्रायः भूपिण्डमात्र का परिमाण पचास करोड़ योजन कैसे हो सकता है? भूमण्डल और भूपिण्ड दोनों को ही पचास करोड़ योजन के मानना वैसा ही असम्भव जंचता है जैसे कोई कहे कि—'मेरे दादा के यहाँ एक छप्पन गज का हाल कमरा है जिसके एक छोटे से कोने में छप्पन गज का सन्दूक रक्खा है?' भला अब विचारिये कि जब कमरा ही छप्पन गज का है फिर उसके सिर्फ एक ही कोने में छप्पन गज का संदूक कैसे समा सकता है? ठीक इसी प्रकार भूपिण्ड और भूमण्डल का तारतम्य समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष में भी वर्तमान गवेषकों ने हमारी इस पृथ्वी का परिमाण केवल ७९९७ मील निश्चित किया है जोकि सिर्फ एक हजार योजन के करीब ठहरता है। अतः हमारी इस पृथ्वी का परिमाण पचास करोड़ योजन मानना युक्ति और प्रत्यक्ष दोनों के ही प्रतिकूल दीख पड़ता है।

परन्तु 'शिवपुराण' में लिखा है—

पंचाशत् कोटिविस्तीर्णा सशैलवनकानना ।

(विद्येश्वर संहिता १२ । २)

अर्थात्—यह भूमि—पर्वत वन आदि सहित पचास करोड़ योजन परिमाण वाली है । इत्यादि ।

उपर्युक्त आक्षेप को पढ़कर पाठक अवश्य शङ्कित हो जायेंगे । एक हद तक शङ्कित हो जाना कुछ स्वाभाविक सा भी जंचता है । परन्तु है यह शङ्का निर्मूल ! तिनके की ओट में हिमालय छुपा हुआ । आइए हम आपको एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं । कल्पना कीजिए कि हम कुछ सज्जनों से एक गोलमटोल गेंद (Foot Ball) का परिमाण दर्य्याफ्त करते हैं । एक सज्जन उसका परिमाण निकालने के लिए एक सूत का धागा लेकर गेंद के उपरि भाग के ठीक बीचों बीच एक छोर से दूसरे छोर तक नाप कर धागे की लम्बाई के अनुसार परिमाण बताते हैं । दूसरे साहिब एक लोहे की लम्बी सलाई लेकर उससे गेंद को बीचों बीच छेदते हुये [सलाई का जितना भाग दोनों पड़तों के बीच में समा गया था] उसकी लम्बाई के अनुसार गेंद का परिमाण ठहराते हैं । तीसरे महानुभाव गेंद के ऊपरी भाग का क्षेत्रफल (रकबा Area) निकाल कर उससे ही गेंद का परिमाण निश्चित करते हैं । इस तरह गेंद का परिमाण बताने वाले तीनों सज्जनों के आँकड़े तो पृथक् २ होंगे परन्तु तात्पर्य तीनों का एक ही होगा । इसके अतिरिक्त विद्वान् लोगों की दृष्टि में सूत के धागे से नापने वाले, लोहे की शलाका से मिनने वाले उत्तरदाताओं की अपेक्षा गणित द्वारा गेंद का घनफल (रकबा) बताने वाला महानुभाव ही अधिक प्रतिष्ठापात्र होगा, क्योंकि उसने गेंद का परिमाण निकालने में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है । ठीक इसी तरह वर्तमान गवेषकों ने जो पृथ्वी का परिमाण ७९९७

माइल बतलाया है वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक होने वाली लम्बाई का परिमाण है जिसे 'व्यास' कहते हैं। परन्तु पुराणग्रन्थों में पृथ्वी के पृष्ठ क्षेत्रफल के अनुसार उसका घनफल (रकबा) निकल कर दिखलाया है जो पूरा पचास करोड़ योजन होता है।

सनातनधर्म के प्रसिद्ध वक्ता स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'धर्म्म-कल्पद्रुम' आदि ग्रन्थों में उक्त दोनों प्रकार के पृथ्वी परिमाणों का समन्वय इस प्रकार किया है—'पृथ्वी का व्यास ७६६७ माइल है। दो माइल का पुरातन क्रोश (कोस) और चार कोस का एक योजन—इस तरह सीधे शब्दों में पृथ्वी का व्यास पूरा एक हजार योजन हुआ। यदि गोल अण्डाकार वस्तु का पृष्ठ क्षेत्रफलात्मक घनपरिमाण (रकबा) निकालना अभीष्ट हो तो उसके व्यास को क्रमशः तीन बार गुणित (जरब) करके दो पर विभक्त (तकसीम) कर देना चाहिए, जो फल हो वही उसका पृष्ठ-क्षेत्र-फलात्मक घनपरिमाण होगा। तदनुसार

$$\frac{१००००\times१००००\times१००००}{२} = ५०,००,००,०००$$ पचास करोड़ ही

पृथ्वी का घनपरिमाण आयेगा।' इसी रीति से हमारी इस मानव-पृथ्वी का परिमाण भी पुराण ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है वही गणित द्वारा ठीक साबित होता है।

इसी प्रकार हिमालय आदि पर्वतों के परिमाणों की बात है। वर्तमान भूगोल-वेत्ताओं ने हिमालय पर्वत की ऊँची चोटी, माउन्ट एवरेस्ट —जिसका वास्तविक नाम गौरीशिखर या गौरीशङ्कर है—की ऊंचाई केवल उनतीस हजार फुट बताई है, परन्तु श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में इसका दश हजार योजन परिमाण लिखा है जो वर्तमान परिमाण से कहीं अधिक है। अब प्रश्न हो सकता है कि यह भेद क्यों ? यदि विचार करके देखा जाय तो इसमें भी प्राचीन ऋषियों की अथाह बुद्धि का ही परिचय मिलता है, क्योंकि वर्तमान गवेषकों ने जो परिमाण मिकाला है

वह (बड़ी दौड़धूप कर के लाखों रुपया व्यय करके और सैकड़ों पुरुषों की जान गवां कर फिर भी) अधिकांश अनुमान पर ही स्थिर किया है। और वह भी केवल पृथ्वीतल से ऊपर को उठे हुवे भाग का ही निकाला जा सका है। वर्तमान गवेषकों को अभी तक यह पता नहीं है कि हिमालय पर्वत भूमिगर्भ में कितना धंसा हुआ है, परन्तु त्रिकाल-दर्शी महर्षियों ने योगबल से अपनी पर्णकुटी में बैठे २ अनायास ही ऊपर से लेकर भूगर्भ में धंसे हुवे भाग की चरमसीमा तक के भाग को देखकर पुराणशास्त्रों में स्पष्टतया लिख दिया है। वर्तमान गवेषक हिमालयादि के उस भूगर्भ-प्रविष्ट भाग को न अब तक जान सके हैं और नांही भविष्य में जान सकेंगे ऐसी आशा की जाती है। क्योंकि यह केवल योगीजनों का ही ज्ञातव्य विषय है। अब पाठक विचारें कि ऋषियों की इन अमूल्य सम्मतियों को सरे बाजार कोसने वाले महाशय कहां तक न्याय करते हैं। हमें इस पुस्तक का कलेवर भूगोल विषय पर इससे अधिक लिखने की आज्ञा नहीं देता इसलिये पाठक दिङ्मात्र से ही संतोष करें।

खगोल-विद्या

पुराण ग्रन्थों में खगोल सम्बन्धी सभी बातों का विवेकपूर्ण एवं विशद विवेचन किया गया है। इसमें सूर्य चन्द्र आदि ग्रह, राहु केतु आदि उपग्रह, नक्षत्र माला, राशिचक्र, आकाश गंगा धूमकेतु, उल्कापिंड, दिग्दाहक पिण्ड, और ध्रुव,—गर्ज है कि सभी प्रकार के आकाशचारी अंड और पिंडों का न केवल वर्णनमात्र है, अपितु लौकिकी भाषा में उनकी उत्पत्ति परिवर्तन और गति विगति आदि का रहस्य भी स्पष्ट एवं सरल रीति से प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त अमुक ग्रह, उपग्रह का परिमाण क्या है? तथा वह पृथ्वी से कितनी दूर स्थित है? एवं

किस गति से कितने समय में किस मार्ग से घूमता है ?—इत्यादि बात भी भलीभांति प्रकट की गई हैं। खगोल-तत्त्ववेत्ता बहुत दिनों तक अनुसन्धान करने के बाद अभी अभी यह समझ सके हैं कि ग्रहों की गति विगति का प्रभाव पृथ्वी पर भी अवश्यमेव पड़ता है। अब तो कई गवेषक यहाँ तक स्पष्ट कहने लग पड़े हैं कि "पुच्छलतारा" निकलने से पुरुषों के स्वभाव तमोगुण के आवेश में आ जाते हैं और वे अकारण आपस में एक दूसरे के रुधिर के प्यासे बन जाते हैं। यूरोपियन ज्योतिषियों ने मंगल का नाम ही मार्स (Mars) रक्खा है जो कि युद्ध-कालीन मार्शल (Marshal) शब्द से सम्बन्ध रखता है। मङ्गल या शनैश्चर की विशेष दशा में भी अब अनिष्ट फल का होना माना जाने लगा है, परन्तु हिन्दूशास्त्रों का यह महत्त्व है कि हमारे पूर्वजों ने इन सब बातों को आज से सहस्रों वर्ष पूर्व न केवल जाना ही था बल्कि दुष्टग्रहों के प्रभाव से बचने के उपायों को भी खोज निकाला था, जिसका धुँधला किन्तु सत्यस्वरूप फलित ज्योतिष के रूप में अद्यावधि विद्यमान है।

खगोल का विषय यूं तो प्रायः सभी पुराणों में आया है, परन्तु कूर्मपुराण और भविष्यपुराण का वर्णन बड़ा ही मनोहर है। नवीन खगोलवेत्ता ग्रह उपग्रहों की दूरी के विषय में अभी तक कोई मत स्थिर नहीं कर सके, उनके मत अभी तक साध्यकोटि में ही समझने चाहियें। उत्तरोत्तर विज्ञान ज्यों २ उन्नत होता जा रहा है त्यों २ आधुनिक मत भी पुराण-वर्णन के निकट आ रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुराणोक्त खगोलविद्या त्रिकालदर्शी महर्षियों की तपश्चर्य्या का ही फल है।

खगोल की विस्तृत सीमा

जिस प्रकार पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार ब्रह्माण्ड के एक कपाल 'भू-मण्डल' की सीमा पचास करोड़ योजन तक विस्तृत सिद्ध की जा चुकी है

इसीप्रकार ब्रह्माण्ड के दूसरे कपाल 'खगोल' का परिमाण भी पूरा पचास करोड़ योजन बताया गया है। यथा—

एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति ।
यथा हि द्विदलयोर्निष्पावादीनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ५ । २१ । २)

अर्थात्—भूमण्डल के परिमाण के अनुसार ही 'द्युमण्डल' (खगोल) का परिमाण भी खगोलवेत्ता महर्षियों ने बतलाया है, जैसे कि दो दलों वाले मटर आदि अन्न के एक दल का परिमाण प्रकट कर देने पर दूसरे दल का परिमाण भी तत्सम ही होता है (इसीप्रकार अण्डाकार 'ब्रह्माण्ड' के पृथ्वी-सम्बद्ध गोलार्ध को 'भू-मण्डल' और तारागण-सम्बद्ध गोलार्ध को 'द्युमण्डल' कहते हैं—इन दोनों का परिमाण समान ही है)।

शनि गुरु और मंगल की विशेषता

आधुनिक खगोलवेत्ताओं ने जाना है कि शनि ग्रह सब ग्रहों से गति में सुस्त है, परन्तु पुराण-ग्रन्थों में इसका नाम ही 'पंगु' या 'शनैश्चर' लिखा है, जिसका अर्थ लंगड़ा या धीरे २ चलने वाला होता है। वे बृहस्पति ग्रह को सूर्य के अतिरिक्त सब ग्रहों से बड़ा बताते हैं तो पुराण पूर्व ही से इसे 'गुरु' और बृहस्पति अर्थात् भारी और बड़ा कहते हैं। इसीप्रकार आजकल मङ्गल के विषय में जो खोज हो रही है उसका साराँश यही है कि मङ्गल निवासी जीव हम पृथ्वी-निवासियों से बहुत कुछ समता रखते हैं अर्थात् उनके शरीर वैसे ही तत्त्वों के विमिश्रण से बने हैं जैसे तत्त्वों से हम भूमि-निवासियों के, परन्तु पुराण ग्रन्थों में उसे स्पष्टतया 'भौम' या 'भूमिपुत्र' कह कर हमारी पृथ्वी का बेटा सिद्ध किया गया है, यथा—

पुरा मैथुनमाश्रित्य स्थिताभ्यां तु हिमालये ।
भीमोमाभ्यां महाबाहो ! रक्तविन्दुश्च्युतः क्षितौ ॥
मेदिन्या सप्रयत्नेन सुखेन विधृतोऽनया ।
जातोऽस्याः स कुजो वीरो रक्तो रक्तसमुद्भवः ॥

(भविष्य-पुराण ब्राह्म पर्व ३१ । १७--१८)

अर्थात्—हिमालय (जलीय सृष्टि हो जाने के बाद) में स्थित हुवे शिव पार्वती (=पुरुष और प्रकृति) संघर्ष से एक रक्तविन्दु (=आग्नेय वाष्प का गाढ़ा पिण्ड) पृथ्वी पर गिर गया । पृथ्वी ने उसे धारण किया । समय आने पर वही पृथ्वी का पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे 'कुज' कहते हैं ।

उपर्युक्त वर्णन से पता चलता है कि वर्तमान भौम किसी समय हमारी पृथ्वी से संयुक्त था और समयान्तर में वह आकर्षण विकर्षण के वैषम्य से जुदा हो गया । साथ ही इस जुदाई में हमारी पृथ्वी का बहुत कुछ भाग अपने साथ ले गया । सम्भव है आज जापान और अमेरिका के मध्य में जो 'शान्त महासागर' दीख पड़ता है वह उसी खाली स्थान का स्मारक हो । कई आधुनिक भूगर्भ-विद्या-विशारदों का ऐसा अनुमान भी है, परन्तु यह 'इदमित्थं' कौन कह सकता है । अस्तु, कुछ भी हो आधुनिक खोज ने पौराणिक भौम नाम का समर्थन अवश्य किया है । यही बताना हमारा लक्ष्य है ।

इसीप्रकार शनि का सूर्यपुत्र होना और बुध का चन्द्रपुत्र होना भी एक खगौलिक पुरातन घटना का परिचायक है, जिसे हम स्थानाभाव से यहां लिख नहीं सकते । जिन सज्जनों को खगोल विद्या से प्रेम हो उन्हें कूर्मपुराण, भविष्यपुराण या श्रीमद्भागवत-पुराण (स्कंन्ध ५ अ० १६ से २६) का श्रद्धापूर्वक पारायण करना चाहिये फिर मालूम होगा कि

वर्तमान खगोलवेत्ताओं ने पौराणिक खगोल की किस प्रकार पुनरावृत्ति की है। और जिस अंश में उनका पौराणिक वर्णनों से वैषम्य है वह केवल उसी समय तक है जब तक कि वे अपने सिद्धान्तों को साध्य-कोटि से बाहिर नहीं कर पाते। 'ध्रुव' का आकर्षण और सूर्य का घूमना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कुछ दिन पूर्व ये लोग सूर्य को सर्वोपरि मानकर उसी के आकर्षण पर समस्त ग्रहोपग्रह नक्षत्रादि की स्थिति माना करते थे तथा सूर्य को सर्वथा सुस्थिर बताया करते थे। लेकिन अब नई खोज के अनुसार पता चला है कि कई नक्षत्र सूर्य से सैंकड़ों गुणें बड़े और सहस्रों गुणे आकर्षण वाले हैं। जब स्वाति नामक नक्षत्र ३।। लाख सूर्यों के बराबर है तब 'ध्रुव' का तो कहना ही क्या है। अतः अब वे अपने पूर्व-निश्चित सूर्याकर्षण सिद्धांत को छोड़ कर ध्रुव का आकर्षण मानने लगे हैं। इसीप्रकार सूर्य भ्रमण के सम्बन्ध में भी आजकल भारी मतभेद हो रहा है, कुछ लोग उसे अपने केन्द्र में ही लट्टू की भांति घूमने वाला मानते हैं और दूसरा पक्ष उसे समस्त भपंजर को साथ लिये हुवे किसी अनिश्चित दिशा में जाता हुवा बताता है। कुछ भी हो विदेशी ज्योतिषियों ने पौराणिक खगोल को अपनी नई खोज के सांचे में ढाल कर हमारा बहुत बड़ा उपकार किया है और कर रहे हैं। परन्तु उन भारतीय ऋषि सन्तान (?) कहलाने वाले नर-पशुओं को हम किन शब्दों में याद करें जो कि अश्लीलता की ऐनक लगा कर पुराणों को कोसने में ही अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं ! क्या पुराणों की अनर्गल आलोचनाएं लिखकर कुछ तिब्बती हवशियों ने 'ऋषिऋण' चुकाने का ऐसा ही मार्ग नहीं ढूंढा है ?

विज्ञान-विद्या

पुराण-सागर में वैज्ञानिक सिद्धान्तरूप अनमोल रत्नों की कमी नहीं है, परन्तु उन्हें प्राप्त करने के लिये गहरा गोता लगाने की

आवश्यकता अवश्य है। जो लोग किनारे की कंकड़ियों को देख कर या ऊपर तैरते हुवे झाग से घबड़ा कर हिम्मत हार बैठते हैं, वे मनुष्य उन अमूल्य मोतियों के अधिकारी नहीं हो सकते ? उन्हें प्राप्त करने के लिये तो—'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ' वाली कहावत को चरितार्थ करने की आवश्यकता है।

इस लघु कलेवर पुस्तक में हम उन सभी मोतियों का भण्डार खोल दिखाएं यह तो अति कठिन बात है, क्योंकि किसी वैज्ञानिक मत का निरूपण करने के लिये कितनी भूमिका की और कितने उपसंहार की आवश्यकता पड़ती है, यह केवल विज्ञानवेत्ता ही जान सकते हैं। दूसरों के लिये तो—'धरा फिलसफी में क्या लफ्ज़तराशी के सिवा।' तथापि हम इस प्रघट्ट में कतिपय वैज्ञानिक सिद्धांतों के दिग्दर्शन का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

ज्वार भाटा

आधुनिक विज्ञानवादियों का मत है कि चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र-जल बल्लियों उछाल मारने लग जाता है। यद्यपि पृथ्वी के निर्जल भाग पर भी आकर्षण का प्रभाव पड़ता है तथापि सूखे भाग के ठोस होने के कारण वह हमें प्रतीत नहीं होता। परन्तु जल तरल है इसलिये वह चन्द्रमा के आकर्षण से खिच जाता है। वैज्ञानिक परिभाषा में इसे 'ज्वार-भाटा' कहते हैं। विष्णुपुराण में भी यही बात बड़ी ही सरलता के साथ समझाई गई है, यथा—

स्थालीस्थमग्निसंयोगादुदेति सलिलं यथा ।
तथैव वृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तम ! ॥

दशोत्तराणि पञ्चैव अंगुलीनां शतानि वै ।
अपां वृद्धिक्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने ! ।।

(विष्णुपुराण २ । ९)

अर्थात्—आंच लगने से जिस प्रकार डेग का पानी ऊपर को उबलता है, इसी प्रकार चन्द्रमा के पूर्ण हो जाने पर आकर्षण से समुद्र का पानी भी उमड़ता है । प्रायः देखा जाता है कि समुद्र का जल ५१० अंगुल के लगभग बढ़ता घटता है ।

पाठक विष्णुपुराण के शब्दों पर विचार करें कि उसमें 'ज्वारभाटे' के सिद्धान्त का किस खूबी के साथ विवेचन किया है । यदि वर्तमान गवेषकों से पूछा जावे कि बतलाइये आप के अंग्रेजी मास की किस तारीख को ज्वारभाटा होता है ? तो वे कुछ भी नहीं बता सकेंगे । क्योंकि उनकी तारीखों से चन्द्रमा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, अतः उन्हें लाचार होकर हमारी अष्टमी और पूर्णिमा की ही शरण लेनी पड़ेगी । साथ ही 'ज्वारभाटा' कितना होता है ? इसकी औसत भी श्री व्यास जी ने अतीव स्पष्ट शब्दों में बता दी कि जिसे एक साधारण ग्राम्यजन भी बखूबी समझ सकता है ।

वर्षा

वर्तमान गवेषक वर्षा के विषय में कहा करते हैं कि—'सूर्य की उष्णता से पार्थिव जल वाष्प बन कर आकाश में फैल जाता है और समय पाकर 'मानसून' हवा के संयोग से वही वाष्प ठिठुर कर कणशः होकर बरस जाती है ।'

यदि हम उनसे यह प्रश्न करें कि मेहरबान ! जरा यह भी बताइये ! कि आपकी 'मानसून' हवाएं कब तशरीफ लाया करती हैं ? और जब

अकाल पड़ा करते हैं तब वे किस 'ब्लैक हाल' में बन्द हो जाती हैं ? तो बस वे बेचारे भारी असमञ्जस में पड़ जाएंगे क्योंकि अभी तक वे 'मानसून' चलने की भविष्यवाणी करने में सर्वथा असमर्थ हैं। परन्तु पुराण-ग्रन्थों में इन प्रश्नों को बड़े ही सुन्दर और सरल ढंग से हल किया है, यथा—

"विवस्वानष्टभिर्मासैरादायापो रसात्मकाः ।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्नमन्नाद्वै चाखिलं जगत् ॥
ज्ञशुक्रावेकराशिस्थौ सर्वदा वृष्टिदायकौ ।
तयोरन्तर्गतो भानुरनावृष्टिकरो मतः ॥
उदितेऽस्तमिते सौम्ये क्रूरे वक्रवत्मागते ।
चलत्यंऽगारके वृष्टिस्त्रिधा वृष्टिः शनैश्चरे ॥"

(विष्णुपु० २ । ६ । ८ कूर्मे भविष्येऽपि)

अर्थात्—सूर्य आठ महीने तक वाष्प रूप से जल लेता रहता है, और फिर उसे बरसाता है जिससे अन्न उत्पन्न होते हैं और अन्न से प्रजा जीवित रहती है । बुध और शुक्र नामक ग्रह जब एक राशि पर निकट २ रहते हैं तब जल बरसता है और यदि उन दोनों के बीच में सूर्य पड़ जाये तो वृष्टि नहीं होता । बुध शुक्र और बृहस्पति के उदय तथा अस्त होने के समय, एवं मङ्गल और शनि के वक्री (उलटी गति) होने के समय वृष्टि होती है, मङ्गल अतिचार में, और शनैश्चर पूर्वोक्त तीनों परिवर्तनों के समय वृष्टि करता है ।

यहां हमें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि पुराणों ने ऊपर के प्रमाणों में 'मानसून' चलने के समयों को किस खूबी के साथ बताया है । आधुनिक विज्ञानवादियों का कथन है कि शुक्र ग्रह के निकट बादलों

के सघन पटल हर वक्त छाये रहते हैं, ऐसा ही हाल बुध का है। उन दोनों का एक राशि पर होना निस्सन्देह वृष्टि का कारण हो सकता है। भारतीय किसान भी इस वैज्ञानिक बात से भली भाँति परिचित हैं। अतएव वे लोग चतुर्मास में—'बुध शुक्र का मेल' पूछा करते हैं।

दक्षिणोत्तर अयन

सूर्य की विशेष गति से ही दिन रात का ह्रास और वर्द्धन होता है। इसी प्रकार गर्मी और सर्दी का कारण भी सूर्य का विशेष संस्थान ही है। पृथ्वी पर जब सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं तब सर्दी हो जाती है, और जब सीधी पड़ती हैं तब गर्मी हो जाती है। अब जिस गति विशेष से यह सब कुछ होता है उसे पुराण-ग्रन्थों में 'अयन' कहते है जो दक्षिण और उत्तर भेद से दो प्रकार का है। यथा—

अयनस्योत्तरस्यादौ मकरं याति भास्करः।
ततः कुम्भं च मीनञ्च राशे राश्यन्तरं द्विज !॥
त्रिष्वेतेष्वथ युक्तेषु ततो वैषुवतीं गतिम्।
प्रयाति सविता कुर्वन्नहोरात्रं ततः समम्॥
ततो रात्रिः क्षयं याति वर्धतेऽनुदिनं दिनम्।
ततश्च मिथुनस्यान्ते परां काष्ठामुपागतः॥
राशिं कर्कटकं प्राप्य कुरुते दक्षिणायनम्॥

(विष्णुपुराण २। ८। ३०-३३)

अर्थात्—हे द्विज ! उत्तरायण में पहिले सूर्य मकर राशि पर गमन करता है, फिर कुम्भ और उसके अनन्तर मीन राशि पर जाता है। इस

तीन राशियों को क्रमशः भोग कर सूर्य अहोरात्र समान करता हुआ' वैषुवती गति का अवलम्बन करता है, अर्थात् 'विषुवत्' रेखा में गमन करता है। तदनन्तर रात घटने लगती है और दिन बढ़ने लगता है सूर्य मेष वृष को अतिक्रमण करके मिथुन राशि के अन्त में उत्तरायण की सीमा पर उपस्थित होता है। अन्त में कर्क राशि को प्राप्त होते ही दक्षिणायन हो जाता है।

उपर्युक्त श्लोकों का मनन करने से सूर्य की त्रिविध गति के कारण दिन-रात, गर्मी-सर्दी और ऋतु परिवर्तन सम्बन्धी सब बातों का पुरा २ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'गागर में सागर' इसी का नाम है।

तड़ित् (बिजली)

विभिन्न धातुओं के मिश्रिण से या आपस की रगड़ से अथवा वायव्य संघर्षण से 'विद्युत् शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। आजकल इससे कई प्रकार के कार्य लिये जाते हैं यह बात प्रायः सभी जानते हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि विद्युत् में दो प्रकार की शक्ति है, जिसे अंग्रेजी में 'पाजिटिव' (Positive) और 'नेगेटिव' (Negative) कहते हैं। कई द्रव्य ऐसे हैं कि जिनमें विद्युत्-शक्ति संक्रमण कर जाती है, और कई ऐसे हैं कि जिनसे वह पार नहीं जा सकती। साधारणतया एक धातु में व्याप्त हुई विद्युत्-शक्ति अन्य धातु से 'टच' हो जाने पर उसमें भी प्रवेश कर जाती है, परन्तु काष्ठादि पदार्थों में उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। हम अपने शब्दों में ऐसे पदार्थों को क्रमशः 'अशुचि' और 'शुचि' के नामके व्यवहृत कर सकते हैं। पुराण ग्रन्थोंमें उक्त अशुचि और शुचि सिद्धांत के अनुकूल संसार भर के पदार्थों का विभाग किया गया है। आज मूढ़लोग जिस भक्ष्य अभक्ष्य और सखरी निखरी को 'पोपलीला' की उपाधि देते हैं वह सब इसी विज्ञान पर स्थित है। हम उदाहरणार्थ

यहाँ एक दो विषयों की चर्चा करेंगे। पद्मपुराण कार्तिकमाहात्म्य तथा अन्यान्य सभी पुराणों में भगवदुपासना या ध्यान आदि करने की विधि इस प्रकार लिखी है कि गाय के गोबर से भूमि लीप कर कुशासन अथवा मृगचर्म बिछाना चाहिये, रेशमी या ऊनी वस्त्र पहन कर शिखा में गाँठ लगाकर हाथ को ज्ञानमुद्रा से (अंगूठे और तर्जनी को कुण्डलाकार) युक्त करके बैठे।

अब पाठक यह विचारें कि यह सब कुछ विधान क्यों? वास्तव में गोबर और कुशासन 'शुचि' है। हम ध्यान एवं उपासना द्वारा जिस शक्ति का उपार्जन करते हैं वह पृथ्वी के आकर्षण के कारण नीचे की ओर से अपहृत न हो सके इसी उद्देश्य से कुशासनादि का विधान किया गया है। शिखा-बन्धन और ज्ञानमुद्रा का तात्पर्य यह है कि सीधे लम्बप्रायः पदार्थों से विद्युत्-शक्ति का अपसरण हो जाता है, परन्तु कुण्डलाकृत पदार्थ में वह सुरक्षित रहती है। इसलिये शिखा बांधने पर दशम द्वारभूत कपाल मार्ग से और ज्ञानमुद्रा करके हाथों के रास्ते उपार्जित शक्ति का अपसरण न हो सकेगा।

शरीर में हाथ पाँव और मस्तक ये तीन स्थान ही अन्तिम हैं। इन्हीं से शक्ति अपसरण होने की सम्भावना है, अतः महर्षियों ने उपायों द्वारा उसे सुरक्षित बनाये रखने का आदेश किया है।

हमारे मन्दिरों के शिखरों पर लगाये हुये कलश विद्युत्-वेध सिद्धांत का परिचय देते हैं तथा गले की माला बिजली के फीते की तरह दाँतों को सुरक्षित रखती है। इसी प्रकार पीपल की परिक्रमा, तुलसीदल का सेवन और पत्तलों पर भोजन करना, काठ की खड़ाऊं पहिनना आदि जो कुछ भी पुराण ग्रन्थों की आज्ञाएं हैं वे सब विज्ञानभित्ति पर ही स्थित हैं। [विशेष रहस्य हमारे 'क्यों ?' नामक ग्रन्थ में द्रष्टव्य है]।

ध्रुव का आकर्षण

शिवपुराण (ज्ञानेश्वरी संहिता) और गणेशपुराण में दक्षिण की ओर पांव करके सोना मना किया है। और वह इसलिये कि इस प्रकार सोने से हमारे मस्तक ध्रुव की ओर रहेंगे और उसके आकर्षण से जो परमाणु (बुखारात) हमारे शरीर से निकलेंगे वे पाँवों की ओर से चल कर शिर के रास्ते से बाहिर जाएंगे। इस प्रकार प्रातः हमारा मस्तिष्क दोषपूर्ण परमाणुओं से भरा हुआ होगा। इसके विपरीत उत्तर की ओर पाँव करके सोने पर परमाणु शिर से प्रविष्ट होकर पाँव से निकलेंगे जिससे हमारा मस्तिष्क शुद्ध परमाणुओं से भरपूर रहेगा, इत्यादि गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य पुराणों में यत्र-तत्र भरे पड़े हैं।

वनस्पति चैतन्य

वृक्ष, लता, गुल्म, एवं पाषाण भी सजीव होते हैं यह बात तो प्रायः सभी पुराणों में उल्लिखित है। आज डा० जगदीशचन्द्र वसु का नाम 'वनस्पति-चैतन्यविज्ञान' के कारण संसार में प्रसिद्ध हो रहा है। अपने यन्त्रों की सहायता द्वारा उन्होंने यह बात सिद्ध कर दिखाई है कि प्रत्येक उद्भिज्ज में भी मनुष्य की भान्ति जीवन का संचार होता है और वे भी शब्दादि सभी विषयों की अनुकूलता किंवा प्रतिकूलता से हमारी तरह ही सुख तथा दुःख का अनुभव करते हैं। श्रीमद्भागवतपुराण में भी यही बात डंके की चोट घोषित की गई है, यथा—

उत्स्रोतसस्तमःप्रायाः, अन्तःस्पर्शा विशेषिणः।

(श्रीमद्भागवत ३ । १० । १९)

अर्थात्—वनस्पति आदि सभी उद्भिज्ज ऊपर की ओर बढ़ने वाले हैं, तमोगुण के आधिक्य से मूर्छितप्रायः हैं और अपने अन्दर स्पर्शादि विषयों का अनुभव करने वाले हैं।

महाभारत में तो स्पष्ट ही विस्तारपूर्वक इस रहस्य को प्रकट किया गया है, यथा—

> सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
> जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥
>
> (महाभारत शान्तिपर्व १८४ । १७)

अर्थात्—क्योंकि वृक्ष सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, तथा कटने पर विरूढ़ हो जाते हैं, इसलिये वृक्ष अवश्य ही जीवधारी हैं। अचेतन नहीं हैं।

सूर्य में काला धब्बा

आधुनिक ज्योतिषियों ने बहुत परिश्रम करने के बाद सूर्य्य के विषय में एक दो नई बातें जानी हैं। उनमें से काला धब्बा भी एक है। सन् १८९२ के फरवरी महीने में एक योरुपियन ज्योतिषी ने रश्मि विश्लेषक यन्त्र (Spectroscope) द्वारा इस धब्बे का पता लगाया है। अनुमान से इसका परिमाण ९२ हजार मील लम्बा और ६२ हजार मील चौड़ा बताया जाता है। परिमाण कुछ भी क्यों न हो इस पर हमें कोई आपत्ति नहीं। हमें तो केवल यह बताना है कि वर्तमान साइन्टिस्ट जिस खोज को मौलिक एवं अभूतपूर्व समझ कर फूले नहीं समाते वह खोज पुराणग्रन्थों में सहस्रों वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी है।

यदि हम आधुनिक गवेषकों से सूर्य्य के उपर्युक्त काले धब्बे का कारण पूछें तो वे कुछ भी नहीं बता सकेंगे, परन्तु पुराण-साहित्य में तो इस बात का भी कार्य्यकारण-पुरस्सर लौकिकी भाषा में स्पष्टीकरण किया गया है, यथा—

(क) विश्वकर्मा ह्यनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वतः ।
भ्रमिमारोप्य तत्तेजः शातयामास तस्य वै ॥

(भविष्यपुराण ब्राह्म ७६ । ५१)

(ख) छाया शनैन्चरं लेभे । (श्रीमद्भागवत ६ । ६ । ४१)

अर्थात्— (क) विश्ववकर्मा भगवान् ने शाकद्वीप में विवस्वान् सूर्य्यं को अपने 'भ्रमि' नामक यन्त्र पर चढ़ा कर उसका प्रखर तेज छील डाला । (ख) सूर्य्य की अर्धाङ्गिनी छाया से शनैश्चर पैदा हुवा ।

तात्पर्य्य यह हुवा कि सृष्टिरचना के समय सूर्य्य पिण्ड आकर्षण विकर्षण के चक्र में पड़ कर अपने बहुत से भास्वर भाग को खो बैठा । सूर्य्य पिण्ड के जिस भाग की भास्वरता विनष्ट हुई थी वह भाग हमारी पृथ्वी के शाकद्वीप (= वर्तमान आस्ट्रेलिया) की ठीक सामने की कक्षा में पड़ता है । सूर्य्य का जो भाग टूटा था वही समय पाकर शनैश्चर (Saturan) नामक ग्रह हुवा । इसीलिए पुराणों में उसे 'सूर्यपुत्र' कहा है । सूर्य का भग्नावशेष खण्डहर ही 'छाया' है जिसे आधुनिक अनुसन्धायक काला धब्बा बताते हैं । इस तरह पुराणों में इस काले धब्बे का सभी रहस्य विस्तारपूर्वक प्रकट किया गया है ।

छन्दःशास्त्र

अग्निपुराण में (अध्याय ३२८ से ३३५ पर्यन्त) छन्दःशास्त्र का समावेश है, इसमें लौकिक और वैदिक छन्दों के भेद का अद्वितीय वर्णन है ।

व्याकरण शास्त्र

पिछले दिनों काशी से प्रकाशित होने वाले 'सुप्रभातम्' संस्कृत पत्र में स्वर्गीय श्री कविचक्रवर्ती देवीप्रसाद जी शुक्ल का बनाया हुवा श्लोक-

बद्ध व्याकरण छपता था। हम उसे बड़े चाव से पढ़ा करते थे, और वह इसलिए कि—'वैयाकरण श्रुतिकटु=कर्कशभाषी होते हैं'—ऐसा लोक-प्रवाद चला आता है। पाणिनि के 'टिड्ढाणञ्' ने और मुरारिकविकृत 'अनर्घ-राघव' के 'तत्ताट्टक्···' आदि पद्यों ने इस प्रवाद को और भी दृढ़ बना रक्खा है। कविचक्रवर्ती जी ने उसे सुललित शब्दों में बाँधने का प्रयत्न किया था। हमें हर्ष था कि—चलो अब 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' के स्थान में 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' हो जायगा। जो कि शब्द-सौन्दर्योपासकों के मनोविनोद का पर्याप्त साधन सिद्ध होगा। परन्तु जब हमने अग्निपुराण का पारायण किया तो (३४९ अध्याय से ३५९ अध्याय पर्यन्त) श्लोकबद्ध व्याकरण प्राप्त हो गया जिसे देखकर हम फूले नहीं समाये, और कवि-चक्रवर्ती जी के प्रयत्न को प्रयास मात्र समझा। जो सज्जन उत्सुक हों वहां देखकर लाभ उठाएं। इस तरह पुराणों में व्याकरण-शास्त्र का भी समावेश विद्यमान है।

अलंकार शास्त्र

अलंकार शास्त्र का मूल अग्निपुराण है—यह बात सभी अलंकार-धुरन्धरों ने स्वीकार की है। चतुर्दश-भाषा-वारविलासिनीभुजंगम पं० विश्वनाथ जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के आरम्भ में ही इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है। अग्निपुराण में गुण, दोष, अलङ्कार नाटकादि भेद, एव नायक नायिका भेद,—गर्ज है कि साहित्य सम्बन्धी सभी बातों का विशद विवेचन किया गया है, इसलिये हम अग्निपुराण-वर्णित इस प्रघट्ट को 'साहित्य कल्पतरु का बीज' कह दें तो अत्युक्ति न होगी। इनेगिने पद्यों में अलंकार का ऐसा सर्वांगपूर्ण वर्णन करना श्री वेदव्यास जी का ही काम है।

इस समय साहित्य शास्त्र में 'काव्यप्रकाश' का स्थान बहुत ऊंचा है, परन्तु नाटकादि वर्णन का अभाव उसमें बेतरह खटकता है। परन्तु

अग्निपुराण में प्राय: सभी साहित्यिक विषयों का समावेश रहने के कारण वह उक्त दोष से सर्वथा मुक्त है, अतः हम उसे ही 'सर्वतोमुख अलङ्कार शास्त्र' कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त अग्निपुराण के साहित्य में हमें कई विशेषताएं भी दीख पड़ती हैं। उदाहरण के लिए हम कतिपय ऐसे अलंकारों के नाम पेश करते हैं, जो आधुनिक ग्रन्थोंमें नहीं मिलते। यथा—

छायामुद्रा तथोक्तिश्च युक्तिगुंफनया सह।
वाकोवाक्यमनुप्रासश्चित्तं दुष्करमेव च॥
ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात्॥
(अग्नि पु० ३४४। १९–२०)

इन नौ शब्दालंकारों में से 'अनुप्रास' को छोड़कर शेष अलङ्कार इस समय पुराण वर्णित नामों से व्यवहृत नहीं होते। श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध का—'जयति तेऽधिकम्' आदि गोपीगीत नामक पूरा एक अध्याय विलक्षण शब्दालङ्कारों से परिपूर्ण है। साम्प्रतिक अलङ्कार-ग्रन्थों में ढूँढने पर भी उक्त अलङ्कार का नाम नहीं मिलता—जैसे कि इस अध्याय के प्रत्येक श्लोक का द्वितीय अक्षर समान है। 'जयति ते' आदि में द्वितीय अक्षर यकार है तो यह चारों ही पादों में यकार ही है। इसी प्रकार 'न खलुगोपिकानन्दनो भवान्' के चारों ही पादों में द्वितीय अक्षर 'ख' कार है। इसी प्रकार अन्यान्य पद्यों में यही बात पाई जाती है। निःसन्देह यह अलौकिक अलङ्कार अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। यदि साहित्यप्रेमी अग्निपुराण का (अध्याय ३३८ से ३४४ तक) पारायण करें तो उन्हें और भी अनेक विशेषताएं मिल सकती हैं, जो विस्तारभयात् यहां प्रकट नहीं की जा सकतीं।

शब्दकोश

अग्निपुराण के अध्याय ३६० से ३६९ तक शब्दकोश है, जिसके

पढ़ने से प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह ने अपने कोश की रचना में उक्त ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता ली है। कदाचित् 'वादी भद्रं न पश्यति' न्याय के अनुसार कोई यह अङ्का लगाये कि—'अमरकोश' ग्रंथ के पश्चात् उक्त पुराणों की रचना हुई है, और उसके श्लोक ही पुराण-कार ने अपनाये हैं—तो हम उसके उत्तर में यही कहेंगे कि अमरकोश की विद्यमानता में उसके कुछ पद्य अपने ग्रन्थ में लिख लेने से सिवाय कागज काले करने के और क्या फल हो सकता था! हम विशेषतया ऐसे महापुरुषों के लिये जो कि अपने ग्रन्थ में मौलिक विषय लिखने की अद्वितीय योग्यता रखता हो—ऐसी संभावना भी नहीं कर सकते। सँस्कृत ग्रन्थकारों ने किसी दूसरे कवि के शब्द अर्थ और भाव आदि का चुराना 'तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति' के अनुसार अतिघृणित कार्य बताया है, अतः 'अमरकोश' के श्लोकों को अग्निपुराणकार ने उद्धृत किया हो यह असम्भव है। हाँ! अमरसिंह अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाने के लिए आर्ष ग्रन्थों से उचित उद्धरण अवश्य ले सकता है क्योंकि अन्यान्य कवियों ने भी अपने ग्रन्थ की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ऐसा किया है। जैसे कविकुलगुरु कालिदास जी ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य के आरम्भ में ही 'अथवा कृत-वाग्द्वारे' कहकर वाल्मीकि जी की उक्तियों को अपना लक्ष्य बताया है। इस तरह पुराणों में 'शब्दकोश' का भी समावेश विद्यमान है।

निरुक्त-शास्त्र

वेदार्थ परिज्ञान के लिए निरुक्त का जानना आवश्यक है, इसीलिए इस शास्त्र को वेदाङ्गों में परिगणित किया गया है। इस समय इस विषय का यास्कमुनिकृत 'निरुक्त' एकमात्र ग्रन्थ मिलता है। परन्तु हमने पुराणों का पाठ करते हुये यत्र-तत्र बहुत से शब्दों का निर्वचन देखा है।

यदि जहां तहां बिखरे हुवे इन निर्वचनरूप मोतियों को एक सूत्र में ग्रथित किया जावे तो विबुध-वृन्द के कण्ठ की शोभा के लिये अच्छी खासी वैजयन्ती माला तैयार हो सकती है।

इसके अतिरिक्त जिन शब्दों को लेकर पुराणों पर 'अश्लीलता' का मिथ्या कलङ्क लगाया जाता है वह भी बहुत कुछ दूर हो सकता है। उदाहरणार्थ हम एक दो शब्दों का निर्वचन यहाँ दिखाते है। यथा—

लिग शब्द

लीनार्थगमकं चिह्नं लिङ्गमित्यभिधीयते।

(शि० पु० विद्येश्वरी संहि० १६।१०६)

अर्थात्—लीन=अव्यक्तावस्थापन्न वस्तु के, गमक=वताने वाले निशान को (लीन+ग) कहते हैं।

भग शब्द

भं वृद्धि गच्छतीत्यर्थाद् 'भगः'—प्रकृतिरुच्यते।

(शिवपुराण विद्येश्वरी १६ । १०६)

अर्थात्—भ=वृद्धि को ग=प्राप्त होने वाली वस्तु को 'भग' कहते है जिसका अर्थ प्रकृति है।

रुद्र शब्द

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ......नाम्ना रुद्र इति प्रजाः।

(श्रीमद्भागवत ३ । १२ । १०)

अर्थात्—रोदन–किंवा भयङ्कर रड़ाट करने के कारण 'रुद्र' ऐसा नाम हुवा।

प्रणव शब्द

'प्र' प्रपञ्चो 'न' नास्ति 'वो' युष्माकं प्रणवं विदुः ।
प्रप्रकर्षेण नयेद् यस्मान्मोक्षं वा प्रणवं विदुः ॥
(शिवपुराण--विद्येश्वरी १७ । ५)

अर्थात्—'प्र' प्रपञ्च=मायाकृत बन्धन 'न' नहीं 'वः' तुम्हारे को (जिसकी उपासना से) उसे प्रणव कहते हैं । अथवा जो प्रकृष्टतापूर्वक मोक्ष को पहुंचाने वाला हो, उसे प्रणव कहते हैं ।

शिव शब्द

'शं' सुखं नित्यतानन्दम् 'इ' कारः पुरुषः स्मृतः ।
'व' कारः शक्तिरमृतं मेलनं 'शिव' उच्यते ॥
(शिवपुराण विद्येश्वरी १२ । ७६)

अर्थात्—'श' सुख एवं एकान्त आनन्द को कहते हैं । 'इ'कार परमात्मा का बोधक है और 'व'कार अमृत शक्ति का वाचक है, तीनों गुण जिसमें रहते हैं उसे 'शिव' कहते हैं ।

गुरु शब्द

गुणान् रुन्ध इति प्रोक्तो गुरुशब्दस्य विग्रहः ।
(शिवपुराण विद्या १८ । ८२)

अर्थात्---गुणों के आधायक को गुरु कहते हैं ।

विष्णु शब्द

विष्णवति व्यापकत्वात्ते नाम ख्यातं भविष्यति ।

(शिवपुराण रुद्र संहिता ६ । ४३)

अर्थात्—व्यापक होने के कारण भगवान् का नाम 'विष्णु' ऐसा प्रसिद्ध होगा । इसीप्रकार अन्याय शब्दों के भी पुराण ग्रन्थों में निर्वचन प्राप्त होते हैं जो विस्तारभयात् यहाँ अङ्कित नहीं किये जा सकते ।

आयुर्वेद

स्वास्थ्यरक्षा आयुर्वेद पर ही निर्भर है । लोग विदेशी दवाओं का सेवन करके धन धर्म तथा स्वास्थ्य तीनों चीजों को खो रहे हैं, परन्तु अपने आयुर्वेद की ओर ध्यान नहीं देते, परमात्मा ही उन्हें सुधार सकता है । प्राचीन ऋषियों का तो सिद्धान्त है कि—

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्ज तस्यौषधं हितम् ॥

अर्थात्—जो प्राणी जहां उत्पन्न होता है उसके लिए उसी देश की औषधियें हितकर हो सकती हैं । परन्तु आज स्वास्थ्य खराब हिन्दुस्तानियों का हो और बोतलें खाली की जाएँ, इङ्गलैण्ड की और फ्रांस की ! यह अन्ध परम्परा अत्यन्त अनुचित है । कुछ अदूरदर्शी महाशय भारतीय चिकित्सा-शास्त्र पर अपूर्णता का मिथ्या आक्षेप किया करते हैं परन्तु हम उन्हें दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि आयुर्वेद के 'चरक सुश्रुत' आदि सिद्ध ग्रन्थों का तो जिक्र ही क्या है, यदि हम पुराण ग्रन्थों की घरेलू दवाओं को भी बर्ताव में लाने लगें तो हमारी दैनिक आवश्यकता पूर्ण करने के लिए तो विश्वविद्या-भण्डार हमारे पुराण ही पर्य्याप्त हैं ।

उदाहरणार्थ हम यहां पुराणोक्त चिकित्सा-शास्त्र का कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

गजायुर्वेद

बालबिल्वं तथा लोध्रं धातकी सितया सह।
अतिसारविनाशाय पिण्डो भुञ्जीत कुञ्जरः॥

(अग्नि पु० अ० २८९)

अर्थात्—यदि हाथी से दस्त बन्द करने हों तो छोटे बेल, लोध, और आंवलों को कूट कर मिश्री मिला कर पिण्डियें बना हाथी को खिला दें, इससे दस्त बन्द हो जाएंगे। इसीप्रकार हाथियों के अन्यान्य रोगों की चिकित्सा भी पुराणों में लिखी है।

अश्वायुर्वेद

गोमयं लवणं मूत्रं क्वथितं मृत्समन्वितम्।
अङ्गलेपो मक्षिकादिदंशश्रमविनाशकः॥

(अग्नि पु० अ० २२८)

अर्थात्—गोबर, नमक, मिट्टी इनको गोमूत्र में पका कर यदि घोड़े के शरीर पर लगाया जावे तो मच्छर आदि द्वारा डसे हुवे घोड़े का जहर उतर जाता है। (यह नुसखा अनुभूत है आजकल काम में आता है)।

हिंगुपुष्करमूलञ्च नागरं साम्लवेतसम्।
पिप्पलीसैंधवयुतं शूलघ्नं चोष्णवारिणा॥

(अग्नि पु० अ० २८९)

अर्थात्—हींग, पोखरमूल, नागरमोथा, अम्लवेत, निम्बूबिजोरा, पिप्पली, सेंधा नमक इनको कूट छानकर घोड़े को गर्म जल से देने पर पेट दर्द दूर होता है।

गवायुर्वेद

शृंगामयेषु धेनूनां तैलं दद्यात्ससैन्धवम् ।
अतिसारे हरिद्रे द्वे पाठां चैव प्रापयेत् ॥
बिल्वमूलमपामार्गधातकी च सपाटला ।
कुटज दन्तमूलेषु लेपात्तच्छूलनाशनम् ॥

(अग्नि पु० अ० २९२)

अर्थात्—गाय के सींगों पर नमक और तेल लगावे । गाय बैलों में दस्तों का रोग हो तो दोनों हल्दियें और पाठा ये चीजें मिलाकर दे दो। पशुओं के दांतों में दर्द हो तो, अपामार्ग (जिसे ऊंगा, चिरचिटा किंवा पुठकंडा कहते हैं) आंवला, पाढ़ला, इन्द्र जौं इन सब को दातों की जड़ में लेप करे इत्यादि गो-चिकित्सा भी हमें पुराणों में मिलती है ।

विषचिकित्सा

शिरीषपुष्पस्य रसभावितं मरिचं सितम् ।
पाननस्याञ्जनाद्यैश्च विषं हन्यान्न संशयः ॥

(अग्नि पु० अ० २९७)

अर्थात्—किसी भी जन्तुविशेष के—खास कर सर्प के विष को दूर करने के लिए सिरस के फूल के रस में भिगोई हुई सफेद मिरचें पीने से सूंघने से या आँखों डालने से विष दूर हो जाता है ।

इसप्रकार प्रत्येक तरह की चिकित्साओं का—जिनसे कि गृहस्थ का सम्बन्ध प्राय: रहा करता है—अग्निपुराण, गरुड़पुराण और मत्स्यपुराणादि में पर्य्याप्तरूपेण वर्णन मिल जाता है । यदि भारत के दरिद्र नारायण

लोगों को पुराणों का समादर करने की अब भी सुधी आजाय तो वह बड़े सस्ते तरीके से स्वास्थ्य लाभ कर सकते हैं तथा स्वदेशी चिकित्सा-प्रणाली को भी उन्नत कर सकते हैं।

स्वप्न-ज्ञान

यह एक हमारा प्रधान शास्त्र था जिसके द्वारा हम भावी शुभाशुभ घटनाओं का पता चला लिया करते थे। परन्तु दुःख है कि आज यह विद्या भी लुप्तप्रायः सी हो गई। यदि कुछ मिलती है तो वह इन पुराणों ही में विद्यमान है।

चूर्णनं मूर्ध्नि कांस्यानां मुण्डनं नग्नता तथा।
स्नेहपानावगाहो च रक्तपुष्पानुलेपनम्॥
इत्यधन्यानि स्वप्नानि तेषामकथनं शुभम्॥

(अग्नि पु० अ० २२९)

अर्थात्—स्वप्न में अपने ऊपर कांसी की चीजों का टूटना, अपने सिर का मुंडना, अपने आपको नंगा—तेल पीता हुआ तथा तेल में स्नान करता हुआ, गले में लाल फूलों की माला पहिने किंवा लाल-चन्दन लगाए देखे तो उस स्वप्न का फल खराब समझो। ऐसे स्वप्नों को दूसरे से न कहना अच्छा है।

शकुन-शास्त्र

एहीति पुरतः शब्दः शस्यते न तु पृष्ठतः।
गच्छेति पश्चाच्छस्योऽग्रय: पुरस्तात्तु विगर्हितः॥

(अग्नि पु० अ० २३०)

अर्थात्--जाते हुवे आदमी को आगे खड़ा हुवा 'आओ !' ऐसा आने को कहे तो अच्छा। यदि पीछे खड़ा बुलावे तो खराब। और जाते हुवे आदमी को यदि कोई पीछे खड़ा कहे कि 'जाओ !' तो अच्छा आगे खड़ा कहे तो बुरा है।

शकुनज्ञान के सम्बन्ध में पुराणों में काफी मसाला मिलता है, परन्तु शोक है कि जनता ने पुराणों की उपेक्षा करके इन सब विद्याओं को नष्ट कर लिया है। यदि अब भी यही उदासीन भाव भरा रहा तो रही सही विद्या भी जाती रहेगी।

सामुद्रिक-शास्त्र

यह भी एक चमत्कारिक विद्या है जिसके द्वारा स्त्री पुरुष की रेखा आदि शरीर-लक्षणों से ही उसकी जीवन-घटनाओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस शास्त्र का प्रायः लोप सा हो चला है। जिनको इस विद्या का यत्किंचित् भी ज्ञान है वे इसके प्रताप से मनुष्य के जीवन की भूत भविष्यत् वर्तमान घटनाओं को बता कर संसार को आश्चर्यान्वित किये विना नहीं रहते। यदि इस विद्या का भी अनुसंधान करना हो तो पुराणों को टटोलिये ! देखिये—

उन्नतिः प्रथमे गर्भे द्वयोरेकस्य भूयसी ।
वामे तु जायते कन्या दक्षिणे तु भवेत्सुतः ॥

(भविष्य पु० अ० ५ श्लो० ४३)

अर्थात्—जिस समय माता के पेट में प्रथम गर्भ हो उस दशा में यदि स्तनों में ऊँचा नीचापन दिखाई दे तो बांये स्तन के उच्च होने पर कन्या तथा दक्षिण स्तन के उच्च होने पर पुत्र की उत्पत्ति समझनी चाहिए।

गृह-शिक्षा

इस समय कन्याओं की शिक्षा के सम्बन्ध में जितने मुंह उतनी बात हो रही है। एक ओर सभ्य सुशिक्षित समुदाय अपनी ही तरह उन्हें बी०ए० और एम०ए० की डिग्री पाये हुये बराबर वकालत करते हुवे देखना चाहता है। दूसरी ओर समाज की शृंखला को ढीली होती देख कुछ सज्जन इस शिक्षा का घोर विरोध करने पर उतारू हैं। तीसरी ओर एक वह समुदाय है जो कि आजकल की शिक्षा के विषमय परिणाम उच्छृङ्खलता दुराचारिता आदि को देख कर इस शिक्षा का घोर विरोध करता हुवा भी किसी हद्द तक शिक्षा का समर्थक अवश्य है। इस समुदाय का असर भी जनता में काफी हो रहा है अतएव अधिक कन्याशालाओं में गृहकार्य की ओर कुछ ध्यान दिलाना आवश्यक समझा जाता है।

यद्यपि शिक्षा की अपूर्णता के कारण या उन सम्पूर्ण विषयों, जिनका कि गृहपत्नी से सम्बन्ध रहता है—के अत्यन्त विस्तृत होने के कारण एक उपयुक्त शिक्षा-क्रम नहीं बन सकता तथापि इसमें किसी का भी मतभेद न होगा कि ऐसे शिक्षा-क्रम की आवश्यकता अवश्य है। यह यदि सर्वाङ्गपूर्ण देखना हो तो मार्कण्डेयपुराण (मदालसोपाख्यान) और भविष्य-पुराण आदि में देखिये ! जैसा कि—

षड्भागेनातसीतैलं सिद्धार्थककपित्थयोः ।
तथा निम्बकदम्बादौ विद्यात् पञ्चमभागकम् ॥१२॥
तिलेंगुदोमधूकानां नक्तमालाकुसुम्भयोः ।
जानीयात् पादकं तैलं खलमन्यत्प्रचक्षते ॥१३॥

(भ० पु० अ० १२)

अर्थात्—(तेल का गृह-कार्य से सम्बन्ध रहता है उसको पुराणकार

बता देते हैं कि) अलसी का तेल निकलवाया जायगा तो छठा भाग तेल निकलेगा (छः सेर में एक सेर के हिसाब से) सफेद सिद्धार्थक सरसों तथा कैथ का भी इस ही हिसाब से होगा, नीम तथा कदम्ब आदि में से पांचवा हिस्सा तेल होगा। तिल, इँगुदि, महुवा, चिर्रबिल्व कुसुम्भा इन में से चौथाई तेल तथा शेष खल होगी। (सरसों तोरिया आदि का तेल एक तिहाई निकलता है, मूंगफली नारियल गिरी का सार्धत्रय भाग, इसी प्रकार अनेक द्रव्यों का उल्लेख किया गया है।)

इसी प्रकार कौन सी चीज के पाक में कितना जल डालना चाहिये, पति-पत्नी का आपस का व्यवहार किस प्रकार होना चाहिये, आदि सब आवश्यक विषयों पर पुराणों ने आवश्यकतानुसार प्रकाश डाला है।

भारत के लिये चर्खा एक अत्यन्त आवश्यक चीज है। २५ या ३० वर्ष पहिले ग्रामों में तथा शहरों में भी खद्दर-पोशों की कमी न थी। नवीन शिक्षा के प्रताप से यह सब के मन से उतरता जा रहा था। सन् १९२१ तथा २२ में बड़े विराट् रूप में इसका आन्दोलन चला तथा कर्मवीर गांधी ने पुरुषों के भी हाथ के लिये यही हथियार उपयुक्त समझा और उन से भी यह कतवाया। परन्तु हमारे पुराणों ने गृहिणी-कर्तव्य में इसको यों बतलाया है।

कार्पासकक्रमिकौशेयोर्णकक्षौमादिकर्तनम् ।
कुणिपङ्ग्वन्धयोषाभिर्विधवाभिश्च कारयेत् ॥१८॥
विनियोगं नयेत् सर्वं प्रियोपग्रहपूर्वकम् ॥१९॥
कर्मणामन्तरालेषु प्रोषिते चापि भर्तरि ।
स्वयं वै तदनुष्ठेयं नित्यानां चाविरोधतः ॥२०॥

(भ० पु० अ० १२)

अर्थात्—उत्तम गृहणी का कर्तव्य है कि वह कपास रेशम तथा ऊन की कताई- कानी, अन्धी, लूली तथा विधवा स्त्रियों से बड़े प्रेम पूर्वक करवावें। (इसको देखने से एक और भी बात साफ हो जाती है कि पाश्चात्य देशों की तरह अनाथ असहाय अपाहिजों के लिये भी मांगना ही निर्वाह का मार्ग न था, बल्कि गृहलक्ष्मियें बड़े प्रेमपूर्वक इनसे कताई आदि का कार्य लेकर उन्हें उनके परिश्रम के प्रतिफल में सादर वृत्तियें दिया करती थीं) साथ ही स्वयं भी घर की मालकिन, जिस समय उसे काम से फुरसत मिले, वा पति विदेश यात्रा को चले जायँ अपने नित्य के कर्म में बाधा न डालते हुये सूत काता करें।

पाठक देखें कि कहां तक कर्त्तव्य पर विचार किया गया। प्रत्येक कार्य के औचित्य तथा अनौचित्य को कहां तक ध्यान में रक्खा जाता है। पतिदेव बाहर के कर्तव्य भार से क्लान्त हो घर पर पधारते हैं तो 'पत्नी' का कर्तव्य यह नहीं कि वह उपेक्षा से कताई आदि का बहाना ले पतिसेवा से विरत हो जाय, बल्कि सर्वप्रथम संपूर्ण अन्य कार्यों को छोड़ कर पतिसेवा करनी होगी; परन्तु जिस समय और कार्य नहीं है तब निकम्मी बैठकर समय को बरबाद न करे, उस समय सधवाएँ भी कताई आदि में लग जायँ। ये धर्ममार्ग की सूक्ष्मताएँ यदि देखनी हों तो पुराणों में देखने को मिलेंगी।

ग्रन्थ का कलेवर अत्यधिक बढ़ गया है। पुराण-साहित्य रूप अगाध रत्नाकर को छोटे से शराव (कूजे) में बन्द कर देना सर्वथा असम्भव है। ग्रन्थ के नाम-करण के अनुसार भी पुराणों का 'दिग्दर्शन' मात्र करा देना ही अन्वर्थता का परिचायक है। गर्ज है कि इस ग्रन्थ में अभी तक जो कुछ भी लिखा जा चुका है वह उतनाही हमारी पूर्वकृत प्रतिज्ञाके पालनका पर्य्याप्त साधक हो सकता है। इसलिये हम मङ्गलमय भगवान्को कोटिशः प्रणाम करते हुये इस ग्रन्थ का उपसंहार कर देना उचित समझते हैं।

'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' के अनुसार इस लोक और परलोक का वह कोई विषय नहीं जोकि पुराणों में अङ्कित न हो? यदि मैं यह भी कह दूं तो अतिशयोक्ति न होगी, कि वेदों को छोड़कर समस्त वाङ्मय उपजीव्य-उपजीवी सम्बन्ध से पुराणमूलकता पर ही अवलम्बित है। हमारा दावा है कि आप किसी भी भाषा के बेजोड़ एवं 'मौलिक' कहे जाने वाले ग्रन्थ को उठाइये, हम तत्प्रतिपादित विषय का सर्वाङ्ग-पूर्ण वर्णन पुराण ग्रन्थों में लिखा दिखा देंगे।

कविकुलतिलक कालिदास आदि भारतीय अमर कवियों ने तो स्वनिर्मित ग्रन्थों की कपोलकल्पितता के परिहारार्थ स्पष्ट ही 'अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः' कहते हुवे व्यास वाल्मीकि प्रभृति महर्षियों के निर्माण किये हुवे पुराणेतिहास ग्रन्थों को अपने २ काव्यों का आधार स्वीकार किया ही है परन्तु पाश्चात्य पण्डितों के वनाये हुये बड़े से बड़े ग्रंथों के कथानक भी नाममात्र के भेद से पौराणिक आख्यानों के साथ अपरिमार्जनीय समता रखते हैं—यह बात हमने हिन्दी में अनूदित हुवे टालस्टाय, होमर, मिल्टलन दांते शेक्सपियर आदि पाश्चात्य पण्डितों के ग्रन्थों के परिशीलन से अनुसन्धानपूर्वक निश्चित की है। इसलिये हम तो खम टोक कर कहने के लिये तैयार हैं कि विश्व-वाङ्मय मात्र पर जो पुराणों की अमिट छाप वज्रलेप सी अङ्कित होती है उसे अब कोई भी पुराण-निन्दक नादान अपनी लपलपी जबान की कुत्सित कमान से छूटे हुवे व्याख्यानरूप बाण द्वारा छिन्न भिन्न नहीं कर सकता! और तो और जो लोग पुराण साहित्य को मटियामेट करने के ग्रंन्थ लिखने चले थे तथा जो पुराणों को कोसने में ही अपने पाण्डित्य की पराकाष्ठा समझते थे वे महाशय भी पुराणों के सर्वांगपूर्ण चमत्कार से मोहित होकर आखीर पुराण-साहित्य की प्रशंसा करने के लिये ही विवश हुवे हैं। हम तत्तद् ग्रंथों से कतिपय पते यहां सप्रमाण अङ्कित करते हैं

जिससे सर्वसाधारण को 'जादू तो वह जो शिर चढ़ कर बोले' इस लोकोक्ति का उज्ज्वल उदाहरण प्राप्त हो सके, यथा—

प्रो० रामदेव जी गौड़ (गुरुकुल--कांगड़ी) के विचार

'पुराण और इतिहास हिन्दू-संस्कृति के विश्व-कोश हैं।

('ब्राह्मण-सर्वस्व' के पुराणाङ्क पृष्ठ २५६ से—)

लाला लाजपतराय के उद्गार

......ईश्वरवादी पौराणिकों ने बौद्धधर्म्म के शस्त्र ग्रहण किये, आस्तिकता का जो प्रकाश पौराणिक धर्म्म ने व्याकुल आर्यसन्तान को दिखलाया था उसने बौद्ध-धर्म का पुलीटील बल भी छीन लिया।

(दयानन्द जीवन चरित्र पृष्ठ ५६)

पं० नरदेव शास्त्री ज्वालापुर महाविद्यालय की सम्मति

'पुराणों में इतना मसाला भरा हुआ है, कि अज्ञ से अज्ञ पुरुष भी उनमें वर्णित कथा कहानियों द्वारा धर्म्म के उच्च से उच्च तत्व को वेदशास्त्र के स्वाध्याय के बिना ही समझ सकते हैं।'

(ब्रा० स० के पुराणाङ्क पृष्ठ २१६ से—)

पं० शिवशङ्कर मिश्र की राय

'जैनधर्म और बौद्धधर्म को मिटाने में इन पुराणों ने बड़ा प्रभाव दिखाया। इस पुराणों के प्रताप से हिन्दूधर्म्म डूबता २ बचा, साथ ही

एक यह बात भी स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि पुराणों द्वारा देश में भक्तिरस का कुछ विलक्षण रस फैल गया, साथ ही पांच देवताओं की उपासना आदि का प्रभाव खूब बढ़ा। इनके प्रसार के कारण उस समय प्रतियोगिता में जैनधर्म टिक न सका और हिन्दू धर्म्म ने अपना सिक्का फिर जमा लिया।'

(भारत का धार्मिक इतिहास पृष्ठ १५३ से—)

बस हम इन्हीं शब्दों के साथ करुणावरुणालय पुराण-पुरुष परमात्मा को अनन्त प्रणाम करते हुए इस ग्रन्थ को यहीं समाप्त करते हैं। श्रीरस्तु !

सब विद्या सब कला ज्ञान, विज्ञान तत्त्व के सिन्धु पुराण।
यही सार अध्याय दशम का, श्री भगवान् करें कल्याण ॥

दसवां अध्याय समाप्त

नह्यत्र किंचिदपि नूतनमिति प्रवादः,
पौराणिकस्य मम भूषणमेव लोके।
पूज्ये पुराण-पुरुषेऽनवताप्रसङ्गः,
नारायणस्य किमु ! लाघवतां व्यनक्ति ॥